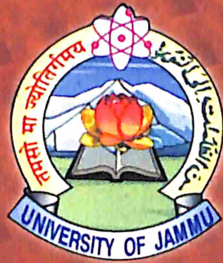
वेदगौरवम्

वेदकुमारी घई अभिनन्दनग्रन्थ



प्रधान सम्पादक
प्रो॰ रमणिका जलाली

सम्पादक
प्रो॰ केदारनाथ शर्मा



संस्कृतविभाग
जम्मूविश्वविद्यालय, जम्मू - 180 006



मुखपृष्ठ का चित्र

प्रो. वेदकुमारी घई कोपेनहैगन विश्वविद्यालय की प्रयोगशाला में डोगरी ध्वनियों पर अनुसन्धान करती हुई (1979 ई०)





प्रो. वे
विश्व
में डोग

वेदगौरवम्

वेदकुमारी घई अभिनन्दनग्रन्थ

प्रधान सम्पादक

प्रो॰ रमणिका जलाली

सम्पादक

प्रो॰ केदारनाथ शर्मा



संस्कृतविभाग

जम्मूविश्वविद्यालय, जम्मू

प्रकाशक :

संस्कृत विभाग

जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू - 180 006

(जम्मू - कश्मीर)

संपादक

प्रो. केदारनाथ शर्मा

सह सम्पादक

प्रो. कुसुम गुप्ता
डॉ. सुषमा देवी

प्रतियाँ - 500

संस्करण - 2009

मूल्य - 1000/- रु.

मुद्रक :

ईस्टर्न बुक लिंकर्स

5825, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर, दिल्ली - 110007

दूरभाष : 011-2385 0287, 011-3291 9869

EDITORIAL

Prof. Ved Kumari Ghai - a renowned scholar of Sanskrit who dedicated her life to Sanskrit, Dogri, Ancient History and Indological studies is the recipient of Rashtrapati award and other prestigious awards.

She is the author of several books, 'Nilamata Purana' is a world known research word to her credit.

Prof. Ved Kumari Ghai is diversified personality as dedicated to the field of social service. She is the founder President of Vasudhaiva Kutumbakam and also an active member of several social organizations.

We the students of Prof. Ved Kumari Ghai decided of bringing out the Felicitation volume in her honour as mark of love, regards and gratitude's for her.

We are grateful and have no words to express our gratitude's to Professor Varun Sahni the Hon'ble Vice-Chancellor of University of Jammu, for funding the publication of the said volume.

The volume is divided into tow parts:- (i) tributes to Prof. Ved Kumari Ghai (ii) Scholarly contribution of research papers by the learned authors representing three sections: (i) Sanskrit Section (ii) Hindi Section (iii) English Section.

These scholars are from all parts of the country and some from abroad. We are thankful to all the contributors.

M/s. Eastern Book Linkers is to be congratulated for the successful printing and publication of the volume.

वेद-वेदाङ्ग-भाषाणां ज्ञात्री संस्कृतिसाधिका ।
निर्बलाश्रयभूतेयं राजते वेदसंज्ञिका ॥

20.10.2009

Prof. Kedar Nath Sharma
(Editor)

Prof. Ramnika Jalali
(Chief Editor)

Dr. Karan Singh
MEMBER OF PARLIAMENT
(RAJYA SABHA)



3. NYAYA MARG
CHANAKYAPURI
NEW DELHI - 110 021

26 October 2009



Message

I am happy to know that the Post-Graduate Department of Sanskrit, University of Jammu is bringing out a Felicitation Volume in honour of Prof Ved Kumari Ghai. Dr Ved Kumari is an eminent Sansfkrit and Hindi Scholar, and has made a major contribution to education in this field for several decades. Through the pages of this Felicitation Volume I send her my warm greetings and wish her many more years of good health and creative work.

Karan Singh

Tel. : 2611-1744, 2611-5291 Fax : 2687-3171
E-mail : karansingh@karansingh.com

No:- GS/HFG/09/1164

RAJ BHAVAN
JAMMU-180001




GOVERNOR
JAMMU & KASHMIR



I am happy to learn that the Department of Sanskrit, University of Jammu, is bringing out a Felicitation Volume on Prof. Ved Kumari Ghai.

Prof. Ghai is an internationally renowned scholar of Sanskrit, Ancient History, Culture and Dogri who has made a lasting contribution to the enrichment of Sanskrit and Dogri literature. Her work on Nilmatpuran is of historical importance and, on account of her outstanding contribution to literature, she was honoured by the Rashtrapatiji.

Prof. Ghai holds a Doctorate in Sanskrit and Diplomas in German and Danish languages. She is the recipient of Sanskrit Sanskriti Award, Gold Medal by Jammu and Kashmir Government, Dogra Rattan and Lalleshwari Awards for the excellence of her contribution in the variant fields of literature.

As a social activist, Prof. Ghai has worked with singular commitment for the empowerment of the under-privileged sections of the society, particularly the women and children. She has also provided strong support to the Khadi and Gramodyog and Nature Cure movements.

Bringing out a Felicitation Volume to honour Prof. Ghai is a befitting recognition of her life-long contribution to teaching, research and literature.

I wish her good health and happiness in the years to come and continuing success in all her ongoing endeavours.

(N. N. Vohra)

12th March, 2009
Jammu.

UNIVERSITY OF JAMMU
JAMMU - 180 006 (INDIA)



Phones 2435268, 2450014 (O)
2454390, 2434339 (R)
Fax +91-191-2459383
E-mail varun_sahni@hotmail.com

PROFESSOR VARUN SAHNI
Vice-Chancellor



मुझे यह जानकर अत्यंत प्रसन्नता हो रही है कि जम्मू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग द्वारा **प्रो० वेदकुमारी घई** के सम्मान में **वेद–गौरवम्** नामक अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन हो रहा है ।

प्रो० वेदकुमारी घई जम्मू कश्मीर राज्य की एक महती विभूति हैं । इन्होंने संस्कृत भाषा और भारतीय संस्कृति का देश–विदेश में प्रचार किया है । न केवल सम्पूर्ण भरत अपितु इंग्लैण्ड, अमरीका, डेनमार्क और जापान आदि देशों में भी इनको जाने का अवसर मिला है । विदेशों में रहकर इन्होंने वहां के विद्वानों और विद्यार्थियों को संस्कृत का ज्ञान प्रदान किया है । आधुनिक अनुसन्धान पद्धति को अपना कर वहां इन्होंने स्वयं भी कविता एवं भाषाविज्ञान के क्षेत्रों में अनुसन्धान कार्य किया है ।

सामाजिक और साहित्यिक क्षेत्रों में इनकी उल्लेखनीय सेवाओं को दृष्टि में रखकर विभिन्न संस्थाओं और राज्यसरकारों के द्वारा इन्हें अनेक सम्मान दिये गये हैं । संस्कृत सेवार्थ इन्हें भारत सरकार द्वारा **राष्ट्रपति सम्मान पुरस्कार** (सन् 1997) दिया गया है ।

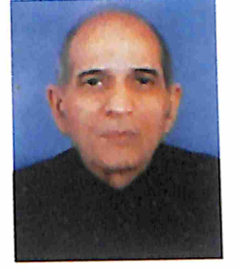
मैं इनकी दीर्घायुष्य एवं सफल जीवन के लिए अपनी सुकामना प्रस्तुत करता हूँ ।

वरुण साहनी

(प्रो. **वरुण साहनी**)

ISO 9001 : 2000 Certified University

Residential Address : Vice-Chancellor's Lodge,
New University Campus, Baba Sahib Ambedkar Road, Jammu-180 006 (J&K) India.



Jnanpith Laureate

Mahamahopadhyaya Vidyavachaspati Vidyamartanda
Prof. Dr. Satya Vrat Shastri

Recipient of Padma Shri & President of India Certificate of Honour
Honorary Professor, Special Centre for Sanskrit Studies
Jawaharlal Nehru University
Formerly Professor and Head, Department of Sanskrit
University of Delhi
Ex-Vice-Chancellor,
Shri Jagannath Sanskrit University, Puri (Orissa)

Res : C-248, Defence Colony,
New Delhi - 110 024
E-mail : satyavratshastri@airtelmail.in
Website : satyavrat-shastri.net
Ph. : 24336644, 24336631
Mobile : 99682 11148

I am extremely happy to know that a Volume is being brought out in honour of Prof. Dr. Mrs. Ved Kumari Ghai whom I have always looked upon as my elder sister. She was one year senior to me in M.A. The relationship forged in student days has continued to grow over the years. She is now a member of my family.

She is an icon figure in the State of Jammu & Kashmir. Most of the teachers in the P.G. Department of the University of Jammu and the colleges affiliated to it are her students. She is an embodiment of simple living and high thinking. Apart from her scholarly pursuits that won her such honours as the President of India Certificate of Honour in Sanskrit, she is actively engaged in social service, a rarity in present day India. Apart from Sanskrit she has specialized in ancient Indian history and culture and has been abroad a number of times either for lectures or teaching assignments. Her keen insight she has brought to bear on the interpretation of ancient Indian heritage.

The Volume is a fitting tribute to her multi-facted personality.

(Satya Vrat Shastri)

प्रो॰ वाचस्पति उपाध्याय
कुलपति
Prof. Vachaspati Upadhyaya
Vice-Chancellor



श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ
(मानित विश्वविद्यालय)
कुतुब इन्स्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-110 016
Shri Lal Bahadur Shastri Rashtriya Sanskrit Vidyapeetha
(Deemed University)
Qutub Institutional Area, New Delhi-110016



दिनांक : 24.03.2009

शुभकामना-संदेश

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित प्रो0 वेद कुमारी घई के द्वारा किये गये कार्यों के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापित करने के लिए "अभिनन्दन ग्रंथ" का प्रकाशन किया जा रहा है।

भारत की भावनात्मक एकता में संस्कृत का योगदान अविस्मरणीय है। यह संस्कृत की ही कृपा का फल है कि इतने विशाल देश के निवासी पारस्परिक विचार विनिमय द्वारा एकरूपता और समन्वयात्मक परम्परा को पुष्ट करते रहे हैं। आज संस्कृत के अध्येताओं से विशेष अपेक्षाएं की जाती है कि वह समाज व देश को नई जागृति और दिशा देने में अपना उल्लेखनीय योगदान करें। **संस्कृत के उदात्त आदर्शों और व्यापक चरित्रों को आज सामने लाने की बड़ी आवश्यकता है। हमारे जीवन में कर्त्तव्य परायणता और परिश्रम की महत्ता हमें वास्तव में सच्चा मानव बनाने में समर्थ हो सकती है।**

डोगरी संस्कृति की विशेषज्ञा, समाज सुधारिका एवं संस्कृत साहित्य की मर्मज्ञ प्रख्यात-मनीषी-विदुषी प्रो0 वेदकुमारी घई भारतीय प्रज्ञा की विशिष्ट प्रतिनिधि हैं। कई वर्षों से मेरा इनके अदुष्य-वैदुष्य के साथ साक्षात् एवं परम्परागत परिचय रहा है। वाणी और लेखनी का अप्रतिम संयोग इनके व्यक्तित्व में स्पष्ट प्रतीयमान होता है। प्रो0 घई की शिष्य परम्परा विश्रुत एवं विपुल है। इनका छात्र वात्सल्य अभिनन्दनीय एवं अनुकरणीय है। "वन्दे गुरुपरम्पराम" की ये साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं। संस्कृत की मूर्धन्य विदुषी होने के कारण, इनके व्यक्तित्व में मैत्री, करुणा, मुदिता का अद्भुत संगम है। प्रो0 घई ने संस्कृत साहित्य को समृद्ध बनाने में अपना पूरा जीवन समर्पित किया है। इनके द्वारा रचित कई ग्रन्थ साक्षात् प्रमाण हैं। संस्कृत के प्रचार-प्रसार में इनका उल्लेखनीय योगदान है। ये विनम्रता, सरलता, सुशीलता, सज्जनता एवं भारतीय संस्कृति-सभ्यता की मूर्तरूप हैं।

प्रो0 वेदकुमारी घई के अगणित गुणों, श्रेष्ठ कार्यों एवं स्मृतियों को संकलित करने के लिए, प्रकाशित होने वाले अभिनन्दन ग्रन्थ के लिए, मैं अपनी ओर से शतशः शुभकामनाएं प्रेषित कर रहा हूँ। आशा है यह अभिनन्दन ग्रन्थ सम्पूर्ण संस्कृतानुरागियों के लिए जीवनोपयोगी एवं प्रेरणादायक सिद्ध होगा।

मैं इनके यश, स्वास्थ्य, सुख, सौभाग्य एवं दीर्घ आयुष्य के लिए परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ।

अभिनन्दन-ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ।

वाचस्पति उपाध्याय
(वाचस्पति उपाध्याय)

Tel. : (Off.) 26851253, 26564003 (Resi.) 26851250, 26855099 Fax : 011-26520255
E-mail : vu_vidyapeetha@hotmail.com, vcslbsrsv@yahoo.co.in

प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी
कुलपति
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
मानित विश्वविद्यालय
(मानवसंसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के अधीन)



Prof. Radhavallabh Tripathi
Vice-Chancellor
RASHTRIYA SANSKRIT SANSTHAN
Deemed University
(Under MHRD, Govt. of India)



MESSAGE

I am glad to know that the students and well wishers of Prof. Ved Kumari Ghai have planned to bring out a Felicitation Volume in her honour. Prof. Ved Kumari Ghai is a Veteran scholar, well known for her immense contribution to Sanskrit studies. Her work on Neelmatapurana is a pioneer study. As a creative writer in Sanskrit also, she has created new genres by her various writings. Above all, her devotion to Culture, Social work and traditions is at *par excellence*. She is also known for her positive interest in indigenous traditions of Kashmir region.

I wish her 100 fruitful years of Happy and Prosperous life.

17.4.08

(RADHAVALLABH TRIPATHI)

56-57, Institutional Area, Janakpuri, New Delhi-110058 Ph. : (O) 28523949 (Fax) 28521948
EPABX : 28524993, 28521994, 28524995 Gram : SAMSTHAN E.Mail : rsks@nda.vsnl.net.in, rsksvc@vsnl.net

।।ओ३म्।।
''विद्ययाऽमृतमश्नुते''

डॉ० महावीर अग्रवाल
एम.ए. (संस्कृत, वेद, हिन्दी)
व्याकरणाचार्य, पी-एच.डी., डी.लिट्.
प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
प्रधान सम्पादक, गुरुकुल पत्रिका
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार-२४९४०४





उपाध्यक्ष
उत्तराखण्ड संस्कृत अकादमी
संस्कृत भवन
हरिद्वार-दिल्ली राष्ट्रीय राजमार्ग
हरिद्वार, २४९४०७

पत्रांक..............................

दिनांक 31 जनवरी 2009
वसन्त पञ्चमी

प्रणामाञ्जलि

संस्कृत साहित्य गगनमें चन्द्रमा की ज्योत्स्ना के समान प्रकाश विकीर्ण करने वाली, शीतल, मधुर स्वभाव से सुधारस आह्लादकारी वैदुष्य, वाग्मिता एवं लेखन कौशल से देवभाषा की सुरभि से सम्पूर्ण वातावरण को सुरभित करने वाली, मातृरूपा, स्नेहरूपा, शारदा रूपा परमसम्माननीया प्रो० वेदकुमारी जी घई के सम्मान जम्मू विश्वविद्यालय का संस्कृत विभाग अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित कर रहा है यह जानकर मैं अत्यन्त हर्षित हूँ। प्रो० वेदकुमारी जी नारी जाति के लिये आदर्श है, प्रेरणास्रोत है। एक आदर्श नारी आदर्श गुरु आदर्श पत्नी आदर्श माता एवं आदर्श समाजसेविका के रूपमें आपका जीवन देश की करोड़ों महिलाओं के लिये वन्दनीय है।

अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन की मङ्गलमय वेला में मैं आपकी शतायु आरोग्य एवं चन्द्रोज्ज्वल कीर्ति की कामना करते हुए आपको पुनः-पुनः प्रणाम करता हूँ साथ ही आदरणीय प्रो० रामप्रतापजी वेदालंकार को भी [illegible] में नमन करता हूँ तथा डॉ० [illegible] को [illegible] ग्रन्थ [illegible] एवं [illegible] की अग्रिम कामना करता हूँ।

विनीत
महावीर अग्रवाल

निवास: 'वेदालोक' २२ नन्द विहार, पो० गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार २४९ ४०४ (उत्तराखण्ड)
(दूरभाष ०१३३४-२२८५४४ मो० ०९४१२९१८९४९

स्थापित : 2025 वि०/रजि० 99 ओ३म् तार : 'आर्यप्रतिनिधि'

आर्य प्रतिनिधि सभा जम्मू कश्मीर

ARYA PRATINIDHI SABHA JAMMU & KASHMIR

प्रधान कार्यालय : आर्य समाज बलिदान भवन, बख्शीनगर, जम्मू – 180001

H. O. : Arya Samaj Balidan Bhawan, Bakshi Nagar, Jammu -180 001.

पत्रांक 06/2008-10 दिनांक 25-5-09



शुभकामनाएँ

यह हार्दिक प्रसन्नता का विषय है कि संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय जम्मू की ओर से प्रोफेसर वेदकुमारी घई जी का "अभिनन्दन ग्रन्थ" प्रकाशित किया जा रहा है। प्रो० वेद कुमारी घई जी के सम्मान में "अभिनन्दन ग्रन्थ" का प्रकाशन एक प्रशंसनीय कार्य है जिसके लिए संस्कृत विभाग जम्मू विश्वविद्यालय निश्चय ही बधाई का पात्र है।

प्रो० वेद कुमारी घई केवल संस्कृत, हिन्दी व डोगरी की विदुषी ही नहीं अपितु आर्य सिद्धान्तों में विश्वास रखते हुए एक प्रबल सामाजिक कार्यकर्त्ता के रूप में प्रशंसनीय कार्य कर रही हैं। प्रो० वेद कुमारी घई जी बचपन से ही आर्य समाज से जुड़ी रहीं तथा आर्य समाजों की शीर्ष संस्था आर्य प्रतिनिधि सभा जम्मू–कश्मीर की लगातार छः वर्ष तक प्रधाना रहीं। उनकी अध्यक्षता में आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा बहुत से वेद प्रचार कार्यक्रमों का जम्मू तथा आसपास के ग्रामीण क्षेत्रों में सफल आयोजन किया गया। आज भी आर्य प्रतिनिधि सभा के माननीय सदस्य के रूप में आपका मार्गदर्शन मिल रहा है। प्रो० वेद कुमारी घई जी के "अभिनन्दन ग्रन्थ" के प्रकाशन पर उन्हें आर्य प्रतिनिधि सभा जम्मू–कश्मीर की ओर से हार्दिक शुभ कामनाएं।

भवदीय

भारत भूषण आर्य

भारत भूषण आर्य
प्रधान
आर्य प्रतिनिधि सभा जम्मू कश्मीर
जम्मू



Prof. Kedar Nath Sharma
Professor of Sanskrit

HEAD DEPARTMENT OF SANSKRIT
University of Jammu, Jammu - 180 006 (J&K
Ph. : 0091-2452917 (O)
: 0191-2434422 (R)
Mob. : 94191-27727
e-mail : kedarshrma@mailcity.com



धन्या कश्मीरभूमीयं भारतमूर्ध्नि संस्थिता।
शारदापरनाम्नी या कुङ्कुमकवितयोः स्थली।।
वेदवेदाङ्गमर्मज्ञा नानाशास्त्रविचक्षणाः।
दार्शनिकाः महीयांसो बहुभाषाविदो बुधाः।।
ज्ञानविज्ञाननिष्णाता आचार्याः काव्यशास्त्रिणः।
अत्र जाता असङ्ख्याकाः कवयः क्रान्त दर्शिनः।।
तेष्वेका महापुण्याः शास्त्राचार विशारदा।
आचार्याऽस्मत्गुरुपादा 'वेदा'भिधानसंयुता।।
राजते जम्मू प्रदेशेऽस्मिन् निशायां चन्द्रिका यथा।
संस्कृतं सेवितं सम्यक् सेव्यन्तेऽबलाः जनाः।।
अधीत्य विविधाःविद्याः जीवने सफलैरिमैः
शिष्यैर्भावाञ्जलिः पुण्या पादयोरर्पिता शुभा।।

केदारनाथ शर्मा
विभागाध्यक्षः, संस्कृतविभागस्य

Resi. : 3-A, Residential Complex, New University Campus,
Baba Saheb Ambedkar Road, Jammu-180 006

शुभकामनाएं-संस्मरण
एवं
कविताएँ

आचार्य इन्द्रदत्त उनियाल
आदरी संचालक

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान,
पो.ओ.साधु आश्रम, होश्यारपुर-146 021
दूरभाष (का.) 01882-223581,
223582, 223606
(नि.) 01882-224750
email : vvr_institute@yahoo.co.in

क्रमांक संख्या (अ.) 3

दिनांक 13.4.2009

परं प्रसन्नताया विषयोऽयं यज् जम्मूविश्वविद्यालयस्य संस्कृतविभागः विदुष्याः डाक्टर (श्रीमत्याः) वेदकुमारी घई महाभागायाः सम्माने अभिनन्दन-ग्रन्थं प्रकाशयति। प्रायः त्रिंशत् वर्षाणि विश्व-विद्यालयेऽस्मिन् संस्कृत-सेवायां निरताया विषयान्तरेभ्यो विरताया व्याकरणादिनिखिलशास्त्रनिष्णाताया नैकेषां ग्रन्थानां लेखिकायाः समाजसेविकायाः कर्तव्यपरायणायाः साक्षात्सरस्वतीरूपाया अस्याः सारस्वत्याः सम्माने सभ्यैः सुहृद्भिर्विद्वद्भिश्च क्रियमाणमभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशनाख्यं कार्यमिदं स्तुत्यं प्रशंसनीयम-निवार्यञ्चास्ति। प्रकाश्यमानेऽस्मिन्नभिनन्दन-ग्रन्थे प्रकाशितानां विविध-विषयानुबन्धितानां गवेषणात्मक-निबन्धानां सम्यक् परिशीलनेन संस्कृत-जगतो महानुपकारो भविष्यतीति दृढो मे विश्वासः।

भारतीयवाङ्मये कर्मणां महत्त्वम् ऋषि-महर्षिभिरपि मानित क्रियमाणान्येव कर्माणि साम्प्रतिकीं स्थितिं दर्शयन्तीति नयेन विदुष्याऽनया स्वकर्मणैव विद्याक्षेत्रे तादृशं पदं यशश्चाधिगतं येन तत्कृते अभिनन्दनात्ममतिसम्मानदं कार्यमिदं सहर्षं ससुखमविभक्तञ्च क्रियते संस्कृतविभागेन।

दृश्यन्ते च तादृशा मतिमन्तोऽपि जना ये शास्त्रज्ञाः सन्तः प्रतिकूलपरिस्थितावनवस्थिता झञ्झावातेनाहता वारिधारा इव वाहिताः सन्तः सामान्यजना इवाचरन्ति परञ्च विदुषीयमाबाल्यादेव तादृशीं'' प्रतिकूलां परिस्थितिमनुभवन्त्यपि वंश-शाखेव नम्रीभवन्ती मृदुमाचरन्ती सततं स्वजीवने अग्रेसरं गच्छन्त्यादर्श-नारीसमाजस्यादर्श इवाभाति।

आदरणीया प्रोफेसर वेदकुमारी सरलस्वभावा भावुका सततप्रसन्नवदनोदारहृदया सन्त्यपि स्वाभिमानस्य निधिरादर्शाणाञ्च विधिर्विद्यते। यत्सत्यं नानेनाभिनन्दनग्रन्थेनाऽलङ्क्रियते विदुषीयमपित्वे-तादृशीं गीर्वाणीसेविकां विदुषीमभिलक्ष्य विलिख्य प्रकाशितेनाभिनन्दनग्रन्थेन संस्कृतविभागस्यैव शोभेति लेखने नातिशयोक्तिर्न च विप्रतिपत्तिः।

अत्र कतिपयैरेतैर्लिखितैः शब्दैरहमप्यभिनन्दयन् विदुषीमिमाम् जम्मूविश्वविद्यालयस्य संस्कृतविभागायापि भूयो भूयो नैकान् साधुवादान् वितरन् ''जीव्याच्चिरं विदुषीयं'' शिक्षा क्षेत्रेऽधि गताऽनन्यप्रतापेन स्वपतिना मान्यवरडाक्टररामप्रतापेन सहेति कामायमानः।

विदुषामनुचरः।

इन्द्रदत्त उनियालः

॥ श्रीः ॥

जगन्नाथ पाठक

दूरभाष : 0532-2569140
3/14 एम.आई.जी. आवास कालोनी,
योजना-3, झूसी, इलाहाबाद-211019 (उत्तर प्रदेश)

दिनांक 12.1.2009

सामानाधिकरण्यं भजतः प्रायो न ये कुतोऽपि, तयोः।
येह प्रसादपात्रं श्रीलक्ष्मी-श्रीसरस्वत्योः॥1॥

जम्मूवास्तव्या यां प्राज्ञां सम्मन्वते विशेषेण।
गीर्वाणानां वाचो याऽऽचरति प्रातिनिध्यमिह॥2॥

न हि केवलमधि संस्कृत-वाणि त्वध्याङ्ग्लवाणि नैपुण्यम्।
लेखन-भाषणयो रिह बिभर्ति या विश्रुता जगति॥3॥

अनुसन्धानपराणां यस्याः समधीत नैकविद्यानाम्।
भारतभुवि शिष्याणां सहस्रमधुनेह जागर्ति॥4॥

वाक्कामधेनुरस्माद् देशाद् या 'धेनुमार्ग' देशगता।
विद्यामृतमयपयसा वत्सान् समवर्धयन्नैकान्॥5॥

जम्मूस्थविश्वविद्यालयगतसंस्कृतविभागमधिगत्य।
स्वेनाध्यक्ष्येण च याऽदीपयदिह तेजसा स्वेन॥6॥

या चिन्तयति निरन्तरमधिविद्वद्गोष्ठि सर्वथा सिध्येत्।
राष्ट्रियमैक्यं सत्यपि वैविध्ये केन विधिनेति॥7॥

काश्यामधिगतविद्या जम्मूनगरे कृतप्रतिष्ठा च।
या सुरगवीं स्वसद्मनि विनिबद्धां सत्पयो दोग्धि॥8॥

बहवः समाजसेवां प्रवर्तमानां यया समभिलक्ष्य।
आत्मन आदर्श इति प्रमाणयन्तोऽभिलक्ष्यन्ते॥9॥

यस्याः प्रवर्तमानां गिरमालक्ष्य प्रसन्नगम्भीराम्।
कृतपुण्येति समन्तात् प्रकल्पयन्तीह धीमन्तः॥10॥

संस्कृतममृतमिति स्वान् समुपदिशन्ती चिरं नवान् शिष्यान्।
तिष्ठति 'तवी' तटस्था साक्षादिव काऽपि वाग्देवी॥11॥

जम्मूनगरगतस्य त्रिकूटनगरस्य सैकभागस्था।
जयति स्वनामधन्या 'वेदकुमारी घईत्याख्या॥12॥

—जगन्नाथपाठकस्य

प्रो. ओजस्वी शर्मा

सेवानिवृत्त असिस्टैण्ट प्रोफेसर
विधि विभाग
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय,
उदयपुर. (राजस्थान)

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है कि जम्मू विश्वविद्यालय का संस्कृतविभाग प्रो. वेदकुमारी घई अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित कर रहा है। प्रो. घई के साथ चालीस वर्षों से भी अधिक समय से निकट सम्बन्ध होने के कारण उनके व्यक्तित्व की अनेक वन्दनीय विशिष्टताओं से मैं परिचित हूँ किन्तु इस समय मैं केवल इतना मात्र ही कहूँगा कि झूठे आत्मप्रदर्शन एवं आत्मश्लाघा के इस युग में भी प्रो. वेदकुमारी जैसे कुछ श्रद्धेय व्यक्तित्व हैं जिनमें प्रभु ने वैदुष्य की गहनता, चारित्रिक निर्मलता, स्वाभाविक निष्कपटता, अडिग कर्तव्यपरायणता एवं कर्मठता, परपीड़ानिवारण की संवेदनशीलता, हृदय की उदारता, प्रशासकीय दक्षता एवं निरभिमानता जैसे गुण एक साथ ही दिये हैं। आधुनिक शिक्षक समाज के लिए वे आदर्श एवं अनुकरणीय हैं। भारतीय संस्कृति की अवधारणा (विद्या ददाति विनयम्) उनमें मूर्तिमती हुई है। ऐसे व्यक्तित्व का अभिनन्दन करके कोई भी संस्था या व्यक्ति स्वयं को गौरवान्वित अनुभव कर सकता है। प्रो. घई के स्वस्थ जीवन एवं दीर्घायु के लिए मेरी हार्दिक शुभकामना है।

प्रो. ओजस्वी शर्मा

शुभकामनायें एवं आशीर्वचन

मुझे यह जानकर अत्यन्त हर्ष हुआ है कि जम्मू विश्वविद्यालय का संस्कृतविभाग प्रो. वेदकुमारी घई के सम्मान में एक अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित कर रहा है।

मैं विगत 60 वर्षों से प्रो. वेदकुमारी घई के सामाजिक क्रियाकलापों, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक गतिविधियों से परिचित रहा हूँ। इन्होंने डोगरी भाषा के अनुसन्धान सम्बन्धी ज्ञानवर्धन के लिए डोगरी रिसर्च इन्स्टीट्यूट नामक संस्था की स्थापना की थी। साधारण जनता से लेकर बड़े से बड़े विद्वान् भी इनके बौद्धिक, शैक्षिक एवं अनुसन्धानात्मक कार्यों की प्रशंसा करते रहे हैं। अखिल भारतीय प्राच्यविद्यासम्मेलनों तथा अनेक अखिल भारतीय संस्कृत सम्मेलनों में भाग लेकर इन्होंने निष्णात विद्वज्जनों के मध्य अपना विशिष्ट स्थान बनाया हुआ है। इन्होंने निर्धन बालक बालिकाओं की शिक्षा का प्रबन्ध किया है तथा असहाय महिलाओं की सहायता की है। इसके लिए वसुधैव कुटुम्बकम्, सर्वोदय स्कूल नरवाल तथा नेहाघर आदि शिक्षा संस्थानों को स्थापित किया है। ये अपने मृदु शिष्ट और सौम्य व्यवहार से अपने सम्पर्क में आने वाले छोटे बड़े सभी प्रकार के व्यक्तियों को प्रभावित करती हैं।

मैं इनके उज्ज्वल भविष्य, स्वस्थ एवं दीर्घ जीवन के लिए अपनी शुभकामनायें एवं आशीर्वचन अर्पित करता हूँ।

15.3.2009

–धर्मचन्द्रप्रशान्त
पूर्व सांसद (लोकसभा) एवं वरिष्ठ पत्रकार
जम्मू तवी

शुभकामना

भारतीयसंस्कृतसाहित्यस्य विदुषीषु अन्यतमायाः प्रोफेसरवेदकुमारीघईमहोदयाया अभिनन्दनात्मकस्य ग्रन्थस्य प्रकाशनमतीव प्रीतिवहम्। जम्मूविश्वविद्यालयस्य संस्कृतविभागस्य आध्यक्ष्यस्य त्रिंशद्वर्षाणि निर्वहणेन स्वीयां प्रशासनक्षमतां प्रख्यापयतीयम्। विविधानां नाट्यसमालोचनपराणां ग्रन्थानां प्रणयनेन विद्वद्वर्गं विलक्षमिव कुर्वती संस्कृतसाहित्यगगने वैदुष्यज्योत्स्नां विकिरतीव।

भारतराष्ट्रपतिना प्रशस्तिपत्रेण, कश्मीरदेशीयसर्वकारेण विविधैः सम्मानपुरस्कारादिभिः समलङ्कृतेयं समेषां विपश्चितां मनःसु राजते।

वार्धक्यावस्थायामपि स्वीयसाहित्यरचनादीर्घकासु साहित्यरसिकानां मनांसि रसावगाहनाय बलादाकर्षतीव।

प्रणतिपुरस्सरं कामये एतस्य अभिनन्दनग्रन्थस्य लोकार्पणं प्रवर्तताां सर्वेषां हर्षवर्धनाय संस्कृतानुरागिणां संस्कृतस्य च ऋद्ध्यै लोककल्याणाय च।

श्रुतिः महती महीयतामिति शम्।

ब्रह्मचारी सुरेन्द्रकुमारः

29.4.2009

माङ्गल्यशब्दाः

रेवाप्रसादद्विवेदी

काशीहिन्दूविश्वविद्यालयो वेदवेदाङ्गरिरक्षिषयैव काश्यामनुगङ्गं विराजितायां दक्षिणभागे साम्प्रतं भारतराष्ट्रस्य कनिष्ठिकाधिष्ठितो विश्वविद्यालयोत्तमः संस्कृतविद्यायाः कृते काश्येव प्रतिष्ठितेति कृत्वा संकल्प एष भारतीयैर्जनैर्हृदयेनाभ्यनन्दि। 1916 वर्षे लब्धशिलान्यासस्यास्य कलासंकायः (फैकल्टी आफ आर्ट्स) आसीत् प्रथमः संकायः 1918 संवत्सरे पुनर्द्वितीयः प्राच्यविद्याधर्म-विज्ञानसंकायनामा संकायः प्रारभत। कलासंकायेऽपि विभाग एकः संस्कृतविद्यायाः कृते प्रारम्भितः। तत्र मया साहित्यशास्त्राचार्यपरीक्षा 1956 वर्षे समुत्तीर्णा। एकवर्षानन्तरम् 1957 वर्षारम्भे एम्.ए. कक्षायामपि प्रवेशो लब्धः। तत्रासीत् 'डॉ. वेदकुमारी' पी-एच्डी. कार्यं कुर्वाणा 'नीलमतपुराणम्' अधिकृत्य। शनैः शनैः परिचितौ जातावाम्। पश्चात् कुमारी वेदकुमारी जम्मूविश्वविद्यालये प्राध्यापिका जाता, अहं पुनर्मध्यप्रदेशस्य संस्कृतमहाविद्यालयोत्तमे रायपुरनगरस्थे 'दूधाधारीश्रीवैष्णव-संस्कृतमहाविद्यालये। ततः 1970 वर्षे पुनः काशीहिन्दूविश्वविद्यालयस्य साहित्यरीडरपदे नियोजितः। वेदकुमारीमहोदया तदा जम्मूविश्वविद्यालये संस्कृतविभागाध्यक्षाऽभूत्। तत्रैव प्रारब्धं श्रीरणवीरसंस्कृतविद्यापीठम्। तेनाहं काशीत आहूतः। कश्मीरदर्शनेच्छुरहं महतौत्सुक्येन जम्मूं प्रापम्। तत्रैव रेलस्थानत एकं टाँगा-यानं गृहीत्वा पूर्वं विश्वविद्यालयं गतः। तत्र वेदकुमारीमहोदयाया गृहसंकेतः प्राप्तः। तेनैव संकेतेन रघुनाथपुरास्थितं तस्या भवनं प्राप्तः। अथान्वभवं महान्तं समुल्लासं हर्षातिशयं च तस्या भगिन्या आवासे। नासीत् कल्पितं मया यदियताऽन्तरालेन गृहमुपेतो जन एष देव्या वेदकुमार्या सोदरकल्पं स्थानं लप्स्यत इति। कुमारी वेदकुमारी साम्प्रतं प्रविष्टद्वितीयाश्रमा सौभाग्यवती डॉ. रामप्रतापस्य सौभाग्यं लेभे। गृहे वीरभानुनामा पुत्र एकः, ऋचा नाम्नी पुत्री चैका इति ममोपस्थित्या पञ्च सदस्याः संवृत्ताः। दिनद्वयमहं सुखेन जम्मूप्रवासमन्वभवम्। एकस्मिन् दिने मातुः श्रीवैष्णवीदेव्या अपि दर्शनान्याप्तवान्। तत्रान्वभवमेकं चमत्कारम्। अभवाव आवां द्वौ, अहं च डॉ. रामप्रतापश्च। कटरातो हिमालयमारोहतो एवयोरर्धमार्ग एव रात्रिरारभत। डॉ. रामप्रतापश्च मार्गे संशयमन्वभूत्– केन वा मार्गेणाग्रे गन्तव्यमिति। भयमप्यचुम्बच्चित्तम्। आरोहानन्तरमवरोह आरब्धः। कुत्र गच्छाम इति तु नासीत् तदानीं सुनिश्चितम्। भगवत्या वैष्णव्या मन्दिरस्य यो मार्गः, स एव द्वाभ्यामावाभ्यां गम्यतेऽन्यो वेति विचिकित्सा चेतस्तटीं कृन्तति स्म। मातुः स्मरावः अग्रे च चलावः। अथ एकः प्रायः षोडशवर्षीयो बालको दृष्टिपथमायातः। तस्य पादयोः प्लास्टिकचप्पले, शरीरे च बुशर्टमेकम्। पृष्टः स प्राब्रवीत् आगच्छतां मया सार्धम्। वेगोत्फुल्लां गतिं च स समाश्रयत। प्रायेण 9 वादनेन रात्रेर्मन्दिरस्य कार्यालयमावां प्राप्तौ। तत्रैकं कक्षं व्यधायि सुलभम्, यत्र कम्बलानां प्रायेणार्धशती आसीत् सुलभा। द्वारपक्षौ पिहितौ। तेषामधोभागे यत्

रन्ध्रमासीत् ततः प्रविशन् वायुः कण्टकमिव शरीरे तापयति स्म। रात्रिर्व्यतीता महत्येव प्रत्यूष आवां प्रबुद्धौ। अथ कृतनित्यक्रियौ चलितौ दर्शनार्थम्। मन्दिरद्वारे निर्झरजलप्रपातः। तत्र कृतस्नावेव मन्दिरगह्वरं प्रविशतः। निवारितान्यावाभ्यां सर्वाणि ऊर्ध्ववस्त्राणि। अथो निपततो निर्झरजलस्य नीचैः स्थापित आत्मा महता साहसेन। नितान्तमेव शीतं तज्जलम्। तेन स्पृष्टमात्रं शरीरमौष्म्यमन्वभूत्, शैत्यं पराहतम्। धृतवाससावावां देवीगुहामुखं प्रविष्टौ। नातिमहती सा गुहा। गर्भेऽस्याः प्रवहति जलम्। शिरांस्यनाम्य नाग्रेसर्तुं शक्यमत्र। 'जै मातादी'-ति तत्र भक्तानां तारो नादः। गुहान्ते एका लघीयसी वेदिका। तत्र तिस्र उच्छूनगात्र्यः शिलाः। ता एव पूज्यन्ते 'महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती'-रूपेण। एकस्मिन् भागे सिंहवाहिनी माताऽपि स्फाटिकशिलामयी लक्ष्यते। तत्र शिरो नत्वा नारिकेलं च बलीकृत्य प्रतिनिवृत्तौ यथागतं तथैव। सर्पिश्च्युत् संयावं सेवित्वा पुनः कटरा-स्थलं पादयिकावेव प्राप्तौ। लब्धबसयानौ च सुखेनैव गतौ जम्मूम्। आगामिनि तिथावासीन्मम यानम्। प्राप्तेऽन्तराले दृष्टोऽस्माभिः संग्रहालयो जम्मूनगरस्थितः। तत्र समुद्रसंस्तरणोद्यतानां कपीनां यानि चित्राणि एकस्मिन्नेव फलके निर्मितानि तत्र साक्षात्कृतोऽस्माभिर्भावसन्निवेशः। सर्वेष्वपि वानरचित्रेषु स परिलक्ष्यते। प्रकाशयोजनाश्च सर्वेऽपि प्रोज्ज्वलाः। मुखमुद्रा तेषां समेषामेव निर्विचिकित्सा ससमुत्साहा च।

जम्मूनगरं हि मन्दिराणां नगरमुच्यते। भूयांस्येव भवन्ति तत्र मन्दिराणि येषु प्रमुखो देवोऽस्ति भगवान् दाशरथिः, भगवान् महेश्वरश्च। दाशरथिस्तत्र रघुनाथनाम्ना प्रोच्यते, अतश्च मन्दिरमपि रघुनाथमन्दिरमिति। रणवीरेश्वरनामके मन्दिरे स्थापितो भगवान् महेश्वरः पुनः स्फाटिकः शिवलिङ्गविग्रहः। पुरुषमानं स्फाटिकं लिङ्गमिदं मध्ये विराजते तत् परितश्च विराजन्तेऽन्यानि स्फाटिकान्येव लिङ्गानि। तान्यपि न भवन्ति प्रांशूनि। दर्शनमात्रादेव परिह्रियन्ते तमांसि द्रष्टॄणां चेतोभ्यः। द्विभूमिकमिदं विशालायतनं मन्दिरम्। द्वितीया भूमिका सोपानैर्लभ्यते। तवीनाम्नी सरित् पुरमिदं परिवेष्ट्य प्रवहति। सदानीरेयं स्वल्पयाऽपि वर्षया सुमहज्जलराशिपरिपूर्णा जायते। अस्यां यः सेतुः स यदि न भवति विच्छिद्यते जम्मूक्षेत्रं भारतवर्षतः। रक्षायै तस्य सततं जागर्ति नगरस्य कोणे दूरत एव लक्ष्यमाणा भगवती दुर्गा।

जम्मूनगरे भवति विदुषां समुदायः यत्र सततं संस्कृतविद्यातो जागरणम् तत्राहमप्याहूतः। आसँस्तत्रोपस्थिताः सोष्णीषशिरस्का नैके पण्डिताः। मया पुनस्तत्र काव्यप्रकाशस्य छिद्राणि प्रकाशितानि। तद्यथा-

1. मम्मटः काव्यं लक्षितुं न शशाक। स हि वामनीयं काव्यलक्षणमेव यथाकथञ्चित् प्रास्तौषीत्। 'अनलङ्कृती पुनः क्वापी'-ति कूटमपि प्रयुयोज। वृत्त्या कूटमिदं प्रकटयन्नपि कूटत्वमस्य छेत्तुं न प्राभवत्। अत्र 'स्फुटालङ्कार-विरहेऽपि न काव्यत्वहानिः' इति वचति 'लक्षणनामकं काव्यतत्त्वं' परामर्शविषयः, तच्चाभिनवगुप्तेन द्विधा समुद्दिष्टम् 'उपजातिवृत्त'-द्वारा 'अनुष्टु'ब्वृत्तद्वारा च। अनयोः षट्त्रिंशल्लक्षणानि लक्षितानि, किन्तु 18 लक्षणान्येव द्वयोरभिन्नानि, 18 पुनः प्रतिपरस्परं भिन्नानि। ततश्च 18+18+18 इत्येवमाहत्य 54 संख्या भवति भरतनाट्यशास्त्रे लक्षणानाम्। अस्ति चाभिनवगुप्तस्य घोषणा-'न शक्यते लक्षणानां संख्यायाः पारं गन्तुम्, तेषां वाक्यधर्मत्वात्, वाक्यानां च पदार्थसम्बन्ध-रूपतयाऽनियतसंख्याकत्वम्। संवादवाक्यधर्मत्वेनापि लक्षणानां प्रतिपद्यतेऽसंख्यता। इयं खलु सा दशा

काव्यजातकस्य यत्र 'विपुलवक्षस्त्वा'-दिकानि, शोभा विलासा विच्छित्तिरित्यादयो विशेषा विकस्वरावयवा जायन्ते, विकासस्य पूर्णतायां संपन्नायां पुनरिमान्येवालङ्कारा उच्यन्ते। अलङ्कारत्वं हि काव्ये तस्यां दशायां प्रतिपद्यते यां प्राप्य ततोऽन्यन्न किमपि प्रेप्स्यते। अलमलमिति या वारणा तस्यां शकुन्तलायां मेनकात्वं भजमाना या परितृप्तिः सैव लिङ्गमलङ्कारत्वस्य। तत्रैव समापतन्ति 'गुणाः, रसाश्च। ततश्च मृषोद्यमिदं यद् 'यः कौमारहर' इत्यस्मिन् पद्ये 'रसस्य च प्राधान्यान्नानात्रालङ्कारते'-ति।

इयमपि कूटोक्तिर्मम्मटस्य। अत्र प्रष्टुमावश्यकं 'कस्य वा रसेष्वलङ्कारत्व'-प्रतिपत्तिरिति। अत्रोत्तरं 'पूर्ववर्तिनां सर्वेषामेवाचार्याणामि'-ति। तथाहि 'दण्डी, भामहः, वामनः, उद्भटः, रुद्रटश्चे'-ति प्राञ्चः सर्वेऽपि विद्वांसः 'अलङ्कार'त्वेनैव प्रास्तुवन् रसान्। यैश्चाऽत्रानुपपत्तिरन्वभावि तेष्वाद्य आनन्दवर्धनः, द्वितीयश्चाभिनवगुप्ताचार्यः। मम्मट एतयोरेव श्राद्ध एतयोरेव मार्गमनुवदति।

'रसस्य प्राधान्यमेव भवति, अलङ्काराणां पुनः कटककुण्डलोपमानामप्राधान्यमेव' इति हि ध्वनिवादिनां श्रद्धा। अत्र विच्छिन्नो वैदिको ब्रह्मवादः। वेदेषु हि अलमिति पदम् 'अरमि'-ति पठ्यते। अर्थे चोभयोरपि स्वीक्रियतेऽभेदः। तदिदमलम्पदं साहित्यब्रह्मणो वाचकम्। तद्यथा–अग्निपुराणे वचनम्–

अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमलं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्।। इति

अत्र अलमित्यस्य स्थाने मुद्रितेष्वग्निपुराणसंस्करणेषु 'अजमि'-ति लभ्यते पाठः, स एव चोद्धृतः काणे-डे-राघव प्रभृतिभिः इतिहासज्ञैर्विद्वद्भिः। तत्कथमलमिति पठ्येतेति प्रश्न उत्तरम् '1934 संवत्सरे निर्णयसागरतः प्रकाशितस्य साहित्यदर्पणस्य परिशिष्टे यदग्निपुराणमुद्धृतं तत्र 'अलम्' इत्येवोपपत्तिशुद्धः पाठः। उपपत्तिश्चेयं यत् सर्वैरप्याचार्यै रैकमत्येन चमत्कारस्य काव्यात्मत्वमूरीकृतम्। यश्च चमत्कारः स नास्ति भिन्न आनन्दविशेषात्, आनन्द इव ब्रह्मणः। यथैतत् तत् पण्डितराजस्य 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्य'-मिति काव्यलक्षणाधिकरण एव शक्यलाभम्। तथा हि–'रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता। लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जातिविशेष' इति। सोऽयमानन्दो ब्रह्माभिन्नस्य प्रत्यक्चैतन्यात्मना स्थितस्य जीवात्मन एव कला। रसं परमयन्तः प्राञ्चः शब्दमात्रपरिवर्तनजन्यनवीनभावाः काव्यसम्प्रदायिनः, तत्त्वतस्तु 'रसाः, उपमादयः श्लेषादयश्च सम्भूय यं ह्लादसम्मिश्रं प्रकटयन्ति तस्यैव संज्ञा रस इति, रामणीयकमिति, सौन्दर्यमिति, चमत्कार इति। 'सर्वत्र सर्वे धर्मा' इति पथा न शक्नुमो विविक्ततामेतेषां कर्तुम्। रस इति तु तेषां समेषां काव्यधर्माणां समानमभिधानम्, अलङ्कार इति वा। एतेषां कृते भोज उक्तिपदमुपाददे 'स्वभावोक्तिश्च वक्रोक्ती रसोक्तिश्चेति वाङ्मयम्' इति सरस्वतीकण्ठाभरणालङ्कारे। अत्र रसोक्तिरिति रसायोक्तिरिति विग्रहणीयम्, उक्तिकर्मतया ग्राह्यं च विभावानुभावसञ्चारिजातम्। सम्बद्धा इदानीं रसिकैकनिष्ठतया प्रचार्यमाणाः, ततश्च काव्यशरीरनिष्ठतया अप्रतिपाद्यमाना रसभावाः काव्येनापि। ये हि रसिकस्यैव प्रत्यक्चेतने तिष्ठन्ति ते तन्निष्ठा गुणाश्च ध्वनिवादे काव्यनाट्यचित्रादिभिरभिव्यज्यन्ते। तत्र प्रश्नाः किं तत्राऽसाधारण्यं येन नामी व्यज्यन्तेऽकाव्यादिना। तत्र किं नास्ति येनेदृशमसामर्थ्यमेतेषाम्। अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां सेयं विभावादिसामग्र्येव। अथ कथमियं न भवति काव्यस्यालङ्कारः तेन रसस्य महिमा हीयेतेति कृत्वा नाश्रीयते स व्रज्या। तर्ह्यसम्बद्धानुदीरयन्तु भवन्तः काव्यैः सह रसादीन्। अलङ्कारपदस्य

लोके भूषणत्वेन दुष्प्रचार:, तादृशी बाह्यता, हेयता च मा प्रासङ्क्षीद् रसेष्विति बिभिम:। साधु, रसस्य प्राणप्रदतां स्वीकुर्वद्भि: काव्यात्मतास्वप्नस्तु भवतां सहृदयतातिशयं द्योतयतीति धन्यगिरो वयं भवद्भ्य:, तथ्यवादेऽवहितै र्न गृह्यते प्रत्युपस्थितमतथ्यम्। अत एव चौरत्वेन निगृहीतोऽप्यचौरो न्यायरूपेण परात्परेण भगवता धर्मराजेन तथोद्घुष्टोऽचौर एव प्रतिपद्यते व्यवहारेषु। संकोच एष यद् रसा नालङ्कारा इति।

क्व ब्रह्मसंज्ञाऽलमिति क्व चास्य विभूषणत्वेन विदां दुराग्रह:।
तस्मादलङ्कारपदं मनुष्यपदं यथाऽस्मभ्यमुपासितव्यम्॥

कटककुण्डलादय: प्रत्यक्षा अपि भवन्ति आगमापायिनश्च। साम्येनैतेन भ्रान्तो ध्वनिवादोऽलङ्कार-मप्युपमादिकं वाच्यत्वेन निगडयति। तर्कविरुद्धं च तत्। शताब्दीद्वयमतीत्य यत् तर्कशास्त्रं प्रतिष्ठितं तत्र पदार्थमात्रस्य भवति वाच्यत्वम्, न वाक्यार्थस्य। वाक्यार्थ: पदार्थसम्बन्धरूपो भवति। सम्बन्धस्य च प्रत्यायिका भवति 'आकाङ्क्षा'-दि सामग्री। न तस्य कृते प्रयुज्यते किञ्चन पदं वाक्ये। ततश्च स अपदार्थ इत्युच्यते। मीमांसकास्तत्कृते तात्पर्यनाम्नीं शक्तिमूरीकुर्वन्ति, वैयाकरणा: पुन: प्रतिभाम्। उपमादयोऽलङ्काराश्च नियमत: पदार्थसंसर्गरूपा भवन्तीति कथमेषां वाक्यार्थरूपाणामभिधास्पष्टत्वरूपम् वाच्यत्वम्। ध्वनिवादस्येयमपि प्रतिज्ञा तार्किकोत्तमेषु नालभत प्रतिष्ठाम्। अथोच्यते वाच्यत्वं नाम स्फुटमगूढतया वा झटिति प्रतिपन्नत्वम्। इवादिशब्दै: संप्रयुक्तैरुपमादयो भावा: स्फुटं प्रतीता भवन्तीत्येतेषां वाच्यकल्पत्वमेव वाच्यत्वमिति, तर्हि गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमेषां सिध्यति 'अगूढमपरस्याङ्ग'-मित्यष्टसु गुणीभूतव्यङ्ग्येषु 'अगूढस्य' व्यङ्ग्यस्य काव्यप्रकाशे प्राथम्येन गणनात्। अस्ति चायं क्षुण्णचर: पन्था आनन्दवर्धनस्य, ध्वन्यालोके तेन प्रायेण समेषामेवालङ्काराणां गुणीभूतव्यङ्ग्यवर्गे गणनाया: प्रतिज्ञातत्वात्। एवमपि पराहत एव वाच्यत्ववादोऽलङ्काराणाम्। अत एवोक्तमस्माभि: काव्यालङ्कार-कारिकायाम्–'अलङ्कारोऽपि वाच्यत्वं नैव स्पृशति जात्वपि। (33) इति कारिकामारभ्य–

'काव्ये सर्वेऽप्यलङ्कारा वाक्यार्थविधया सताम्।
संवित्कुटीशुकायन्ते न लभन्ते च वाच्यताम्॥ (42)

इति कारिकां यावद् दशभि: कारिकाभि:। सेयं स्थालीपुलाकतया ध्वनिवादस्येव काव्यप्रकाशस्य परीक्षा।

जम्मूगतै: सुमनसां प्रवरैस्तदैतदाकर्णि कीलितमुखै: प्रतिवादहेतो:।
अत्रास्ति हेतुरियमेव महीयसी न: काचित् स्वसा, जयतु वेदकुमारिका न:॥
रामप्रताप रघुनाथपुरानिवासो भूम्यामभूद् भवति नाकतलाधिवास:।
नो चेत् कथं समुदिता प्रतिभा भवत्सु काचिच्चमत्कृति'-गुणा ननु काव्यशास्त्रे॥
भूयाच्चिराय भवतोर्यशस: पुराणशास्त्रेषु नव्यतमताप्रजनाऽर्जितस्य।
व्याप्तिश्चराचरनभ:प्रसृताऽद्वितीया सम्पन्न-सर्व-जन-सौस्थ्य-समेधितस्य॥
रेवाप्रसादस्य सनातनस्य घईयुगे सन्ततसौहृदस्य।
शब्दा इमे स्यु: प्रगुणा: प्रसादमाङ्गल्ययोगाय सनातनाय॥

शुभाशंसनम्

प्रो. विश्वमूर्ति शास्त्री

ज्ञाने सरस्वतीतुल्या वाचि देवगुरूपमा।
जम्बुमण्डलवास्तव्या वेदघई जयं व्रजेत्॥1॥
सम्पत्तौ च विपत्तौ या समत्वेनावतिष्ठते।
गुणानां सा निधिः साक्षाद् वेदघईति कथ्यते॥2॥
नैकशास्त्रेषु निष्णाता संस्कृतशिक्षणे रता।
वेदघई कलायुक्ता रामप्रतापभाग्नुते॥3॥
वेदज्ञाः शैवशास्त्रज्ञा नानाभाषाविशारदा।
लोकोत्तरगुणैः स्वीयैः ख्यातिं याता भुवस्तले॥4॥
रामार्थे जीवनं तस्या रामार्थे सर्वमर्जितम्।
रामाय निखिलं दत्त्वा सिद्धिं परामवाप्नुयात्॥5॥

प्रो. वेदकुमारी घई का अनुकरणीय व्यक्तित्व

जम्मूकश्मीर प्रान्त विद्वानों की तपःस्थली रहा है, इसके बहुत से विद्वान् अपनी रचनाओं से साहित्य को समृद्धिशाली बनाकर अपने नाम को इतिहास में अमर कर गए हैं। वैभवशाली बुद्धि प्रत्येक व्यक्ति की नहीं होती यह तो ईश्वरप्रदत्त वरदान होती है। मन्दिरों का शहर जम्मू अनेक शिक्षाविदों की जन्मस्थली एवं कर्मस्थली के रूप में प्रसिद्ध रहा है जिसमें प्रो. वेदकुमारी घई का असाधारण स्थान रहा है। इनका जन्म 16 नवम्बर, 1932 ई. में इसी नगर में हुआ था। पारिवारिक संस्कारों से सुसंस्कृत आपका झुकाव संस्कृत की ओर प्रारम्भ से ही रहा है। संस्कृत में प्राज्ञ एवं एम.ए. तथा हिन्दी में प्रभाकर की परीक्षा उत्तीर्ण करने के अनन्तर आपने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से एम.ए. प्राचीन इतिहास एवं भारतीय संस्कृति की परीक्षाएं उत्तीर्ण करके भारतीय संस्कृति के मूर्धन्य विद्वान् प्रो. वासुदेवशरण अग्रवाल के मार्गनिर्देशन में अपना शोध कार्य सम्पन्न किया और पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। डॉ. घई ने 1951 में राजकीय महिला महाविद्यालय परेड से अपना अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया था। 1962 में जम्मूकश्मीरविश्वविद्यालय के जम्मू केन्द्र में संस्कृतविभाग की स्थापना के समय से ही आप विभागाध्यक्ष पद पर सुशोभित होती हुई 30 वर्ष तक कार्य करती रहीं। आपने संस्कृतविभाग को उन्नत करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। नगर

की भिन्न संस्थाओं में विविध पदों पर रहते हुए राज्य में संस्कृतभाषा के प्रचार प्रसार के लिए अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इसकी अभ्युन्नति के लिए आज भी आप सक्रिय हैं।

प्रो. घई ने डेनमार्क के कोपेनहेगन विश्वविद्यालय में जाकर भाषाविज्ञान की एक शाखा ''श्रौत भाषा'' विज्ञान पर शोधकार्य किया है। आपने अपने अध्यापन काल में अनेक विद्यार्थियों को संस्कृतभाषा की शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया है, जिसके फलस्वरूप राज्य के विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों में आपके शिष्य उच्चपदों पर आसीन हैं। आपने अपने सौम्य व्यक्तित्व तथा प्रभावशाली कृतित्व से संस्कृतसाहित्य की श्रीवृद्धि करते हुए अनेक पुस्तकों का लेखन एवं सम्पादन किया तथा कई सारगर्भित लेखों से विद्वज्जनमानस को तरङ्गित किया। शोधकार्य में रुचि रखने वाले विद्यार्थियों को आपका कुशल एवं सक्षम मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है। आपका सादगी से सम्पन्न सरल एवं सौम्य व्यक्तित्व समाज के लिए अनुकरणीय और प्रेरणा स्रोत है। झुग्गी-झोपड़ी में रहने वाले बच्चों तथा महिलाओं के उत्थान के लिए आपके द्वारा स्थापित (वसुधैव कुटुम्बकम्) नामक संस्था भी समाजसेवा में आपकी सक्रिय भूमिका की परिचायक है।

संस्कृतसेवा के लिए राष्ट्रपतिसम्मान से भी आपको सम्मानित किया जा चुका है। इसी वर्ष (2009) में राज्यसरकार ने आपको "Life Time Achievement" (आजीवनोपलब्धि पुरस्कार) से सम्मानित किया है।

संस्कृत और संस्कृति के क्षेत्र में कार्य करने वाले विद्वानों, साहित्यिकों, अनुसन्धाताओं और सामाजिक कार्यकर्ताओं के लिए प्रो. वेदकुमारी का जीवन अनुकरणीय, वन्दनीय एवं अभिनन्दनीय है।

सम्माननापञ्चदशी

प्रो. सुरेन्द्रमोहनमिश्रः

विद्यावतां जयति कापि विलासभूमिः
सारस्वती जगति सत्यजरामरा या।
त्रैगर्तभूर्भजति जम्मुरिति प्रसिद्धा
वेदादिशास्त्रसमयेष्वमितप्रतिष्ठा॥1॥

तत्रार्जितं जनुरुदात्तवदान्यकीर्ति
श्रीमद्घईकुलललामपवित्रमूर्त्या।
तोषिप्रसन्नतटसद्मनि सद्भिरुक्ता
सार्थाह्वयाथ वत वेदकुमारिकेति॥2॥

काश्यां निकषभूतायां विद्यास्वर्णं चिकित्सितम्।
साङ्गेषु सरहस्येषु वेदेषु गुरुगौरवात्॥3॥

संस्कृतं संस्कृतिञ्चाद्धा सेतिहासामुपेयुषी।
शर्मण्यायाञ्च डेनिश्यामश्नुवानामितां गतिम्॥4॥

जम्मौ श्रीनगरे वापि समध्याप्य च संस्कृताम्।
विश्वविद्यालयेऽध्यक्षाचार्यपदे दधौ॥5॥

दधाना स्वगुणैरार्यैः शोभां कुलस्य सा पराम्।
विवाहकौतुकं भेजे कौटुम्बवरणादिभिः॥6॥

संशोधने कृतमतिर्बहुभिर्निबन्धै-
र्ग्रन्थैर्विशिष्टविषयैः कृतवत्यमोघम्।
शास्त्रार्चनं सुरगिराऽऽङ्गलकादिवाग्भि-
स्ताभिर्विदेशनिजदेशजनप्रबोधम्॥7॥

श्रीनीलमतसंज्ञाकं पुराणं प्रतिसंस्कृतम्।
पाठालोचनसिद्धान्तह्यनुसृत्य विदग्धमा॥8॥

सांस्कृतिकञ्चाध्ययनं गिराङ्गल्या साधितं तया।
जन्मभूमिं च सत्कृत्वा वैदुषी विशदाऽऽहिता॥9॥

प्रतिभा कारयित्रीति भावयित्रीति या मता।
सा स्वभावोद्‌गता यस्यां कवयित्र्यतिरिच्यते॥10॥

शब्दब्रह्मनिषेवणे तपसि संख्याता सभास्वक्षया
कीर्तिर्देशविदेशदिक्षु वलिता यच्छिष्यसत्पादपाः।
गार्हस्थ्येऽप्यथ लोकसंग्रहधिया या लोकमाराधयत्
सा नित्यं कतिभिर्जिगीषुरतुला सत्याध्वरे सन्तमः॥11॥

धेनुमार्गादि-जनगतकथासाहितीसंदिदृक्षु
र्लेभे तत्रामरभरतभूमूलधीप्रत्यभिज्ञाम्।
तत्रत्यानामपि च जगतां पण्डितानां प्रमाणं
प्रापय्यासौ स्वमतिमहसोत्कर्षमाप्ता कृतार्था॥12॥

ये ये सम्मानमानाः समधिगतचराः साम्प्रतञ्चाधियन्ति
जम्मूकश्मीरभागे विलसति महिता वैदुषी कापि चेति।
तद्भोः स्वान्तः प्रदीपः सुजनजनहितं यत्प्रमाणं वहन्तः
सन्तो विद्वांस आर्या वटुकुलकुलिनो नित्यमादर्शयन्ति॥13॥

भारतीभूतिसंगोप्त्री वैदुषी विनयोर्जिता।
आचार्या र्या कृतिमती सर्वस्य मानमर्हति॥14॥

शेषेऽशेषं भजामो भजतु गुरुकुलोत्तंसविद्यावतंसा
स्वीयैश्चारित्ररत्नैरनघगुणगणैर्दर्शनैर्ज्ञाननिष्ठैः।
आचार्या दिव्यमूर्तिः स्वपरहितमयी सार्त्विजीना कुटुम्बैः-
प्रोचाना स्वस्थदेहा वसतु हि शरदां तच्छतं श्रौतमिद्धम्॥15॥

मुन्नी से वेदकुमारी घई तक

-पद्मा सचदेव

बुजुर्गों ते दोस्तों में अपनी गल्ल आक्खने कोला पहले डोगरी च इक कवता पढ़ना चाह्नी आं। जम्मू आनिऐ बी हिन्दी च गे बोलना किश ओब्बड़ नेया सेई हुन्दा ऐ। होना बी चाहीदा। खेर कविता इयां ए।

कन्धा कन्ने लग्गी दी फोटू जड़ी
साख जियां ऐ नरातें च रड़ी
साह बी लैन्दी ऐ तां मिनियै लैन्दी ऐ
ऐ जनानी जात ऐ जां इक घड़ी

डोगरी में यह चौमुखा पढ़ने के बाद अब मैं हिन्दी में बोल सकती हूँ। वैसे जो मैंने इस चौमुखे में कहा है आज भी ज्यादातर औरत की यही स्थिति है।

जब भी दो मुल्कों में जंग हुई दो घरों, दो गलियों, दो बाज़ारों में लड़ाई हुई तो उसने इसकी मां की गाली दी इसने उसकी मां को गाली दी। मां बहिन की गाली वैसे भी बातचीत के सिलसिले में काफिऐ के तौर पर इस्तेमाल की जाती रही। इसमें पुरुष ने अपना बाहुबल प्रदर्शित करके गर्व का अनुभव किया।

कुछ स्त्रियों के विभिन्न क्षेत्रों में नाम कमा लेने से स्त्री की हालत में बहुत ज्यादा सुधार नहीं हुआ। आज भी उसकी ज़ुबान पर ताला लटक रहा है। आज भी वह जलने पर मजबूर है आज भी वह नम्बर दो शहरी है जिन स्त्रियों ने इन हालात में भी ज़रा सा हटकर अपना अस्तित्व बनाए रखने की मिसाल पेश की है उनमें हमारे जम्मू शहर की जानी मानी विदुषी, सौम्य, सुसंस्कृत, कई छात्राओं के स्नेह से भीगी, साहित्य के कई पृष्ठों में झाँक कर उनमें से फूल तोड़ कर उनकी सुगन्धि बिखेरती डॉ. वेदकुमारी घई भी हैं। आज उन्हीं के सम्मान के इस अवसर पर मुझे कल्चरल अकादमी ने यहाँ बुलाकर इस यज्ञ में शामिल होने का न्यौता दिया है। उसका धन्यवाद करने के लिये मेरे पास शब्द नहीं है।

मैं डॉ. वेदकुमारी घई की छात्रा नहीं रही जिसका अफ़सोस मुझे, हमेशा रहेगा। बचपन में अपने से बड़ी लड़कियों से इनका गुणगान सुनकर इनकी छात्रा बनने की ललक मेरे मन में भी सर उठाती रही पर अपने मन में कुछ और था। कविता लिखने के लिये विद्वान् होने की शर्त नहीं होती। बकौल अकबर।

इश्क को दिल में दे जगह अकबर इलम से शायरी नहीं आती।

और कवि पीछे मुड़ कर देखे तो क्या कुछ नहीं देखता। बात 1935-36 की होनी चाहिये। विद्वानों, मनीषियों के घर में वाणी खुलने पर मुन्नी ने विद्वानों की उंगली पकड़ कर चलना सीखा। जिसने पैदा किया वो न रहीं तो इनकी ताई की खाली गोद ने इन्हें अपार ममता व चाव से सहेज लिया, वही तो मां हुई। उसी गोद में बैठना, बात करना, उठना, गिरना, ज़िद करना, हंसना, रोना सब सीखा। मां बाप की आंख का तारा थी यह मुन्नी। मां गुरुकुल की पढ़ी हुई थी। नाना डॉक्टर थे उनकी डिस्पैंसरी नहर पर थी।

जब विदुषी माँ बहू बनकर ससुराल आई तो लोगों ने आँखें विस्फारित करके कहा चारों वेद पढ़ी हुई बहू आई है। यह सुनकर आर्यसमाज स्कूल के अधिकारियों ने उन्हें अपने स्कूल में पढ़ाने के लिये बुला लिया। वहाँ हिन्दी संस्कृत पढ़ाते हुये अपनी बढ़ती बच्ची के मन भी उन्होंने जरूर यही बीज डाल दिये होंगे। जब पुत्री को स्कूल में दाखिल करवाने लेकर गई तो लड्डुओं का टोकरा भी साथ था उस समय यही रिवाज़ था। पर ये रिवाज़ बेटों के लिये था। बेटियां तो अभी भी मिट्टी में दफनाई जा रहीं थीं।

लड़की को अव्वल तो स्कूल में डाला ही न जाता था अगर डाल भी दिया तो लड्डू बाँटने की मूर्खता कोई न करता थ। तब अपने दाखिले पर स्कूल में छात्रों को लड्डू खाते देख मुन्नी को लगा मैं विशेष हूँ सब से अलग।

तब स्कूलों में बड़ी आत्मीयता का वातावरण हुआ करता था। तब मैम या सर कहने के बाद पीछे से छात्र शिक्षकों की भर्त्सना न करते थे तब शिक्षिकाओं को छोटे भैन जी, बड़े भैन जी और शिक्षकों भाइया जी आदि कहा जाता था। शिक्षक शैतान बच्चों पर नाराज़ भी होते थे। अब आप डॉ. घई की मासूमियत पर मत जाइये। बचपन में इन्होंने खूब शैतानी की है। जो बचपन में शैतानी नहीं कर पाते वे बड़े होकर करते हैं यह दूसरी बात है।

वो वक्त देश प्रेम का जमाना था आपके दादा जी गांधीवादी विचारों के थे। आर्यसमाज स्कूल का वातावरण बड़ा सात्त्विक व देशभक्तिपूर्ण था, परिपूर्ण स्वतंत्रता के लिये जूझती कांग्रेस के प्रभाव में था। तब से मुन्नी ने खद्दर पहिनना शुरू किया जो आज की डॉ. वेदकुमारी घई तक शामिल है।

डॉ. वेदकुमारी घई जी से बात करते हुये मुझे कभी भी यह नहीं लगा कि मैं किसी विदुषी के पास बैठी हूँ। अपनी सरलता से वह मेरे करीब हो आई थी। करीब होने में एक दूसरे जैसा हो जाना पड़ता है। उन्होंने मेरे लिये अपने अतीत के सभी द्वार खोल दिये। उनके चेहरे पर बच्चों जैसी उत्सुकता और ऋषि जैसी सात्त्विकता थी। वे मुझे अच्छी तरह याद है तब मैं पाँच छः बरस की थी नेहरू यहाँ आये थे। अजायबघर में जल्सा हुआ था। पिता जी ने मुझे कंधों पर उठा कर उनके दर्शन करवाये थे। उसके बाद उत्तम थियेटर में उनका भाषण था। सीमान्त गांधी खान अब्दुल गफ्फार खां भी पधारे थे। उनका भाषण सुनने आई भीड़ बेकाबू होकर जब दरवाज़े तोड़ कर भीतर आई तब सीमान्त गांधी तो पूर्ववत् भाषण देते रहे, पर नेहरु जी गुस्से में भीड़ के भीतर घुस कर

लोगों को पकड़-पकड़ कर मारने लगे। तब जाकर भीड़ शान्त हुई। अतीत के मोड़ों में से निकलते निकलते उन्हें फिर स्कूल की याद आ गई कहने लगीं–

जब मैं स्कूल में ही थी तब बारिश न होने से आटा रुपये का चार सेर हो गया। बरसात हो इसके लिये हमारे स्कूल में तीन दिन यज्ञ हवन करने का फैसला हुआ। गरीबों की बस्तियों में हम जगह-जगह जाकर यज्ञ में आकर भोजन करने का न्यौता देने गये। पर्चियां बाँटी। यज्ञ की पूर्णाहुति होते-होते मूसलाधार बारिश शुरू हो गई। मुझे याद है हमने स्कूल के छोटे-छोटे कमरों में सबको बिठाकर खिलाया। चावल, दाल, खीर, पूड़ियां और आँवले का आचार।

जैसे एकदम याद आया हो। डॉ. घई ने कहा ज़िन्दगी में एक ओर सुखद घटना हुई। जनेऊ सिर्फ लड़कों का होता है पर मेरी माँ ने मेरा जनेऊ भी किया। पहिले दिन मुझे व्रत रखवाया गया। दूसरे दिन यज्ञ हुआ। गुरु जी ने परीक्षा ली मंत्र सुने। मेरी अंजुरि में पानी भर कर यज्ञ की परिक्रमा करने को कहा। परीक्षा यह थी कि अंजुरि से एक बूंद पानी भी नहीं गिरना चाहिये। इसमें मैं सफल हुई और फिर एक अच्छा बर्तन मंगवा कर पानी उसमें डलवाया गया। गुरु ने कहा कि इसी तरह ज्ञान अर्जित करके सुपात्र को देना।

मैंने ज़रा शरारत से पूछा क्या कोई सुपात्र मिला। उन्होंने मेरा सवाल नज़र अन्दाज़ करते हुए कहा, वही सुप्त संस्कार मुझे टीचिंग की तरफ लाया।

पर मैं अंजुरि में पानी भर कर एक बूंद भी बिना गिराये चलने की बात सोच रही थी। बिना जनेऊ कराए भी स्त्रियों को अंजुरि में पानी भर कर बूंद भी नीचे गिराये बिना सारी उम्र चलना पड़ता है।

डॉ. घई कह रही थीं:–

मैंने दसवीं यहीं आर्यसमाज स्कूल में की। आधी छुट्टी के खाली समय में पं. लब्धराम जी लघुसिद्धान्तकौमुदी पढ़ाते थे। दसवीं के पेपर दिये तो एक दो महीने का समय था उस बीच मैंने प्राज्ञ पास कर ली। कॉलेज में साथ-साथ प्रभाकर भी हो गई। हमारा कॉलेज कच्ची छावनी में था। मेरे साथ शुन्ते और एडलीन रूही भी पढ़ती थीं। मैं कॉलेज के दिनों में कविता लिखती थी। एक दिन मैं किसी कारणवश कॉलेज न गई तो वहाँ से बुलावा आ गया। पता चला शेख साहिब की बेगम आने वाली हैं। मैंने उन्हें देशभक्ति की कविता पढ़कर सुनाई। वो बड़ी बाज़ौक महिला हैं खूब खुश हुई।

अपनी पढ़ाई के बारे में उन्होंने कहा।

यहाँ संस्कृत की एम.ए. न थी। मैंने जालंधर से एम.ए. की। एम.ए. में मेरी फर्स्ट पोज़ीशन आई तो अखबार में फोटो छपा। एम.ए. करते ही नौकरी लग गई। दूसरी एम.ए. मैंने प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं इतिहास विषय पर की है। नौकरी तो कर ही रही थी यहाँ जब जुलाई में छुट्टियां होती थीं, तब बनारस में कॉलिज खुलते थे। मैं वहाँ जाकर डेढ़ महीने में बरस की पढ़ाई खत्म

कर लेती। पहिले वर्ष प्रथम आई तो दूसरे वर्ष में दूसरा नम्बर मिला।

तभी उनके विद्वान् पति ने आकर उनके कंधों पर कंबल डाला। ये देखकर मेरे मन में बड़ी प्रसन्नता हुई। मैंने उन्हें छेड़ा जो मेरा हक है। मैंने कहा:–

ये सेवा भाव हमेशा से है या मुझे प्रभावित कर रहे हैं। उन्होंने बड़ी मुलायमियत से कहा:–नहीं ये अस्वस्थ है, देखभाल तो करनी ही पड़ती है।

डॉ. वेदकुमारी जी ने हंस कर कहा, ये कहते हैं जब मैं स्कालरशिप के साक्षात्कार के लिए दिल्ली गई थी तो ये भी वहां प्रत्याशी थे पर मुझे याद नहीं है।

मैंने भी मज़ाक किया:–इनकी नज़र तभी से आप पर रही होगी। इस पर ठहाका कहाँ लगता, थोड़ी मुस्कुराहट झांक कर लौट गई। बात को आगे बढ़ाते हुये डॉ. घई ने कहा, जब डॉक्टरेट करने के लिये स्कॉलरशिप मिलने की सूचना आई तब कॉलेज में मिस शाह प्रिंसिपल थीं। उन्होंने कहा आप जाइये स्टडी लीव मिलती रहेगी एक महीने की छुट्टी तो मैं ही दे सकती हूँ। विद्यार्थियों को पता चला तो उन्होंने ताबड़तोड़ विदाई समारोह का आयोजन कर दिया। उन्होंने मुझे बड़ा सुन्दर पार्कर पैन भी दिया था।

मैंने नीलमतपुराण पर रिसर्च की है। वहीं मैंने समय का सदुपयोग करते हुये जर्मन भी सीखी। 1960 में डॉक्टरेट करके वापिस आ गई।

उस वक्त डा. कर्णसिंह की धर्मपत्नी युवरानी यशोराज्यलक्ष्मी को हिन्दी भी पढ़ाई। महारानी निहायत सादा स्त्री हैं मेरे लिये पानी खुद लाती थीं। डॉ. साहब श्रीनगर से फोन करके पूछते आज क्या पढ़ा। उन्हें पढ़ने का बहुत शौक था।

काफी बातें हो गई थीं, मैं उनके विद्वान् मनीषी मन के किसी कोने में कुछ चाशनीमें भीगी ढूँढ रही थी।

मैंने पूछा इतनी उम्र तक क्या कोई अच्छा नहीं लगा। अक्सर ये बात औरतें गोल कर जाती हैं। उन्होंने इसे सपाट करते हुये कहा।

नहीं, पढ़ने के सिवा कुछ न सूझता था। राजनीति में भी दिलचस्पी न थी। किसी ने कहा था सरस्वती की पूजा मां का प्यार है, पर राजनीति का प्यार वेश्या का प्यार है। मैं सरस्वती ही की पुजारिन होना चाहती थी।

शादी की बात उन्होंने यूँ बताई। मैं 28 वर्ष की हो गई थी। लड़कों से कभी सम्पर्क नहीं रहा। 1962 में मेरी ट्रॉंसफर श्रीनगर हो गई। चीन के हमले के वक्त हम लड़कियों के होस्टल में जाकर जवानों के लिये स्वैटर बनवाते थे। उस वक्त मिस महमूदा प्रिंसिपल थी। अचानक उन्होंने देखा ठंड से मेरी उंगलिया गल गई हैं उन्होंने मुझे जम्मू डिप्यूट करके भेज दिया, उनका ये स्नेह अब तक मेरे साथ है।

फिर मेरे घर में पता चला होशियारपुर में एक विद्वान् लड़का है। इनको देखने मेरी मां व चाचा-चाची होशियारपुर गये। चाचा ने इनकी कमीज़ का टूटा बटन देखकर सोचा इन्हें पत्नी की सख्त जरूरत है भले ही वह विदुषी हो। यह चाचा जी को भा गये। चाचा जी ने फ़िदा होकर सौ का नोट इनकी जेब में ठूंसा, 29 तारीख थी। इनकी जेब खाली थी भर गई।

विवाह हो जाने के बाद पहिली पुस्तक छपी। उन दिनों रियासत में प्रसिद्ध इतिहासकार के. आर. पन्निकर जम्मू-कश्मीर के वाइस चांसलर थे। उन्होंने कश्मीर के इतिहास पर मेरी थीसिस नीलमतपुराण पढ़ कर रियासत के मुख्यमंत्री सादिक साहेब को पत्र लिखकर कहा।

यह पुस्तक अद्‌भुत है इसे तुरन्त छापना चाहिये। जम्मू कश्मीर के इतिहास के अलावा मेरे मन में डोगरी के प्रति जो सम्मान था उसके लिये भी कुछ करने की चाह हमेशा पीछा करती थी। मैं डेनमार्क में ध्वनि विज्ञान पर काम करने गई तब मैंने डोगरी के सुरों पर काम किया। कोपन हेगन में विश्व की कई भाषाओं पर काम हो रहा था। वहाँ डोगरी को जोड़कर मुझे एक सुखद अनुभूति हुई।

मैं अब अपनी ओर से मज़दूर बच्चों के लिये काम कर रही हूँ जिनका बचपन आने से पहले ही ख़त्म हो जाता है। जो मां बाप की आर्थिक सहायता करने के लिये मजबूर हैं। इन बच्चों को शिक्षा देने का प्रयास वसुधैव कुटुम्बकम् वेलफेयर सोसायटी द्वारा कर रही हूँ।

कश्मीर जो कभी संस्कृति का गढ़ था। शारदापीठ थी। देश के हर कोने से मनीषी आकर इसे समृद्ध करते थे। वह सब कहाँ चला गया विष्णुधर्मोत्तरपुराण जम्मू में लिखा गया। ये नीलमतपुराण से बहुत बड़ा है। इस पर अपने छात्रों से मैंने कुछ काम करवाया है। मैं चाहती हूँ यह घर-घर पहुँचे।

कश्मीर की बात करते हुये एक निरंतर होने वाली पीड़ा आँखों में सूर्य की लाल रोशनी की तरह फैल जाती है। पता नहीं ये सब कैसे हो गया। हमने तो कभी फर्क नहीं देखा। श्रीनगर में सब इतना प्यार करते थे। आज की दर्दनाक हालत ने मनुष्यता को स्तब्ध कर दिया है, हाथ मल कर वो बोलीं।

हम चिनारों की छाँव में बैठना चाहते हैं। हिमालय की हवा को अपनी आंखों पर महसूसना चाहते हैं। डललेक में गिरती सूर्य की किरणों को नहाते हुये देखना चाहते हैं। कश्मीर की मेहमानदारी में भीगना चाहते हैं। पता नहीं क्या हो गया?

मैंने मन में सोचा अब वह कश्मीर कहाँ रह गया है?

हम जम्मू कश्मीर के लोगों की बात कहीं से भी शुरू हो कर कश्मीर के आज के हालात पर आकर रुकती है। वैसे ही जैसे विधवा की चूड़ी टूट जाए, जैसे दिल टूट जाएं रिश्ते टूट जाएं, जैसे आसमान की बुलंदियां छूती मोहब्बत की पींग टूट जाए।

प्रो. वेदकुमारी घई के व्यक्तित्व के विविध आयाम
समाजसेवा

प्रो॰ चम्पा शर्मा

जम्मू-कश्मीर राज्य की प्रतिष्ठित महिला संस्कृत, हिन्दी, डोगरी, अंग्रेज़ी आदि भाषाओं की विदुषी, बहुमुखी प्रतिभा की स्वामिनी प्रो.. वेदकुमारी घई एक लब्धप्रतिष्ठा समाजसेविका भी हैं। समाजसेवा के क्षेत्र में इनकी विशेष पहचान है।

संवेदनशील प्रो. वेदकुमारी घई को समाजसेवा का संस्कार उनकी माता स्वर्गीया श्रीमती विद्यावती घई से प्राप्त हुआ। इस सम्बन्ध में प्रो. घई कहती हैं-''मेरी माता आर्यसमाज स्कूल की मुख्य अध्यापिका थीं। वह अक्सर स्कूल से बेसहारा बच्चों को अपने घर लाया करती थीं जिससे मेरे बालपन पर गहरा प्रभाव हुआ। मुझे भी घर पर ऐसी बच्चियों का आना अच्छा लगने लगा। मां के इस धर्म कार्य की मैं अपने मन ही मन में सराहना करती। बचपन से ही प्रेरित होकर मैंने आज से तकरीबन 20 वर्ष पहले औपचारिक रूप से समाज-सेवा का कार्य शुरु कर दिया था। (दैनिक जागरण 25 अगस्त, 2005)

तदनन्तर अध्यापन कार्य के साथ-साथ समाजसेवा के क्षेत्र में सक्रिय योगदान भी चलने लगा। सामाजिक संस्थाओं से जुड़ाव होता चला गया-चाहे वह राष्ट्रीय कस्तूरबा गांधी ट्रस्ट की जम्मू शाखा हो या वृद्धाश्रम अम्बफला जम्मू, जिसकी वह संस्थापक सदस्या बनीं। गत तीन दशकों से प्रो. वेदकुमारी झुग्गी-झोंपड़ी में रहने वाले श्रमिकों के तथा पिछड़े वर्गों के बच्चों को शिक्षा तथा अच्छे संस्कार देने का कार्य कर रहीं हैं। इसके लिये इन्होंने 'वसुधैव कुटुम्बकम् वैल्फेयर सोसाइटी' की सन् 1988 में स्थापना की। इस समय इस सोसाइटी के अन्तर्गत 800 से भी अधिक बच्चे शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। 'नरवाल', त्रिकुटानगर-सैक्टर 5 में, 'बेली चराना', 'बटैहड़ा' 'प्रेमनगर' 'कबीरबस्ती' नामक स्थानों पर इस सोसाइटी द्वारा बालशिक्षा केन्द्र चलाए जा रहे हैं। इस सेवा कार्य की पृष्ठभूमि बताते हुए प्रो. घई कहती हैं-

''पुराने जम्मू शहर के रघुनाथपुरा मुहल्ले में रहते हुए जब कभी मुझे अपने आस-पास गंदगी से भरे बच्चे घूमते हुए मिलते तो मन उन्हें स्वच्छ करने को करता। उनके मज़दूर माता-पिता की सोच को बदलना मुझे सूखी लकड़ी तोड़ने जैसा लगा। मैंने इन भोले बालमनों को ही बदलने का मन बनाया। इनके मन कोमल होते हैं, इसलिए इन्हें आसानी से बदला जा सकता है।

बस इसी विचार से शुरु हुआ मेरा सक्रिय समाजसेवा का सफर।''

(दैनिक जागरण, पृ. 4, 25 अगस्त, 2005)

इस प्रकार इस सोसाइटी द्वारा बीस वर्ष पहले बोया गया बीज आज एक विशाल वृक्ष का रूप धारण कर चुका है। प्रो. वेद घई समय समय पर 'वसुधैव कुटुम्बकम् वैल्फेयर सोसाइटी' द्वारा चलाए गये उपर्युक्त बालशिक्षा केन्द्रों में सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन भी करवाती हैं। स्वतन्त्रता दिवस, गणतन्त्र दिवस, गांधी-जयन्ती, बाल दिवस, लोहड़ी, दीवाली आदि त्यौहार मनाए जाते हैं। इन अवसरों पर प्रतिष्ठित व्यक्तियों को प्रमुख अतिथि के रूप में आमन्त्रित किया जाता है और वे यथासंभव अनुदान देकर बच्चों का जीवन बेहतर बनाने के लिए अपना योगदान भी दिया करते हैं।

प्रो. वेदकुमारी घई इस सोसाइटी की प्रधाना हैं और नगर की कई महिलाएं इनको अपना सहयोग देती हैं। इस सोसाइटी को चलाने के लिए एक कार्यकारिणी भी बनाई गई है।

जम्मू शहर की पश्चिम दिशा में अम्बफला नाम का एक स्थान है। जहां प्राकृतिक स्वास्थ्य चिकित्सा संस्थान स्थित है। इसका नाम बरकतराम विद्यावती घई प्राकृतिक चिकित्सा संस्थान है। इस संस्थान की स्थापना सन् 1969 को की गई थी। यह भी प्रो. वेद कुमारी घई जी का समाज-सेवा हेतु किया गया एक प्रमुख और सराहनीय कार्य रहा है। जन-साधारण ऐलोपेथिक इलाज करवाने में एक तो समर्थ नहीं होता और जो लोग इस मंहगे इलाज का सहारा लेते भी हैं-वे भी कई बार पूर्णतया स्वस्थ नहीं रह पाते रोग उन्हें बारम्बार आ दबोचते हैं। इसलिये क्यों न मिट्टी, पानी, धूप, स्नान, प्राकृतिक खान-पान, मालिश आदि द्वारा रोगनिवारण पद्धति को अपनाकर स्वस्थ जीवन जीने की शैली अपनाई जाए और इसे शहर-ग्राम हर स्थानों पर लोकप्रिय बनाया जाए, यह सोचकर प्रो. वेदकुमारी ने अपने स्वर्गीय माता-पिता की पुण्य स्मृति में इस प्राकृतिक चिकित्सालय की स्थापना की। इस से पूर्व यह एक आयुर्वेदिक डिस्पेंसरी थी जो वृद्धाश्रम जम्मू के पास बनाये गये दो कमरों तक सीमित थी। अम्बफला चौक में सड़क के किनारे बने इन दो कमरों में ही प्राकृतिक स्वास्थ्य संस्थान का प्रारम्भ हुआ। धीरे-धीरे प्रो. वेदकुमारी के प्रयत्नों से इसकी पहचान बनती गई और फिर वेदमन्दिर से कुछ ज़मीन लीज पर लेकर चार-पांच कमरों का एक प्राकृतिक चिकित्सालय बनवाया गया। इसके लिए मूल धनराशि प्रो. घई की स्वर्गीया माता श्रीमती विद्यावती घई का स्कूल से प्राप्त वेतन था जिसके लिए उन्होंने वसीयत कर रखी थी कि इसे समाजसेवा के किसी काम के लिये खर्च किया जाए और शेष धन डा. घई ने अपने परिवार से तथा कुछ दानी लोगों से प्राप्त करके इस भवन को बाकायदा एक चिकित्सालय का रूप दिया।

इस चिकित्सालय से हज़ारों रोगी स्वास्थ्य-लाभ कर चुके हैं। दमा, मोटापा, आर्थराइट्स, पेट के रोग और अन्य कई रोगों से रोगियों को मुक्ति मिली है। इस चिकित्सालय के कार्यों को चलाने के लिए एक ट्रस्ट का निर्माण भी किया गया है। इसकी गतिविधियों को सुचारु ढंग से चलाने के लिए एक कमेटी का गठन किया गया है।

समय-समय पर शिविर विशेष लगाए जाते हैं। महिलाओं, सीनियर सिटीज़न और बच्चों के

लिए भी शिविरों का आयोजन, विशेषतया 2 अक्तूबर के सन्दर्भ में किया जाता है। पूरे जम्मू राज्य में प्राकृतिक चिकित्सा के माध्यम से रोग-मुक्ति दिलाने वाला यही एकमात्र संस्थान है।

इस संस्थान को केन्द्रिय योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा संस्थान भारत सरकार तथा इन्टरनेशनल नेचरोपैथी संस्था से भी मान्यता प्राप्त है। प्राकृतिक स्वास्थ्य समाचार नाम से एक पत्रिका का प्रकाशन भी समय-समय पर करवाया जाता है।

इसका श्रेय प्रो. वेदकुमारी को ही जाता है। सुयोग्य डाक्टर के चयन से लेकर प्राकृतिक चिकित्सा पर प्रभुत्व के साथ कहने-बताने वाले विशेष व्यक्तियों के साथ भेंट वार्ताओं भाषणों के आयोजन आदि तक का काम वे प्राय: स्वयं ही करती हैं।

आशी (ASHI) और प्रो. वेद कुमारी घई

आशी अर्थात् एसोसिएशन फार सोशल हैल्थ इन इंडिया (Association for Social Health in India) नामक संस्था मुख्य रूप से महिलाओं एवं बच्चों के शोषण सम्बधित समस्याओं से निपटने के लिए कार्य करने वाली एक सामाजिक राष्ट्रीय संस्था है जिसकी एक शाखा सन् 1987 ई. में जम्मू में खोली गई थी। प्रो. वेदकुमारी घई भी इस संस्था की एक संस्थापक सदस्या बनाई गई। रियासत जम्मू-कश्मीर के तत्कालीन गवर्नर श्री जगमोहन की धर्मपत्नी मैडम उमा जगमोहन इस संस्था की पहली चेयर पर्सन थीं और श्रीमती चन्द्रा गुप्ता पहली सैक्रेटरी थीं उनके बाद प्रो. घई इस संस्था की सैक्रेटरी बनी और आजकल इसकी संरक्षक के रूप में आशी को अपना बहुमूल्य योगदान दे रही हैं। प्रो. वेद घई न सिर्फ स्वयं इस संस्था में अपना सहयोग दे रही हैं अपितु अपनी शिष्याओं, जिनमें इस लेख की लेखिका भी सम्मिलित है, को भी इस से जोड़ रखा है।

आर्यसमाज एवं प्रो. वेदकुमारी

आर्य समाज के साथ भी प्रो. वेदकुमारी घई का बचपन से जुड़ाव रहा है। ये छ; वर्ष निरन्तर आर्य प्रतिनिधि सभा, जम्मू व कश्मीर की प्रधाना रहीं। आर्यसमाज दयानन्द मार्ग की भी कई वर्ष कार्यकारिणी की सदस्या रहीं। श्रद्धानन्द बलिदान अर्ध-शताब्दी और कई सम्मेलनों का आयोजन किया। सन् 1995 ई. में सात दिनों का (23.2.95 से 2.3.1995 तक) वेद ज्ञान समारोह जम्मू नगर के भिन्न-भिन्न स्थानों पर आयोजित किया। समय-समय पर जम्मू-कश्मीर के विभिन्न भागों–श्रीनगर, जम्मू, भद्रवाह, किश्तवाड़, ऊधामपुर, कटड़ा अखनूर आदि में और पड़ोसी राज्यों में वेद प्रचार में संलग्न होकर पांच सौ से अधिक गरीब बच्चों की शिक्षा में जुट गईं।

गांधी सेवासदन और वेदकुमारी घई

प्रो. वेदकुमारी घई आजकल गांधी सेवासदन की चेयरपर्सन हैं। इस संस्था से वे सन् 1969 से ही जुड़ी हुई हैं। इन्हें गांधी जी की विचारधारा पर चलने का संस्कार अपने दादा जी से प्राप्त

हुआ। दादा जी का प्रभाव इनके पिताजी पर रहा और पिता जी भी गांधीवादी विचारधारा के अनुयायी थे। अतः घर का माहौल भी वैसा ही बना रहा। इनकी माता जी और वे स्वयं भी खादी की ही साड़ी पहनती रहीं।

आर्यसमाज और गांधीवाद का ही प्रभाव रहा कि इनके घर में तब भी और अब भी भोजन बनाने का काम असवर्ण जाति के लोग भी करते हैं। प्रो. वेदकुमारी सुनाती हैं कि इनके पिता जी कहते थे कि रसोइया असवर्ण जाति का ही होना चाहिए। इससे इनके सामाजिक समानता के दृष्टिकोण का पता चलता है। स्वाभाविक है कि आर्थिक-असमानता के कारण अभावों में जीवन व्यतीत करने के लिए लाचार लोगों के प्रति संवेदनशील प्रो. वेदकुमारी घई के मन को द्रवित होना ही था।

लेखिका ने कई आयोजनों पर आगत अतिथियों का स्वागत और गरीब बच्चों की दुर्दशा की बात करते हुए, प्रो. वेदकुमारी घई की आँखों में आंसू देखे हैं। वे इन बच्चों के मध्य भूमि पर ही पालथी मार कर बैठी हुईं ऐसे दीखती हैं, मानो इनकी यही अपनी दुनिया है। बड़ी सहजता से यह अपने आप को माहौल के अनुसार ढाल लेती हैं।

लेख के अन्त में मैं प्रो. वेदकुमारी घई की स्वस्थ, सफल, सक्रिय दीर्घायु के लिए हार्दिक शुभकामनाएं करती हूँ। ईश्वर से प्रार्थना है कि प्रो. घई दिन-प्रतिदिन उन्नति के पथ पर अग्रसर रहें और अपनी शिष्याओं को प्रेरणा प्रदान करती रहें।

प्रो. वेदकुमारी घई जी : एक अनुपम व्यक्तित्व

डॉ. धनिराम शास्त्री

सन् 1968 में जब मैं श्री रघुनाथ संस्कृत महाविद्यालय में प्रविष्ट हुआ तो उस समय प्रो. वेदकुमारी घई जी, जम्मू विश्वद्यिालय में संस्कृतविभाग की अध्यक्षा थीं। उस समय जम्मू विश्वविद्यालय श्री रणवीर नहर के तट पर अवस्थित था। समय-समय पर संस्कृत विभाग द्वारा किए जाने वाले विभिन्न कार्यक्रमों में जाने का अवसर मिलता था। उस समय प्रो. वेद जी, विभिन्न कार्यक्रमों को स्वयं एक आकर्षक तथा परिशुद्ध उच्चारण से सञ्चालित करती थीं। भगवान् ने उनको विलक्षण कण्ठ तथा उच्चारण शैली दे रखी है। जो कि संस्कृत के क्षेत्र के किसी किसी विद्वान् या विदुषी को मिलती है। गणतन्त्र दिवस के उपलक्ष्य में आकाशवाणी दिल्ली द्वारा जब जब सर्वभाषा कवि सम्मेलन का आयोजन किया जाता रहा है तो उसमें वे भाग लेती रही हैं।

प्रो. वेद जी, एक विश्वविख्यात संस्कृत विदुषी तो हैं ही। वे अखिल भारतीय प्राच्य विद्यासम्मेलन, विश्व संस्कृत सम्मेलन की एक सुप्रतिष्ठित सदस्या हैं। संस्कृत भाषा के प्रचार तथा प्रसार के लिए अनेकबार विदेशों में जाती रहती हैं। जम्मू विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग की निर्मात्री ही नहीं बल्कि एक ऐसे वटवृक्ष की भाँति हैं जिसकी शाखाओं का विस्तार न केवल जम्मू व कश्मीर बल्कि सारे भारत तक फैला हुआ है इस वटवृक्ष की शाखाएं तो उनके शिष्य तथा शिष्याओं के रूप में सर्वत्र व्यापक हैं। जम्मू का प्राकृतिक स्वास्थ्य संस्थान तथा वसुधैव कुटुम्बकम् सर्वोदय स्कूल नावाल नामक कालजयी संस्थाओं की निर्मात्री के रूप में प्रो. वेद कुमारी जी, का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

सन् 1982 के सितम्बर मास के तृतीय सप्ताह रविवार को संध्यावेला में मैं किसी कार्यवश महेशपुरा गया नेताजी, 'सुभाष चन्द्र चौक' तब नहीं था और वहाँ पर क्षयरोग चिकित्सालय भी न था। वहाँ पर झुग्गी-झोपड़ियाँ थीं। वहाँ पर फटे पुराने तम्बुओं में मज़दूर रहा करते थे। मुझे उन तम्बुओं के बीच में से गायत्री मन्त्रोच्चारण जाना पहचाना लग रहा था मुझे यह विश्वास ही नहीं हो रहा था कि प्रो. वेद कुमारी घई तम्बुओं के बीच में भूमि पर बैठकर श्रमिकों के बच्चों को गायत्री मन्त्र का उच्चारण करवा रहीं थीं साथ ही बच्चों में टाफियाँ या अन्य मीठी वस्तुएं भी वितरित कर रही थीं। मैं भी उस स्थान पर गया तो वेद जी ने कहा आइए, मैं आपको बैठने के लिए क्या दूँ, मैं भी वहीं पर खड़ा हो गया। वेद जी ने बताया कि यह मैं इसलिए कर रही हूँ कि कोई चतुर चालाक व्यक्ति आकर इनकी परिस्थितियों का अनुचित लाभ उठाकर इनको पथभ्रष्ट

न कर सके बाद में मुझे पता चला कि डॉ. वेद जी ने उन लोगों के उत्थान के लिए एक संस्था (वसुधैव कुटुम्बकम्) बना रखी है। उन झुग्गी-झोपड़ियों में इस संस्था द्वारा छोटे-छोटे स्कूल विद्यालय खोल रखे हैं। उन विद्यालयों से पढ़कर निकले बच्चे देश के विभिन्न क्षेत्रों में प्रतिष्ठित पदों पर कार्यरत हैं।

यहाँ यह बताना जरूरी है कि प्रायः बड़े-बड़े संस्कृत विद्वान् कर्मकाण्ड आदि के कार्य करके धनार्जन में तो लग जाते हैं किन्तु इस प्रकार के परोपकार के कार्य में उनकी रुचि नहीं होती। प्रोफेसर वेदकुमारी घई ऊँची शिक्षा प्राप्त करने के बावजूद इस कठिन मार्ग में भी चल पड़ी हैं। बड़े-बड़े धर्मोपदेशक भी प्रायः सामाजिक सेवा कार्यों से दूर रहते हैं। परन्तु विदुषी वेदकुमारी घई बौद्धिक कार्यों के साथ-साथ सेवा और सामाजिक सुधार के कार्यों में भी लगी हैं।

इस प्रकार प्रो. वेद जी तो दबे-कुचले लोगों की सहायता को ही अपना सर्वस्व मानकर कार्यरत हैं और कई संस्थाओं में पदाधिकारी हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण जी ने श्रीमद्भगवद्गीता में जिस निष्काम कर्मयोग का वर्णन किया है उसको उन्होंने अपने जीवन में कार्यान्वित किया है। इन सब कार्यों के अतिरिक्त प्रो. वेद जी अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थरत्नों की लेखिका भी हैं और साहित्य के क्षेत्र में भी उनका योगदान है। मेरा उनको शत शत प्रणाम है।

आर्य समाज के क्षेत्र में डॉ. वेद कुमारी घई

डॉ. योगेन्द्र कुमार शास्त्री

डॉ. वेदकुमारी घई का जन्म आर्यपरिवार में हुआ। उनका यह नामकरण भी आर्यसमाजी परिवार की देन है। स्व. माता विद्यावती जी आर्य गर्ल्स हाई स्कूल में मुख्याध्यापिका रहीं। आर्यसमाज के सिद्धान्तों का उन्हें ज्ञान प्राप्त था। वैदिक धर्म की वे प्रचारिका रहीं। आर्यसमाज के सत्संगों में सदा सम्मिलित रहती थीं। स्त्री आर्यसमाज के गठन एवं संचालन में उनका विशेष योगदान रहा। वेद, यज्ञ एवं ईश्वर में उनका अटूट विश्वास था। ऐसी धार्मिक माता और धार्मिक पिता के संरक्षण में डॉ. वेदकुमारी घई का बचपन बीता। उन्होंने स्वयं भी आर्यसमाज की कन्या पाठशाला में शिक्षा प्राप्त की। महर्षि दयानन्द सरस्वती के विचारों का प्रभाव उन पर बचपन से ही पड़ा। महात्मा गान्धी के विचारों से प्रभावित होकर उन्होंने खादी वस्त्र धारण करने का निश्चय किया। सादा जीवन उच्च विचार उनका आदर्श रहा है।

डॉ. वेद घई आर्यसमाज दयानन्द मार्ग जम्मू की सदस्या रहीं, यहीं से आर्य-प्रतिनिधिसभा जम्मू-कश्मीर के लिये प्रतिनिधि चुनी गईं। दो बार आर्य-प्रतिनिधिसभा के प्रधान पद को भी सुशोभित किया। सभा की उन्नति में उनका योगदान सराहनीय है। वैदिक विचारधारा के प्रचार के लिए उन्होंने जम्मू-कश्मीर राज्य के अनेक सीमावर्ती प्रदेशों तथा पर्वतीय प्रदेशों श्रीनगर, भद्रवाह, किश्तवाड़ आदि की यात्राएं कीं।

सभा के माध्यम से आप सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधिसभा की सदस्या चुनी गईं। आर्य समाज के विचारों से प्रभावित होकर आपने अछूतोद्धार के लिये बड़ा कार्य किया **वसुधैव कुटुम्बकम्** संस्था के माध्यम से झुग्गी झोंपड़ियों के निर्धन बच्चों के लिये स्कूल खोले। उनकी आर्थिक सहायता की। जम्मूकश्मीर में ऐसा कोई आर्यसमाजमन्दिर नहीं है जिसमें डॉ. वेद घई के वैदिक प्रवचन न हुए हों। वे अब भी आर्यसमाज के सभी कार्यक्रमों में उपस्थित रहती हैं। स्वदेश में तथा विदेशों में भी वे आर्यसमाज का प्रचार करती रही हैं।

उनकी वक्तृत्वकला सरल, सुबोध एवं प्रभावशाली है। नव्वे के दशक में उन्होंने वेदमन्त्रों का डोगरी भाषा में पद्यानुवाद भी किया जो निरन्तर वर्षभर हिन्दी दैनिक कश्मीर टाइम्ज़ में प्रकाशित होता रहा।

देशभक्ति, मानवता, अछूतोद्धार, स्त्रीशिक्षा तथा वेदप्रचार आर्यसमाज के सिद्धान्तों के प्रमुख अंग हैं। इन सभी क्षेत्रों में डॉ. वेद घई ने प्रशंसनीय कार्य किया है। उनका अपना अन्तर्जातीय

विवाह भी आर्यसमाज की देन है। गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार विवाह होने चाहिये। इन्हीं विचारों से प्रभावित होकर उन्होंने संस्कृत के विद्वान् डॉ. रामप्रताप वेदालंकार से विवाह किया। आर्य-समाज के दिग्गज विद्वान् श्री ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, जो छः शास्त्रों के प्रकाण्ड पंडित थे उन्होंने इनके विवाहसंस्कार को वैदिक रीति से कराया था। मैं भी उस विवाहसंस्कार में उपस्थित था। इन्हें जीवन साथी भी गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार के स्नातक एवं आर्यसमाजी विचारों से अनुप्राणित मिला। इन्होंने अपने बच्चों के संस्कार भी आर्यसमाज की रीति से कराये।

डॉ. वेद कुमारी घई के निर्देशन में मैंने ''त्रैतवाद का उद्‌भव और विकास'' इस विषय पर अपना शोधग्रन्थ लिखा जिस पर मुझे पी.एच.डी. की उपाधि जम्मू यूनीवर्सिटी से मिली। इस कार्य के लिये मैं इनका आभारी हूँ।

आर्यजगत् में प्रतिष्ठित विदुषी महिलाओं में डॉ. वेद घई का प्रमुख स्थान है। जम्मू कश्मीर में वे आर्यसमाज की विदुषी महिला हैं। वेद से उनका नाम जुड़ा हुआ है। महर्षि सान्दीपनि वेदप्रतिष्ठानम् उज्जैन ने उन्हें यहाँ का संयोजक बनाकर वैदिक सेमिनार करने के लिये तथा वैदिक विद्वानों को पुरस्कृत करने का कार्यभार सौंपा। उन्होंने इस कार्य को बड़ी योग्यता के साथ निभाया।

मुझे इस समाचार से हार्दिक प्रसन्नता हुई है कि जम्मू यूनीवर्सिटी के संस्कृतविभाग ने डॉ. वेदकुमारी घई के सम्मान में एक अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित करने का निर्णय किया है। उनका व्यक्तित्व बहु आयामी है। अनेक क्षेत्रों में उन्होंने प्रशंसनीय कार्य किये हैं और अब भी कर रही है। मैं तो उनके इस प्रकार के जीवन को आर्यसमाज की देन ही मानता हूँ। भगवान् से प्रार्थना करता हूँ कि वे और अधिक यश को प्राप्त करें तथा स्वस्थ एवं दीर्घजीवी रहें।

कुशलाऽध्यापिका यास्ति छात्राणां चोपकारिणी।
आकर्षति सभामध्ये यस्या वाचां विदग्धता॥ 1॥

या गङ्गोत्रीव गङ्गाया विद्याया विद्यते प्रसूः।
राष्ट्रपतिपुरस्कारं प्राप्य या शोभतेतराम्॥ 2॥

विद्यावारिणि च स्नाता सत्कर्मकरणे रता।
सैव वेदकुमारीयं सर्वैरेवाभिनन्द्यते॥3॥

प्रो. वेदकुमारी घई: निरहंकारिता की प्रतिमूर्ति

प्राध्यापक लक्ष्मीदत्त शास्त्री

बात कुछ पुरानी है, मैं काफी दूर खड़ा देख रहा था कि खद्दर की साड़ी पहने, झोपड़ी से सटे हुए पेड़ की ओट में खड़ी एक अधेड़ नारी के पास दो-तीन बच्चे खड़े हैं और वह उनसे सबक सुन रही है। बाद में बच्चों की कापियों का निरीक्षण करते हुए भी मैंने उन्हें दूर से देखा। आजकल वहाँ मैडिकल कॉलेज के छात्रावासों के अतिरिक्त एक विशाल चौराहा तथा पुराने जम्मू शहर की ओर आने-जाने के लिए फ्लाई ओवर का निर्माण हो चुका है। एकदा पुनः मुझे अकस्मात् इसी ओर प्रातः आने का अवसर मिला तो दूर ऊँचाई पर खड़े होकर देखता हूँ कि वही स्त्री अच्छे खाते-पीते घरानों की शिक्षित युवतियों को साथ लिये हुये झुग्गी-झोपड़ियों में रहने वाली स्त्रियों एवं बच्चों के साथ गायत्री मंत्र का उच्चारण करते हुए हवन कर रही है। संभवतः उस रोज अवकाश था किन्तु मजूदर भाई मज़दूरी करने निकल रहे थे। मन में आया कि अपने समाज में उपेक्षित एवं दलित वर्गों के बच्चे-बच्चियों को शिक्षित, सुसंस्कृत एवं स्वावलम्बी बनाने हेतु महर्षि अगस्त्य, ऋषिका लोपामुद्रा तथा वरतन्तु ऋषि पुत्री गार्गी के समान अपनी दृढ़ इच्छाशक्ति को कैसे क्रियात्मक रूप में परिणत कर रही है यह खद्दर धारी नारी। वरना इस शहर में सामाजिक बुराइयों पर कलम चलाने वाले बुद्धिजीवियों तथा किसान-मज़दूर के नाम पर विभेदात्मक राजनीति करते हुए यत्र कुत्रापि धन ऐंठने वालों की कमी नहीं है। मैंने तो आज तक किसी भी पुरुष को स्वयं किसी झोंपड़-पट्टी में रहने वाले लोगों के बच्चे-बच्चियों को शिक्षित बनाते हुए उपेक्षित वर्ग में क्रियात्मक रूप से यूँ कार्य करते नहीं देखा। हाँ, उनके भाषण अवश्य सुने हैं। राष्ट्रसेवी महात्मा गाँधी, विनोबा भावे, आचार्य नरेन्द्र देव जैसे लोगों ने इस दिशा में कार्य किया है। मन में मेरे उत्सुकता की लहर उठी और जब मैंने एक अनुसन्धित्सु के रूप में वहीं पर जाकर एक-दो बार पता किया तो मालूम हुआ कि यह वही निरहंकारिता की प्रतिमूर्ति, दृढ़ इच्छा शक्ति को क्रियात्मक रूप में परिणत करते हुए 'मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्' वाली उक्ति को चरितार्थ करने वाली प्रोफेसर वेदकुमारी घई हैं, जो जम्मू विश्वविद्यालय के संस्कृतविभाग की अध्यक्षा हैं, जिनका विश्वविद्यालय में डोगरी विभाग संस्थापन में भी काफी सहयोग रहा है। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' वाली कहावत के अनुसार जम्मू कश्मीर की इस बेटी ने पंजाब विश्वविद्यालय से संस्कृत एवं बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय स्तर तक दो-दो एम.ए. प्रथम श्रेणी में ही उत्तीर्ण किये। तत्पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के विद्वान प्रो. सूर्यकान्त के निर्देशन में पी. एच. डी. उपाधि प्राप्त की। आपने कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा। एक शिक्षिका के रूप में किसी भी विषय पर आपकी पकड़,

कार्यदक्षता एवं आपकी वाग्गरिमा के बारे में आपके सैकड़ों विद्यार्थी आपकी प्रशंसा करते नहीं थकते। प्रो. रामप्रताप वेदालंकार के साथ पाणिग्रहणोपरान्त आप दोनों जम्मू निवासी और राष्ट्रीय स्तर के मूर्द्धन्य विद्वान् स्वनामधन्य पं. काकाराम शास्त्री जी से काव्य एवं काव्यशास्त्र का गहनाध्ययन करते रहे हैं भाषाविज्ञानी के रूप में आप विदेश में डेन्मार्क गईं और आपने वहाँ ध्वनिविज्ञान पर किए अपने शोधकार्य से अपनी धाक जमाई। तभी तो डोगरी भाषा को भारतीय संविधान की आठवीं सूची में लाने के लिए विश्वविद्यालय डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा से लेकर आज तक के भाषा वैज्ञानिकों में आपका नाम अवश्य सूचीबद्ध किया जाता है। जब कभी कोई अतिथि आपके गृह में प्रवेश करता है तो दोनों ही शालीनता के साथ उसका अभिनन्दन करते नहीं थकते। 'गृहिणी, गृहमुच्यते' के अनुसार एक सद्गृहस्थिनी के रूप में आप स्वयं खाना तैयार करके 'अतिथिदेवो भव' वाली भावना के साथ स्वयं अतिथियों को परोस कर आत्मसन्तोष प्राप्त करती हैं। तभी आपकी सुसंस्कृत सन्तानें वीर भानु एवं डॉ. ऋचा भी अपने परिवार में आने--जाने वाले लोगों के साथ ऐसा ही सभ्य व्यवहार करते हैं। 'सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रो देवता मरुतो देवता' आदि वेदवाणी के अनुसार विश्व राष्ट्र एवं समाज के लिए भलाई के कार्य करने वाले को ही देवता की संज्ञा दी गई है। संस्कृत की अध्येता एवं गांधी जीवनदर्शन से प्रभावित होकर आपने ज्यों-ज्यों प्रकृति के दर्शन करने हेतु प्रयास किया तो प्रकृति भी अपनी परतें त्यों-त्यों उघाड़ती गई और परिणाम स्वरूप, योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा में श्रद्धा-विश्वास रखने वाली, अपने माता-पिता के नाम पर एक न्यास बनाकर 1969 से तत्कालीन वेदमन्दिर कार्य समिति द्वारा लीज़ पर प्रदत्त जमीन पर चिकित्सालय भवन बनवाकर 'प्राकृतिक चिकित्सा संस्थान' में योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा द्वारा हज़ारों रोगियों को स्वास्थ्य लाभ पहुँचाती रही हैं। 'योग: कर्मसु, कौशलम्' एवम् 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' को ध्येय बनाकर जीवनयापन करने वाली आप 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के माध्यम से जम्मू शहर की झोपड़-पट्टियों में रहने वाले बच्चों तथा आसपासके ग्रामीण इलाकों के दलित वर्ग के बच्चों को शिक्षित करके स्वावलम्बी बना रही हैं। आपके द्वारा स्थापित विद्यालयों के कई शिक्षित बच्चे विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत होकर राष्ट्र की सेवा कर रहे हैं। 'नेहाघर' एवं 'अपना घर' जम्मू के माध्यम से आपके निर्देशन में ही आपकी शिष्याओं और सहयोगियों द्वारा सैकड़ों उपेक्षित निराश्रित महिलाओं को आश्रय देकर स्वावलम्बी बनने की शिक्षा-दीक्षा दी जा रही है। 'वृद्धाश्रम-अम्बफला' जम्मू की उपाध्यक्षा के रूप में उपेक्षित एवं निराश्रित वृद्धजनों की सेवा करने का कार्य भी कई वर्षों तक आपने किया। इसके अतिरिक्त श्री गांधी सेवा सदन जम्मू की अध्यक्षा के रूप में ग्रामोत्थान का कार्य कर रही हैं। अपने विद्यार्थियों को उनके शोधकार्यों में सम्यक् निर्देशन करती हुई स्वयं इस आयु में भी शोध एवं लेखन कार्यों में संलग्न रहकर दर्जन से ऊपर अपनी कृतियाँ समाज को प्रदान करने वाली तथा राष्ट्रिय एवं अन्तर्राष्ट्रिय स्तर की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाली आपने 'विद्या ददाति विनयम्' वाले सिद्धान्त को सच्चे और सही अर्थों में सिद्ध करके प्रेरणादायक जीवन जीने का स्वयं सिद्ध अधिकार प्राप्त किया है। इस समय भी महामहिम राज्यपाल महोदय आपको 'श्री अमरनाथ श्राइनबोर्ड के आदरी सदस्य के रूप

में सामाजिक सेवा में कार्यरत रख रहे हैं।

भागदौड़ भरे इस जीवन में समय निकालकर आप पुण्यकार्यों को करती हुई देवऋण, ऋषिऋण एवं पितृऋण को चुका रही हैं। 'काम-क्रोध-लोभ-मोह-अहंकार आदि मानवीय दुर्गुणों से बचते हुए आपने अपनी ज़िन्दगी की चदरिया को साफ-सुथरा रखा है। डॉ. योगप्रकाश पुरस्कार, संस्कृत-संस्कृति पुरस्कार. शारदा सम्मान, जम्मू व कश्मीर राज्य स्वर्ण पदक, डोगरा रत्न सम्मान तथा 1997 ईस्वी में तत्कालीन राष्ट्रपति द्वारा सम्मानित होने पर भी 'अहं भाव' आपको किंचिन्मात्र भी स्पर्श नहीं कर पाया है। एतदर्थ वर्धापनयोग्य, राष्ट्ररत्नरूपिणी, सहनशीला एवं साहससम्पन्न आप सुगन्धितपुष्पलतावत् सदा-सर्वदा समाजसेवी एवं शिक्षाविदों के लिए प्रेरणादायी स्रोत हैं।

वेदकुमारी घई के सान्निध्य में

डॉ. सन्ध्या

प्रवक्ता, राजकीय महाविद्यालय, जम्मू

यह बात सन् 1994 की है जब मैंने संस्कृत एम.ए. के लिए संस्कृत विभाग जम्मू विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया था। उस समय संस्कृत विभाग की अध्यक्षा प्रो. कौशल्या वल्ली थीं उनके उपरान्त प्रो. रामप्रताप आए। अक्सर अपने विभाग के सभी अध्यापकों व वरिष्ठ शोध छात्रों से मैं डॉ. वेदकुमारी घई की प्रशंसा सुनती रहती थी, उसके अतिरिक्त जम्मू निवासियों से भी उनके व्यक्तित्व के बहुमुखी आयामों के विषय में सुना करती थी और मन में यह इच्छा जागती थी कि कब मुझे भी उनसे मिलने का अवसर प्राप्त होगा। शीघ्र ही वह अवसर भी आ गया, जब संस्कृत विभाग द्वारा आयोजित कालिदास जयन्ती समारोह अवसर पर मैंने उनके पहली बार दर्शन किए और उनके द्वारा दिया गया भाषण भी सुना, जिसे सुनकर मैं आनन्द से भाव-विभोर हो उठी।

सादा रहन-सहन, सुन्दर अध्यापन विश्वविख्यात प्राध्यापक। भिन्न-भिन्न भाषाओं की जानकारी, बौद्धिक-विमर्श, संस्कृत का गहरा बोध, विविध-विषयों का अध्ययन आदि-आदि अनेक प्रशंसाएं उनके विषय में मैं सुनती आयी थी, जो बहुत ही विचारोत्तजक होती थीं। उनको देखने की उत्कट इच्छा पूर्ण हुई, उनसे साक्षात्कार दो-चार बार ही सम्मेलनों व संगोष्ठियों इत्यादि में हुआ। तब मैं रिहाड़ी हायर सैकेण्ड्री स्कूल में प्रवक्ता के पद पर कार्य कर रही थी और स्कूल में मैं संस्कृत विषय के साथ-साथ वैदिक अध्ययन विषय भी पढ़ाती थी, जिसे सैकेण्ड्री बोर्ड ने आरम्भ करने को कहा था तथा उस कार्य को मैंने ही आरम्भ करने का निश्चय किया और बच्चों की संख्या को 400-500 तक बढ़ाया। साक्षात्कार के दौरान जब उन्होंने इस बात के बारे में सुना तो वह बहुत ही प्रसन्न हुईं व अपने आशीर्वचनों से उन्होंने मेरे इस प्रयास की सराहना की और जीवन में और भी आगे बढ़ने को प्रेरित किया। उनके प्रेम भरे स्वर आज भी मेरे कानों में गूँजते हैं।

बात सन् 2000 की है। जब संस्कृत विभाग जम्मू विश्वविद्यालय में कश्मीर-शैवदर्शन पर तीन दिवसीय संगोष्ठी हुई थी। मञ्च पर माइक के आगे सारी जनता के समक्ष जब मैंने अपनी प्रशंसा उनके मुख से सुनी ''कि सन्ध्या बेटी ने भी पुस्तक लिखी है, वह बहुत परिश्रमी है। अपने बच्चों को आगे बढ़ते देख मुझे बहुत ही प्रसन्नता होती है सचमुच सुख का वो क्षण मेरे लिए जीवन में अविस्मरणीय बन गया और मेरे मस्तिष्क में सदा के लिए अमिट छाप छोड़ गया। उनके आकर्षक भाषण को सुनकर मैं वहीं से उनके व्यक्तित्व के परिचय की समीपता प्राप्त करती चली

गयी। इसके बाद भी वे पुनः एक-दो बार जम्मू विश्वविद्यालय व सम्मेलन आदि में मिलती रहीं। हृदय की कोमल, प्रखर बुद्धिमान्, परिपक्व अनुभवी व लेखन आदि के लिए प्रतिदिन समर्पण वेद कुमारी घई इस अवस्था में भी एक कर्मठ, कर्मयोगी की तरह अपने घर-परिवार, विभाग व अपने भारत देश के प्रति अनुपम योगदान देती आ रही हैं। हाल ही में उनके द्वारा निर्धन तथा असहाय बच्चों के लिए स्थापित वसुधैव कुटुम्बकम् सोसाइटी के वार्षिक समारोह के अवसर पर राजकीय महिला कालेज, परेड, जम्मू में मैं उनसे मिली और उनके भाषण को सुनकर मेरे हृदय में एक नई तरंग सी जाग उठी। ऐसी जाज्वल्यमान प्रतिभा का सान्निध्य पाकर मैं स्वयं को गौरवशाली समझती हूँ। उनका व्यक्तित्व केवल महान् ही नहीं, अपितु वह भारतीय संस्कृति की सजीव प्रतीक भी है। उनके सान्निध्य में आकर सही अर्थों में मनुष्य को आगे बढ़ने की प्रेरणा और उत्साह मिलता है।

प्रो. वेद कुमारी घई जी से मेरा सम्पर्क

डॉ. कमल किशोर
जम्मू

सन् 1993 में श्री रणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ में प्रवेश पाने के समय तक अभी प्रो. वेद घई जी का मैंने नाम तक नहीं सुना था क्योंकि इसके पूर्व मैं पंजाब प्रदेश में रहता था और बाहरी विद्वानों के विषय में अनभिज्ञ था।

विद्यापीठ में प्रवेशोपरान्त अनेक कार्यक्रमों में इनके मंच पर दर्शन करके मधुर वाणी को सुनने का अवसर प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् 1997 में मैंने जम्मू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में एम. ए. में प्रवेश किया उस समय प्रो. वेद कुमारी संस्कृत विभाग रूपी वृक्ष को लम्बे समय तक सींचने के बाद सेवानिवृत्त हो गईं थीं विभाग के विशेष आयोजनों में इनके दर्शन अवश्य होते थे। इनके विद्वत्तापूर्ण भाषणों को सुनकर उनसे मिलने की प्रबल इच्छा मन में जागृत होती थी। मैं देखता कि मंच पर आसीन प्रो. साहिबा जब भाषण प्रारम्भ करती तो एक क्षण में संस्कृत दूसरे में हिन्दी, तीसरे में डोगरी और चौथे क्षण में ही अंग्रेजी बोलने लगतीं हैं जिससे इनकी विद्वत्ता प्रदर्शित होती है। वैदिक संस्कृत से लेकर लौकिक संस्कृत अर्थात् व्याकरण, ज्योतिष, साहित्य एवं दर्शन शास्त्रादि समस्त विषयों के साथ-साथ डोगरी हिन्दी और अंग्रेज़ी विषयों में भी इन्हें महारत प्राप्त है। इनके भाषण को सुनकर श्रोता गण गद्‌गद् हो जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि साक्षात् सरस्वती मंच पर आकर अपनी मधुर वाणी से श्रोताओं को आनन्दित कर रही है।

सन् 2005 में मैं प्रो. रामप्रताप जी के साथ एक प्रोजैक्ट पर लेखन कार्य करने हेतु जुड़ा जिसके फलस्वरूप मुझे प्रो. रामप्रताप के घर जाने का मौका प्राप्त हुआ और वहीं पर अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि वाली प्रसिद्ध विदुषी (प्रो. राम प्रताप की पत्नी) प्रो. वेद कुमारी घई से मेरा साक्षात्कार हुआ। वहीं से मैं धीरे-धीरे उनके व्यक्तित्व के परिचय की समीपता प्राप्त करता चला गया। इसी प्रकार छः महीने तक प्रतिदिन मैं इनके घर जाता रहा और अति व्यस्त दिनचर्या को देखकर चकित रह जाता।

मैं देखता कि हर सुबह शीघ्रातिशीघ्र घर-गृहस्थी के कार्य को निपटाने के बाद वह समाज सेवा हेतु तैयार होकर चली जातीं। समाज के विभिन्न वर्गों को अपनी कर्त्तव्य परायणता और विद्वत्ता की किरणों से उज्ज्वल करने के पश्चात् सायंकाल को घर लौटकर आतीं और घर में प्रवेश करने के बाद सीधे प्रो. रामप्रताप जी के अध्ययन कक्ष में आकर उनकी कुशलक्षेम पूछने के बाद चाय पानी आदि पूछतीं और पाकशाला में जाकर स्वयं चाय आदि बनाकर देतीं।

तत्पश्चात् त्रिकुटानगर में घर के आस-पास झुग्गी-झोंपड़ियों में रहने वाले बच्चों को बुलाकर उन्हें पढ़ाने बैठ जातीं। उन्हें वैदिक मन्त्र, गीता के श्लोक और उनके अध्ययन के विषय पढ़ातीं। प्रो. वेदकुमारी घई की समाज सेवा एवं शिक्षा विशेषकर संस्कृत के प्रचार-प्रसार की भावना को देखकर मन उनके प्रति श्रद्धान्वित हो जाता है। ईश्वर से प्रार्थना है कि इस महान् विदुषी एवं समाजसेवी गुरु मूर्ति गुरु माँ प्रो. वेदकुमारी घई की हमारे ऊपर सदैव शीतल एवं पावन छाया बनी रहे।

धन्य है वह जननी, जिसने इस परमविदुषी नारी को जन्म दिया। धन्य है जम्मू नगरी जिसकी पावन धरा पर रहकर इन्होंने अपनी ज्ञान रूपी किरणों से केवल जम्मू-कश्मीर ही नहीं अपितु समस्त भारत वर्ष को प्रकाशित किया। साक्षात् वेदस्वरूपा प्रो. वेद कुमारी घई को शतशत नमन।

प्रो. वेदकुमारी घई का पाण्डुलिपि प्रेम

डॉ. बलदेवचन्द
जम्मू

अपने विद्यार्थी जीवन से ही प्रो. वेदकुमारी को विभिन्न पुस्तकालयों में सुरक्षित प्राचीन पाण्डुलिपियों से अगाध स्नेह रहा है। उन्हें जैसे ही किसी पाण्डुलिपि के बारे में सूचना मिलती है वे उसे देखने वहीं पहुँच जाती हैं उनके पुरातन आवास के समीप श्री रघुनाथ मन्दिर का संस्कृत अनुसन्धान पुस्तकालय है। एम.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण करके अक्सर वे वहाँ जाकर संस्कृत की प्राचीन पाण्डुलिपियों को देखा करती थीं वहीं से पाण्डुलिपियों के अध्ययन की ललक उनमें उत्तरोत्तर बढ़ती गई। प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ नीलमतपुराण की पाण्डुलिपियों का अनेक प्रतियों से मिलान करके उन्होंने नीलमत पुराण की संशोधित प्रति तैयार की और उसका तुलनात्मक अध्ययन तथा अंग्रेज़ी में अनुवाद कर उस पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। इतना ही नहीं उसके बाद तो उनके द्वारा पाण्डुलिपियों के उपयोग का जो सिलसिला चला वह थमने का नाम ही नहीं लेता है। उन्होंने प्रो. रामप्रताप के सहयोग से इसी पुस्तकालय के भल्लटशतक, राजेन्द्रकर्णपूर हस्तलिखित ग्रन्थों के विविध पाठों को संशोधित करके नये ग्रन्थ तैयार किये। प्रो. रामप्रताप को प्रेरित करके साहित्यसुधासिन्धु नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ को प्रकाशित कराया यह ग्रन्थ 1590 में विश्वनाथदेव-विनिर्मित है। इसमें काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण की तरह काव्यसम्बन्धी अनेक सिद्धान्तों का वर्णन है। डॉ. बालकृष्ण रैणा से वितस्तामाहात्म्य नामक पुराण की हस्तलिखित प्रति को लेकर अनुसन्धान कार्य करवाया उसी प्रकार डॉ. निर्दोष कुमारी से काव्यपरीक्षा पर पी.एच.डी. तथा डॉ. भारतभूषण शर्मा से 'मृगाङ्कशतक' पर एम.फिल्. पर कार्य करवाया।

डॉ. गंगादत्त शास्त्री से अपने निर्देशन में 'रघुनाथगुणोदय' नामक हस्तलिखित ग्रन्थ पर कार्य करवाया और उसी पर उन्होंने जम्मू विश्वविद्यालय से पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की।

प्रो. वेदकुमारी घई ने कवि राजानक रत्नकण्ठ की कृति 'सूर्यशतक' की पाण्डुलिपि की प्रतिलिपि आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के बोडलियन पुस्तकालय से मंगवाई जो कि मूल रूप से शारदा लिपि में लिखी गई थी उसका हिन्दी अनुवाद तथा अलंकारनिर्देशन करने के साथ-साथ कठिन स्थलों को भी भलीभाँति स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है। पाण्डुलिपियों के परीक्षण तथा अध्ययन के लिए प्रो. वेदकुमारी को बहुत सी कठिनाइयों का सामना भी करना पड़ा। इन सारी

कठिनाइयों को एक तरफ रखकर प्रो. घई ने जो कर दिखाया है वह सचमुच ही एक अतुलनाय कार्य है। वह एक विदुषी के रूप में तो प्रसिद्ध हैं ही, परन्तु समाजसेविका के रूप में उनकी एक अलग पहचान है। वह समाज के विभिन्न संस्थाओं में ऊँचे-ऊँचे पदों पर कार्यरत रही हैं और अब भी कार्य कर रही हैं। उनके जीवन का उद्देश्य निरन्तर कार्यशील रहना है और दूसरों के हितों के लिए कुछ न कुछ करते रहना है। अपनी धरोहर दुर्लभ पाण्डुलिपियों के संरक्षण के लिए प्रो. घई ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

श्री रणवीर संस्कृत पुस्तकालय की पाण्डुलिपियों के संरक्षण तथा प्रकाशन के लिए उनका काफी योगदान रहा है। इस पुस्तकालय में लगभग साढ़े सात हजार दुर्लभ पाण्डुलिपियाँ हैं जिन्हें पढ़कर सैकड़ों शोध छात्र लाभान्वित हो रहे हैं। पाण्डुलिपियों के प्रति उनमें यह लगाव आज भी मौजूद है। आज तो राज्य के पुरातत्त्व विभाग आदि संस्थानों ने इस सम्पदा को बचाने का बीड़ा उठाया हुआ है परन्तु इससे पहले भी यह दुर्लभ पाण्डुलिपियों को बचाने की आवाज़ कहीं न कहीं से ज़रूर निकलती थी। यह आवाज़ थी प्रो. घई की, कि हम इस धरोहर को बचायें यह हमारे पूर्वजों की देन है। यही हमारी सांस्कृतिक धरोहर है। प्रो. घई और प्रो. रमणीका जलाली दिल्ली जाकर लगभग 600 दुर्लभ पाण्डुलिपियां श्री रतनलाल कौल सुपुत्र स्वर्गीय श्री एस.एन. कौल से जम्मू लेकर आई है। आज ये दुर्लभ पाण्डुलिपियाँ डोगरा कला संग्रहालय जम्मू-कश्मीर पुरातत्त्व विभाग जम्मू की शोभा बढ़ा रही हैं। भविष्य में शोध छात्र इन पर कार्य करके इन दुर्लभ पाण्डुलिपियों का ज्ञान जन-जन को प्राप्त करा सकेंगे।

पाण्डुलिपियाँ हमारी अमूल्य विरासत हैं इनका संरक्षण, सर्वेक्षण करना हमारा कर्त्तव्य है व परम धर्म भी। प्रो. घई ने अपने सम्पर्क में आने वाले छात्रों एवं प्रबुद्ध विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया है। हमें उनके इस पाण्डुलिपि प्रेम और उनके द्वारा इनके संरक्षण के लिए किये गये प्रयासों से प्रेरणा ग्रहण करनी चाहिए। इनका संरक्षण, अध्ययन और प्रकाशन करके इनमें निहित ज्ञान का प्रसार और प्रचार करना चाहिए।

डोगरी भाषा के क्षेत्र में प्रो. वेदकुमारी घई का योगदान

-वीणा गुप्ता

इस जम्मू प्रदेश की महान् विभूति प्रो. वेदकुमारी घई की गणना शीर्षस्थ विद्वानों एवं विदुषियों में की जाती है। यूँ तो इनका मुख्य क्षेत्र संस्कृत भाषा में पठन-पाठन एवं शोध से सम्बन्धित रहा है, किन्तु जैसे संस्कृत भाषा सर्वाङ्गपूर्णता के गुण से सम्पन्न भाषा होने के कारण समूचे जीवन व्यवहार की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित है, इसी प्रकार प्रो. वेदकुमारी घई की छवि संस्कृत विषय के साथ-साथ भाषाविज्ञान, कोषविज्ञान, इतिहास, काव्य-शास्त्र, संस्कृति एवं कई अन्य महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में अपनी अनूठी प्रतिभा की परिचायक है। मेरा इनसे निकट सम्बन्ध स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग जम्मू विश्वविद्यालय में एम.ए. संस्कृत की शिक्षा ग्रहण करते समय बना। सौम्य, शान्त स्वभाव वाले ज्ञान-सागर स्वरूप इस व्यक्तित्व से प्रभावित होना एक स्वाभाविक बात थी, किन्तु कक्षा में पढ़ते समय इनके अध्यापन-गुणों से आकृष्ट होना मेरे लिए इससे बढ़कर था। यही कारण रहा कि एम.ए. संस्कृत की शिक्षा के दौरान ही मेरी रुचि भाषाविज्ञान की ओर उन्मुख होने लगी और फिर शोधकार्य के दौरान कई कठिनाइयों के बावजूद भी यह महान् विभूति मेरी प्रेरणा का स्रोत बनी रही। कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में जाकर भाषाविज्ञान में स्नातकोत्तर डिप्लोमा कोर्स करने के पीछे इन्हीं की प्रेरणा थी।

इनके कार्यक्षेत्र के विषय में जैसे ऊपर कहा गया है कि इनका कार्यक्षेत्र किसी एक विषय की सीमा तक निर्धारित नहीं? इसी प्रकार भाषाओं के क्षेत्र में भी इनकी विद्वत्ता संस्कृत के साथ-साथ हिन्दी, डोगरी, काश्मीरी आदि इस प्रदेश की विभिन्न भाषाओं को अपनी परिधि में लेते हुए अपने अमूल्य योगदान से समृद्धि प्रदान करती है। जहाँ तक डोगरी भाषा के क्षेत्र में इनके योगदान का प्रश्न है इन्होंने इस भाषा के प्रति अपनी विशेष प्रतिबद्धता निभाते हुए इसे अपने बहुमुखी योगदान से सींचा है। चाहे वह लोक-साहित्य का क्षेत्र हो या आधुनिक साहित्य का, कला का क्षेत्र हो या संस्कृति का, भाषाविज्ञान का क्षेत्र हो या फिर कोशविज्ञान का इनका योगदान अविस्मरणीय है। डोगरी भाषा का कोई भी सैमिनार, संगोष्ठी या फिर कान्फ्रैंस ही क्यों न हो इनके पत्र, भाषण, बीजभाषण उनका आकर्षण होते हैं।

जहाँ तक डोगरी भाषाविज्ञान के क्षेत्र में प्रो. वेद घई के योगदान की बात है इस विषय में मेरा यही मानना है कि उस वक्त जबकि डोगरी में भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में काम करने की सभी

संभावनाएं शोधकर्ताओं की राह निहार रहीं थीं और छुटपुट तौर पर पत्रों-लेखों के माध्यम से (भले ही फ्रैड्रिक ड्र्यू, जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन, प्रो. गौरी शंकर वगैरा कुछ विद्वानों ने डोगरी भाषा की रूपरेखा के बारे में अपने-अपने ढंग से इसके कुछ भाषा-वैज्ञानिक पहलुओं पर कार्य किए थे) इसके ध्वनि वैज्ञानिक पक्षों को लेकर चर्चा-परिचर्चाएं होती थीं-डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा, श्री श्याम लाल शर्मा, श्री तेजराम खजूरिया, प्रो. रामनाथ शास्त्री, डॉ. बालकृष्ण शास्त्री, श्री शिवकुमार शर्मा तथा कुछ-एक अन्य विद्वान इस दिशा में संघर्षरत थे, उस समय प्रो. वेद घई ने डोगरी ध्वनिविज्ञान एवं ध्वनिग्राम-विज्ञान क्षेत्र की कतिपय प्रमुख समस्याओं को आधार बनाकर कोपन हैगन यूनिवर्सिटी के ध्वनिविज्ञान संस्थान में "Studies in phonetics and phonology with special reference to Dogri" विषय पर वैज्ञानिक ढंग से शोध-कार्य कर डोगरी के भाषा-वैज्ञानिक क्षेत्र को अपना विशेष योगदान दिया। प्रस्तुत शोध कार्य में 'परिचय' के अतिरिक्त तीन अध्याय डोगरी ध्वनि विज्ञान और ध्वनिग्राम विज्ञान को समर्पित हैं। "Some problems of Dogri phonetics and phonology" नामक अध्याय में सर्वप्रथम शोध-सामग्री एवं सूचकविषयक पूर्ण विवरण दिया गया है तत्पश्चात् डोगरी स्वनियाँ अर्थात् ध्वनिग्रामों की परिचर्चा में दस मौखिक स्वरों: 'ई', 'इ', 'ए', 'ऐ', 'आ', 'अ', 'ऊ', 'उ', 'ओ', और 'औ' तथा पाँच अनुनासिक स्वरों: 'ईं', 'ऐं', 'ओं', 'औं', तथा 'ऊँ', का उनके मौखिक प्रतिरूप के साथ व्यतिरेक व्यक्त करते हुए अपने मत की पुष्टि की गई है।

इसके साथ ही वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाते हुए ध्वनिवैज्ञानिक प्रयोगशाला की सहायता से आकड़ों एवं तालिकाओं के माध्यम से तत्त्वों का विश्लेषण अत्युत्तम ढंग से प्रस्तुत हुआ है, जिसमें कुछ-एक सूचकों के द्वारा 'ई' को 'ए' के करीब एवं 'उ' को 'ओ' के करीब उच्चरित किए जाने की समस्या को भी विभिन्न तरीकों से परीक्षण करते हुए उजागर किया गया है।

डोगरी स्वनिमी के कई महत्त्वपूर्ण पहलू-बल, सुर, मात्रा आदि जिनका डोगरी ध्वनिसंरचना तथा ध्वनिग्राम विज्ञान के क्षेत्र में विशेष स्थान है और कई-कई उच्चारणों में दो या अधिक ऐसे अतिखण्डीय तत्त्व एक-साथ प्रवृत्त होकर डोगरी स्वनिमी को प्रभावित करते हैं, उनके विषय में डोगरी अक्षर-संरचना एवं तद्विषयक निर्धारित नियम इस कार्य की विशेष उपलब्धि हैं।

प्रस्तुत कार्य का अगला अध्याय "ConsonantGemination and consonant weakening in Dogri" डोगरी व्यंजनों के द्वित्त्वीकरण/सबलीकरण अथवा उनके अबलीकरण की स्थितियों के अध्ययन, परीक्षण, एवं प्राप्त निष्कर्षों को प्रस्तुत करता है। इन स्थितियों की परिचर्चा एवं निष्कर्ष गहन अध्ययन एवं वैज्ञानिक शोध के आधार पर विभिन्न परिवेशों में उनकी उपस्थिति (Occurance) का अवलोकन करते हुए सम्पन्न हुई है। और इस सन्दर्भ में काफी महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत हुए हैं। इन दोनों प्रवृत्तियों को प्राचीन एवं मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य में भी अवलोकित किया गया है। इतना ही नहीं, प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के 'भक्त' एवं 'रक्त' शब्दों के डोगरी में 'क्त' व्यंजनगुच्छ के द्विविध परिवर्तनों को दर्शाते हुए एक ओर 'मत्त' ओर 'रत्त' शब्दों में द्वित्त्वीकरण अथवा 'समीकरण' और दूसरी ओर 'भगत' एवं 'रगत' शब्दों

में संघर्षीकरण जैसी स्थितियों पर भी विचार किया गया है। फलस्वरूप प्रस्तुत अध्याय में डोगरी व्यंजनों में होने वाले सूक्ष्म परिवर्तनों-ह्रस्वीकरण, घोषीकरण, संघर्षीकरण आदि के विषय में उनमें, परिवेशों, कारणों एवं निष्कर्षों को प्रस्तुत करते हुए डोगरी में ध्वनिवैज्ञानिक अध्ययन की परम्परा को विशेष बल दिया गया है।

शोध कार्य के चतुर्थ अध्याय "Word tones in Dogri" में तान रूपी अतिखंडीय तत्त्व की और समतल तीनों प्रकार के तान अथवा सुरों की अर्थभेदकता प्रदर्शित करते हुए प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के महाप्राणत्व का ऐतिहासिक विकास के परिप्रेक्ष्य में अवलोकन एवं अध्ययन कर इस तत्थ्य को पुष्ट किया गया है कि प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के महाप्राण व्यंजनों विशेषकर सघोष महापुरुष व्यंजनों ने डोगरी में विभिन्न प्रकृति के शब्द-सुरों का रूप ग्रहण किया है जो कि उनकी उपस्थिति के विभिन्न परिवेशों पर आधारित है, जिनमें उनके पूर्ववर्ती एवं परवर्ती स्वरों के सबल एवं अबल होने की स्थिति पर निर्भर करता है। शब्द-सुर अथवा शब्दस्तरीय सुर डोगरी स्वाभिनी एवं स्वनिमी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अतिखंडीय तत्त्व है, जिसके कारण डोगरी भाषा की गणना तान-भाषाओं में की जाती है।

इस शोध-कार्य के अतिरिक्त प्रस्तुत विदुषी के कई एक पत्र जो डोगरी भाषा वैज्ञानिक क्षेत्र में विशेष स्थान रखते हैं राष्ट्रीय एवं राज्यस्तरीय पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं। इनमें ''डोगरी ध्वनिग्राम प्रणाली की इक समस्या-खीरला स्वर'' डोगरी भाशा ते देवनागरी लिपि "Pitch variation and Laxicol identification (A study with reference to Dogri)" एवं डोगरी शब्द जोड़ों की समस्याओं सम्बन्धित शोध-पत्र अपनी विशेष महत्ता रखते हैं।

डोगरी भाषा विज्ञान के साथ डोगरी कोश-निर्माण एवं डोगरी लेखन-शैली जैसे कार्यों में भी प्रो. वेद कुमारी घई का योगदान प्रशंसनीय है। डोगरी का सर्वप्रथम एक-भाषी कोश 'डोगरी डिक्शनरी' जो छः खंडों में प्रकाशित है, प्रो. घई ने उसके सम्पादक मण्डल के सदस्य के रूप में अपना बहुमूल्य योगदान देते हुए महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

इन्होंने इस बृहत् कार्य में डोगरी शब्दों का उच्चारण-विषयक विलक्षणताओं को दृष्टि में रखते हुये डोगरी वर्तनी के ध्रुवों को निश्चित करने में विशेष भूमिका निभाई है। तत्पश्चात् लौह्का डोगरी शब्दकोश एवं हिंदी-डोगरी शब्दाकोश के सम्पादक-मंडलों तथा डोगरी लेखन शैली जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य के सम्पादक-मण्डल के सदस्य के रूप में अपना बहुमूल्य योगदान देते हुए इन्होंने डोगरी भाषा के प्रति अपनी लगन एवं निष्ठा का प्रमाण दिया है।

अन्ततः इस महान् विदुषी एवं अपनी परम आदरणीय गुरु को मेरा शत शत प्रणाम।

वह वेद और यह वेद

प्रो. प्रियतमचन्द्र शास्त्री

दोनों में ही संवेद है
दोनों में भेदाभेद है
वह वेद है, यह वेद है
दोनों में क्या कुछ भेद है?

ऋग्वेद वह ऋजु ये है
वह यजुर् युजिर् ये है
वह साम है यह ससाम है
दोनों का सुमधुर ज्ञान है।
वह वेद नाम अथर्व है
यह नाम वेद अगर्व है
वह वेद है यह वेद है
दोनों में क्या कुछ भेद है?

उस वेद में है अरंकृति
इस वेद में है अलंकृति
उस वेद में है चमत्कृति
इस वेद में है संस्कृति
उस वेद में आदेश है
इस वेद में सन्देश है
वह वेद है यह वेद है

दोनों में क्या कुछ भेद है?

दोनों का इक अभिधान है
दोनों का एक विधान है।
दोनों का इक अभिधेय है
दोनों का एक विधेय है

दोनों का एक ही ध्यान है
दोनों का एक ही ज्ञान है
वह वेद है यह वेद है
दोनों में क्या कुछ भेद है?

उस वेद में जो कुछ लिखा
इस वेद में भी वह लिखा
उस वेद में जो कुछ दिखा
इस वेद में भी वह दिखा
उसमें भी कुछ निर्वेद है
इसमें भी कुछ निर्वेद है
वह वेद है, यह वेद है
दोनों में क्या कुछ भेद है?

वह वेद सत्यसिद्धान्त है
यह वेद भी निर्भ्रान्त है
उस वेद में वेदान्त है
यह वेद भी तो प्रशान्त है
वह वेद यदि बहु-तेज है
यह भी नहीं निस्तेज है
वह वेद है, यह वेद है
दोनों में क्या कुछ भेद है?

उस वेद के छः अंग हैं
छः शास्त्र इसके संग हैं
वह वेद सांगोपांग है
यह वेद भी सकलांग है
वह वेद विद्वद्ज्ञेय है
यह वेद विद्वद्गेय है
वह वेद है यह वेद है
दोनों में क्या कुछ भेद है?

उस वेद में ऋचायें हैं
इस वेद की चर्चायें हैं
उस वेद में भी मन्त्र हैं

इस वेद में सुमन्त्र हैं
उस वेद में यदि देव है
इस वेद का पति देव है
वह वेद है यह वेद है
दोनों में क्या कुछ भेद है?

उस वेद में विज्ञान है
इस वेद में प्रज्ञान है
उस वेद में सद्ज्ञान है
इस वेद में संज्ञान है
वह वेद भी निर्लेप है
यह वेद भी निर्लेप है
वह वेद है, यह वेद है
दोनों में क्या कुछ भेद है?
वह वेद ब्रह्म स्वरूप है
यह वेद ब्राह्मी रूप है
वह वेद सूर्य समान है
यह वेद चन्द्रसमान है
दोनों का रस्ता एक है
दोनों की मंज़िल एक है
वे वेद है, यह वेद है
दोनों में क्या कुछ भेद है?

वह वेद नित्यानन्द है
यह वेद विद्यानन्द है
वह वेद यदि सच्छन्द है
यह वेद भी स्वछन्द है
दोनों का चिन्तन एक है
दोनों में शुद्ध विवेक है
वह वेद है यह वेद है
दोनों में क्या कुछ भेद है?

उस वेद में है भव्यता
इस वेद में है सभ्यता
उस वेद में है काव्यता

इस वेद में है काव्यता
उस वेद में अतिरेक है
इस वेद में व्यतिरेक है
वह वेद है यह वेद है
दोनों में क्या कुछ भेद है?

उस वेद को जिसने पढ़ा
वह हो गया मतिमान् है
इस वेद से जिसने पढ़ा
वह हो गया विद्वान् है
पहचान तो वह वेद है
सम्मान तो यह वेद है
वह वेद है यह वेद है
दोनों में क्या कुछ भेद है?

वह यद्यपि भगवान् है
यह भी एक इन्सान है
इनको अलग कैसे कहें
हमें तत्त्वमसि का ज्ञान है
देखें यदि हम इस तरह
उभयत्र भेदाभेद है
वह वेद है यह वेद है
दोनों में क्या कुछ भेद है?

मेरी माँ

डॉ० ऋचा

तुम खूबसूरत रंगभरी अनमोल पेंटिग हो
जिसके सौन्दर्य भरे अनोखे रंगों ने मुझे
न जाने कितनी बार चकित कर दिया है
मेरे बालपन से अब तक।
जब मुखर हो बोलते हैं तुम्हारे ज्ञान के रंग
तो सुनता है मानो मूक हो ज्ञान भी
कितने ही वेद कितनी ही भाषाएँ
कितने ही विषय कितनी ही कलाएँ
किस रंग को आंका जाए अधिक
किसे देख मन हो न आह्लादित।
करुणा और दया का रंग उभर आता है
इन रंगों के बीच तैर कर, उभर कर
और अपनी चमक से पल भर को
नैनों को भर देता है
नैनों के ही जल से।
ये रंग और गहरे हो जाते हैं
मेरे तुम्हारे रिश्तों के बीच
और फीके से हो जाते हैं
इर्द गिर्द के सब रंग उस क्षण
पर तुम्हारा वात्सल्य रंग कमतर नहीं है
जो बिखरा हुआ है अपनों में भी

और उन अपनों में भी
जिन्हें और कोई नहीं अपना पाता
दृष्टि भी नहीं जाती जिनकी ओर
उन चेहरों, उन हाथों को भी छू जाता
धूप में जब भी मेरा मन कुम्हलाता
तुम्हारी ठंडी छांव में आ जाता
तुम सखी तुम मार्गद्रष्टा
तुम गुरु तुम पथ प्रदर्शिका
तुमसे ही पाया जन्म मैंने
अंगुली पकड़ तुमसे ही सीखी
पथ पर चलने की पथ पर चलने की कला।
तुम्हारे इन असंख्य रंगों के बीच
प्रयास करती हुई एक तितली सी
कि कुछ रंग चुरा लूँ मैं भी
कुछ तो बन जाऊं तुम सी
ओ मां तुम हो मेरी मां
मुझे गर्व है स्वयं पर
कि तुम ही हो मेरी मां
कि तुम ही हो मेरी मां!

हे शारदास्वरूपो

हे शारदास्वरूपे! हे वेदमूर्ति धारी!
वर्षों से सींची तुमने ये, ज्ञान की ही क्यारी॥

तेरे उगाये पौधे, फूले फले बढ़े हैं
पा प्रेरणा तुम्हीं से, आगे सभी बढ़े हैं
तुमने ही देववाणी, हम को लगाई प्यारी॥
हे शारदा........................

सेवा से मुक्त हो हम, सेवा में रत रहेंगे
मस्तक हमारे आगे, तेरे ये नत रहेंगे
हमसे सही नजाती अब, ये विदा तुम्हारी॥
हे शारदा....................

तेरी चरण रज विकसित, जीवन हुआ हमारा
कैसे चुका सकेंगे, माँ कर्ज़ ये तुम्हारा
रखना दया की दृष्टि, यही प्रार्थना हमारी॥
हे शारदा.....................

बहती रहे सतत ही, तुमरी ये विद्याधारा
हम जैसे मूढ़ जन को तुमने सदा उबारा
श्रद्धा से अब तुम्हारी ये आरती उतारी॥
हे शारदा......................

प्रेरणा स्रोत, परमवत्सला, श्रद्धेय
श्रीमती वेदकुमारी घई जी के लिये
उनकी सेवा निवृत्ति के अवसर पर

डॉ. आदर्श मल्होत्रा

Some reminiscences

Miss Sushma Choudhary
I.A.S. (Retd.), Jammu

As the saying goes "a well written life is as rare as a well spent life" To encapsulate the life of Dr. Ved Kumari Ghai in a succinct account is indeed a difficult and involute task, as it spans decades of my association with her. Though as a student of Govt. Degree College for Women, Parade Ground, I spent very little time under her, but I vividly recall the imprint she had left on the mindscape of the student community as a whole. The pellucid delivery of poetry with nuanced notes, flawless narration of prose and the craft of weaving grammatical understanding in a simplistic manner, won her many aficionados, who remained committed to the Sanskrit language as a life long pursuit. Her oeuvre as an ensemble manifests a complete blend of effusive expression, interpretative skill, impeccant diction and fusion with the subject matter of study. On whatever subject she spoke, it seemingly emanated from the depth of her soul and transcended the limitations of mind conditions by rationality and at times contrariness. Her 'sang froid' attitude combined with austerity in the life style does put her in a class apart.

In my view, the scholasitc excellence perameated all her work, mainly her original work on *Nilamata Purana.* The nonpareil quality of her original work marked a watershed in Sanskrit which till date is construed as a shibboleth of academic standard, which succeeding seminal work find hard to reach or even approximate.

But I percieive that the true identity of Dr. Ved Kumari Ghai lies in the field of voluntary work, to which she has devoted herself with consummate commitment. She took upon herself the mantle of leading the *Khadi* movement in J&K by dint of her animated association with Smt. Krishna Mehta, who founded Shri Gandhi Sewa Sadan Jammu, of which Dr. Ghai is the Chairperson. While not abjuring her compulsive penchant for academic work, she is actively involved as Chairperson of *Vasudhaiva Kutumbakam,* in myriad social projects like operation of creches, purveying opportunity for the schooling of slum children through the concept of 'adopt a child' for education. She remained the Secretary of Association for Social Health in India, J&K Branch for over two decades.

Dr. Ghai is constantly driven by inexhaustible physical & mental endeavor as is axiomatic from the dour routine she maintains and a strong will to perform. What is rare about Dr. Ghai is her down to earth attitude & conscient transformational approach disported from ambiguous and evasive methods of delivery of services. It is in the realm of voluntary work that Dr. Ghai has found harmony and equanimity, which has impacted the lives of many disadvantaged people. The proposed compendium will be a tribute to a life truly lived.

Teacher's Love: A Bouquet of couplets to Prof. Ved Kumari Ghai

Dr. P.K. Acharya,
Reader in Sanskrit, Govt. of Orissa Edu Services

A fruit imbibes the traits of the tree, so a student embodies his teacher's. A teen offers his earnings to his parents, so the divine grace I am bestowed upon is hers, my teacher Prof. Vedji. My relish and distribution of the nectar of the eternal Truth, the discovery of the Vedic Seers -- the highest achievement in one's life -- , is credited to her. This achievement may be one of her greatest gifts in the successful university teaching profession of Vedji. Such holy image of her, reflected within my devotion, is composed in a few Sanskrit verses.

During my M. Phil. career in Sanskrit at Jammu University in 1978, my Prof. Vedji immensely supported me. Vedji opened M. Phil course in Sanskrit when it was not introduced in the Advance Centre in Sanskrit, University of Pune. This was perhaps the grace of Lord Siva who 'pulled' me from Advaita Vedanta and Nyaya studied at Puri, Pune and Tirupati and embraced me into His lap, the order of Sivadvaita of kashmir Saivism. This fulfuilled the goal of my life. She was Vedji who immediately offered me boarding at first in the Ved Bhawan and afterwards in her mother's Hospital at her own cost and sourced me milk, my single diet, by dint of which she cured me of my chronic ailment, duodenal ulcer. Every pace of her is ideal. In the fall of every winter, I recollect her gift, the warmth of Kashmiri blanket; in summer, Dr. Ram Pratap ji's cooling, and soothing voice; in spring, spirited Bhanu; and in each morning, Richa's portrait of my Master. Ah, we wait for the day when she would wash away my daughter's dross through the chant of her Vedic sway.

प्राध्यापिकां वेदश्रियं नमामि

प्राध्यापिका या वेदभिदाना
संस्कारपुष्टा च प्रतापशक्तिः।
या शोभते संस्कृतदानशीला
तामुत्कलस्थः प्रणमामि नित्यम्॥1॥

संसारमध्ये सुखमप्यवाप्तुं
सेव्या जनास्तेदेवर्षिकल्पाः।
तेषां सदा सेवनतत्परोयः
प्राप्नोति शान्तिं सुखं स प्राणी॥2॥

विद्या कलातन्त्रसमस्तज्ञानैः
सुशोभते या सर्वत्र विश्वे।
जम्मूप्रदेशेषु कृताधिवासां
प्राध्यापिकां वेदश्रियं नमामि॥3॥

मन्त्रप्रभावः

मन्त्र-पूरिते हृदय-स्पन्दिते
उच्च-पदवी का नीच-पदवी का।
निःश्वासो यदा मन्त्र-रहितः
उच्चकर्म किं हीनकर्म किम्॥1॥

विश्वतो यदा आत्म-भरितः
को वै निराशः कः साभिलाषः।
चक्षु-र्मुद्रिते स्वरूप-दर्शने
पुण्यकर्म किं पापकर्म किम्॥2॥

वृत्तयो यदा वेगवर्द्धिता
कथमुन्नतिः कथं च सिद्धिः।
उच्छलात्मिका चमत्कारिता
भैरवी सदा भैरव्ः सदा॥3॥

A page from Son's Diary

Summer of 1975

I must be about nine or ten year old boy. I had done ok in my annual school exams and summer holidays had started. As the holidays were getting over, there was excitement for the new school session. Parents just bought me a new set of curriculum books for the upcoming school session. I had got protective sheets to cover the newly bought books and notebooks and nicely covered then all. One evening I was walking with my father in the market place and noticed an aluminium school attache case displayed at a window of a shop. And now this was a new object I wanted to possess. I gently told my father. We were in a hurry and father advised that let us finish our work and later we could talk about this.

During dinner time I initiated the discussion again and started my story on how this new aluminium attache case was so good and I desperately wanted my parents to buy that for me. I wanted to buy this aluminium attache case to carry my books to school. I was asked to bring my existing school bag. I went to my room and looked at my current school bag and realized that the bag I had was in perfect condition. Nevertheless, I still wanted this new object. When I brought the bag in front of my parents, they obviously noticed that the bag was in good condition and there was no need to replace this with a new one. I got angry & left in the middle of my dinner as a show of my resentment and anger. My parents came to my room and tried to explain to me the reasoning. My father is soft at heart and I noticed from his body language that he was probably ok to by me this. He started saying some thing, any my mother interrupted and firmly said "no we are not bying." I was shattered. Over the next few days I kept trying my luck and heard back from my mother one day, "You may want this attache case but you do not need this." she patiently but firmly explained. I was disappointed, and started to believe that time that my mother did not love me and did not care about my feelings. The feeling faded away in few weeks after the school started. Through after 1 yr. I got that attache when the previous bag worn and torn to replaced.

A generation later, Bhavana and I are blessed with children Nikita and Nikhil, Now Nikhil is about in the same age group as I was in the summer. I do realize today even more the difference, I learnt from my growing kids to know that difference between the two. Mataji, Thank you,.

Vir Bhanu is son of Prof. Ved Kumari Ghai who lives with his wife Bhavana, daughter Nikita and son Nikhil and a Labrador Danny at Bangalore.

—Vir Bhanu

विषयानुक्रमणिका

ऋग्वेदे प्रकृतिचित्रणं ततः प्राप्तः सन्देशश्च

डॉ॰ रामनाथो वेदालङ्कारः

वेदाः खलु धर्मग्रन्था वा स्युरध्यात्मग्रन्था वा स्युर्विविधविद्यानां निधिग्रन्था वा स्युः, निर्विवादमिदं यत् तेषां विषयप्रतिपादनशैली काव्यमयी वर्तते। वेदेषु स्तुतिर्वा स्याद्, प्रार्थना वा स्याद्, उपासना वा स्याद्, गभीरं दार्शनिकं विवेचनं वा स्याद्, मानवस्य कर्तव्यबोधनं वा स्याद्, उद्बोधनं वा स्याद्, सत्कार्यस्य प्रशंसा वा स्याद्, दुष्कार्यस्य निन्दा वा स्यात्, पापं प्रत्याक्रोशो वा स्याद्, युद्धस्य भीषणः संहारो वा स्याद्, विजयदुन्दुभेर्नादो वा स्याद्, स्वराज्यस्यार्चना वा स्याद्, उषसां सूर्यस्य रात्रेश्चोदयवर्णना वा स्याद्, तमःसंहारस्याभिव्यक्तिर्वा स्याद्, पर्जन्यस्यामृतवर्षणं वा स्याद्, विद्युद्गर्जनायाविद्युद्दीप्तेश्च ताण्डवनर्तनं वा स्याद्, सरितां कलकलनिनादो वा स्याद्, वातस्य झञ्झाप्रवाहो वा स्याद्, खगानां कलकूजनं वा स्याद्, सघनवनानां हरीतिमा वा स्याद्, सरसशान्तेर्गीतं वा स्याद्, विकटक्रान्तेरुद्घोषो वा स्याद्, पवित्रस्य यज्ञस्य सन्देशो वा स्याद्, अग्निज्वालानामूर्ध्वगमनं वा स्याद्, सोमरसस्य प्रस्रवणं वा स्याद्—सर्वत्र काव्यमयी शैली दरीदृश्यते।

लघुलेखेऽस्मिन् ऋग्वेदस्य कतिपयानि प्रकृतिचित्रणानि प्रदर्श्य प्रतिपादयितुमीहामहे वयं यत्तैः प्रकृतिचित्रणैर्वेदाः कं सन्देशं मुखरयन्ति। कस्यापि काव्यस्य प्रकृतिचित्रणं चित्रणमात्रं चेत्, ततः पाठकैः कोऽपि सन्देशो न प्राप्यते चेद्, जागरूकता न लभ्यते चेत्, तद् हृत्तन्त्र्याः तारान् न झङ्कारयति चेत्, हृदि दिव्यचेतनां न प्रवाहयति चेत्, तर्हि तच्चित्रणं कामं कियदपि मञ्जुलं भवेत् तस्य न किमपि मूल्यम्।

अरण्यवर्णनम्

प्रकृतिचित्रणप्रसङ्गे प्रथमं तावद् वयमरण्यवर्णनस्य सूक्तमेकम् (ऋग् 10/146) गृह्णीमः। अत्र कस्याश्चिद् वनवासिन्या एकस्य नागरिकस्य च मध्ये वार्ता वर्णिता। सूक्तमिदम् अरण्यानीसूक्त-नाम्ना कीर्त्यते। अरण्यानीशब्दस्यार्थं विशदयन् निरुक्तकृद् यास्को ब्रूते—'अरण्यानी अरण्यस्य पत्नी' इति (निरु. 9/28/24)। अरण्यं नाम वनम्, तस्य पत्नी न भवितुमर्हति, निश्चेतनत्वात् तस्य। मुख्यार्थबाधे सति लक्षणा प्रवर्तते, अरण्यस्य लक्ष्यार्थश्च 'अरण्यस्थः पुरुषः' इति सम्पद्यते। अरण्यस्थस्य पुरुषस्य 'अरण्यशब्देन' कीर्तने तावदिदं स्वारस्यं यत् तस्य पुरुषस्य वनेन सहैकात्म्यं तज्जीवनस्य जीवनमयत्वं च व्यज्यते। तस्य अरण्यस्थस्य पुरुषस्य वानप्रस्थस्य जनस्य वा पत्नी अरण्यानी वर्तते। कश्चिन्नागरिको वनं समायातस्तां वानप्रस्थपत्नीं पृच्छति—अयि वनदेवि, किमिति त्वम् अरण्येषु विलुप्तेव तिष्ठसि? ग्रामं किं न पृच्छसि? अत्र वने किं त्वां भयं न बाधते? सा वनवासिनी समुत्तरति—

वृषारवाय वदते यदुपावति चिच्चिकः।
आधाटिभिरिव धावयन्नरण्यानिर्महीयते॥ –ऋग् 10/146/2

भद्र, त्वं भयस्य वार्तां करोषि। भयं कुतः? अत्र तु वीणां विनैव संगीतस्यानन्दः प्राप्यते। पश्य, यदा वृषारवो नाम तीव्रस्वरो जन्तुः स्वकीयेन तीव्रेण स्वरेण दिशो निनादयति, यदा च चिक्-चिक् इति मृदुध्वनिं कुर्वाणश्चिच्चिको नाम कश्चिदन्यो जन्तुस्तमुपतिष्ठते, तदा वनरूपो गायको वीणातन्त्रीषु 'स-रे-ग-म-प-ध-नि' इति सप्तस्वरानिव शोधयति। अत्र कवेः कीदृशं कल्पनाचातुर्यम् कीदृशश्चोत्प्रेक्षालङ्कृतिचमत्कारः, ध्वनिमात्रेण स्वार्थं पुरस्कुर्वतोः 'वृषारव-चिच्चिक' शब्दयोश्च प्रयोगे कीदृशं पदौचित्यप्रावीण्यम्।

सूक्तेऽस्मिन् षण्मन्त्राः सन्ति। परम्, एक एव मन्त्रोऽन्यो दीयते–

आञ्जनगन्धिं सुरभिं बह्वन्नामकृषीवलाम्।
प्राहं मृगाणां मातरमरण्यानिमशंसिषम्॥ –ऋग् 10/146/6

वनवासिनी देवी वनवीथ्या महिमानं गायन्ती नागरिकं जनं कथयति। पश्य, एषा वनवीथी अञ्जनतरूणां विकसितैः पुष्पैः सौरभमयी, कृषीवलाम् विनैव प्रचुरान्नयुक्ता, विविधानां पशूनां माता च विद्यते। तामेनां को न स्तुयात्? 'बह्वन्नाम्-अकृषीवलाम्' इति कारणं विनैव कार्योत्पत्तिवर्णनादत्र विभावनालङ्कारसौन्दर्यं प्रस्फुटति। वनस्य स्त्रीलिङ्गो मातृरूपे वर्णनं चापि सुतरां मनोहारि। नागरिकस्य प्रश्न आसीत्–किं त्वां भयं नोद्वेजयति? वनवीथ्या मातृरूपेण चित्रणात् तस्य प्रश्नस्य स्वत एव समाधानं जायते, मातुर्भयं कः कुर्यादिति।

अरण्यशृङ्खलाया एतेन मनोमोहकेन चित्रणेन मानवः सन्देशं प्राप्नोति यत् तृतीये वयसि गृहभारं पुत्रे पुत्रवध्वां च निक्षिप्य स्वयं वानप्रस्थाश्रमं प्रविश्य वनस्यैकान्तं सुरम्यं च वातावरणमेव स्वनिवासस्थलीं कुर्यादिति।

विश्वामित्रनदीसंवादः

सर्वान् प्रति मैत्रीभावं स्वमनसि निदधानः ऋषिकोटिकः पुरुषो विश्वामित्र इति कथ्यते। 'विश्वामित्रः सर्वमित्रः' इति हि निरुक्तम् (2/24)। विश्वशब्दस्य दीर्घान्तादेशे च 'मित्रे चर्षौ' (पा. 6/3/130) इति पाणिनीयं सूत्रं प्रमाणम्। स विश्वामित्रः सुदासो नृपतेः पुरोहितो वर्तते। यः खलु शुभदानकर्ता स सुदाः। 'सुदाः कल्याणदानः' इति तत्रैव निरुक्तम्। विश्वामित्रः शुभदानकर्तु र्नृपतेः सकाशात् शकटपूरं धनान्नवस्त्रादिकं दक्षिणायां प्राप्य स्वावासं वनप्रान्तरं प्रति निवर्तमानोऽस्ति। स पश्यति यद् या नद्यो वनान्नगरं प्रति गमनकाले न्यूनजलत्वात् सुतरणा आसन् ता एव सम्प्रति जलपूरं प्रवहन्ति, भयङ्कर्यश्च सञ्जाताः। नदीं विपाशं शुतुद्रीं च दृष्ट्वा विश्वामित्रस्य मनसि काव्यधारा प्रस्फुटति। विराडस्ति विस्तीर्णधारा नदी, शुतुद्री च सा या आशुद्राविणी, यां कश्चित् प्रतोदमिव हस्ते कृत्वा आशु द्रावयति सञ्चालयति। यथोक्तं निरुक्ते–"विपाड् विपाटनाद्वा विपाशनाद्वा विप्रापणाद् वा। शुतुद्री शु द्राविणी, आशु तुन्नेव द्रवतीति वा (निरु. 9/24/20)।" विश्वामित्रो ब्रूते–

प्र पर्वतानामुशती उपस्थादश्वे इव विषिते हासमाने।
गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते।। –ऋग् 3/33/1

एते विपाट्छुतुद्र्यौ नद्यौ स्वकीयं जलपूरं समादाय तेन सह वेगेन धावतः। सचेतने इव सकामे इव एते पर्वतानां क्रोडं परित्यज्य परस्परस्या अग्रे गन्तुमिव तथा पयसा जवेते यथा धावनप्रतियोगितायां परस्परं स्पर्द्धमाने विमुक्तबन्धने द्वे घोटिके वेगेन धावतः। किञ्च, तटप्रान्तान् एते नद्यौ तथा लेलिहाने स्तः यथा शुभ्रे द्वे गावौ स्वकीयौ वत्सौ जिह्वया लीढः।

विपाट्छुतुद्र्यौ नद्यौ समाश्रित्य परस्ताद् विश्वामित्रो वर्णयति यदेते सरितौ रथारूढे इव सवेगं धावतः, ऊर्मिभिः सगलाश्लेषं सबाहुपाशबन्धनं मिलित्वा परस्परमानन्दसिक्ते इव कुरुतः (मन्त्रो द्वितीयः)। अत्र नद्योश्चेतनवद् वर्णनं कीदृशं सौन्दर्यमावहति।

तत्रैव सिन्धुरपि विद्यते। सिन्धुः खलु विशिष्टप्रवाहा नदी सिन्धुः स्यन्दनात् (निरु. 9/24/20)। एतासां नदीनां विकटं संगमं वीक्ष्य विश्वामित्रस्ता ब्रूते यद् मुहूर्तं यावत् स्वकीयप्रवाहादुपरमध्वं येनाहं पारं गच्छेयम् (मन्त्रः पञ्चमः)। नद्यः प्रत्युत्तरन्ति–वज्रबाहुरिन्द्रः पर्वतानां हिमशिलाः संत्रोट्य संत्रोट्य मेघं विच्छिद्य विच्छिद्य वाऽस्मान् प्रवर्तयति, सुपाणिः सविता देवोऽस्मानग्रेऽग्रे प्रवाहयति। वयं तु तयोरेवानुशासने चलामः। तव वचसा कथमवरुद्धप्रवाहा भवेम (मन्त्रः षष्ठः)। अन्ते च विश्वामित्रस्ता नदीः 'स्वसारः' इति सम्बोधयति–हे स्वसारः मदीयां प्रार्थनां यूयं शृणुत, दूरादहम् अन्नधनपूर्णं शकटं रथवाहनं च गृहीत्वा समायामि, यूयं मद्वचसा स्वप्रवाहं गाधं कुरुत, मम रथचक्रकीलादधःप्रवाहा भवत, येनाहं युष्मान् पारयेयम् इति। 'स्वसारः' इति सम्बोधनं श्रुत्वा नद्यश्चमत्कृता जायन्ते, तत्क्षणमेव च भ्रात्रे विश्वामित्राय ता गाधसलिला भवन्ति। विश्वामित्रोऽनायासं तास्तरति।

अचेतनाभिर्नदीभिः सह चेतनस्य मनुष्यस्य संवाद एव प्रमाणीकरोति यद् वर्णनमिदं काव्यमयं वर्तते। वर्णने च वेदस्य कविरतीव सफलो जातः। नदीनामलङ्कृतिमये वर्णने सुचारुचारुतया सह सन्देशोऽयमेतेन संवादेन प्राप्यते यत् स्वसारं कृत्वा सुमहत्यपि विद्वेषिणी शत्रुसेना स्वानुकूला कर्तुं शक्यत इति।

सिन्धोर्द्विविधं वर्णनम्

ऋग्वेदस्य 10/75 संख्यके सूक्ते सिन्धुनद्या द्विविधं रूपमुपलभ्यते, एकं तस्या उग्रं रूपम्, द्वितीयं च सौम्यं रूपम्। पूर्वं तावदुग्रं रूपं दृश्यताम्–

दिवि स्वनो यतते भूम्योपर्यनन्तं शुष्ममुदियर्ति भानुना।
अभ्रादिव प्र स्तनयन्ति वृष्टयः सिन्धुर्यदेति वृषभो न रोरुवत्।।

–ऋग् 10/75/3

उग्ररूपस्य वर्णनं पुंल्लिङ्गे कविना कृतम्। पश्यत, सिन्धुनदोऽयं वृषभवद् रेभमाणः प्रवहति। अस्य तीव्रः शब्दो गगनमपि व्याप्नोति, भूमिमपि च। प्रदीप्ताभिः स्वकीयाभिरूर्मिभिरयमनन्तं वेगं धारयति। यदायं प्रचण्डं शब्दमुत्थापयन् प्रवहति तदा प्रतीयते यन्मेघात् सगर्जनं वृष्टयः पतन्ति। अत्र

वृषभस्योपमायां संगर्जन्तीनां वर्षाणामुत्प्रेक्षायां च या चारुताऽस्ति तां सहृदयाः पाठकाः सहजमेवानुभवितुं शक्नुवन्ति।

सिन्धोः सौम्यरूपं वर्णयन् कविस्तां युवतिरूपेण चित्रयति–

स्वश्वा सिन्धुः सुरथा सुवासा हिरण्ययी सुकृता वाजिनीवती।
ऊर्णावती युवतिः सीलमावत्युताधि वस्ते सुभगा मधुवृधम्।। –ऋग् 10/75/8

सिन्धुरूपेयं युवतिः सुरथारूढा सुवासाः हिरण्यालङ्कारधारिणी सुसज्जिता, क्रियाशीला, ऊर्णावस्त्रधारिणी, सुशीलवती, सुभगा चास्ति, माधुर्यवर्धकं रूपं च धारयति। अत्र नदी तीव्रप्रवाहत्वाद् रथाधिरूढा, सुन्दरप्रवाहत्वात् सुवासाः (सुरम्यशाटिकाधारिणी), प्रवहत्स्वर्णिमपुष्पत्वाद् हिरण्यालङ्कार-धारिणी, प्रवहतामूर्णासदृशानां विविधवर्णानां वानस्पत्यद्रव्याणां कारणादूर्णामयी, शालीनप्रवाहत्वात् शीलवती चोक्ता। सिन्धौ युवतित्वारोपश्च चामत्कारिकः। उग्रं रूपं प्रकटयितुं नद्याः पुरुषरूपचित्रणे, सौम्यं रूपं च दर्शयितुं तस्या युवतिरूपचित्रणे च यत् स्वारस्यं तदपि सहृदयैरनुभूयतां नाम।

चित्रणमिदं पुरुषाणां कृते बलवत्तां, प्रचण्डताम्, आक्रामकतां च, नारीणां कृते च माधुर्यं सन्दिशति।

वायोः रथः

वायोरपि रूपद्वयं भवति–एकं तावत् प्रबलस्य झञ्झावातस्य रूपम्, द्वितीयं च शीतलमन्द-सुगन्धिपवनस्य रूपम्। झञ्झावातं वर्णयन् कविः प्राह यद् वातोऽयं रथमारुह्य सवेगं गच्छति।

वातस्य नु महिमानं रथस्य रुजन्नेति स्तनयन्नस्य घोषः।
दिविस्पृग् यात्यरुणानि कृण्वन्नुतो एति पृथिव्या रेणुमस्यन्।।

–ऋग् 10/168/1

वायो रथस्य महत्त्वं पश्यत, कथमेष रुजन् प्ररुंजन् वेगेन गच्छति, कथं गर्जन्नस्य घोषोऽस्ति, गगनं चुम्बन्नेष दिक्प्रान्तानरुणान् कुर्वन्, पृथिव्या धूलिमितस्ततो विक्षिपन् प्रद्रवति।

झञ्झावातस्य कीदृशश्चमत्कृतिपूर्णोऽयं स्वभावोक्तिरलङ्कारः। वायो रथारूढत्वकल्पनायामप्यद्भुतं सौष्ठवम्। एतेन वर्णनेन योगसाधकस्य प्राणायामद्वारा सकलशारीरमानसमलध्वंससूचनामपि कविः प्रयच्छति। तत्साकमेव च मनुष्ये विपदाक्रान्ते सति स वायुवत् सकला विघ्नबाधाः प्ररुजन्, गर्जन्, शत्रुदलं धूलिसात् कुर्वन् रक्तेन च रञ्जयन्नग्रगामी भवेदिति सन्देशोऽपि झञ्झावर्णनेनैतेन प्राप्यते।

आगामिन्येव मन्त्रे वायोः सुन्दरं सौम्यं वर्णनमपि कविर्विधत्ते। यस्यां दिशि समीरः सरति तस्यामेव दिशि स्थावरा वृक्षवनस्पत्याद्या अपि नमन्ति। नदीसमुद्रसरोवरादीनां जलपङ्क्योऽपि तस्मिना-मिलन्ति। जलवाचकोऽपशब्दः स्त्रीलिङ्गो भवति, तेन कविः सूचयति यद् यथा कश्चिद् युवकः पत्नीं प्राप्नोति तथैव समीरः सलिलसहतिरूपां सहधर्मिणीमालिङ्गतीव। तया सहैकस्मिन् रथे उपविशन् वार्तालापं कुर्वन् सम्पूर्णस्य भुवनस्य राजा स पवनदेवः सानन्दं मन्दगत्या चलति–

सं प्रेरते अनु वातस्य विष्ठा एनं गच्छन्ति समनं न योषाः।
ताभिः सयुक् सरथं देव ईयतेऽस्य विश्वस्य भुवनस्य राजा॥

–ऋग् 10/168/2

एतेन मनुष्यः सन्देशं लभते यत् स जीवने नित्यमुग्रतयैव न वर्तेत, किन्तु स्वकीयं मन्दस्मितमयम्, आनन्दमयम्, उल्लासदायकं, सद्व्यवहारपूर्णं मधुरं रूपमपि प्रदर्शयेदिति।

ब्राह्मणा मण्डूकाः

वर्षतौं जलपूर्णेषु सरस्सु मण्डूकानां टर-टर-शब्दोऽतीव मोददायकः प्रतिभाति। प्रकृतेः सूक्ष्मनिरीक्षकाः कथयन्ति यन्मण्डूकाः पर्जन्यं वारि याचितुमपि टरटरायन्ते वर्षाधाराभिः संतृप्तिं चापि। तेषामेतयोर्द्वयोरपि ध्वन्योः स्पष्टमन्तरं भवति। वेदे मण्डूकनाम्ना वेदपाठिनो ब्राह्मणा अप्यभिहिताः।

निरुक्तकृद् यास्को मण्डूकशब्दं तावदेवं निर्वक्ति–मण्डूका मज्जनात्, मदतेर्वा मोदतिकर्मणः, मन्दतेर्वा तृप्तिकर्मणः, मण्डयतेरिति वैयाकरणाः, मण्ड एषामोक इति वा (निरु. 9/5)। अस्यायमाशयः–मण्डूकशब्दः प्लवनार्थकाद् 'मस्ज्' धातोर्निष्पद्यते। भेकाः सरोवराणां सलिले मज्जन्ति, वेदपाठिनो वटवश्च ज्ञानरसे। यद्वा, मण्डूकशब्दो मोदनार्थकाद् 'मदी' धातोः, तृप्त्यर्थकाद् 'मन्द (मदि)' धातोर्वा सिध्यति। भेकाः वर्षासलिले प्रमुदितास्तृप्ताश्च जायन्ते, वेदपाठिनो वटवश्च विद्यावृष्टौ। यद्वा, भूषणार्थकाद् 'मडि'धातोर्मण्डूकः। भेकानां चर्म भूषितं, वेदपाठिनां वटूनां च चित्तं भूषितं भवति। यद्वा, 'मण्ड-ओकस्' इत्यनयोर्योगेन मण्डूकशब्दः साधनीयः। भेकानाम् ओकः सरोरूपं गृहं मण्डितम्, वेदपाठिनां वटूनां च ओको विद्यागृहं भित्तिषु लिखिताभिर्ऋग्भिर्मण्डितं भवति।

ऋग्वेदस्य 7/103 संख्यके सूक्ते मण्डूकशब्देन भेकानां वेदपाठिनां ब्राह्मणानां च युगपद् रम्यं चित्रणं कृतम्। एष चास्ति तत्सूक्तस्य प्रथमो मन्त्रः–

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः॥

अत्र वर्षास्वानन्दमग्नानां शब्दायमानानां भेकानां वर्णने 'ब्राह्मणा व्रतचारिणः' इत्यत्र लुप्तोपमा। 'अपि वोपमार्थे स्याद् ब्राह्मणा इव व्रतचारिणः' इति हि निरुक्तम् (9/5/3)। ये भेकाः संवत्सरं यावद् भूमेरभ्यन्तरे तथैव सुप्ता आसन् यथा व्रतचारिणो ब्राह्मणाः समाधौ निद्रितास्तिष्ठन्ति, त एव वर्षाकाले संप्राप्ते पर्जन्यतर्पितां वाचमुच्चारयितुमारब्धवन्तः। 'ब्राह्मणा व्रतचारिणः' इत्यत्र व्यङ्ग्योत्प्रेक्षापि संभवति। भेकाः संवत्सरं यावद् भूमौ सुप्ता आसन्, यथा ते व्रतचारिणो ब्राह्मणा एव स्युः, यतो व्रतचारिणो ब्राह्मणा एव समाधिमास्थाय सुदीर्घमवधिं यावत् शयितुं शक्नुवन्ति।

मन्त्र एष वेदपाठिनो ब्राह्मणानधिकृत्यापि तादृशमेव रमणीयमर्थं प्रस्तौति। तत्पक्षे 'मण्डूकाः' इत्यत्र लुप्तोपमाऽङ्गीकार्या। मौनव्रतधारिणो ब्राह्मणाः, ये संवत्सरं यावत् तपस्यानिरता आसन्, सम्प्रति मण्डूका इव पर्जन्यतर्पितां वाचमुदीरयन्ति, मौनभङ्गं विधाय सस्वरवेदपाठे निरता जाता इत्यर्थः। निरुक्ते ब्राह्मणपक्षीयोऽर्थोऽपि सङ्केतित एव–संवत्सरं शिशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणोऽब्रुवाणाः' इति।

गोमायुरेको अजमायुरेको पृश्निरेको हरित एक एषाम्।
समानं नाम बिभ्रतो विरूपाः पुरुत्रा वाचं पिपिशुर्वदन्तः।। –ऋग् 7/103/6

वर्षासंतृप्ता एते भेका यदा शब्दायन्ते तदा कश्चिद् गोवद् वाचमुदीरयति, कश्चिच्च छागवत्। एषु भेकेषु कश्चित् पृश्निवर्णोऽस्ति, कश्चिच्च हरितवर्णः। विविधरूपा अप्येते 'मण्डूकाः' इति समानं नाम बिभ्रति, चतुर्दिक्षु च स्वकीयां वाचं प्रसारयन्ति।

मन्त्रो वेदपाठिपक्षेऽपि योज्यताम्। एषु वेदपाठिषु ब्राह्मणेषु कश्चिद् 'गोमायुः' गामुपजीव्य शोधपरः, कश्चिद् 'अजमायुः' अजमुपजीव्य शोधकर्ता वर्तते। एषु कश्चित् 'पृश्निः' सूर्यवर्णो गौरोऽस्ति, कश्चिच्च 'हरितः' श्यामवर्णः। 'विरूपाः' विभिन्नगुणा अप्येते 'मण्डूकाः' इति समानेन नाम्ना व्याह्रियन्ते, वेदपाठं कुर्वन्तश्च सर्वत्र स्वकीयां सस्वरां वेदवाचं ध्वनयन्ति। अत्र श्लेषा-लङ्कारच्छविरपि दर्शनीया।

स्पष्टमेव वैदिकं वर्णनमिदं काव्यमयभाषायां मण्डूकवदुत्साहेन वेदपाठं वेदाध्ययनं वेदानुसन्धानं च कर्तुं सन्देशं मुखरयति।

चिरयुवतिः उषाः

उषसः ऋग्वेदीये काव्यमये वर्णने सहृदयाः काव्यमर्मज्ञा मुग्धाः सन्ति। सा दिवः पुत्री, चिरयुवतिः, सुन्दरी च वर्णिता। उषा रात्रिश्च गौरकृष्णवर्णे भगिन्यौ स्तः, ये परस्परस्या अनन्तरं गमनागमने कुरुतः।

एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि व्युच्छन्ती युवतिः शुक्रवासाः।
विश्वस्येशाना पार्थिवस्य वस्व उषो अद्येह सुभगे व्युच्छ।। –ऋग् 1/113/7

पश्यत, इयं द्युलोकस्य पुत्री, शुभ्रवसना, युवतिरुषा आविर्भवन्ती प्राच्यां दिशि दृश्यते। एषा सकलस्य पार्थिवस्य धनस्याधिष्ठात्री वर्तते। अयि सौभाग्यमयि उषः, प्रत्यहं त्वम् एवमेवाविर्भव।

उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगादप प्रागात् तम आ ज्योतिरेति।
आरैक् पन्थां यातवे सूर्यायागन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः।। –ऋग् 1/113/16

उद्बुध्यध्वं भ्रातरः, जीवनदायी प्राणोऽस्मान् प्राप्तः। निविडोऽन्धकारोऽपगतः, ज्योतिरुद्गच्छति। उषा देवी सूर्यस्य यात्रायै मार्गं रिक्तं कृतवती। वयं च तां स्थितिं प्राप्ता यत्र जना ज्योतिरात्मसात्कृत्य दीर्घजीविनो जायन्ते।

एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि ज्योतिर्वसाना समना पुरस्तात्।
ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु प्रजानतीव न दिशो मिनाति।। –ऋग् 1/124/3

पश्यत, इयं ज्योतिर्वसना दिवो दुहिता मनस्विनी देवी उषाः संमुखमाविर्भवति। एषा सत्यस्यैव मार्गमनुसरति। एषा प्रज्ञानवती काचिद् रमणीया मर्यादां नोल्लङ्घयति।

उषसश्चित्रणान्येतानि समाजे नार्याः कृते विशेषसन्देशवाहकानि। उषसां मुखेन कविः समाजे

नारीणामुज्ज्वलवेशभूषां, धनवत्तां, मनस्वित्तां, ज्ञानवत्तां, परिवारात् समाजाच्च तामसिकतामपसार्य ज्ञानस्य सदाचारस्य च ज्योतिषो दीप्तिं, मर्यादापालनमित्यादीनि कर्तव्यानि सूचयति।

सूर्योदयमुपजीव्यैका कल्पना

ऋग्वेदे सूर्योदयमुपजीव्यैका चमत्कारिणी कल्पना कृता। रात्रिस्तमसाऽऽच्छन्ना विद्यते, सूर्यकिरणाः सूर्यमण्डले बिहिताः सन्ति। ते कथं सहेरन् यदस्मासु सत्सु भूतलमन्धकारमग्नं तिष्ठेत्। सुपर्णाः प्रियमेधाः किरणरूपा ऋषयः सूर्यं याचन्ते यद् भवता वयं कारागार इव स्वमण्डले बद्धाः कृताः, येन प्रकाशवन्तोऽपि वयं भूमण्डलं प्रकाशयितुं न क्षमाः, कृपया बन्धनादस्मान् मुञ्चतु भवान् येनास्मद्द्वारा भूतलस्यान्धकारोऽपगच्छेत्, सर्वेषां प्राणिनां चक्षूंषि च प्रकाशेन पूर्णानि भवेयुः।

वयः सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः।
अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्ध्यस्मान् निधयेव बद्धतरान्॥

–ऋग् 10/73/11

मन्त्रेऽस्मिन् 'निधयेव बद्धान्' इत्यत्रोत्प्रेक्षालङ्कारस्य, किरणेषु ऋषित्वारोपे च रूपकालङ्कारस्य चमत्कारो दर्शनीयः। किरणेषु चेतनत्वमारोप्य तन्मुखाद् बन्धनमुक्तिप्रार्थनायामपि महत् स्वारस्यमस्ति।

वर्णनमिदं गुरुकुलस्य छात्रेष्वपि घटते। ते विद्यामधीत्य मेधाविनः ऋषयः सञ्जाताः, तथाप्याचार्यस्तान् समावर्त्य स्नातकान् न करोति। ते सुपर्णाः सन्ति, किमपि विषयमुपजीव्य कल्पनारूपैः पक्षैरुच्चैरुत्पतितुं क्षमन्ते। ते आचार्यमुपसृत्य निवेदयन्ति–भगवन्, त्वया कृपया वयं विद्वांसः कृताः, तथापि किमिति जालेनेवाबद्धा रक्षिताः, कृपां कुरु, अस्मान् बन्धनादुन्मुच्य स्नातकान् विधेहि, येन वयं जगति व्याप्तमज्ञानान्धकारमपसारयेम त्वत्कीर्तिं च विस्तारयेम।

वेदे सूर्यस्य वर्णनमतीव स्वभावोक्तिचमत्कारपूर्णं दृश्यते। किञ्चित् सौन्दर्यमवलोक्यताम्।

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥ –ऋग् 1/115/1

पश्यत, प्रकाशकानां सूर्यरश्मीनामद्भुतं चित्रविचित्रं च सैन्यमुद्गच्छति यन्मित्रस्य वायोः, वरुणस्य जलस्य, अग्नेः वह्नेश्च चक्षुः प्रकाशकं वर्तते। एतेन सूर्येण द्यौर्भूतलमन्तरिक्षं च परिपूर्णं कृतम्। सूर्योऽयं जङ्गमस्य स्थावरस्य च जगतो जीवनाधारो जातः।

दिवो रुक्म उरुचक्षा उदेति दूरे अर्थस्तरणिर्भ्राजमानः।
नूनं जनाः सूर्येण प्रसूता अयन्नर्थानि कृण्वन्नपांसि॥ –ऋग् 7/63/4

दिवो देव्याः स्वर्णाभूषणम्, आकाशपारावारस्य नौका, दीप्यमानो विस्तीर्णनेत्रोऽयं सूर्यः प्राच्यामुदयते, सुदूरेऽस्य लक्ष्यं वर्तते। अनेन भ्राजमानेन सूर्येण प्रेरिता मानवा नूनं स्वस्योद्देश्यपूर्तौ संलग्नाः सन्तः कर्माणि कुर्वन्त आसते।

अत्र सूर्ये स्वर्णाभूषणत्वस्य, प्रातरारभ्य सायंपर्यन्तमाकाशसागरे तरन्त्या नौकायाश्चारोपः कियान्

काव्यमयः।

रात्रिदेव्या आगमनम्

उषसो वर्णनं यथा वेदेषु युवतिरूपेण कृतं तथैव रात्रिरपि वेदकाव्ये युवतिरेव। तदाविर्भावस्य सुरम्यं वर्णनं कुर्वन् वैदिककविरुद्गिरति–

आ प्रागाद् भद्रा युवतिरह्नः केतून्समीर्त्सति।
अभूद् भद्रा निवेशनी विश्वस्य जगतो रात्री।। –साम. 608

पश्यत, एषा रात्रिरूपा युवतिरागतास्ति। दिने सर्वत्र विकीर्णान् सूर्यरश्मीनेषा संहरति। भद्रा रात्रियुवतिरियं समस्तस्य भुवनस्य विश्रामदायिनी संजाता।

रात्रियुवत्याश्चित्रणमेतन्नार्यै कर्तव्यमुपदिशति यत्सापि दिने प्राङ्गणे विकीर्णानि वस्तून्युत्थापयेत्, दिवसे क्रियमाणानि कार्याणि चोपसंहरेत्, विश्रामदायिनी च स्यात्।

पर्जन्यस्य स्वभावोक्तिः

ऋग्वेदे पर्जन्यदेवताकस्य (5/83) सूक्तस्य पर्जन्यविषयिण्यः स्वभावोक्तयोऽपि मनोमौग्ध्य-कारिण्यः सन्ति।

रथीव कशयाऽश्वाँ अभिक्षिपन्नाविर्दूतान् कृणुते वर्ष्यां अह।
दूरात् सिंहस्य स्तनथा उदीरते यत् पर्जन्यः कृणुते वर्ष्यं नभः।।

–ऋग् 5/83/3

यथा सारथिः प्रतोदेन रथस्य धुरि नियुक्तानश्वान् गन्तुं प्रेरयति, तथैव पर्जन्यो वृष्टिसूचकान् पवनदूतान् प्रेरयति। यदा पर्जन्यो गगनं वृष्ट्युन्मुखं कर्तुं गर्जति तदा प्रतिपक्षिगर्जनमिव मन्यमानः केसरी गर्जनेनैव तं प्रत्युत्तरति। अत्र प्रथमचरणस्योपमा स्वभावोक्तेरलङ्कारस्याङ्गभूता सती चमत्कृति-मुत्पादयति।

प्र वाता वान्ति पतयन्ति विद्युत उदोषधीर्जिहते पिन्वते स्वः।
इरा विश्वस्मै भुवनाय जायते यत् पर्जन्यः पृथिवीं रेतसाविति।।

–ऋग् 5/83/4

वाताश्चलन्ति, तडितस्तडतडायन्ते, ओषधयो वर्धन्ते, गगनं वर्षति, सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्नमुपजायते, यदा पर्जन्यः स्वकीयेन वृष्टिरसेन भुवं तर्पयति। इयमपि स्वभावोक्तिर्विशेषरमणीया।

सोमसूर्यरूपी शिशू

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परियातो अध्वरम्।
विश्वान्यन्यो भुवनाभि चष्टे ऋतूँरन्यो विदधज्जायते पुनः।।

–ऋग् 10/85/18

पश्यत, द्वौ शिशू इमौ माययाऽन्योन्यमनुसरन्तौ, क्रीडां कुर्वन्तौ यज्ञं सञ्चालयतः। अनयोरेकः सर्वाणि भुवनानि प्रकाशयति, अन्यतरश्च ऋतून् निर्मिमाणो मृत्वापि पुनः पुनर्जन्म गृह्णाति।

स्पष्टमेव शिशू इमौ सूर्याचन्द्रमसौ स्तः। एतौ अहोरात्ररूपं यज्ञं सञ्चालयतः। शिशुः सूर्यो लोकान् प्रकाशयति, चन्द्रश्चामावस्यायां मृत्वापि प्रतिपदि विकलाङ्गरूपेण जन्म गृहीत्वा, क्रमेण वृद्धिं गच्छन् पूर्णिमायां पूर्णाङ्गो जायते।

अत्र चन्द्रमसं सूर्यं च शिशू कथयन् वेदस्तस्या अतिशयोक्तेः सौन्दर्यमुपस्थापयति यस्यामुपमेय-मुपमानेन निगीर्यते। यद्वा, सोमार्कदेवताकत्वाद् ऋचोऽस्याः सोमे सूर्ये च शिशुत्वमारोपयन् कविः रूपकालङ्कारच्छटां वितनुते। यद्वा, ऋचमेनां प्रहेलिकां मत्वा प्रहेलिकालङ्कारविच्छित्तिरत्र द्रष्टुं शक्यते।

मरुतां काव्यमयं वर्णनम्

अधिदैवतदृष्ट्या मरुतो वेदे वृष्टेरानेतारः पवनाः सन्ति। ते विद्युतोऽट्टहासादिव जाता इति वेदस्य कविः कल्पयति। मेघदूतनाम्नि खण्डकाव्ये कविः कालिदासः कैलासं वर्णयन् आह यत् गिरिरयं शिवस्य निवासस्थानम्, शिवश्चात्र प्रत्यहमट्टहासं कुरुते, हासस्य च वर्णः कविसम्प्रदाये धवलो मन्यते, अतः कल्प्यते यद् हिमधवलः कैलासोऽयं पुञ्जीभूतः शिवस्याट्टहास एवास्ति शृङ्गोच्छ्रायैः कुमुदविशदै र्यो वितत्य स्थितः खं, राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः (पूर्वमेघः, 58)। अस्याः सौष्ठवमय्याः कालिदासकल्पनाया मूलं वेद एव प्रतीयते।

हस्काराद् विद्युतस्पर्यतो जाता अवन्तु नः।
मरुतो मृडयन्तु नः॥ –ऋग् 1/23/12

मरुतां वर्णनप्रसङ्गे उपमालङ्कारमिश्रिता स्वभावोक्तिरप्येका दर्शनीया–

वाश्रेव विद्युन्मिमाति वत्सं न माता सिषक्ति।
यदेषां दृष्टिरसर्जि॥

दिवा चित् तमः कृण्वन्ति पर्जन्येनोदवाहेन।
यत् पृथिवीं व्युन्दन्ति॥ –ऋग् 1/38/8,9

यदा मरुद्भिरुत्पादिता वृष्टिर्भवति तदा रम्भायमाणा गौरिव विद्युद् गर्जति, धेनुश्च यथा वत्सं प्राप्नोति तथा वृष्टिर्भूतलमागच्छति। मरुत इमे यदा जलवाहकेन पर्जन्येन भूमिं क्लेदयन्ति तदा दिवसेऽप्यन्धकारं जनयन्ति।

मरुतां वर्णनमिदं मानवान् सन्दिशति यत् तेऽपि जगत्यानन्दस्य वृष्टिं कुर्यु र्न तु कलहस्य विद्वेषस्य दुःखस्य वा।

एवमस्माभिर्ऋग्वेदस्य कतिपयानां प्रकृतिचित्रणानां संक्षिप्तं चित्रं प्रस्तुतम्, मानवाय च ततः कः सन्देशः प्राप्यते इत्यपि दृष्टम्। मन्यामहे यत् सहृदयाः पाठका नूनमेभिर्वर्णनैश्चमत्कृतिमनुभूय वेदानां काव्यमयतां हृदि निधास्यन्तीति।

वेदेषु पर्यावरणम्

प्रो. महावीर अग्रवाल

'सर्वज्ञानमयो हि सः', 'सर्वं वेदात् प्रसिध्यति', 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' इत्यादि सुवचनैः वेदानां सर्वविद्यामयत्वं विश्वकल्याणकारित्वं च सिध्यति। भारतीयाः विद्वांसः, दार्शनिकाः, आचार-शिक्षाप्रवणाः, शब्दतत्त्वमीमांसानिपुणाः वैयाकरणाः, वैज्ञानिकाश्चापि वेदानां परमप्रामाण्यं उद्घोषयन्ति।

आधुनिकयुगनिर्माता महर्षि दयानन्दोऽपि 'वेदः सर्वासां सत्यविद्यानां पुस्तकं, वेदस्य अध्ययनम् अध्यापनं, श्रवणं श्रावणं च सर्वेषां परमो धर्मः' इत्युद्घोषयामास। अतः सर्वासां समस्यानां समाधानमपि वेदेषु प्राप्यते नात्र संशयः। साम्प्रतिके काले न केवलं भारतदेशे अपितु विश्वस्मिन् विश्वे पर्यावरण-प्रदूषणसमस्या सुरसा राक्षसीव सर्वं जगत् भक्षयितुं समुद्यता दृश्यते। अस्याः समाधानं वेदेषु बाहुल्येन प्राप्तुं शक्यते। किं तावत् पर्यावरणम् इति प्रश्ने समुदिते, पर्यावृत्तिः पर्यावरणम्, यत् परितः आवृणोति आच्छादयति तत् पर्यावरणम्। ये मानवं परितः आच्छादयन्ति, मानवजीवनं च प्रभावयन्ति, ते पर्यावरणशब्देन गृह्यन्ते। तेषु वायुमण्डलं स्थलमण्डलं जलमण्डलं तथा रासायनिकतत्त्वानां च संग्रहो वर्तते। एवं पर्यावरणं भौतिकजैविकतत्त्वानां संकलनेन भवति। भौतिकतत्त्वेषु मृत्तिका, जलं वायुः प्रकाशश्च सन्ति। जैविकतत्त्वेषु समस्तजीवजगद्वृक्षवनस्पतयश्च सन्ति।

एतेषां सर्वेषां तत्त्वानां सम्यक् संरक्षणेन पर्यावरणं संरक्षितं भवति। विषयेऽस्मिन् चतुर्षु वेदेषु अनेके मन्त्राः विद्यन्ते। कस्यचिदपि मांगलिककार्यस्य आदौ अन्ते च याः विविधाः प्रार्थनाः क्रियन्ते तासु पर्यावरणसंरक्षणसंदेशाः प्राचुर्येण श्रूयन्ते। सुप्रसिद्धे शान्तिपाठमन्त्रे द्युलोकपृथिवीलोकयोः समस्तानामेव चेतनाचेतनानां संतुलनं, संरक्षणं, कल्याणकारित्वञ्च काम्यते।

ओ३म्-''द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्मशान्तिः सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि।''

वैदिकाः ऋषयः जानन्ति स्म यत् सूर्यः ऊर्जायाः अखण्डं स्रोतः। सूर्यालोकेन उष्मया च पृथिव्यां प्राणिषु वनस्पतिषु च जीवनं सञ्चरति। सूर्यरश्मिनाम् उष्णतया मेघाः भवन्ति। ये भूमौ वर्षां कारयित्वा अन्नोत्पादने साहाय्यं विदधति, वर्षाभिरेव च ओषधयः वनस्पतयश्च पुष्यन्ति। अन्नेन मानवशरीरं पुष्यति औषधिभिश्च पुष्टिं प्राप्नोति। भगवन्तं भास्करं प्रसादयितुं विरचितः ऋचः प्राणिजगति वनस्पतिजगति च सूर्यस्य अमितं प्रभावं सामान्यजनान् अवगमयन्ति। ऊर्जायाः अपरिमितस्रोतरूपं

सूर्यं जगतः आत्मा प्रतिपादयन् ऋषिः स्तुतिं प्रयुङ्क्ते-

दिव्यं सुवर्णं वायसं बृहन्तमपां गर्भं दर्शतमोषधीनाम्।
अभीपतो वृष्टिभिस्तर्पयन्तं सरस्वन्तमवसे जोहवीमि।। ऋग्वेद १-१६४-५२

द्युलोके विराजमानं, गतिमन्तं, महामहिमशालिनमपां केन्द्रभूतं, ओषधीनां पुष्टिकरं, जलवृष्ट्या भूमेः तृप्तिकरं सूर्यदेवं वयम् आह्वयामः-

तस्याः समुद्रा अधि विक्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्त्रः।
ततः क्षरत्यक्षरं तद्विश्वमुपजीवति। ऋ. १-१६४-४२

सूर्यकिरणानां तीक्ष्णता वायुमण्डले विद्यमानान् असंख्यातान् दृश्यान् अदृश्यान् वा कीटाणून्, विषाणून् च नाशयति। यथोक्तम्-

उदपप्तदसौ सूर्यः पुरु विश्वानि जूर्वन्।
आदित्यः पर्वतेभ्यो विश्वदृष्टो अदृष्टहा। ऋ. १-१९१-९

वेदे यथा सूर्यः भृशं स्तूयते तथैव अग्निरपि पर्यावरणरक्षकत्वात् यत्र-तत्र सश्रद्धं जेगीयते। ऋग्वेदस्य प्रथमे मन्त्रे अग्निदेवः वैदिकैः ऋषिभिः स्तूयते, प्रार्थ्यते च-

ओ३म् अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् होतारं रत्नधातमम्। १-१-१

अग्नेर्महिमानं प्रतिपादयन्तोऽनेके मन्त्राः वेदेषु दृष्टिपथमायान्ति। अग्नेः सम्बन्धो प्राचीनतमेन उत्कृष्टतमेन कर्मणा यज्ञेन सह वर्तते। वेदेषु यज्ञमहिमा पर्यावरणसंरक्षणाय सर्वोत्तमा मता। यथा तरुगुल्मादीनां महत्त्वं पर्यावरणदृष्ट्या वरीवर्त्ति तथैव यज्ञोऽपि वैदिकसंस्कृतेरङ्गभूतेषु तत्त्वेषु प्राधान्यं भजते। यज्ञादिना वरुणेन्द्रादयो पर्यावरणसम्पोषणं सुभिक्षञ्च सम्पादयन्तीति भारतीयं वैज्ञानिकं चिन्तनमत एव यास्कादिभिः प्रकाशितं यद्धि येन कर्मणा याजका यजमानेभ्योऽन्नादिकं याचन्तेऽथवा यजमाना येन कर्मविशेषेण देवेभ्यो वर्षादिकं प्रार्थयन्ते तत्कर्म खलु यज्ञ इति व्यपदिश्यते। लोके प्रत्यक्षमनुभूयते यद्वै यज्ञसम्पादनेन वर्षा भवति वर्षया च सम्पद्यते अन्नोत्पत्तिरन्नोत्पत्त्या च जगति विद्यमानानां समस्तानां जीवानां पोषणं भवतीति। यज्ञेन संक्रामकरोगानां समूलोच्छेदो भवतीति वैज्ञानिकैः स्वीकृतं तथ्यम्। यज्ञेषु प्रयुक्तं घृततिलादिकं वस्तुजातं यज्ञधूमरूपेण परिणतं भूत्वा वायुमण्डले प्रसरत् प्रदूषणकराणां जैविकतत्त्वानां विनाशं करोति। वेदेषु यज्ञस्यायं पक्षः सविशेषं निरूपितोऽस्ति। उक्तं च यजुर्वेदे-

मनसपत इमं देव यज्ञं स्वाहा वाते धाः। –यजु. २-२१

पर्यावरणे वायुमण्डले वा यज्ञधूमानां प्रसारेण वायुशुद्धौ सत्यां सर्वे प्रसीदन्ति। ऋतुसन्धिषु प्रायशो व्याधिबाहुल्यं लोके दृश्यते। अतो हि ऋतुसन्धिषु यज्ञानुष्ठानानां विधेयत्वं सविशेषं वर्णितमस्ति

शास्त्रेषु। यज्ञानुष्ठानेन वायुमण्डलं प्रदूषणरहितं भवतीति यजुर्वेदे एभिः शब्दैः प्रकाशितं भवति-

समिधाऽग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्।
अस्मिन् हव्या जुहोतन। यजु. ३-१

अग्नेरिव वायोरपि प्राणिनां जीवनाधायकत्वं मन्यते। अद्यत्वे नगरेषु महानगरेषु वा अहर्निशमितस्ततो धावद्भ्यो वाहनेभ्यो निःसृतेन दूषितधूमेन मानवाः विविधरोगग्रस्ताः जायन्ते। अतो वायोः शोधनम् अत्यावश्यकम्। वेदः उद्घोषयति-

वात आ वातु भेषजं शम्भुमयोभु नो हृदे।
प्रण आयूंषि तारिषत्।। ऋ. १०-१८६-१

यददो वात ते गृहेऽमृतस्य निधिर्हितः।
ततो नो देहि जीवसे।। ऋ. १०-१८६-३

आ वात वाहि भेषजं विवात वाहि यद्रपः।
त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे।। ऋ. १०-१३७-३

एतैः मन्त्रै पर्यावरणे वायोः महत्त्वं सिध्यति। वेदेषु जलीयपर्यावरणरक्षार्थमपि यत्र-तत्र विस्तारेण सदुपदेशाः प्राप्यन्ते। जलं जीवनं वर्त्तते। दूषिते जले मानवानां स्वास्थ्यमपि नश्यति।

ऋग्वेदे सोमलताया निरुपमं महत्त्वं विगीतम्। यदा सोमलताभ्यो रसो निस्सार्यते तदा विशिष्टानां मन्त्राणां गानं विधीयते स्म। तत्र सोमरसः स्फूर्तिदायकः अमृतत्वसम्पादकश्च स्वीकृतः। उक्तमपि-

'इन्द्रस्ते सोमसुतस्य पेयाः कृत्वे दक्षाय विश्वे च देवाः।'

गीतायां भगवान् श्रीकृष्णः 'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्' इति कथयन् अश्वत्थनामकस्य वृक्षस्य भगवत्सारूप्यप्रकाशनेन वृक्षाणां महत्त्वमपि प्रतिष्ठापयति स्म। एवमेव भारतीयपरम्परायां वटवृक्षस्य, बिल्ववृक्षस्य, आम्रनिम्बपिप्पलशाल्मलीप्रभृतानां वृक्षाणां च छेदनं पर्यावरणसंरक्षणदृष्ट्या निषिद्धं विद्यते। यजुर्वेदे कथ्यते- 'वनस्पतिः शमिता'

अथर्ववेदे वनस्पतिपशुपक्षिसम्बद्धानां मन्त्राणां बाहुल्यं विद्यते, एतेषां मन्त्राणां विविधरोगोपचारविधौ महानुपयोगो विद्यते। ऋग्वेदस्य ओषधिसूक्ते आरोग्यकारकाणां पादपानां वर्णनं बहुत्र समुपलभ्यते यथाहि-

'शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः।
अधा शतक्रत्वो यूयमिमं मे अगदं कृत।।'

ओषधीः प्रतिमोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः।
अश्वा इव सजित्वरीर्वीरुधः पारयिष्णवः।। ऋग्वेदः १०-९७-२

शुक्लयजुर्वेदे वनस्पतयः सादरं प्रणम्यन्ते-

नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः
वनानां पतये नमः
वृक्षाणां पतये नमः
नमो वन्याय च।

एवं वेदेषु पञ्चमहाभूतानां स्तवनं, वन्दनं, अभिनन्दनं च कुर्वद्भिः ऋषिभिः पर्यावरणरक्षणार्थम् एतेषां महत्त्वं प्रतिपाद्यते।

यदि वयं विश्वम् सुखसौभाग्योपेतं आनन्दपरिपूर्णं रोगरहितञ्च कर्तुमिच्छामस्तर्हि वेदप्रतिपादितानामुपायानामवलम्बनं सर्वथा आवश्यकम्।



काव्यलक्षणम्

प्रो॰ रामप्रताप:

पुष्णन्ति चमत्कारं ध्वनिरीतिरसादय:।
व्रजन्त्यपि तदङ्गत्वं काव्ये कविविनिर्मिते॥1॥

तत्रोपस्थापनं तेषां कवे गौणं प्रयोजनम्।
मुख्यं प्रयोजनं काव्ये सा चमत्कारसंस्थिति:[1]॥2॥

निर्दोषं गुणसम्पृक्तं रीतिवृत्तिसमन्वितम्।
समवेतं रसाद्यैश्च ध्वनिवक्रोक्तिगर्भितम्॥3॥

सुप्रयुक्तै: सुविज्ञातैराकाङ्क्षायोग्यतायुतै:।
युक्तं पदै: पदार्थैश्च नवनवार्थद्योतकै:[2]॥4॥

वर्णना लभ्यते यस्मिंल्लोकोत्तरा विलक्षणा।
कवे र्यन्निपुणं कर्म नवोन्मेषै: प्रपूरितम्[3]॥5॥

औचित्यं नायके यत्रानौचित्यं प्रतिनायके।
नृसिंहन्यायत: सृष्टिर्यस्मिंश्च परमाद्भुता॥6॥

---

1. तेन ब्रूम: सहृदयमन:प्रीतये तत्स्वरूपम् (ध्वन्यालोक: 1, 1) अत्र आनन्दवर्धनाचार्येण ध्वन्यालोकग्रन्थलेखनप्रयोजनं सहृदयमन:प्रीति: इति निगदितम्। प्रयोजनमिदं काव्यस्यापि स्वीकर्तुं शक्यते। प्रीतिशब्दस्य आनन्दश्चमत्कारश्चेमौ पर्यायौ स्त: एवं प्रीत्यपरपर्यायश्चमत्कार: काव्यप्रयोजनं जायते।
अथ च रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति (ध्वन्यालोक: 1, 1 वृत्तिभाग:)। अत्र प्रीतिशब्दस्य पर्याय: आनन्द: प्रदर्शित:। अत्र एतत् स्थलम् अभिनवगुप्ताचार्य: एवं व्याख्याति-ध्वने: स्वरूपं लक्षयतां सम्बन्धिनि मनसि आनन्दो निर्वृत्यात्मा चमत्कारपर्याय: प्रतिष्ठां लभतामिति प्रयोजनं सम्पादयितुं तत्स्वरूपं प्रकाश्यते इति सङ्गति: (ध्वन्यालोक: 1, 1 वृत्ति:, लोचनटीका)। एवं ग्रन्थकृत: कवे: श्रोतुश्च मुख्यं प्रयोजनमुक्तम्। तत्रैव लोचनटीका।
2. (क:) एक: शब्द: सम्यग् ज्ञात: सम्यक् प्रयुक्त: स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति।
(ख:) वाक्यं स्याद् योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्त: पदोच्चय:।
वर्णा: पदं प्रयोगार्हानन्वितैकार्थबोधका:।
अर्थो वाच्यश्च लक्ष्यश्च व्यङ्ग्यश्चेति त्रिधा मत:॥ साहित्यदर्पण: 2, 2
3. (क:) यत्काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणं कविकर्म तत्। काव्यप्रकाश: 1, 2 वृत्ति:।
(ख:) लोकेति-लोकोत्तरचमत्कारप्रकर्षानुगुणा वर्णना विभावाद्युपनयनं तत्र निपुण:। तदुक्तं काव्यकौतुके-

नित्यनूतनतां बिभ्रन् नित्यानन्दप्रदायकम्।
अपूर्वं साधुवादार्हं सत्यं चेतोहरं शिवम्[1]॥7॥

आख्यानजनितं चापि कौतुकं यत्र वर्धते।
चमत्कारात्मकं वाक्यं काव्यं तदभिधीयते[2]॥8॥

उक्तिविशेषयुक्तेऽस्मिन् भाषाया अस्ति गौणता।
अर्थानामपि गाम्भीर्यं शब्देष्वपि चमत्कृतिः[3]॥9॥

छन्दोबद्धं गतच्छन्दः क्वचिद् वाऽप्युभयात्मकम्।
स्वेच्छया क्रियते काव्यं सत्कविभि र्निरङ्कुशैः॥10॥

एकस्मिन् क्वचिद् वाक्ये मुक्तके रूपके क्वचित्।
कुत्रचिच्च महाकाव्ये दृश्यते सा हि काव्यता॥11॥

एतत् प्रदर्शितं पूर्वं काव्यसामान्यलक्षणम्।
विशेषलक्षणं चापि प्रस्तूयते समासतः॥12॥

क्वाप्यनौचित्यसम्मिश्रं रसादिरहितं क्वचित्[4]।
अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यं हेतुश्चित्तचमत्कृतेः॥13॥

प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।
तदनुप्राणनाजीवद्वर्णनानिपुणः कविः॥ काव्यप्रकाशः 1,2, दीपिका टीका।
(गः) कविवाङ्निर्मितिः काव्यम्।
असाधारणचमत्कारिणी रचना हि निर्मितिः। अलङ्कारकौस्तुभः 1, 2 तथा वृत्तिः।

1. (कः) क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः॥ शिशुपालवधम् 4, 171
(खः) ए थिङ्ग ऑफ ब्यूटी इज़ ए जॉय फॉर ऐवर - जॉन कीट्स। - ओ टू दी ग्रेशियन उर्न।
2. (कः) न हि चमत्काररहितस्य कवेः कवित्वं काव्यस्य वा काव्यत्वम्। कविकण्ठाभरणम् 3, 1, वृत्तिः।
(खः) चमत्कारजनकं हि काव्यमिह निरूप्यम्। काव्यप्रकाशः 1, 4 मधुमतीटीका
(गः) वागर्थौ सचमत्कारौ काव्यं काव्यविदो विदुः। चमत्कारचन्द्रिका प्रथमविलासः पृ. 3।
(घः) चमत्कारत्ववत्त्वमेव काव्यत्वमिति फलितम्। . . . काव्यजीवितं चमत्कारित्वं चाविशिष्टमेव। रसगङ्गाधरः प्रथमाननम्, काव्यलक्षणम्।
(ङः) विशिष्टशब्दरूपस्य काव्यस्यात्मा चमत्कृतिः।
हरिदासकृतकाव्यालोकः डॉ. वी. राघवन् स्टडीज़ ऑन सम् कन्सैप्ट्स ऑफ दी अलङ्कारशास्त्र (1942) पृ. 278
3. अर्थनिवेशास्त एव शब्दास्त एव परिणमन्तोऽपि।
उक्तिविशेषः काव्यं भाषा या भवति सा भवतु॥ राजशेखरकृता कर्पूरमञ्जरी 1, 7
4. क्वापि क्वचिदित्यनेन सर्वत्रौचित्यरसभावादिसमवेतं क्वचित्तु तेषामभावे सत्यपि चमत्कारसत्त्वात् तेषु स्थलेषु काव्यव्यवहारो दृश्यते एव।

चमत्कारात्मकं वाक्यं काव्यं स्यात् कविकल्पितम्।
चमत्कारादिमद्वाक्यं काव्यसंज्ञां प्रयाति वा[1]।।14।।
शब्दार्थै र्ललितै र्युक्तं चमत्कारेण पेशलम्।
काव्यत्वजातिमत्काव्यं प्रोच्यते कर्म वा कवे:[2]।।15।।

---

1. (क:) जायते परमानन्दो ब्रह्मानन्दसहोदर:।
यस्य श्रवणमात्रेण तद् वाक्यं काव्यमुच्यते।।
वस्तुतस्तु अदोषं गुणवत्काव्यमित्यादिवाक्यप्रतिपादितस्वर्गविशेषजनकतावच्छेदकं काव्यत्वमखण्डं कल्पनीयम्। विश्वनाथदेवकृत: साहित्यसुधासिन्धु: 1, 4 तथा वृत्ति:।
टिप्पणी - अत्र स्वर्गविशेषस्य चमत्कारविशेष इत्यर्थ:।
(ख:) नवीनास्तु - काव्यत्वमखण्डोपाधि: चमत्कारजनकतावच्छेदकस्य काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तस्य चान्यस्य वक्तुमशक्यत्वात् तदेव लक्षणमस्तु। काव्यप्रकाशखण्डनम् 1, 4 वृत्ति:।
(ग:) न च वाक्यावस्थायां पदानि पदार्था वा विभिद्यन्ते यथा चित्रे नीलपीतरक्तादय: पानके गुडाम्लीकमरिचादयो ग्रामरागे षड्जर्षभगान्धारादय: पृथक्त्वेन नावभासन्ते (वृ.दे. 1, 89) तथा क्रियाकारकविशेषणादिपदानि तदर्थवाक्यार्था अभेदेनैव प्रतीयन्ते वाक्यार्थो हि पदपर्यायस्त्वखण्ड एवाभिधीयमानो दृश्यते। काव्यप्रकाश: 4, 47 वृत्ति: विवेकटीका।
(घ:) अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यो वाक्यमेव च वाचकम्। काव्यप्रकाश: 4, 47 वृत्ति:।
(ङ:) औचित्यरचितं वाक्यं सततं सम्मतं सताम्।
त्यागोदग्रमिवैश्वर्यं शीलोज्ज्वलमिव श्रुतम्।। औचित्यविचारचर्चा 12 कारिका।
(घ:) तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुन: क्वापि। काव्यप्रकाश: 1, 4
(ङ:) यच्चोक्तं चारुत्वप्रतीतिस्तर्हि काव्यस्यात्मा स्यात् इति तदङ्गीकुर्म एवं नाम्नि खल्वयं विवाद इति ध्वन्यालोक: 1, 13 काव्यविशेष इति पदे अभिनवगुप्तकृता लोचनटीका।
(घ:) चमत्कारविशिष्टं शब्दार्थयुगलं काव्यमिति फलितम्। साहित्यबिन्दु: (छज्जूरामशास्त्रिकृत:) पृ. 5
(ङ:) चमत्कारिशब्दार्थौ काव्यमिति निर्दुष्टं लक्षणं ज्ञेयम्। वायुनन्दनपाण्डेयकृता साहित्यसिद्धान्तसमीक्षा।
(च:) ज्ञानात्मकेन शब्दाख्येनार्थेनार्थान्तरात्मक:।
य: कश्चन चमत्कारी बोध: काव्यं स उच्यते।।
अर्थबोधोऽर्थबोधानामन्येषां सन्ततिं सृजन्।
चमत्कारामृतं प्रोक्ष्य रसिके याति काव्यताम्।। रेवाप्रसादद्विवेदिकृता काव्यालङ्कारकारिका 190, 73 कारिके।
(छ:) रसभावचमत्कारान्यतमप्राणपेशल:।
काव्यं शब्दार्थसन्दर्भोऽलौकिकानन्दसुन्दर:।।
चमत्कार: शब्दार्थालङ्कारादीनां कुशलप्रयोगजन्या चित्तचमत्कृति:।। वागीश्वरविद्यालङ्कारकृता वैदिकसाहित्य: सौदामिनी 2, 6 तथा वृत्ति:।
2. (क:) काव्यस्य ललितोचितसन्निवेशचारुण: शरीरस्येवात्मा साररूपतया स्थित: सहृदयश्लाघ्यो योऽर्थ:। ध्वन्यालोक: 2, 1 वृत्ति:।
(ख:) स्वविशिष्टजनकतावच्छेदकार्थप्रतिपादकतासंसर्गेण चमत्कारत्ववत्त्वमेव वा काव्यत्वमिति फलितम्। रसगङ्गाधर: प्रथमाननम्, काव्यलक्षणप्रकरणम्।

काव्ये काव्यत्वमेतद् वै गवि गोत्वमिव स्थितम्।
सर्वेषु काव्यभेदेषु लभ्यतेऽनुगतं हि तत्[1]॥16॥

चाकचक्यं विधत्ते यश्चेतस्सु वासनावताम्।
विचित्रवचनैस्तैस्तैः काव्यरूपकवर्तिभिः॥17॥

चितिरूपश्चमत्कारः प्रकाशानन्दनिर्भरः।
दीपयति तथा चित्तं कृष्णमेघं तडिद् यथा[2]॥18॥

चमत्करोति यः काव्ये चमत्कारः स उच्यते।
चमतोऽपरपर्याया दीप्तिकान्त्यादयः स्मृताः॥20॥

विद्यते यश्चमत्कारश्चमत्कारत्वजातिमान्।
लक्ष्यते सोऽपि सर्वत्र चमत्कारिषु वस्तुषु॥21॥

चमत्कारत्ववत्त्वस्य स्थिति र्यस्यात्र वर्तते।
तद्धि सर्वगता जातिः पदार्थोऽस्त्यथवा पृथक्॥22॥

अस्यैवापरपर्यायश्चमत्कारित्वमुच्यते।
अविशिष्टमिदं काव्ये नाट्ये लोके विलोक्यते[3]॥23॥

चमत्कारपदे तावच्चमत्कारत्वसंस्थितिः।
चमत्कारोऽप्ययं ह्यस्मिंश्चमत्कारिणि तिष्ठति॥24॥

चमत्कारिपदे ह्येवं जातिद्वयस्य सङ्करः।
सोऽखण्डोपाधिरेवास्य सङ्करस्यास्ति बाधकः॥25॥

अस्मिन् काव्यपदे चापि साङ्कर्यस्य निवारकः।
अखण्डोपाधिरेवासौ यश्चाकाशेऽपि वर्तते[4]॥26॥

---

1. अथवा काव्यत्वं नाम गोत्वादिवज्जातिरेव। यथा सास्नाद्यवयववतीषु गोव्यक्तिषु प्रत्येकमयं गौरयं गौरित्यनुगताकारा येनासाधारणधर्मेणावगतिः स एव जातिलक्षणः कोऽप्यसाधारणधर्मो गोत्वं तथा शब्दार्थसङ्घातस्य सहृदयहृदयास्वाद्यः कोऽपि काव्यत्वजातिलक्षणो धर्मविशेषः काव्यत्वम्। कविकर्णपूरकृतः अलङ्कारकौस्तुभः 1, 2 वृत्तिः।
2. विद्युत्समुन्मेष इवान्धकारे करोति या चेतसि चाकचक्यम्।
   वक्रोक्तिवैचित्र्यविरोधिताद्यैश्चितिश्चमत्कारपदोदितासौ॥
   कस्यचिदर्थस्य सहसाऽऽह्लादात्मिका चितिः प्रकाशः एव चमत्कारः।
   वागीश्वरकृतवैदिकसाहित्यसौदामिनी 2, 3 तथा वृत्तिः।
3. लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जातिविशेषः। चमत्कारत्ववत्त्वमेव वा काव्यत्वमिति फलितम्। काव्यजीवितं चमत्कारित्वं चाविशिष्टमेव। रसगङ्गाधरः प्रथमाननम्, काव्यलक्षणप्रकरणम्।
4. केचित्तु–

   अदोषौ तद्धि शब्दार्थौ सालङ्कारौ गुणान्वितौ।
   काव्येमेतदिति प्राहुरलङ्कारविशारदाः॥

काव्यगतश्चमत्कारो यः प्राधान्येन संस्थितः।
काव्यसारो मतः सोऽयं प्रोक्तोऽनुभवसाक्षिकः[1]॥27॥

रसादिजश्चमत्कारो यस्मिन्नसौ प्रतिष्ठते।
चमत्काररसं काव्यं काव्यं तद्बुधसम्मतम्[2]॥28॥

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकामवधीः काममोहिताम्[3]॥29॥

अत्र शोकात्समुत्पन्नः करुणोऽसौ रसध्वनिः।
जातश्चमत्कृतेस्तस्या हेतुरानन्ददायकः॥30॥

वनितेति वदन्त्येतां लोकाः सर्वे वदन्तु ते।
यूनां परिणता सेयं तपस्येति मतं मम[4]॥31॥

परस्परतपःसम्पत्फलायितपरस्परौ।
प्रपञ्चमातापितरौ प्राञ्चौ जायापती स्तुमः[5]॥32॥

तपस्यायाः फलं योषित् तपःफले उमाशिवौ।
रूपकोपमयोरस्मिंश्चमत्कारो विभाव्यते॥33॥

अदोषाविति – अत्र वदन्ति काव्यत्वं दण्डत्वादिवत् प्रत्येकं परिसमाप्यवृत्ति उत द्वित्वपृथक्त्ववद् व्यासज्यवृत्ति वा। नाद्यः केवले शब्दे केवलार्थे च तदव्यवहारात्। नापरः, देवदत्तप्रभवत्वादि न जातिः साङ्कर्यापत्त्या तादृशजात्यनङ्गीकारात्। न च तादृशजात्यङ्गीकारे साङ्कर्यशङ्केति वाच्यम् अखण्डोपाधेरेव स्वीकारात्। वस्तुतस्तु साङ्कर्यस्य दूषकताबीजाभावाददूषकत्वमेवेति ब्रूमः। विश्वनाथदेवविरचितसाहित्यसुधासिन्धुः 1, 4 वृत्तिः।

1. (कः) काव्यसारः – काव्यस्य सारः प्रधानभूतमात्मत्वरूपेण संस्थितं तत्त्वमित्यर्थः। वाक्यं रसात्मकं काव्यम्- रस एवात्मा साररूपतया जीवनाधायको यस्य साहित्यदर्पणः 1, 3 तथा वृत्तिः। इत्यत्र रसः काव्यसारः प्रतिपादितः अनया अनुकृत्या चमत्कारोऽपि काव्यसारत्वेनात्र स्वीक्रियते।
   (खः) काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेशचारुणः शरीरस्येवात्मा साररूपतया स्थितः सहृदयश्लाघ्यो योऽर्थः। ध्वन्यालोकः 1, 2 वृत्तिः।
   (गः) लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जातिविशेषः। रसगङ्गाधरः प्रथमाननम्, काव्यलक्षणप्रकरणम्।
2. चमत्काररसमिति – चमत्कारो रसः सारः प्रधानतत्त्वं यस्मिन् तदिति तात्पर्यम्। अस्मिन् विषये चिरञ्जीवरामदेव-भट्टाचार्येण कथितम् – सत्यपि च रसादौ, विना विलक्षणचमत्कारमभिज्ञानां काव्यमिदमिति न प्रतीतिरपीति साधु वदन्ति। काव्यविलासः पृ. 3
3. ध्वन्यालोकः 1, 5 वृत्तिः।
4. पण्डितराजजगन्नाथकृतभामिनीविलासः 2, 117
5. अप्पयदीक्षितकृतः कुवलयानन्दः द्वितीया कारिका।

सुप्रयुक्ता कवे र्वाणी हृदयं हरति सत्वरम्।
धवला मालतीमाला लोकस्य कर्षति दृशम्॥34॥

वराङ्गनाङ्गसौन्दर्यैः सुवर्णै रत्नसङ्गतैः।
चमत्कृतिमयैः काव्यैश्चित्तमाकृष्यते नृणाम्॥35॥

चमत्कारमभिव्युक्तुं स्थापयितुं च तं मया।
इदं काव्यचमत्कारे लिखितं काव्यलक्षणम्[1]॥36॥



1. रामप्रतापकृतकाव्यचमत्कारः, तृतीय उल्लासः, काव्यलक्षणम् (यन्त्रस्थः)।

ज्योतिषसंहितास्कन्धे कूर्मचक्रविचारः

प्रो॰ (डॉ॰) ब्रजेशकुमार शुक्लः

अखिलं ज्यौतिषशास्त्रं शाखात्रयात्मकं सुधीभिराम्नातमिति सर्वैर्ज्ञायत एव। तत्र तिस्रः शाखा निगदिताः–सिद्धान्तशाखा, होराशाखा संहिताशाखा च।

देशराष्ट्रनगराणां भाविफलज्ञानाय संहितायां ग्रहचारः, विशिष्टनक्षत्रचारः, रोहिणीशकटभेदनयोगः, कूर्मचक्रविभागः, ग्रहभक्तियोगः, ग्रहयुद्धयोगः स्वातीयोगः, आषाढीयोगः, दिग्दाहोल्कापरिवेषेन्द्रायुप-गन्धर्वनगरोत्पातयोगाः प्रतिसूर्यलक्षणञ्चेत्पादयो विषया वरीवर्तन्ते। एष्वत्र कूर्मचक्रविभागमुपलक्ष्य किञ्चिदत्र विशदीकर्त्तव्यम्।

कूर्मचक्रस्य वर्णनं बृहत्संहितायां, गर्गसंहितायां, नारदसंहितायां नारदीयमहापुराणे, नरपतिजयचर्यायां चेत्यादिषु सम्प्राप्यते। सर्वत्र वर्णनेऽस्य वर्तत एकरूपता। संहितातिरिक्तं, नरपतिजयचर्यायां कूर्मपञ्चक-स्योल्लेखः प्राप्यते। तत्र कूर्मचक्रद्वारेण पृथिवीदेशनगरक्षेत्रग्रहाणां विचारो विधीयते। एतस्मात्पञ्च कूर्मचक्राणि तत्र निरूपितानि वर्तन्ते–

(क) पृथिवीकूर्मचक्रम्।

(ख) देशकूर्मचक्रम्।

(ग) नगरकूर्मचक्रम्।

(घ) क्षेत्रकूर्मचक्रम्।

(ङ) गृहकूर्मचक्रम्।[1]

संहितासु केवलं पृथिवीकूर्मचक्रस्य वर्णनमुपलभ्यते। कदाचिन्मूलभूतस्यैतत्कूर्मचक्रस्यैव विस्तरो देशनगरक्षेत्रगृहकूर्मचक्रत्वेनाऽकारि नरपतिजयचर्याकृता। आदौ विभिन्नसंहितासु निरूपितस्य पृथिवीकूर्म-चक्रस्य वर्णनमत्र क्रियते।

पृथिवीकूर्मचक्रविभागः

संहितासु सम्पूर्णस्य जगतः शुभाशुभविचारार्थं कूर्मचक्रे नक्षत्राणां न्यासः प्रकीर्तितः। कूर्माङ्गविभागेन

---

1. नरपतिजयचर्यायाम्, पृ. 109-114।

तत्र देशानां स्थितिर्निगदिता। नरपतिजयचर्यायां कूर्मचक्रवर्णनप्रसङ्गे कथितं यदेतस्य कूर्मचक्रस्य वर्णनं कोशलागमे विहितमेतज्ज्ञानेन देशस्य राष्ट्रस्य वा विप्लवः सम्यक्तया ज्ञातुं शक्यः–

कूर्मचक्रं प्रवक्ष्यामि यदुक्तं कोशलागमे।
यस्य विज्ञानमात्रेण ज्ञायते देशविप्लवः॥[1]

पृथिव्या मध्यप्रदेशे सुमेरुपर्वतोऽस्ति, यस्मिन् त्रयस्त्रिंशत्कोटिसङ्ख्यका देवा निवसन्ति। सुमेरुसदृशा अष्टौ पर्वताः सागरा द्वीपाश्च भूमौ दरीदृश्यन्ते। वराहावतारे भगवता विष्णुना स्वदंष्ट्र्या धरैषाऽधारि। तत्र वराहभगवता शेषनागमस्तके यथा पृथिवी धृताऽऽसीत्तथैव न्यधायि। पुनश्च शेषोऽपि कुण्डलीरूपो भूत्वा कूर्मपृष्ठे तस्थौ।[2] एष कूर्मो बहुविस्तरायामः सर्वासु दिक्षु स्वाङ्गानि प्रसारयामास। एतस्य कूर्मस्य वपुःप्रसारो दशशङ्कुमितयोजनात्मकस्तत्र कथितः। एतदर्धं पुच्छम्, पुच्छार्द्धं कुक्षिद्वयम्, सायुतकोटिमिता ग्रीवा, कोटिसङ्ख्य मुभयोर्नेत्रयोरस्य मध्यान्तरम्, कोटिद्वयं मुखम्, चतुष्कोटिप्रमाण–मस्य पदयोः, नखाङ्गुलीनां प्रमाणं च दश योजनात्मकं मन्यते। आदियामलागमे कूर्मस्यैतत्प्रमाणं निगदितं वर्तते।[3] एतस्य कूर्मस्योपरि सप्तद्वीपयुता पृथ्वी स्थिता। सर्वावयवसंयुक्तस्य कूर्मस्य मुखं पूर्वदिशि पुच्छञ्च पश्चिमाशायां कूर्मचक्रे लेखनीयम्–

तस्योपरि स्थिता तत्र सर्वद्वीपयुता मही।
कूर्माकारं लिखेच्चक्रं सर्वावयवसंयुतम्।
पूर्वभागे मुखं तस्य पुच्छं पश्चिममण्डले॥[4]

बृहत्संहितायां लिखितं यत् भारतदेशस्य नवधा विभाजनं कृत्वा तत्तद्विभागेषु कूर्माङ्गानि कल्पनीयानि। कृत्तिकातस्त्रीणि त्रीणि नक्षत्राणि तत्तद्विभागरूपेषु कूर्माङ्गेषु निधाय तत्र देशकल्पनां कुर्यात्–

नक्षत्रत्रयवर्गैराग्नेयाद्यैर्व्यवस्थितैर्नवधा।
भारतवर्षे मध्यप्रागादिविभाजिता देशाः॥[5]

नारदसंहितायां कूर्मचक्रविभागे धराया नवविभागाः कृताः–

प्राङ्मुखस्य तु कूर्मस्य नवाङ्गेषु धरामिमाम्।
विभज्य नवधा खण्डमण्डलानि प्रदक्षिणम्॥[6]

1. नरपतिजयचर्यायाम्, - कूर्मचक्रम्, श्लोकः - 1।
2. नरपतिजयचर्यायाम्, - कूर्मचक्रम्, श्लोकाः - 2-6।
3. नरपतिजयचर्यायाम्, - कूर्मचक्रम्, श्लोकाः - 7-10।
4. नरपतिजयचर्यायाम्, - कूर्मचक्रम्, श्लोकौ - 11-12।
5. बृहत्संहितायाम्, 14/1।
6. नारदसंहिता, 36/1।

नारदसंहितायां यादृशं कूर्मचक्रस्य वर्णनमुपलभ्यते तादृशं वर्णनं नारदीयमहापुराणेऽपि प्राप्यते। न केवलं तत्र विषयसाम्यं दृश्यतेऽपितु शब्दशः श्लोकसाम्यं नितरां चकास्ति। नारदीयमहापुराणेऽपि पृथिव्या नवभागाः विधातव्यास्तत्र कूर्माङ्गानि कल्पयेत्–

प्राङ्मुखस्य तु कूर्मस्य नवाङ्गेषु धरामिमाम्।
विभज्य नवधा खण्डे मण्डलानि प्रदक्षिणम्॥[1]

इत्थं विज्ञायते यत्कूर्मचक्रस्य प्रयोगः संहितासु द्विधा दरीदृश्यते–सर्वायाः पृथिव्याः जगतो वा नवधा विभाजनम्, देशविशेषस्य नवधा विभाजनञ्च। यत्र पृथिव्या नवधा विभागं कृत्वा कूर्माङ्गेषु नक्षत्रन्यासो विधीयते तत्राऽखिलस्य संसारस्य शुभाशुभफलत्वं ज्ञायते, यत्र च देशविशेषस्य नवभागकल्पनां विधाय कूर्मचक्रेषु विन्यासक्रमो लिख्यते तत्र देश विशेषस्य विप्लवादि दैवज्ञैर्विज्ञायते। संहिताकारैः कूर्मचक्रे देशविभाजनं भारतवर्षमवलम्ब्य विहितम्। कृत्तिकानक्षत्रतस्त्रीणि त्रीणि नक्षत्राणि विभागेषु स्थातव्यानि। एवं कूर्माङ्गेषु नक्षत्रन्यासोऽधोलिखितप्रकारेण सम्पद्यते–

1. नाभिमण्डलम् (मध्यभागः)

भारतवर्षस्य मध्यभागे कूर्मस्य नाभिमण्डलमस्ति, तत्र कृत्तिकारोहिणीमृगशिराख्यानि त्रीणि नक्षत्राणि वर्तन्ते। एतस्मिन् मध्यभागे भद्रारिमेदमाण्डव्यसाल्वनीपोज्जिहानसङ्ख्यातमरुभूवत्स-घोषयामुनसारस्वतमत्स्यमाध्यमिका देशा आयान्ति। माथुरकोपज्योतिषधर्मारण्यशूरसेनगौरग्रीव उद्देहिक-पाण्डुगुह्यऽश्वत्थपाञ्चालसाकेतकङ्ककुरुकालकोठिकुकुरपारियात्रौदुम्बरकापिष्ठलहस्तिनापुराख्याश्चाऽन्ये देशा मध्यभागे वर्तन्ते।[2]

नारदसंहितायां कूर्मस्य नाभिमण्डले अन्तर्वेदी (गङ्गायमुनयोर्मध्यभागः) पाञ्चालदेशश्च वर्तेत इति लिखितम्–

अन्तर्वेदी च पाञ्चालं तस्येदं नाभिमण्डलम्।[3]

पराशरेण भारतवर्षस्यमध्यदेशे आर्यावर्त आयातीति कथितं ततश्च वराहमिहिरोक्तदेशा एतस्याऽऽर्यावर्तस्य जनपदाः सन्तीत्युक्तम्।[4] नारदीयपुराणेऽपि अन्तर्वेदाः पाञ्चाला मध्यभाग ईरिताः।[5] नरपतिजयचर्यायां कथितं यत्कूर्मस्य मध्यभागे साकेतमिथिलाचम्पाकौशाम्बीकौशिकीगयाऽहिच्छत्र-विन्ध्यान्तर्वेदीमेखलाकान्यकुब्जप्रयागा वर्तन्ते। यदि कृत्तिकादित्रये शनिः पापग्रहो वा कश्चित् स्यात्तर्हि

---

1. नारदीयमहापुराणे पूर्वभागे 56/739-40।
2. बृहत्संहिता 14/2-4।
3. नारदसंहितायाम्, 36/1।
4. बृहत्संहिताया भट्टोत्पलकृतटीकायाम् प्रथमभागे, पृ. 260।
5. नारदीयमहापुराणे पूर्वभागे, 56/740।

समुद्धृतदेशेषु विप्लवाः भवन्ति देशा नश्यन्ति वा–

कृत्तिकारोहिणी सौम्यं कूर्मनाभिगतं त्रयम्।
साकेतं मिथिला चम्पा कौशाम्बी कौशिकी तथा॥

अहिच्छत्रं गया विन्ध्यमन्तर्वेदी च मेखला।
कान्यकुब्जं प्रयागश्च मध्यदेशो विनश्यति॥[1]

2. मुखमण्डलम् (पूर्वभागः)

पूर्वस्यां दिशि कूर्मस्य मुखमण्डले नक्षत्राणि त्रीणि वर्तन्ते आर्द्रापुनर्वसुपुष्याख्यानि। वराहमिहिरेण पूर्वदिशायां ये देशाः सन्ति, तेषां नामानि बृहत्संहितायामलेखिषत–

अथ पूर्वस्यामञ्जनवृषभध्वजपद्ममाल्यवद्गिरयः।
व्याघ्रमुखसुप्तकर्वटचान्द्रपुराः शूर्पकर्णाश्च॥

खसमगधशिविरगिरिमिथिलसमतटोड्राश्ववदतदन्तुरकाः।
प्राग्ज्योतिषलौहित्यक्षीरोदसमुद्रपुरुषादाः।

उदयगिरिभद्रगौडकपौण्ड्रोत्कलकाशिमेकलाम्बष्ठाः।
एकपदताम्रलिप्तककोशलका वर्धमानाश्च॥[2]

उपर्युक्तदेशा कूर्मस्य मुखमण्डलेऽथवा भारतवर्षस्य पूर्वदिशायां विराजन्ते। नारदसंहितायां मगधलाटादिदेशा पूर्वभागे कथिताः–

प्राच्यां मागधलाटादिदेशास्तन्मुखमण्डलम्।[3]

नारदमहापुराणेऽप्येतादृशमेवोक्तं वर्तते–

प्राच्या मागधलाटोत्था देशास्तन्मुखमण्डलम्।[4]

नरपतिजयचर्यायां कूर्मस्य शिरसि पूर्वस्यां गौडहस्तिबन्धपञ्चराष्ट्रकामरूपचरेन्द्रीमागध-रेवातटनेपालादिदेशाः स्थिताः। अत्र स्थितेषु नक्षत्रेषु पापग्रहः शनिर्वाऽऽगच्छति वेधते वा तदा एतेषां देशानां पीडा ज्ञातव्या–

---

1. नरपतिजयचर्यायाम्, - कूर्मचक्रम् - श्लोकौ - 16-17।
2. बृहत्संहितायाम्, 14/5-6।
3. नारदसंहितायां, 36/2।
4. नारदीयमहापुराणे पूर्वभागे, 56/741।

रौद्रं पुनर्वसुः पुष्यं कूर्मस्य शिरसि स्थितम्।
सगौडो हस्तिबन्धश्च पञ्चराष्ट्रं च कामरुः।।
चरेन्द्री च तथा ज्ञेया मगधश्च तथैव च।
रेवातटं च नेपालः पूर्वदेशो विनश्यति।।[1]

एवं वराहमिहिरेण समाससंहितायामपि पूर्वदेशा समासेनोक्तास्ते सुधीभिर्द्रष्टव्याः।[2]

3. दक्षिणबाहुमण्डलम् (आग्नेयभागः)

आग्नेयदिशि कूर्मस्य दक्षिणबाहुमण्डलं वर्तते। तत्राऽऽश्लेषामघापूर्वाफाल्गुनीति नामधेयानि त्रीणि भानि न्यस्तानि। आग्नेयाशायां ये देशाः संस्थितास्तेषां नामानि विस्तरतया बृहत्संहिताकारेण समुद्धृतानि।[3]

बृहत्संहिताऽपेक्षया समाससंहितायामाग्नेयदिशि स्थितानां देशानां नामान्यधिकस्पष्टतयोल्लिखितानि–

आश्लेषाद्ये त्रिपुरी निषादराष्ट्राणि चेदिकदशार्णाः।
शूलिकविन्ध्यान्तःस्था वत्सान्ध्रविदर्भकालिङ्गाः।।[4]

नारदसंहितायां कूर्मस्य दक्षिणबाहुमण्डले स्त्रीकलेयकिरातनामधेयाः देशाः स्थिताः सन्ति–

स्त्रीकलेयकिराताख्या देशास्तद्बाहुमण्डलम्।।[5]

नारदसंहितानुसारमेव नारदीयमहापुराणेऽप्युक्तम्। अत्र स्त्रीदेशः, कलिङ्गदेशः किरातदेशश्चोल्लिखिताः–

स्त्रीकलिङ्गकिराताख्या देशास्तद्बाहुमण्डलम्।[6]

नरपतिजयचर्यायां कूर्मस्यैतस्मिन्नङ्गेऽङ्गवङ्गकलिङ्गदेशाः, कोशलडाहलीजयन्ती सुलञ्जिकोडियामवराडादिदेशाः सन्ति। पापग्रहाणां वेधे युतौ वा देशा एते विपत्तियुक्ताः भवन्ति–

आश्लेषा च मघा पूर्वा पादे आग्नेयगोचरे।
अङ्गवङ्गकलिङ्गाश्च पूर्वजाश्चैव कोसलाः।।

1. नरपतिजयचर्यायाम्, - कूर्मचक्रम् - 18-19 श्लोकौ।
2. बृहत्संहिताया भट्टोत्पलकृतटीकायाम् पूर्वभागे, पृ. 267।
3. बृहत्संहितायां, 14/8-10।
4. बृहत्संहिताया भट्टोत्पलकृतटीकायां पूर्वभागे, पृ. 267।
5. नारदसंहितायाम्, 36/2।
6. नारदमहापुराणे पूर्वभागे, 56/741।

डाहली च जयन्ती च तथा चैव सुलञ्जिका।
उडियामं वराडं च अग्निदेशो विनश्यति॥[1]

भटोत्पलेन बृहत्संहिताविकृतौ देशानामेतेषां नामानि विशदीकृत्य पराशरमुनेर्देशनामान्यपि समुल्लिखितानि।[2] एतस्माज्ज्ञायते यत् काचित्पराशरसंहिताऽपि ज्योतिषस्याऽऽसीद् या नेदानीमुपलभ्यते।

4. दक्षिणकुक्षिमण्डलम् (दक्षिणभागः)

दक्षिणस्यां दिशि कूर्मस्य दक्षिणकुक्षिमण्डलं राराज्यते। एतस्मिन्नुत्तराफाल्गुनीहस्तचित्रेति नक्षत्र-त्रयमभिन्यस्तम्। दक्षिणाशायां वराहमिहिरेणाऽभ्यधायिषत बहवो देशास्तत्रबृहत्संहितायाम्।[3] अतिविस्तृत-त्वादेतस्य देशवर्णनस्याऽत्र समाससंहितामवलम्ब्य समासेन देशा उच्यन्ते–

आर्यम्णाद्ये चैदिककोङ्कणवनवासिकोल्लगिरिमलयाः।
उज्जयिनीभरुकच्छा दिशा च याम्यार्णवो यावत्॥[4]

कूर्मस्य दक्षिणकुक्षिमण्डले अवन्तीद्राविडभिल्लदेशाः स्थिताः इत्युक्तं नारदसंहितायाम्।[5] नारदमहापुराणेऽपि कथितम्–

अवन्ती द्रविडा भिल्ला देशास्तत्पार्श्वमण्डलम्।[6]

नरपतिजयचर्यायामुक्तं यत् कूर्मस्य दक्षिणपार्श्वमण्डले दर्दुरमहेन्द्रवनवाससिंहलतापीभीमरथी लङ्कात्रिकूटमलयश्रीपर्वतकिष्किन्धादिदेशाः वर्तन्ते। यदैतस्मिन्नक्षत्रत्रये पापग्रहो वेधते गोचरीभवति वा तदैषां देशानां पीडा जायते–

उत्तराहस्तचित्राश्च दक्षिणां कुक्षिमागताः।
दर्दुरं च महेन्द्रं च वनवासं ससिंहलम्॥

तापी भीमरथी लङ्का त्रिकूटं मलयस्तथा।
श्रीपर्वतश्च किष्किन्धा इति नश्यन्ति दक्षिणे॥[7]

एवं कूर्मस्य दक्षिणपार्श्वमण्डले देशाः समाख्याताः।

---

1. नरपतिजयचर्यायाम्, - कूर्मचक्रम् - 21-22 श्लोकौ।
2. बृहत्संहिताया भट्टोत्पलकृतौ पूर्वभागे, पृ. 261-262।
3. बृहत्संहितायाम्, 14/11-16।
4. बृहत्संहिताया भट्टोत्पलविकृतौ प्रथमभागे, पृ. 267।
5. नारदसंहितायाम्, 36/3।
6. नारदमहापुराणे पूर्वभागे, 56/742।
7. नरपतिजयचर्यायाम् - कूर्मचक्रम् - श्लोकौ - 23-24।

5. दक्षिणपादमण्डलम् (नैर्ऋत्यभागः)

नैर्ऋत्यदिशायां कूर्मस्यदक्षिणपादे स्वातीविशाखाऽनुराधाख्याति त्रीणि नक्षत्राणि संस्थितानि। नैर्ऋत्यां दिशि स्थितानां देशानामुल्लेखो वराहमिहिरेणैवमकारि–

नारदसंहितायां कूर्मस्यदक्षिणपादमण्डले देशाःसन्ति–गौडकौङ्कणशाल्वेष्टपुण्ड्राः।[1] नारदपुराणे कथितम्–

गौडकौङ्कणशाल्वाङ्घ्रापौण्ड्रस्तत्पादमण्डलम्।[2]

नरपतिजयचर्यायां दक्षिणपादमण्डले कूर्मस्य ये देशाः स्थानं लेभिरे तेषां नामान्युद्धृतानि–

स्वाती विशाखा मैत्रं च कूर्मे नैर्ऋतिगोचरे।
नासिक्यं च सुराष्ट्रं च धृतमालवकं तथा।।

पर्पली च प्रकाशञ्च भृगुकच्छं च कोङ्कणम्।
खेटापुरं च मोटेरं देशा नश्यन्ति तादृशाः।।[3]

उपर्युक्तेषु नक्षत्रेषु यदि पापग्रहाः स्युस्तर्हि देशा एते विप्लवग्रस्ता भवन्ति। अपि च वराहमिहिरेण समाससंहितायां कूर्मस्य दक्षिणपादमण्डले स्थितानां देशानमुल्लेखोऽकारि।[4]

6. पुच्छमण्डलम् (पश्चिमभागः)

कूर्मचक्रस्य पश्चिमभागे कूर्मस्य पुच्छं वर्तते तत्र ज्येष्ठामूलपूर्वाषाढाः इत्याख्यानि त्रीणि नक्षत्राणि समारोपितानि।

नरपतिजयचर्यायामुक्तं यद् यदा ज्येष्ठामूलपूर्वाषाढानक्षत्रे कश्चित्पापग्रहोवेधतेऽथवा गोचरतां याति तदा कूर्मपुच्छे स्थिता पारावतमरुत्कच्छावन्तीपूर्वमालवपारासरवर्वरसौराष्ट्रसैन्धवदेशाः स्त्रीराज्यञ्च विनाशं यान्ति–

ज्येष्ठामूलं तथाषाढा पुच्छे कूर्मस्य संस्थिताः।
पारावतं मरुत्कच्छमवन्तीपूर्वमालवम्।।

---

1. नारदसंहितायाम्, 36/3।
2. नारदमहापुराणे पूर्वभागे, 56/742।
3. नरपतिजयचर्यायाम्, - कूर्मचक्रम् - श्लोकौ - 25-26।
4. बृहत्संहितायां (भट्टोत्पलविकृतौ) प्रथमभागे, पृ. 267।

पारासरं वर्वरं च द्वीपं सौराष्ट्रसैन्धवम्।
जलस्थाश्च विनश्यन्ति स्त्रीराज्यं पुच्छपीडने॥[1]

नारदसंहितायां पुच्छभागे सिन्धुकाशीमहाराष्ट्रसौराष्ट्रदेशाः स्थिताः इति कथितम्–

सिन्धुकाशीमहाराष्ट्रसौराष्ट्राः पुच्छमण्डलम्।[2]

नारदमहापुराणेऽपि लिखितं वर्तते–

सिन्धुकाशिमहाराष्ट्रसौराष्ट्राः पुच्छमण्डलम्।[3]

यद्यपि वराहमिहिरेण काशिदेशो मुखमण्डले पूर्वस्यां दिशि पठितः किन्तु नारदसंहितानारद-पुराणयोः काशीदेशः पश्चिमायां पुच्छे समुद्धृत इति महान् दोष आपद्यते। कदाचित्काशिदेशः कश्चिदन्यःपश्चिमभागे पुरा रेजे तस्यैवोल्लेखोऽत्र विहितः। वराहमिहिरोऽत्र समाससंहितायां देशाभि-धानेषु नोल्लिलेख काशिदेशम्।[4]

7. वामपादमण्डलम् (वायव्यभागः)

वायव्याशायां कूर्मस्य वामपादमण्डलं विराजते। तत्रोत्तराषाढश्रवणधनिष्ठाभानि निहितानि। बृहत्संहितायां वराहमिहिरो देशान् जनपदांश्चाह–

दिशि पश्चिमोत्तरस्यां माण्डव्यतुषारतालहलमद्राः।
अश्मककुलूतहलडा स्त्रीराज्यनृसिंहवनखस्थाः॥

वेणुमती फल्गुलुका गुलुहा मरुकुच्चचर्मरङ्गाख्याः।
एकविलोचनशूलिकदीर्घग्रीवास्य केशाश्च॥[5]

नारदसंहितायां कूर्मस्य वामपादमण्डले पुलिन्दभीष्मयवनगुर्जरदेशाः अभिहिताः।[6] नारदमहा-पुराणेऽप्येतादृश उल्लेखः प्राप्यते–

पुलिन्दचीनयवनगुर्जराः पादमण्डलम्।[7]

---

1. नरपतिजयचर्यायाम्, - कूर्मचक्रम् - श्लोकौ - 27-28।
2. नारदसंहितायाम्, 36/4।
3. नारदमहापुराणे पूर्वभागे, 56/743।
4. बृहत्संहितायां (भट्टोत्पलविकृतौ) पृ. 267।
5. बृहत्संहितायाम्, 14/22-23।
6. पुलिन्दभीष्मयवनगुर्जराःपादमण्डलम्। (नारदसंहितायाम् 36/4)।
7. नारदमहापुराणे पूर्वभागे, 56/743।

नारदसंहिताया भीष्मदेशस्य स्थानेऽत्र चीनदेशोऽभ्यधापि नारदपुराणकृता। नरपतिजयचर्यायां कूर्मस्य वामपादे गुर्जरयामुनमरुसरस्वतीजालन्धरवराटमेरुशृङ्गादिदेशाः प्रकल्पिताः। अत्रत्यनक्षत्रपीडने सति देशा एते पीडामनुभवन्ति–

उत्तराषाढभत्रीणि पादे वायव्यगोचरे।
गुर्जराह्वं यामुनं च मरुदेशं सरस्वती।
जालन्धरं वराटञ्च बालुकोदधिसंप्रतम्।
मेरुशृङ्गं विनश्यन्ति ये चान्ये कोणसंस्थिताः॥[1]

समाससंहितायां वराहमिहिरेण समासतो देशनामान्यभिहितानि तत्रैव द्रष्टव्यानि।[2]

8. वामकुक्षिमण्डलम् (उत्तरभागः)

कूर्मस्य वामकुक्षिमण्डले सौम्यभागे शततारकपूर्वाभाद्रपदोत्तराभाद्रपदाख्यानि त्रीणि नक्षत्राणि वर्तन्ते। तत्र स्थिता बहवो देशा बृहत्संहितायामुक्ता[3], विस्तरभियाऽत्र न ते सर्वे समुच्यन्ते। समाससंहितायां सौम्यभागस्थितानां देशानां सङ्क्षिप्ततयोल्लेखोऽभूत्–

शतभिषगाद्ये केकयगान्धारादर्शयामुनाग्नीध्राः।
दासेयचिपिटनासार्जुनायना दण्डपिङ्गलकाः॥[4]

नारदसंहिताकारेण कूर्मस्य वामकुक्षिमण्डले कुरुकाश्मीरमाद्रेयमत्स्यदेशाः सन्तीत्युक्तम्–

कुरुकाश्मीरमाद्रेयमत्स्यास्तत्पार्श्वमण्डलम्॥[5]

नारदसंहितानुसारमेव नारदमहापुराणेऽप्यभिहितम्।[6] नरपतिजयचर्यायां समुद्धृतं यत् कूर्मस्य वामकुक्षिमण्डले नेपालकीरकाश्मीरगृञ्जतखुरसानमाथुरम्लेच्छदेशखशकेदारमण्डलहिमालयाश्रितदेशाः वर्तन्ते। एषु त्रिषु नक्षत्रेषु पीडितेषु देशा इमे पीडायुक्ता भवन्ति–

शतभादित्रयं चैव उत्तरां कुक्षिमाश्रितम्।
नैपालं कीरकाश्मीरं गृञ्जनं खुरसानकम्॥

---

1. नरपतिजयचर्यायाम्, - कूर्मचक्रम् - श्लोकौ - 29-30।
2. बृहत्संहितायां (भट्टोत्पलविकृतौ) प्रथमभागे, पृ. 267।
3. बृहत्संहितायाम्, 14/24-28।
4. बृहत्संहितायां (भट्टोत्पलविकृतौ) पृ. 267।
5. नारदसंहितायाम्, 36/5।
6. नारदमहापुराणे पूर्वभागे, 56/744।

माथुरं म्लेच्छदेशश्च खशं केदारमण्डलम्।
हिमाश्रयाश्च नश्यन्ति देशा ये चोत्तराश्रिताः॥[1]

कूर्मस्य मुखमण्डलेऽपि नेपालदेश उल्लिखितस्ततश्चाऽत्रापि वामकुक्षिमण्डले नेपालदेशस्य संस्थितिः कथिता। एतेन कदाचित्पूर्वनेपालदेशोऽथचोत्तरनेपालदेश उक्तौ स्तः।

9. वामबाहुमण्डलम् (ईशानभागः)

ईशानकोणे कूर्मस्य वामबाहुमण्डलं विराजते, तत्र रेवत्यश्विनीभरणीनामधेयानि त्रीणि नक्षत्राण्य-भिन्यस्तानि सन्ति। ईशानदिशायां देशविभागो बृहत्संहितायामेवमभिहितः—

ऐशान्यां मेरुकनष्टराज्यपशुपालकीरकाश्मीरः।
अभिसारदरदतङ्गणकूलूतसैरिन्ध्रवनराष्ट्राः॥

ब्रह्मपुरदार्वडामरवनराज्यकिरातचीनकौणिन्दाः।
भल्लाः पटोलजटासुरकुनटखशघोषकुचिकाख्याः॥

एकचरणानुविद्धाः सुवर्णभूर्वसुधनं दिविष्ठाश्च।
पौरवचीटनिवासित्रिनेत्रमुञ्जाद्रिगान्धर्वाः॥[2]

नारदसंहितायां नारदपुराणे च काश्मीरदेशः कूर्मस्य वामकुक्षिमण्डले स्थित इति लिखितं, परन्तु बृहत्ससंहिताकारेण वामबाहुमण्डले काश्मीरदेशो निहित इत्यत्र विप्रतिपत्तिर्दृश्यते। एतद्भवितुं शक्यते यदेष देशो वराहमिहिरसमये ईशानदिशि स्थितो भवेत्पुनश्चोत्तरभागे जनैरुच्यतेऽयं देशः काश्मीराभिधानत्वेन। नारदसंहितायां कूर्मस्य वामबाहुमण्डले खशाङ्गबङ्गबाह्लीककाम्बोजदेशा लिखिताः—

खशाङ्गबङ्गबाह्लीककाम्बोजाः पाणिमण्डलम्।[3]

नारदमहापुराणे[4]ऽप्येतादृशोल्लेखत्वान्नाति वैशिष्ट्यं किञ्चित्। नरपतिजयचर्यायां समुल्लिखितं यत् कूर्मस्य वामबाहौ गङ्गाद्वारकुरुक्षेत्रश्रीकण्ठहस्तिनापुराश्वचक्रैकपादगजकर्णाख्या देशा अभिन्यस्ताः। रेवत्यश्विनीभरणीभेषु पीडितेषु देशा एते निश्चप्रचमेव विप्लवग्रस्ता भवन्ति—

रेवती अश्विनी याम्यं पादे ईशानगोचरे।
गङ्गाद्वारं कुरुक्षेत्रं श्रीकण्ठं हस्तिनापुरम्॥

---

1. नरपतिजयचर्यायाम्, - कूर्मचक्रम् - श्लोकौ - 31-32।
2. बृहत्संहितायाम्, 14/29-31।
3. नारदसंहितायाम्, 36/5।
4. नारदमहापुराणे पूर्वभागे, 56/744।

अश्वचक्रैकपादाश्च गजकर्णास्तथैव च।
विनश्यन्ति च ते सर्वे शनावीशानगोचरे॥[1]

समाससंहितायामपि वराहमिहिरेण काश्मीरदेश उदलेखि।[2] एवं कच्छपस्य वामपाणिमण्डले देशानां विभागः संहिताकारैरभ्यधापि।

अनेन कूर्मचक्रविभागेन प्रतीयते यद् ये देशा वराहमिहिराचार्येण कथितास्तेषु कतिपये देशास्त-स्यामाशायामिदानीं न वर्तन्ते यस्यां दिशि तेनोक्ताः। तदानीं बृहत्तरभारतस्य कल्पनाऽऽसीद् देशानां विस्तृतिर्दिगनुसारं भिन्नेव दरीदृश्यते स्म। नक्षत्राणां त्रिके पापग्रहस्थितिवशात्फलाफलं तेषां देशानां ज्ञायते, यथोक्तं नारदसंहितायाम्—

कृत्तिकादीनि धिष्ण्यानि त्रीणि त्रीणि क्रमान्न्यसेत्।
नाभेर्दिक्षु नवाङ्गेषु पापैर्दुष्टं शुभैः शुभम्॥[3]

वराहमिहिरेणाऽवोचि यत् कृत्तिकादित्रये पाञ्चालनृपः, आर्द्रादित्रये मागधिकराजा, आश्लेषादित्रये कालिङ्गः, उत्तराफाल्गुन्यादित्रये आवन्तः, स्वात्यादित्रये आनर्त्तः, ज्येष्ठादित्रये सिन्धुसौवीरः, उत्तराषाढादित्रये हारहौरराजा, शतभिषादित्रये मद्राधिपः, रेवत्यादित्रये च कौणिन्दनृपो मरणं यान्ति—

वर्गैराग्नेयाद्यैः क्रूरग्रहपीडितैः क्रमेण नृपाः।
पाञ्चालो मागधिकः कालिङ्गश्च क्षयं यान्ति॥

आवन्तोऽथानर्तो मृत्युं चायाति सिन्धुसौवीरः।
राजा च हारहौरो मद्रेशोऽन्यश्च कौणिन्दः॥[4]

नरपतिजयचर्यायां लिखितं यद् यस्मिन् देशे शनेर्वेधो युतिर्वा कूर्मचक्रवशाद्भवेत्तस्य देशस्य यत्नेन रक्षां कुर्यात्। परदेशे चेच्छनिः स्यात्तर्हि तस्योपरि राजाऽऽक्रमणं विधाय तं देशं जयेत्। यस्य देशस्य नाम नक्षत्रे शनिः स्यात्तस्याऽवश्यमेव छत्रभङ्गो जायते।[5]

एतत्पृथिवीकूर्मचक्रमभिधाय सर्वाः ज्योतिषसंहिता विरामत्वमुपगताः परन्तु नरपतिजयचर्यायां[6] कूर्मचक्रस्य देशनगरग्रामक्षेत्रगृहवशादन्ये भेदा निगदितास्तेऽत्र समासेनोच्यन्ते।

---

1. नरपतिजयचर्यायाम्, - कूर्मचक्रम् - श्लोकौ - 33-34।
2. बृहत्संहितायां (भट्टोत्पलविकृतौ) प्रथम भागे, पृ. 267।
3. नारदसंहितायाम्, 36/6।
4. बृहत्संहितायाम्, 14/32-33।
5. सौरिः स्वदेशगो यत्र तत्र यत्नेन रक्षयेत्। परदेशस्थिते कुर्याद्विग्रहं पृथिवीपतिः॥ यत्रस्थः पीडयेत्तत्र वेधस्थाने तथैव च। देशनामर्क्षगः सौरिभङ्गदातान संशयः॥ (नरपतिजयचर्यायाम्, - कूर्मचक्रम् - श्लोकौ - 35-36)।
6. नरपतिजयचर्यायाम्, - कूर्मचक्रम् - श्लोकः - 37।

देशकूर्मचक्रविभाग:

कूर्मचक्रं पूर्ववद् लिखित्वा देशनामनक्षत्रादित्रयं मध्ये स्थापयेत्तत: मुखादिष्वङ्गेषु नक्षत्राणि त्रीणि-त्रीणि निधाय पश्येद् यत्र शनैश्चर: कश्चिद् पापग्रहो वा भवेदथवा वेधोऽस्य वर्तते तस्मिन् स्थाने नगरे वा महान् क्लेशो भविष्यतीति चिन्तयेत्।[1] अत्रापि कूर्मचक्रानुसारेण प्राच्यादिदिक्क्रमेण नक्षत्रन्यासो देशे भवेत्।

नगरकूर्मचक्रविभाग:

पृथिवी कूर्मचक्रवन्नगरे कूर्मं विलिख्य तन्नगरनक्षत्रतस्त्रीणि त्रीणि धिष्ण्यानि मध्ये नाभ्यादौ न्यासीकृत्य विचारयेद् यद् युत्र शनैश्चरस्य यति: स्याद् वेधो वा भवेत्तत्र स्थानेऽवश्यमेव किञ्चिद् दुर्घटनं सम्पद्यते। यथोक्तम्–

नगरे नागरं धिष्ण्यं कृत्वादौ विलिखेत्तत:।
सौरिस्थाने भवेद्दुष्टं वेधस्थाने तथैव च।।[2]

क्षेत्रकूर्मचक्रविभाग:

कस्मिंश्चिद् विशेषक्षेत्रेऽथवा सस्यक्षेत्रे कूर्मचक्रं प्राच्यादिक्रमेण साङ्गं विलिख्य क्षेत्रनक्षत्रतस्त्रीणि नक्षत्राणि मध्यभागे विनिक्षिप्य शेषाणि भानि यथाक्रममङ्गेषु विन्यासीकर्त्तव्यानि–यत्र शनैश्चरो वेधते, गोचरतां वाऽऽयाति तत्र क्षेत्रे विनाशो भयञ्च जायते–

क्षेत्रजे क्षेत्रभान्यादौ कृत्वा कूर्मं यथास्थितम्।
सौरिस्थाने विनाश: स्याज्जायते च महद्भयम्।।[3]

गृहकूर्मचक्रविभाग:

गृहद्वारे कूर्मस्य मुखं निधाय गृहनामर्क्षाणि त्रीणि गृहमध्येऽवस्थाप्य पुन: कूर्माङ्गमुखादिक्रमेण त्रीणि त्रीणि भानि स्थापनीयाति। ततश्च शनेगोचरवशाद् वेधवशाच्च शुभाशुभं जानीयात्–

गृहकूर्मं समालिख्य गृहद्वारमुखस्थितम्।
गृहनामर्क्षपूर्वं तु कृत्वा वीक्ष्यं शुभाशुभम्।।[4]

---

1. नरपतिजयचर्यायाम्, - कूर्मचक्रम् - श्लोक: - 38।
2. तत्रैव - कूर्मचक्रम् - श्लोक: - 39।
3. तत्रैव - कूर्मचक्रम् - श्लोक: - 41।
4. तत्रैव - कूर्मचक्रम् - श्लोक: - 42।

नरपतिजयचर्यायां गृहकूर्मस्याङ्गविभागे शनेर्युतिवेधयोर्वशाच्छुभाशुभं निरूपितं वर्तते। यदि शनिर्गृहमध्येऽस्ति तर्हि शोकसन्तापो भवति, द्वारे वज्रपातः, महानसेऽग्निस्थानेवाऽग्निभयदायी, दक्षिणे मृत्युप्रदो, राक्षसभयं नैर्ऋतौ च करोति। पश्चिमे शनिः शुभप्रदो वायव्ये शून्यदोऽर्थदश्चोत्तरे भवति। शनिरीशानकोणे स्थितश्चेत्तर्हि सर्वसिद्धिप्रदाता भवेत्। यदि शनिर्वलिष्ठः स्यात्तर्हि प्रचुरतया द्रष्टं फलं प्रयच्छति स्वल्पवीर्यश्च शुभतां ददाति। एवमत्र गृहकूर्मचक्रस्य विभागे शनिवशात्फलमुक्तम्।

ग्रामकूर्मचक्रविभागः

ग्रामस्य नक्षत्रादित्रयं मध्यभागे निधाय पूर्ववत् कूर्माङ्गेषु मुखादिक्रमेण पूर्वादिक्रमेण वा त्रीणि त्रीणि भानि निधातव्यानि। यत्र शनेर्वेधो युतिर्वा स्यात्तर्हि ग्रामे भवेदुपद्रव इति चिन्त्यम्। यथोक्तम्–

ग्रामकूर्मं समालिख्य ग्रामनामर्क्षपूर्वकम्।
पूर्ववद्यत्रगः सौरिर्मध्यादौ भङ्गमादिशेत्।।[1]

इत्थं कूर्मचक्रस्य पञ्चकस्योल्लेखं कृत्वा नरपतिजयचर्यायां कथितं यद् यदा कूर्मपञ्चके एकस्मिन्नेव स्थाने सौरिः स्यात्तदा तत्स्थानस्य विनाशोभङ्गो वाऽवश्यम्भावी मन्यते।[2] कूर्मचक्रजनितोपद्रवशान्तये शान्तिककर्माणि यानि यामलतन्त्रे लिखितानि तानि सम्पादनीयानि वर्तन्ते। अनेन स्वल्पविघ्ना भवन्ति विप्लवशान्तिर्वा भवतीति।[3] संहितासु कूर्मचक्रप्रसङ्गे वेधस्योल्लेखो नाऽभूत्परन्तु नरपतिजयचर्याग्रन्थे कथितं यद् पूर्वप्रतीच्यां, सौम्यदक्षिणे, ईशाननैर्ऋत्यां, वह्निकोणवायुकोणे च वेधो भवेत्–

पूर्वापरं लिखेद्वेधं वेधं चोत्तरदक्षिणे।
ईशानराक्षसे वेधं वेधमाग्नेयमारुते।।[4]

इत्थं पृथिव्यां देशे, नगरे, ग्रामे, क्षेत्रे गृहे वा कूर्मचक्रं विलिख्य तत्र कूर्माङ्गेषु उक्तक्रमेण नक्षत्रन्यासं परिकल्प्य शन्यादिपापग्रहवशाच्छुभाशुभफलं विचारयेत्। यदि शनेरुपरि पापग्रहाणामुपरि वा बृहस्पते वेधो भवेदथवा यत्र शनिस्तत्र गुरोर्युतिश्च स्यात्तर्हि पापग्रहस्य शनेर्वाऽशुभफलत्वं क्षीणतां ब्रजति न्यूनत्वं वा याति। एवं संसारस्य पृथिव्याश्च शुभाशुभं संहितोक्तदिशा कूर्मचक्रेण ज्ञातव्यमिति सर्वेषां विपश्चितां पुरातनदैवज्ञानां च मतमत्र सुष्ठु प्रपञ्चितम्। कूर्मचक्रस्योल्लेखो जैनीयभद्रबाहुसंहितायां न प्राप्यते। अत एव जैनबौद्धज्योतिषशास्त्रयोरेतस्य प्रचारो नाऽऽसीदिति सम्यगुररीकर्तुं शक्यते तत्संहितासु कूर्मचक्रस्याऽनुपलब्धेरिति।

---

1. नरपतिजयचर्यायाम्, - कूर्मचक्रम् - श्लोकः - 40।
2. तत्रैव - कूर्मचक्रम् - श्लोकः - 46।
3. तत्रैव - कूर्मचक्रम् - श्लोकौ - 47-48।
4. तत्रैव - कूर्मचक्रम् - श्लोकः - 13।

भर्तृहरिमते शब्दब्रह्मणः स्वरूपम्

प्रो॰ कामदेवझा

शब्दब्रह्मणः चिन्तनं वैदिककाल एव प्रारब्धमिति नास्त्यत्र सन्देहावकाशः। ऋग्वेदस्य महादेवो मर्त्यां आविवेश[1] इत्यनेनोद्धरणेनावगम्यते यत् शब्दब्रह्मणः परिकल्पना तत्रैव समुद्भूतेति। व्याकरणस्य प्रयोजनवर्णनावसरे मन्त्रस्यास्य व्याख्यायां भाष्यकृता व्याख्यातं महता देवेन नः साम्यं यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणमि[2]त्यनेनाप्यत्र समुपलभ्यते। इत्यनेन प्रतीयते यत् शब्दब्रह्मणः समुल्लेखस्तत्र व्याकरणदर्शन-सम्प्रदाये प्रारब्धो जात इति। अस्यैव मन्त्रस्य भावं विस्तारयन् भर्तृहरिस्त्वत्र–

अपि प्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम्।
प्राहुर्महान्तमृषभं येन सायुज्यमिष्यते।।[3]

शब्दब्रह्मणः चिन्तनमिदं यद्यपि वैदिककाले समुद्भूतं किन्तु शब्दब्रह्मेति शब्देन सर्वप्रथम-प्रयोगः उपनिषदि दृश्यते। तद्यथा–

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।।[4]

एतदप्यत्र स्पष्टीकरणीयं यत् उपनिषदः शब्दब्रह्मेदं भर्तृहरिमते परमतत्त्वं नास्ति, किन्तु भर्तृहरेः शब्दब्रह्म सर्वथा विश्वातीतं परमतत्त्वं वेति विद्यते। नास्त्यत्र काऽपि विचिकित्सेति। यद्यपि भर्तृहरेः पूर्वमपि शब्दब्रह्मणः विचारः प्रकारान्तरेण भाष्यकृता प्रकटीकृत आसीत्, किन्तु भर्तृहरिणा व्यासरूपेण सर्वादौ वाक्यपदीयब्रह्मकाण्डे शब्दतत्त्वं व्याख्यातमिति।[5]

भर्तृहरिणा वाक्यपदीयगतब्रह्मकाण्डे प्राथम्येन शब्दतत्त्वमेव व्याकृतम्। शब्दतत्त्वस्य कीदृशं स्वरूपमस्ति एतदप्यत्र प्रतिपादितम्। वस्तुतः तच्छब्दब्रह्माऽदिनिधनरहितमस्ति। अतएव तु निगद्यते यत् आदिनिधनरहितत्वे सति सदावर्तमानत्वं ब्रह्मणः सामान्यलक्षणमिति। एतल्लक्षणं शब्देऽपि समन्वेति। अतएव शब्दोऽप्यत्र ब्रह्मेति भावः।

यथा प्रस्तुतमस्ति तत्र–

1. ऋग्वेदः, 4.58.3।
2. महाभाष्यम्, प्रथमाह्निके पृ.सं. 12 (चारुदत्तकृतप्रथमसंस्करणे)।
3. वाक्यपदीयम्, 1.130
4. मैत्रायणी उपनिषद्, पृ.सं. 6-22
5. शब्दतत्त्वविवेचनसन्दर्भे मम पुस्तकं शब्दब्रह्ममीमांसेति द्रष्टव्यम्।

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥[1]

कारिकामिमां वीक्ष्य सहसा महाभारतस्य श्लोकः स्मृतिमार्गे समायाति। यत्रोक्तमस्ति–

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥

महाभारतीयं श्लोकमिमं पाठं पाठं एतत्तु निश्चितं भवति यत् शब्दोऽयं आदिनिधनरहितोऽस्तीति। एतदप्यत्रोद्घाटितं भवति यत् लक्षणमिदं शब्दतत्त्वस्य शब्दब्रह्ममार्गे नयतीति भावः। वस्तुतः सर्वमिदं जगत् शब्दानुविद्धमेत्। यत् किञ्च जगत्यस्मिन् किलावलोक्यते तत् कृत्स्नं वस्तु तेन शब्दप्रकाशेन प्रकाश्यते। यावत्पर्यन्तं कथनेन न भवति तावत्पर्यन्तं स्थितमप्यत्र वस्तु नैव दृश्यत इति। यथोक्तं भर्तृहरिणा–

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥[2]

वस्तुतः शब्दब्रह्म प्रकाशस्वरूपं भवत्येव। नास्त्यावश्यकता किलान्यबाह्यप्रकाशस्य। यतोहि ब्रह्मणः स्वयं प्रकाशरूपत्वविषये उपनिषद् खल्वपि निगदत्यत्र–

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।[3]

शब्दब्रह्म यथा आदिनिधनरहितं प्रथितं तथैव किल एतदप्यत्र सिद्धं यत् ब्रह्माद्वितीयमस्ति। अर्थभावेनैवास्य शब्दब्रह्मणः विवर्तनमस्ति। एतत् सर्वं भेदयुतं प्रतीयते न तु स्वरूपं विद्यतेऽस्य। वस्तुतः प्रक्रिया भेदात् वैविध्यं खलु। प्रकृतिप्रत्यययोः ज्ञानं केवलं प्रक्रिया निर्वाहार्थं विद्यते न तु वास्तविकं किल। प्रकृतिप्रत्यययोः कारणेनैव शब्दसृष्टिर्भवतीति। यथा मातापितरौ जन्मनः कारणत्वेन प्रथितौ तद्वच्चाप्यत्र प्रकृतिप्रत्यययोः स्वरूपमवगच्छेदिति। प्रकृतिस्तु पार्वती प्रोक्ता प्रत्ययस्तु महेश्वर इति। [4]व्याकरणदर्शन भूमिकानामके ग्रन्थे आचार्यरामाज्ञापाण्डेयस्त्वत्र–अत्र प्रकृतिपदेन माता, प्रत्ययपदेन च पिता गृह्यते। अतएव भाष्यकृता पतञ्जलिना प्रोक्तं न केवला प्रकृतिः प्रोक्तव्या न केवलः प्रत्ययः।[5] कालिदासोऽप्यत्र मातृपितृरूपत्वेन स्मरति खलु। यथोक्तं तत्र–

---

1. वा.प., 1.1।
2. तदेव, 1.123
3. मुण्डकोपनिषद्, 2.10
4. व्याकरणदर्शन भूमिका (सम्पूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालयप्रकाशनम्) पृ.सं. 5
5. महाभाष्यम्, 1.2.64

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगत: पितरौ वन्दे पावतीपरमेश्वरौ।।[1]

वर्णपदादय: सर्वे प्रक्रियानिर्वाहकारणेन विभज्यन्ते। यथोक्तं तत्र वाक्यपदीये भर्तृहरिणा– शास्त्रेषु प्रक्रिया भेदैरविधैवोपवर्ण्यते।[2] तत्रैव भर्तृहरि: समाधानमपि प्रस्तौति। निगदति यत्–

असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा तत: सत्यं समीहते।[3]

कूपखानकन्यायेनासाधुवर्णोच्चारणदोषा: प्रक्षालिता: भवन्ति, येन किल धर्मस्य कारणं भवतीतिभाव:। नागेशभट्टोऽपि [4]प्रकारान्तरेण निगदत्यत्र – शास्त्रप्रक्रियानिर्वाहको वर्णस्फोट:। प्रकृतिप्रत्ययास्तत्तदर्थवाचका: इति।

भर्तृहरिणा महता कण्ठेनोक्तं यत् तच्छब्दब्रह्म एकमेव विद्यते। एकं भूत्वाऽपि वैविध्यरूपतामेति। वैविध्यस्य कारणं शक्तिरिति। यथा एकं ब्रह्म वेदान्तदर्शने मायया वैविध्यं प्रतिभाति तद्वच्चाप्यत्र कालशक्तिकारणेन वैविध्यमिति। तत्र वेदान्तदर्शने ब्रह्मणि प्राप्ते मायाऽविद्या वेति विलुप्यते, नैव तद्वत् शब्दब्रह्मण: कालशक्ति: विलुप्यत इति ध्रुवम्। प्राप्ते ब्रह्मण्यपि कालशक्त्या: किल भवत्यैवास्तित्वमिति भाव:। एकमपि तच्छब्दब्रह्म बहुधा विभज्यते। कथितमपि भर्तृहरिणा प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां तेन विश्वं विभज्यते।[5] यथा जलं सलिलं वेति एकं भूत्वाऽपि आवर्त्तबुद्‌बुद्‌तरङ्गादिभेदेन वैविध्यरूपतामेति तथैव शब्दब्रह्मापि। यथोक्तं वाक्यपदीये–

एकमेव यदाम्नातं भिन्नं शक्तिव्यपाश्रयात्।
अपृथक्त्वेऽपि शक्तिभ्य: पृथक्त्वेनेव वर्तते।।[6]

इदमेव शब्दब्रह्म सर्वबीजरूपत्वेन भर्तृहरिणा व्याख्यातं तत्र वाक्यपदीये। नष्टे संसारेऽपि बीजरूपं शब्दब्रह्म तथैव तिष्ठतीति। यतोहि बीजे नष्टे सति सृष्टिरसंभवा। अत: एतत् बीजरूपं तत्र सर्गान्तेऽपि तिष्ठत्येवेति ध्रुवम्। शब्दब्रह्मण: त्रिविधा स्थितिरप्यत्र प्रतिपादिता किल। तदेव शब्दब्रह्म भोक्तृ–भोक्तव्यभोगरूपत्वेन विराजत इति। प्रसङ्गेऽस्मिन् सूर्यमायाटीकाकारस्त्वत्र – तस्यैकस्य ब्रह्मणो नटवत् स्वशक्त्या गृहीतभोक्त्राद्येकरूपपरित्यागेन पुनर्गृहीतभोक्तव्यादिरूपान्तरं प्रतिपद्यमानस्य शक्तिनिबन्धना इयमनेकरूपा मृषारूपभेदविभागव्यवस्थेति नाद्वैतहानिरिति निष्कृष्टोऽर्थ:।[7]

वस्तुत: शब्दब्रह्म नट इव निजरूपं परिवर्तयति। यथा नट: नाटके विविधं रूपं धारयति तथैव शब्दब्रह्मेदं प्रयोजनवैविध्यवशाद् बहुविधरूपत्वमेति।

---

1. रघुवंशम्, 1.1।
2. वा.प., 2.233।
3. तदेव, 2.238।
4. परमलघुमञ्जूषा, शक्तिनिरूपणम् (डॉ. कपिलदेव शास्त्री) पृ.सं. 10।
5. वा.प., 3.9.4।
6. तदेव, 1.2।
7. सूर्यमायाटीका (वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्डस्य, पं. वेदानन्द झा कृता) पृ.सं. 28।

यथोक्तं तत्र वाक्यपदीये[1]–

एकस्य सर्वबीजस्य यस्य चेयमनेकधा।
भोक्तृभोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण च स्थितिः॥

मनसि प्रश्नोऽयं समुत्पद्यते यत् किं तत्र शब्दब्रह्मरूपत्वम्? किं श्रूयमाणो शब्द एव ब्रह्म? न तु। श्रूयमाणो शब्दस्तु वैखरीरूपः खलु। वस्तुतः पश्यन्ती एव शब्दब्रह्मरूपत्वेन राजत इति। आचार्य रामाज्ञापाण्डेयोऽपि प्रबलसमर्थकरूपेण पश्यन्तीमेव प्रणवपदत्वेनाङ्गीकरोतीति[2]। एतदप्यत्र कथनीयं यत् प्राथम्येन भर्तृहरिरेव पश्यन्तीमध्यमावैखरीरूपेण वाचः विभागं कृतवान्। भर्तृहरेः पूर्वं न केनापि वाचः पश्यन्त्यादिनामभिः चर्चा कृतेति ध्रुवम्। भर्तृहरिणा वाचः त्रिविधं रूपमेव वर्णितं तत्र। तद्यथा[3]–

वैखर्या मध्यमायाश्चपश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्।
अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम्॥

परावाचः चर्चा कारिकायां तेन तत्र न कृता। इत्यनेन कारणेन व्याकरणसम्प्रदाये विवादस्य विषयो जातः। किं भर्तृहरिमते वाणी त्रिधा चतुर्धा वेति[4], विषयेऽस्मिन् मतैक्यं नास्ति।

अत्र नागेशभट्टस्य मतं वर्तते यत् परावाणी व्याकरणस्य विषयो भवितुं नार्हति, अतएव भर्तृहरिणा नोद्धृतेति। तेनोक्तं तत्र महाभाष्यस्य उद्योतटीकायां यत्–'[5]पश्यन्ती तु लोकव्यवहारातीता योगिनां तु तत्रापि प्रकृतिप्रत्ययविभागावगतिरस्ति। परायां तु नेति त्रय्याः इत्युक्तम्।'

केचन विद्वांसः कथयन्ति यत् भर्तृहरिणा स्वोपज्ञवृत्तौ[6] 'परां प्रकृतिं प्रतिपद्यते' इत्यनेन परा उद्धृतेति। प्रसङ्गेऽस्मिन् वाक्यपदीयस्य प्राचीनटीकाकारः वृषभदेवस्तु[7] परामित्यस्य स्थाने उत्कृष्टामिति प्रतिपादयति। इत्यनेन स्फुटं भवति यत् पश्यन्त्याः विशेषणत्वेन परामिति शब्दः प्रयुक्त इति। इयमेव वाक कृत्स्नं भुवनमालोकयति। संसारस्य तमः दूरीकृत्य वाणीविभागविषये आचार्यगौरीनाथशास्त्रिणः[8] मतं वर्तते यत् तन्त्रशास्त्रप्रभावादेव केनापि पुण्यराजसदृशेन विदुषा परा प्रोक्तेति। नागेशेन परावाक् उद्धृतेति–

परावाङ् मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा॥[9]

---

1. वा.प., 1.4
2. व्याकरणदर्शन भूमिका (रामाज्ञापाण्डेयरचिता) पृ. 7, प्रणवपदेनापि पश्यन्ती ग्राह्या।
3. वा.प., 1.142
4. प्रसङ्गेऽस्मिन् मदीयः लेखः वाणी त्रिधा चतुर्धा वा इत्यत्र भर्तृहरिः (विश्वसंस्कृतम् जूनमासस्य 1996) द्रष्टव्य इति।
5. महाभाष्यस्य उद्योते भा. 1. पृ.सं. 33
6. स्वोपज्ञवृत्तिः, 1.14, पृ.सं. 37
7. वृषभदेव पद्धतिः, वा.प., 1.14 पृ.सं. 48, पराम् उत्कृष्टाम्
8. The Philosophy of word and meaning, p. 70.
9. वैयाकरणपरमलघुमञ्जूषा, स्फोटनिरूपणम् पृ.सं. 92 (डॉ. कपिलदेवशास्त्री संस्करणे)।

उपर्युक्तानि मतानि सम्यक् परीक्ष्याभिनवाः सन्देहाः स्वतः एवाऽविर्भवन्ति यत् किं भर्तृहरिमते, चतुर्विधं रूपं आसीत् अथवा '[1]चत्वारिवाक् परिमितापदानि' इति मतं समन्वयार्थमेव नागेशेन चतुर्विधं मतं समुद्घाटितम्। किम्वा भर्तृहरिणा केवलं व्याकरणदृशा तत्र त्रय्या वाचः परं पदमित्युद्धतम्। तत्त्वतस्तु वृत्तिमाश्रित्यैव विवादः किल। एतत्तु निश्चप्रचं यत् कारिकायां भर्तृहरिणा त्रय्या वाचः परं पदमेवोद्धतमिति।[2] इयमेव पश्यन्ती वागस्ति यां विना जिह्वाऽपि स्पन्दनकार्यसम्पादनेऽक्षमा किल। इयं वाक् केवलं निर्विकल्पकसमाधिगम्या खलु मुमुक्षुभिरेव समाधिदशायां प्रापणीया भवतीति भावः। इयमेव शब्दतत्त्वस्वरूपा ब्रह्मरूपा वेति विद्यते। यद्वयं वदामः अथ च यत् श्रूयते श्रोतृभिर्नैव तादृशः शब्दः ब्रह्मेति। वैखरी वागेव श्रुतिगोचरा खलु। पश्यन्त्यावस्थायां ब्रह्मरूपत्वं भवतीति। अतीन्द्रिया वाणी पश्यन्ती कथ्यते। इयमेव चैतन्यस्वरूपा।[3] इयमेव प्रकाशरूपा।[4] इयं वाग् समस्तलोकान् करोत्यालोकमिति।[5] पश्यन्तीं विना प्रकाशोऽपि न भवितुमर्हति प्रकाशितः। सैषा वाणी भर्तृहरेः शब्दब्रह्मरूपेति। इयमेव वाक् कृत्स्नं भुवनमालोकयति। संसारस्य तमः दूरीकृत्य सर्वाणि वस्तूनि प्रकाशयुतानि करोतीति। काव्यादर्शे दण्डिना तत्र इत्थमेव वर्णितमस्ति। यथोक्तं तेन–

इदमन्धतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।।[6]

शब्दब्रह्मरूपत्वं [7]बाइबिलग्रन्थेऽपि दृश्यते। सर्गादौ शब्दतत्त्वमेवासीत् तच्च ब्रह्मरूपत्वेन चाऽसीदिति।

वस्तुतः प्रकृतिप्रत्ययविभागप्रपञ्चं प्रकाशाप्रकाशावपि समुलमङ्घ्य निर्विकल्पकसमाधिगम्यां वाग्रूपां (पश्यन्तीं) प्रकाशस्वरूपां यः कोऽपि साधकः सम्यग् समुपासते सः निश्चप्रचं मोक्षत्वं लप्स्यत इति। यथा प्रस्तौत्यत्र भर्तृहरिः–

वैकृतं समति क्रान्तामूर्तिव्यापारदर्शनम्।
व्यतीत्यालोकतमसी प्रकाशं यमुपासते।।[8]

भर्तृहरेः समुद्घोषोऽयं विद्यते यत् व्याकरणेन मोक्षाधिगमः सर्वथा सम्भाव्यत इति। यदेकं शब्दब्रह्म प्रकृतिप्रत्ययादिभिर्बहुधा बहुरूपत्वेन वेति गण्यते तच्छब्दब्रह्म व्याकरणज्ञानमाध्यमेनानुभूयत इति भावः। यथोक्तं तत्र–

---

1. ऋग्वेदः, 1.164.45।
2. अस्मिन् सन्दर्भे मम पुस्तकं शब्द ब्रह्ममीमांसेति द्रष्टव्यमिति।
3. वाग्रूपत्वमेव चितिक्रियारूपम् (पुण्यराजटीका, पृ.सं. 48।
4. स्वोपज्ञवृत्तिः (वा.प. 1.142) स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मावागनपायिनी।
5. वा.प., 1.125, न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी।
6. काव्यादर्शे, 1.4.
7. द्रष्टव्यम्, Bible, New Testament, St. John chapter, 1, In the beginning was the word and the word was with God and the word was God.
8. वा.प., 1.19.

यदेकं प्रक्रियाभेदैर्बहुधा प्रविभज्यते।
तद् व्याकरणमागम्य परं ब्रह्माधिगम्यते।।[1]

व्याकरणेन वाक् शुद्धिर्भवति। येनोच्चारणसमये सौकर्यं भवति। 'एको शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्णे लोके च कामधुक् भवति' इत्यपि श्रूयत एव। यः कोऽपि शब्दसाधकः विशुद्धमनसा चिन्तयति स एव मोक्षस्य भवत्यधिकारी इति भावः। कथितं तत्र मुण्डकोपनिषदि–

न चक्षुषा गृह्यते न वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते ध्यायमानः।।[2]

व्याकरणेन वाचः मलानां विशुद्धिक्रिया अनुष्ठीयते। येन किल वाचः चिकित्सा भवति। चिकित्सयाऽनया न काऽपि विचिकित्साऽवशिष्यत इति भावः। अपगतमलेन शब्दोच्चारणेनाभ्युदयोऽप्यत्र प्रथित एव। यथोक्तं तत्र–

तद् द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम्।
पवित्रं सर्वविधानामधिविधं प्रकाशते।।[3]

यथाऽऽयुर्वेदः शरीरस्थान् दोषानपहरति तद्वच्चाप्यत्र व्याकरणमपि वाग्दोषान् सम्यगपहृत्य विशोधयतीति। तदेव भवति कारणमभ्युदस्येति। यथा स्वोपज्ञवृत्तौ व्याख्यतम्–[4]आयुर्वेद इव शरीराणां दोषाणाम्। व्याकरणज्ञो हि प्रत्यवायहेतु भूतानप्रभ्रंशान्न प्रयुङ्क्ते। भर्तृहरिणा स्फुटं प्रोक्तं यत् व्याकरणमिदं खल्वपवर्गस्य द्वारम्। ततोऽपि मोक्षस्य राजमार्गत्वेन व्याकरणमिदं व्याकृतमस्ति। मोक्षप्राप्त्यर्थं इदमेवाद्यं पर्व विद्यते। इयं सरला अकुटिलावेति राजपद्धतिरस्ति। व्याकरणविधयैव मोक्षाधिगः सारल्येन सम्भव इति भावः। उक्तञ्च भर्तृहरिणा–

इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपान पर्वणाम्।
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्माराजपद्धतिः।।[5]

वेदोऽप्यत्र शब्दब्रह्मणः प्राप्त्युपायत्वेन भर्तृहरिणा प्रोक्त इति। वेदोऽयं तस्य शब्दब्रह्मणः साक्षात् अनुकारः एव विद्यते। यथोक्तं भर्तृहरिणा–

प्राप्त्युपायोऽनुकाश्च तस्य वेदो महर्षिभिः।
एकोऽप्यनेकवर्त्मेव समाम्नातः पृथक् पृथक्।।[6]

---

1. तदेव, 1.22.
2. मुण्डकोपनिषद्, 1.3.8.
3. वा.प, 1.14.
4. स्वोपज्ञवृत्तिः (वा.प., 1.14) पृ.सं. 38 (अम्बाकर्गीव्याख्याकार कृत संस्करणम्)।
5. वा.प., 1.16.
6. तदेव, 1.5.

वस्तुतः पुरुषार्थचतुष्टये मोक्षः परमपुरुषार्थत्वेन प्रोक्त इति। विविधेषु दर्शनेषु मोक्षमार्गाः प्रदर्शिताः विद्यन्ते। तेषु व्याकरणस्य मार्गः सरलतमतो विद्यते। वाक्शुद्धिप्रक्रियाद्वारा सारल्येन प्रापणीयोऽयं मोक्ष इति।

अहंभावस्य त्याग एव मोक्ष इति। भावोऽयं स्वोपज्ञवृत्तौ भर्तृहरिणा प्रदर्शित इति। यथोक्तं तत्र–[1]ममाहमित्यहङ्कारग्रन्थिसमतिक्रममात्रं ब्रह्मणः प्राप्तिः।

शब्दसाधकः भ्रान्तिहीनो यदा भवति अथ च साधुशब्दज्ञानमधिगच्छति तदा शुद्धशब्दस्य प्रयोगं कुर्वाणः केवलां [2]वाणीं पश्यन्तीरूपां वेति पश्यतीति भावः भर्तृहरेः अयमप्यत्रोद्घोषो विद्यते यत् इदं व्याकरणं किल ब्रह्मणः निकटतममस्ति। वेदाङ्गेषु खलु मुख्यत्वेन विराजमानं [3]तपसामप्युत्तमं तपः वर्तते। यानि किलाखिलानि लोके तपांसि वर्तन्ते, सर्वेषु इदं तपः पवित्रतमं विद्यत इति। अतएव भर्तृहरिणा मोक्षाय प्रथमं पर्व प्रतिपादितमिति। पौनः पुन्येन भर्तृहरिणा साधुशब्दानामुच्चारणमभ्युदयाय समुद्घोषितं किल। साधुशब्दानां समूह एव पुण्यतमः प्रकाशः खलु। वाचः परमो रस[4] इत्यपि तत्र व्यख्यातम्। साधुशब्दपरमरसे स्नात एव शब्दसाधकः परमतत्त्वं शब्दब्रह्मरूपत्वमधिगच्छतीति। यतोहि भर्तृहरिः शब्दब्रह्मणा साकं सायुज्यमेव[5] मुक्तिरूपत्वेन समुद्घोषयति। येन खलु वैदिकमन्त्रस्य 'महो देवो मर्त्यां आ विवेश[6] इति भावः सार्थक्यमाप्नोतीति। इत्यनेननावगम्यते यत् भर्तृहरिः सर्वत्र सर्वथा वैदिकमन्त्रमेवानुगच्छति।

शब्दब्रह्मप्रतिपादकेन भर्तृहरिणास्फुटरूपेण व्याख्यातं यत् [7]परमात्मनः सिद्धिः शुद्धशब्दप्रयोग-योगादेव भवतीति। यः शुद्धशब्दप्रयोक्ता शब्दतत्त्वस्य रहस्यं सम्यग् वेत्ति, सः एव परमात्मरूपं शब्दब्रह्माधिगच्छतीति। भर्तृहरिणा शब्दब्रह्मणः प्राप्तिरमृतत्त्वेन व्याकृतेति। वैदिकमन्त्रोऽपि समुद्घोषयति यत् सोमरसपानेनामृतत्त्वमधिगम्यत इति। तद्यथा–

'अपाम सोमममृता [8]अभूम अगन्म ज्योतिर् अविदाम देवान्।'

यः कोऽपि साधकः पश्यन्तीं वाणीं सम्यग् समुपासते सः निश्चप्रचं मृत्युं तरतीतिध्रुवम्। स्वोपज्ञटीकायां स्पष्टतः व्याकृतं यत्–'ते मृत्युमतिवर्तन्ते ये वै वाचमुपासते।[9] वस्तुतः वाचः उपासकः

---

1. हरिवृत्तिः (वा.प., 1.5) पृ.सं. 16
2. वा.प., 1.17, अत्रातीतविप्रयासः केवलामनुश्यति। छन्दस्थश्छन्दसां योनिमात्माच्छन्दोमयीं तनुम्।।
3. तदेव, 1.11, आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः। प्रथमं छन्दसामङ्गमाहुर्व्याकरणं बुधाः।।
4. तदेव, 1.12, प्राप्तरूपविभागाया यो वाचो परमोरसः। यत्पुण्यतमं ज्योतिस्तस्य मार्गोऽयमाञ्जसः।।
5. तदेव, 1.130.
6. ऋग्वेदः, 4.58.3.
7. वा.प., 1.131, तस्माद्यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिपरमात्मनः। तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञस्तद् ब्रह्मामृतमश्नुते।।
8. ऋग्वेदः, 8.46.3।
9. स्वोपज्ञवृत्तिः (वा.प., 1.126) पृ. 189 (पं. रघुनाथशर्मणः टीकाग्रन्थे)।

वाचस्पतिर्भवति। अतएव त्वत्र भर्तृहरिणा कारिकायामप्युदाहृतम्—व्यतीत्यालोकतमसी प्रकाशं [1]यमुपासते इति।

मोक्षस्यस्वरूपं प्रतिपादयता भर्तृहरिणा स्फुटं प्रोक्तं यत् वाचः [2]संस्कारं कृत्वा सम्यग् चापि ज्ञात्वा साधकः सर्वविधैहिकबन्धनानि परित्यज्य. बन्धनमुक्तो भवति। ब्रह्माऽलोकेनाज्ञानान्धकारं संहृत्य ज्योतिर्मयो [3]भवति। ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति यथा तथैव ब्रह्माऽलोकं प्राप्त्वा ब्रह्मण्येव समाहितो भवति इति भावः। उपनिषदः सारोऽयं विद्यते यत् प्राप्ते ब्रह्मणि सर्वसंशयाःभिद्यन्तेऽथ च हृदयग्रन्थिरपि स्वत एव छिद्यत इति। यथोक्तं तत्र—

भिद्यते हृदयग्रन्थिच्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।।[4]

ऋग्वेदीयमन्त्रोऽप्यत्र बन्धनात् पृथक्करणमेव मोक्षत्वेन प्रतिपादयति। यथोक्तं तत्र—[5]उर्वारुक-मिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्। पद्धतिकारस्य[6] वृषभदेवस्यापि समुद्घोषोऽयं विद्यते यत् यः व्याकरणं न जानाति स एतत् सर्वं न जानातीति। इत्यनेन त्वत्र स्फुटं भवति यत् व्याकरणं मोक्षसाधनमिति। वस्तुतः ब्रह्मविद् ब्रह्मैव[7] भवति इति सिद्धम्।

भर्तृहरेरुद्घोषोऽयं विद्यते यत् शब्दादेव सृष्टिरथ च शब्दे एव लयोऽपि विद्यते। सर्वप्रथममेव प्रथमायां कारिकायां व्याख्यातं यत् शब्दतत्त्वं किलार्थभावेन विवर्त इति। महाभारते खल्वपि दृश्यते यत् शब्दादेव सृष्टिरिति। प्रोक्तं तत्र—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः।।[8]

मुण्डकोपनिषद्यपि अक्षरब्रह्मणः सृष्टिः प्रोक्तेति। यथोक्तं तत्र तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वमिति।[9] व्याख्यायामस्यां शाङ्करभाष्यकारस्त्वत्र[10] यथैते दृष्टान्तास्तथा विलक्षणं सलक्षणं च निमित्तान्तरान-पेक्षाद्यथोक्तलक्षणादक्षरात्सम्भवति समुत्पद्यते इह संसारमण्डले विश्वे समस्तं जगत्।

---

1. वा.प., 1.19
2. स्वोपज्ञवृत्तिः (वा.प.) पृ.सं. 198. वाचः संस्कारमाधाय वाचं ज्ञाने निवेश्य च। विभज्य बन्धनान्यस्याः कृत्वा तांछिन्नबन्धनाम्
3. तदेव, ज्योतिरान्तरमासाद्य छिन्नग्रन्थिपरिग्रहः। परेण ज्योतिषैकत्वं छित्त्वा ग्रन्थीन् प्रपद्यते।।
4. मुण्डकोपनिषद्, 2.2.8.
5. ऋग्वेदः, 7.59.12.
6. वृषभदेवस्य पद्धतिः (वा.प., 1.12) पृ. 43 (अय्यरसंस्करणे)।
7. मुण्डकोपनिषद्, 3.2.9.
8. महाभारतम्, शान्तिपर्व, अध्यायः 23, श्लो.सं. 24.
9. मु. उपनिषद्, 1.7.
10. शाङ्करभाष्यम् (मु. उपनिषद्, 1.7) पृ.सं. 23.

[1]तैत्तिरीयब्राह्मणग्रन्थेऽपि शब्दात् सृष्टिप्रक्रिया सर्वथा परिलक्ष्यते। यथोक्तं तत्र—स भूरिति व्याहरत्। स भुवम् असृजत्। स भुवरिति व्याहरत् सोऽन्तरिक्षम् असृजत्। भर्तृहरिणा स्वोपज्ञवृत्तावप्यत्र विश्वोद्भवः वाग् द्वारा समुद्घोषितः। तद्यथा—वागेवविश्वाभुवनानि जज्ञे इति।[2] ऋग्वेदे तु वाणी जगदुत्पादिका समुद्घोषिता दृश्यते। यथोक्तं तत्र—

अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यै तावती महिना संबभूव॥[3]

[4]व्याख्यायामस्यां सायणस्त्वत्र—विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि कार्याणि आरभमाणा कारणरूपेणोत्पादयन्ती अहमेव परेणाधिष्ठिता। स्वमेव प्रवामि प्रवर्तते।

यथा तैत्तिरीयोपनिषदि वागुच्चारणेन सृष्टिः प्रोक्ता तथैव किल [5]बाइबिल ग्रन्थेऽप्यत्र परमात्मनाऽऽदिष्टं, प्रकाशः भवतु अथ च प्रकाशो जात इति।

वस्तुतः सर्गादौ शब्द एवाऽसीत्। स च सृष्टिकारकोऽपि। सर्गान्ते स एव शब्दः प्रतिलीयते। पश्यन्तीवाग्रूपमेव सृष्टिमूलकमपि। सर्वबीजप्रकृतिरिति पश्यन्त्येव सर्गान्ते तत् बीजं तस्यामेव वाचि प्रविलीयत इति।

भर्तृहरेः कारिकायामेवोद्घोषोऽयं विद्यते यत् संसारोऽयं शब्दब्रह्मणः परिणाम इति। तस्मादेव शब्दतत्त्वात् संसारस्याखिलचराचरं वस्तूत्पद्यते। तत्रैव इत्थमपि विचारः प्रस्तुतः विद्यते यत् प्राथम्येन वेदेभ्य एव सृष्टिर्जातेति। विश्वमेतत् तस्य शब्दतत्त्वस्य एव परिणामत्वेन सिद्धमिति। यथोक्तं तत्र—

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
छन्दोभ्यः एव प्रथममेतद् विश्वं व्यवर्तत॥[6]

इत्यनेनाप्यत्रावगम्यते यत् शब्दतत्त्वमेव जगतः सृष्टिकारणमिति। तदेव च सर्गप्रकृतिरिति। ब्रह्मरूपा पश्यन्ती वाक् सृष्टिमूला सर्वेषां शिल्पानां कलानामपि सर्वासां उपबन्धनीकारणभूता इत्यस्ति। वाग्रूपतावशादेव वस्तुमात्रं स्वस्वरूपेषु विभक्तं भवति। यथोक्तं भर्तृहरिणा—

सा सर्वविद्या शिल्पानां कलानां चोपबन्धनी।
तद्वशादभिनिष्पन्नं सर्वं वस्तु विभज्यते॥[7]

---

1. तैत्तिरीय ब्राह्मणग्रन्थः, 2.2.4.2–3।
2. स्वोपज्ञवृत्तिः (वा.प., 1.120)।
3. ऋग्वेदः, 10.125.8.
4. सायणभाष्यम्, (तदेव पृ.सं, 23)।
5. Bible, Old Testament, Genesis, chapter, 13, And God said let there be light and there was light.
6. वा.प., 1.120.
7. तदेव, 1.125.

शब्दतत्त्वमेव सर्वबीजमेव।[1] तत् बीजं सूक्ष्मत्वेन शब्दतत्त्वे तिष्ठति। यदा सिसृक्षात्मिका शक्ति:सृष्ट्यर्थं प्रयतते तदा सर्गः संभवतीति। पश्यन्ती वागेव सृष्टिमूला। इयं जगत्कारणभूता। शाब्दिकानां प्रकृतिप्रत्यययोः कल्पना चित्रैव खलु। प्रकृतिः माताऽस्ति प्रत्ययश्च पिता। सृष्ट्यर्थं मातापितरौ भवतः एव। तथैव चात्र प्रकृतिप्रत्ययौ खलु। सांख्यकारिकायामपि प्रकृतिपुरुष संयोगात् सृष्टिः प्रोक्ता। यथोक्तं तत्र–

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥[2]

सर्वे पदार्थाः घटपटादयश्च शब्दादेव समुद्भवन्ति। सर्गान्ते समस्तानि वस्तूनि सर्वे च पदार्थाः तस्मिन्नेव शब्दतत्त्वे विलीयन्त इति भावः। यथोक्तं तत्र–

ब्रह्मेदं शब्दनिर्माणं शब्दशक्तिनिबन्धनम्।
विवृतं शब्दमात्राभ्यस्तास्वेव प्रतिलीयते॥[3]

सर्गादौ कृत्स्नं व्यक्ताव्यक्तं जगत् पश्यन्त्यामेव वाचि कुण्डितं भवति। पुनश्च, सिसृक्षात्मिकाकालशक्त्या वशादेव जगदुत्पादिका कारणभूता बिन्दुरूपिणी पश्यन्ती वागेव सर्गोन्मुखा भवतीति भावः। अन्ते च अस्यामेव पश्यन्त्यां शब्दब्रह्मरूपायां कृत्स्नं जगत् प्रविलीयत इति।

शब्दब्रह्मणः प्रमुखा शक्तिः कालशक्तिर्विद्यते। अनयैव कालशक्त्या शब्दब्रह्म सृष्टिरचना-नाटकस्य सम्पादने भवति सक्षमम्। प्राप्ते ब्रह्मण्यपि शक्तिरियं नैव भवति शब्दब्रह्मणः पृथगिति भावः। इयमेव कालशक्तिः चर्कर्ति बर्भर्ति जर्हर्ति च जगत्। इदमेव कालतत्त्वं अहोरात्रं जनयति। संवत्सरं चापि द्वादशभागेषु विभनक्तीति। इयमेव विश्वजनिका शक्तिरिति। अस्ति जायते इत्यादयः षड्भावविकाराश्च अस्याः प्रभावदेव भवन्तीति। यथोक्तं तत्र–

अध्याहितकलां यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः।
जन्मादयो विकाराः षड् भावभेदस्य योनयः॥[4]

विविधशक्तयः अस्यामेव शक्त्यां समाविष्टाः सन्ति। एकमेव शब्दब्रह्म बहुरूपत्वेनानुभूयते [5]वैश्वरूपं यच्च दृश्यते तस्य कारणं कालशक्तिरेव। भर्तृहरेः कालशक्तिः स्वातन्त्र्येन प्रथिता खलु। यथोक्तं स्वोपज्ञवृत्तौ–[6]'कालाख्येन हि स्वातन्त्र्येण सर्वाः परतन्त्राः जन्मवत्यः शक्तयः समाविष्टाः कालशक्तिवृत्तिमनुपतन्ति।

---

1. तदेव, 1.4, एकस्य सर्वबीजस्य यस्य चेयमनेकधा।
2. सांख्यकारिका, 21.
3. स्वोपज्ञवृत्तौ (वा.प., 1.1) पृ.सं. 10.
4. हरिवृत्तिः (वा.प., 1.1) पृ.सं. 10, विवृतं शब्दमात्राभ्यस्तास्वेव प्रतिलीयते।
5. वृषभदेवस्य पद्धतिः (वा.प., 1.3) पृ.सं. 19, इदं वैश्वरूपं पदार्थानां येन संक्रममिव प्रतिभासते।
6. हरिवृत्तिः (वा.प., 1.3.) पृ.सं. 13 (पं. रघुनाथशर्मकृते संस्करणे)।

कालशक्त्याः किलावान्तरशक्तिद्वयमपि दृश्यते। प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञा चेति। एका शक्तिः करोति प्रतिबन्धं अपरा च करोत्यभ्यनुज्ञामिति। वृषभदेवः ब्रह्मकाण्डस्य व्याख्यायां कथयत्यत्र– [1]यथैकस्मिन् वृक्षे किसलयस्याभ्यनुज्ञापल्लवस्य प्रतिबन्धः। ततः किसलयस्य प्रतिबन्धः पल्लवस्याभ्यनुज्ञा।

उपर्युक्तेन कथनेनानेनावगम्यते यत् शक्तिद्वयस्य कारणेनैव प्राकृतिकपदार्थेषु पौवापर्यव्यवस्था सम्यक् प्रचलतीति भावः। अस्याः कालशक्त्याः व्यवस्थयैव युगपत् समुत्पत्तिर्वस्तुषु न दृश्यते। पूर्वं पुष्पं भवति ततः फलमिति। नैव युगपदुत्पत्तिरित्यत्र खलु। यथोक्तं भर्तृहरिणा[2]–

यदि न प्रतिबध्नीयात् प्रतिबन्धञ्च नोत्सृजेत्।
अवस्था व्याकीर्येरन् पौर्वापर्यं विना कृता॥

कालद्वारा सञ्चालनत्वादेव प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञयोः नैव भवति विरोध इति। भर्तृहरेः महती घोषणा विद्यते यत् कृत्स्नं जगत् कालशक्त्यधीनमेव। यथा सूत्रे प्रतिबद्धः पक्षी सूत्रस्यानुकूलेनोड्डयने सक्षमः भवति तथैव कृत्स्नं जगत् कालशक्तिसूत्रे प्रतिबद्धं विद्यत इति भाव। यथोक्तं तत्र भर्तृहरिणा[3]–

प्रतिबद्धाश्च यास्तेन चित्रा विश्वस्य वृत्तयः।
ताः स एवानुजानाति यथा तन्तुशकुन्तिकः॥

यथा नदीप्रवाहः तत्रस्थानि वस्तूनि यथेच्छं नयति तथैव कालशक्तिरपि कृत्स्नं जगत् यथेच्छं भ्रामयतीति भावः। यथोक्तं तत्र वाक्यपदीये[4]–

तृणपर्णलतादीनि यथा स्त्रोतोऽनुकर्षति।
प्रवर्तयति कालोऽपि मात्रा मात्रावतां तथा॥

कालशक्तिरियं सूत्रधारत्वेनापि प्रतिपादिता भर्तृहरिणाऽत्र। अस्याः कारणेनैव वैविध्यं रूपं वस्तुनः दृष्टिवर्त्मनि समायातीति। यथा प्रतिपादयत्यत्र भर्तृहरिः–

तमस्य लोकयन्त्रस्य सूत्रधारं प्रचक्षते।
प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां तेन विश्वं विभज्यते॥[5]

भर्तृहरिणा जटाख्या शक्तिरेका परिकीर्तिता खलु। शक्तिरियं समस्तं भावं कुण्ठितं कुरुते। अतएव जराख्येयं लोके ज्ञायते। यथोक्तं तत्र[6]–

1. पद्धतिः (वा.प., 1.3) पृ.सं. 19.
2. वा.प., 3.9.5.
3. वा.प., 3.9.15.
4. तदेव, 3.9.41.
5. तदेव, 3.9.4.
6. तदेव, 3.9.24.

जराख्या कालशक्तिर्या शक्त्यन्तरविरोधिनी।
सा शक्तिं प्रतिबध्नाति जायन्ते च विरोधिनः।।

व्याख्यायामस्यां हेलाराजस्त्वत्र[1]--जीर्यते भावोऽनयेति जरा नाम कालस्य शक्तिः।

उपर्युक्तेन मतेनानेनावगम्यते यत् कालशक्तिरियं[2] शब्दब्रह्मणः प्रमुखा शक्तित्वेनात्र विराजते। इयमेव यथेच्छं लोकं परिभ्रामयति। अस्या एव कारणात् विश्वं रूपं चित्रं प्रतिभाति। अभेदयुतं वस्त्वपि भेदयुतमिव प्रतिभासते इति। विश्वस्य साररूपा[3] कालशक्तिरिति। शब्दब्रह्मणः कालशक्तिरियं स्वेच्छया सर्गं जनयति। सर्गान्ते शब्दब्रह्मण्येव कृत्स्नं जगत् लीयत। शक्तिरियं न च कदापि शब्दब्रह्मणः पृथक् भवति। प्राप्ते ब्रह्मणि इयमपि तत्रैव विलुप्यते इति।



---

1. हेलाराजटीका (वा.प., 3.9.24) पृ.सं. 545 (पं. रघुनाथशर्मकृते संस्करणे)।
2. प्रसङ्गेऽस्मिन् मम लेखः 'भर्तृहरिमते कालशक्तिः', विश्वसंस्कृतम्, आषाढपौषमासस्य जूनदिसम्बरमासः 2000 द्रष्टव्य इति
3. भर्तृहरिः (हिन्दी अनुवादः) (अय्यरकृते) पृ.सं. 120

विवाहनिर्धारणे ग्रहमेलापकस्यानुशीलनम्

डॉ॰ रामबहादुरशुक्लः

आधुनिके उत्तर-आधुनिकतायुगेऽपि मानवः स्वकुल-गोत्ररीतिपरम्परा अथ च संस्कारान् सम्पादयत्येव। संस्काराः[1] तु षोडश भवन्ति[2], तेषां सम्पादनं गृहस्थाश्रमे एव संभवति। चतुर्षु आश्रमेषु यथा–ब्रह्मचर्यगृहस्थवानप्रस्थन्यासेषु गृहस्थाश्रम एव स श्रेष्ठाश्रमः मन्यते ऋषिभिः। यथा–मनुस्मृति-महाभारतयोः विवरणेन, स्पष्टोस्ति[3]। महर्षिणा दक्षेणापि निगदितं यत्–

पत्नीमूलं गृहं पुंसां यदिछन्दानुवर्तिनी।
गृहाश्रमात्परं नास्ति यदि भार्या वशानुगा।।
तया धर्मार्थकामानां त्रिवर्गफलमश्नुते।[4]

त्रिवर्गफलप्रदायिनी वशानुगा च भार्या केन विधिना मानवः प्राप्तुं शक्नोति, सर्वमिदं वरकन्ययोः ग्रहमेलापकस्यानुशीलनोपरान्ते एव दैवज्ञाःविचारयन्ति। अतएव विवाहसंस्कारस्य सम्पादनात् पूर्वं वरकन्ययोः अवश्यमेव ग्रहमेलापकस्यानुशीलनं करणीयम्।

1.
   A. संस्कारो नाम स भवति यस्मिञ् जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य। जैमिनिसूत्रम्-3.1.3, शबरटीका
   B. योग्यतां चादधानाः क्रियाः संस्काराः इत्युच्यन्ते। तन्त्रवार्तिकम्-पृ.10 78
   C. संस्कारो हि नाम गुणाधानेन वा स्याद् दोषापनयनेन वा। वेदान्तसूत्रम् 1.1.1.4 पर शांकरभाष्यम्
   D. वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकद्विजन्मनाम्।
   कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च।। मनुस्मृति 2.26

2. गर्भाधानपुंसवनसीमन्ता जातकर्म च।
   नामक्रियानिष्क्रमणेऽन्नाशनं वपनक्रिया।
   कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारंभक्रियाविधिः।
   केशान्तः स्नानमुद्वाहो विवाहाग्निपरिग्रहः।। – व्यासस्मृतिः 1.13-15
   विशिष्ट विवरण हेतुद्रष्टव्य, मनु. 2.16, याज्ञ. स्मृ. 1.10, मार्कण्डेय स्मृ. पृ. 25

3. यथा वायु समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
   तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः।। मनु. 3.77,
   यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
   तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्।। मनु. 6.90

4. दक्षस्मृतिः 4.1, 2

अद्यत्वे तु विवाहे[1] संस्कृतेरक्षा गौणतां प्राप्ता, केवलं च भयादेव, विशेषेण हिन्दूधर्मानुयायिनां मध्ये विवाहात् पूर्वं ग्रहमेलापकं क्रियते, यतो हि तस्मिन् समये-गृहस्थानां मनसि वरवध्वोः भविष्यं प्रति चिन्ता भवति। कन्या वरयते रूपं, माता वित्तं, पिता श्रुतम्, इत्यवधारणा तु प्राचीना पारम्परिकी,[2] च एवं च भारतवर्षे अधिकांशतः कन्यायाः पिता भ्राता अभिभावको वा स्वकन्यायाः पाणिग्रहणार्थं उत्तमोत्तमं वरमन्वेषयति। विवाहात् पूर्वमेव भवति वरकन्ययोः ग्रहमेलापकस्यानुशीलनम्, जन्मकुण्डलीमेलापकेन, तयोः निष्टकण्टकदाम्पत्यबन्धनस्य–पल्लवनार्थं वंशवृद्ध्यर्थं च। दैवज्ञैः जन्मनक्षत्रेण, जन्माङ्गेन, नाडीशोधनेन वा, या स्वकीया वैवाहिकसम्मतिः प्रदीयते, सा एव ग्रहमेलापकमिति संज्ञया लोके व्यवह्रियते। शास्त्रोक्तिरपि अस्ति यत्-वरकन्ययोः एकनाडी कथमपि न भवेत् एवं च द्वात्रिंशद् गुणेषु षोडशसंख्यातः न्यूना गुणाः कथमपि न स्युः।

यदि चेत् वरवध्वोः गुणानां संख्या षोडशसंख्यातः न्यूना, तदा तादृशयोः वरवध्वोः परस्परं विवाहः सर्वथा त्याज्यः। प्राचीनकाले भारतवर्षे विवाहानां प्रकाराः अष्टौ आसन्।[3] प्राजापत्यब्राह्म-दैवार्षगान्धर्वासुरराक्षपैशाच भेदात्। अष्टविधविवाहेषु प्रथमचतुर्विधविवाहार्थं ग्रहमेलापकमावश्यकमस्ति शास्त्रदृष्ट्या। तच्च गृहस्थैः वाग्दानात् पूर्वमेव विधातव्यम्। विवाहमेलापकस्य विचारणात् पूर्वमायुषः ज्ञानं करणीयम्।[4] अनन्तरमन्यानि लक्षणानि द्रष्टव्यानि, यतो हि आयुषं विना न भवति कस्यचिदपि प्रयोजनस्य सिद्धिः लक्षणानाम्।

भारतीयसंस्कृतेः परम्परानुसारं वरकन्ययोः गुणदोषादिकं यथारीतिमवगम्य पश्चात् उभयपक्षीयः जनो, द्वयोः जन्मकुण्डल्यावादाय शुभवासरे मुहूर्ते च कमपि दैवज्ञमासाद्य तयोः कुण्डलीमाध्यमेन स्थिरसन्ततिसुखसौभाग्यलाभनिमित्तानि ज्ञातुं यतते। तदेव ग्रहमेलापकनाम्ना उच्यते भारतीयपरम्परायाम्।[5] ज्योतिश्शास्त्रानुसारं तु ग्रहमेलापकं कूटादिभोगवशाद् विचार्यते। साम्प्रतं भारतेदशस्य सर्वेषु प्रान्तेषु अष्टकूटमाध्यमेन ग्रहमेलापकस्य गणना क्रियते। अष्टकूटाः वर्णवश्यतारायोनिग्रहमैत्रीगणभकूटनाड़ी चेत्याख्याः अष्टकूटाः भवन्ति, एवं यथाक्रममुत्तरोत्तरं प्रत्येककूटे एकैकस्य गुणस्य वृद्धिः भवति। यथा- **दैवज्ञमनोहरनाम्नि** ग्रन्थे वर्णनं प्राप्यते यत् वर्णस्य एकः, वश्यस्य द्वौ, तारायाः त्रयः योनेः

1. सहोभौ चरतां धर्ममिति वाच्यानुभाष्य च।
   कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः।। मनु. 3.30
2. ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। अथर्ववेद 11.5.18
   कियतो योषा मर्यतो बुधूयोः परिप्रीता पन्यसा वार्येण।
   भद्रा वधूर्भवति यत् सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्।। ऋ. 10.27.12
   ऋग्वेदे द्रष्टव्य- 10.85.26, 27, 1.51.13
3. ब्राह्मदैवार्षप्राजापत्यगान्धर्वासुरपैशाचराक्षसश्चेति।-गो. ध. 4.4.11, मनु. 3.29-36, या. स्मृ. 1.58-61, आश्व. गृ. सू. 1.6.1
4. पूर्वमायुः परीक्षेत पश्चाल्लक्षणमादिशेत्।
   निरायुषः कुमारस्य लक्षणैः किं प्रयोजनम्।। सामुद्रिक रहस्य, पृ.-44
5. दैवज्ञमनोहर, पृ. 82, विवाहवृन्दावन-पृ. 42

चत्वारः, ग्रहमैत्र्याः पञ्च, गणस्य षट्, भकूटस्य सप्त तथा च नाड्याः अष्टौ गुणाः भवन्ति।[1] गौतमऋषिः ब्राह्मणेभ्यः दशकूटाः, क्षत्रियेभ्यः अष्टौ कूटाः, वैश्येभ्यः षट्कूटाः तथा च शूद्रेभ्यः चत्वारः कूटाः विवाहविचारणार्थमुक्तवान्।[2] गौतमर्षिप्रोक्तकूटेषु नृदूरकूटः तथा च वल्लभकूटः सम्मिल्य षट्त्रिंशद् गुणाः अष्टकूटविचारे भवन्ति। नवकूटविचारे पञ्चचत्वारिशद् गुणाः तथा च दशकूटविचारे पञ्चपञ्चाशद् गुणाः भवन्ति, परन्तु साम्प्रतं सम्पूर्ण भारतवर्षे सर्वेभ्यः वर्णेभ्यः अष्टकूटाः एव विचार्यन्ते, नवकूटदशकूटविचारौ अप्रासङ्गिकं स्तः सामाजिकानां मध्ये।

अष्टकूटस्यान्तर्गते वर्णस्य निर्णयः प्रथमम्। तस्य गणना राश्याः आधारेण क्रियते। यथा–कर्कवृश्चिकमीनराशीनां विप्रवर्णः, सिंहधनुर्मेषराशीनां क्षत्रियवर्णः, तुलाकुम्भमिथुनानां वैश्यवर्णः, तथा च कन्यामकरवृषराशीनां शूद्रवर्णः भवति। मेलापकविचारे वरवर्णे उत्तमे सति दम्पत्योः उत्तमप्रेम भवति, तथा स्त्रीपुरुषवशंवदा समानवर्णत्वाद् द्वयोः प्रीतेरभावः, तथा सुखस्य हीनत्वं भवति। यस्मिन् मेलापके श्रेष्ठवर्णस्य कन्या तथा हीनवर्णस्य वरः प्राप्त स्यात्, तदा मेलापकदृष्ट्या परिणयः नैव कर्त्तव्यः। यतो हि तथात्वे स्त्रियः पत्युश्च विनाशः अवश्यम्भावी। शास्त्रेषु वर्णदोषस्य परिहारविषये निगदितमस्ति यत्, यदि वरस्य राशिवर्णाः कन्यायाः राशिवर्णात् हीनः स्यात्, परन्तु राशिस्वामी श्रेष्ठवर्णकः स्यात्, तदा वर्णमेलनं सम्पद्यते।[3] स्पष्टमस्ति यत् राशिवर्णवशात् दोषः विनश्यति, इत्येवं मतं दैवज्ञानाम्।

द्वितीयकूटस्य वश्यस्य निर्धारणं राशिवशात्क्रियते। **मुहूर्तगणपति**नाम्निग्रन्थे वर्णनं प्राप्यते यत्= कुम्भमिथुनकन्यातुलाः तथा धनुषः पूर्वार्द्ध भागः द्विपदवश्यः अर्थात् मानववश्यः भवति। सिंहवृषमेषधनुषः उत्तरार्द्धभागः तथा मकरस्य पूर्वार्द्धभागः चतुष्पदवश्यो भवति।[4] मकरराशेः उत्तरार्द्धः एवं च मीनराशिः जलचरवश्यो भवति। कर्कराशेः कीटः तथा च वृश्चिकराशेः सर्पः वश्यो भवति। स्पष्टमस्ति यत् सिंहराशिं विहाय समस्तराशयः पुरुषराशिवशगाः भवन्ति। जलजानि तद्भक्ष्याणि भवन्ति हि, तथा च वृश्चिकं विहाय सिंहवशगाः भवन्ति सर्वे। यथा–

---

1. नाडीभेदे गुणा अष्टौ सप्तसद्राशिकूटके।
   षड्गुणा ग्रहमैत्र्यां च सौहार्दे पञ्चखेटयोः
   योनिमैत्र्यां च चत्वारस्त्रयताराबले गुणाः।। दैवज्ञमनोहर, पृ. 92
2. विप्राणां दशकूटं स्यात्क्षत्रियाणां तथाष्टकम्।
   वैश्यानामथ षड्भेदं शूद्राणां च चतुष्टयम्।। दैवज्ञमनोहर, पृ. 102
3. हीनवर्णो यदाराशिः राशीशो वर्ण उत्तमः।
   तदा राशीश्वरो ग्राह्यस्तद्राशिं नैव चिन्तयेत्।। दैवज्ञमनोहर, पृ. 105
4. युग्मं कुम्भस्तुलाकन्या प्राग्दलं धनुषो द्विपात्
   परार्द्ध धनुषश्चैव पूर्वार्द्धं मकरस्य च।
   केशरी वृषभाख्यं च मेषश्चैते चतुष्पदः
   नक्रोत्तरदलं मीनो जलचारी प्रकीर्तितः।
   कर्कः कीकटसंज्ञश्च वृश्चिकस्तु सरीसृपः।। मुहूर्तगणपति-विवाहप्रकरण, 23, 24

सर्वे वश्याः नृजातेः स्युर्भक्ष्यास्तेषां जलोद्भवाः।
सिंहं हित्त्वाथ सिंहस्य वश्यास्ते वृश्चिकं विना।।[1]

वर्णवश्योरनन्तरं ताराकूटस्य विचारणं क्रियते। ताराकूटान्तर्गते नवताराः वर्णिताः सन्ति ज्योतिश्शास्त्रग्रन्थेषु जन्मसम्पदविपद्क्षेमप्रत्यरिसाध्यवधमैत्रात्रिमैत्रभेदात्। एतेषु तृतीयपंचमसप्तमतारा अशुभाः सन्ति। वरकन्ययो अन्योन्यं तृतीयपंचमसप्तमतारासद्भावात् प्रतिकूलप्रभावः प्रभवति। चतुर्थः योनिकूटस्य निर्धारणं तु अभिजितसहितनक्षत्रैः भवति। मुहूर्त**चिन्ता**मणिग्रन्थे प्रोक्तमस्ति-यत् अश्विनीशतभिषानक्षत्रयोः अश्वयोनिः, स्वातीहस्तयोः महिषः, धनिष्ठापूर्वाभाद्रपदयोः सिंहः, भरणीरेवत्योः हस्ती, पुष्यकृत्तिकयोः मेषः, श्रवणपूर्वाषाढयोः वानरः, उत्तराषाढाभिजितो नकुलः, रोहिणीमृगशिरानक्षत्रयोः सर्पः, ज्येष्ठानुराधयोः हरिणः, मूलाद्रयोः श्वा, पुनर्वस्वाश्लेषयोः मार्जारः, मघापूर्वाफाल्गुन्यः तथा च उत्तराभाद्रपदनक्षत्रस्य गौः इति।[2] अन्याः शत्रुयोनयः विवाहे त्याज्याः भवन्त्येव।

विवाहसमये उचितवरकन्याऽन्वेषणे विचारणीये च पंचमग्रहमैत्रीकूटस्य चिन्तनं क्रियते दैवज्ञैः। वेदाङ्गान्तर्गते समायाते ज्योतिश्शास्त्रस्यः बहुविधग्रन्थेषु ग्रहाणां मित्रामित्रविवरणं प्राप्यते। **जातकालङ्कारानुसारं** तु सूर्यस्य चन्द्रगुरुभौमाः मित्राणि सन्ति, बुधः समः तथा च शुक्रशनीशत्रू स्तः। चन्द्रमसः सूर्यबुधौ मित्रे शेषाः ग्रहाः समाः सन्ति। मङ्गलस्य गुरुसूर्यचन्द्राः मित्राणि, शुक्रशनीसमौ तथा च बुधः शत्रु अस्ति। बुधस्य शुक्रसूर्यौ मित्रे, मंगलगुरुशनयः समाः, चन्द्रः च शत्रुः भवति। गुरोः सूर्यचन्द्रभौमाः मित्राणि, शनिः समः, बुधशुक्रौ शत्रू भवतः। शुक्रस्य बुधशनी मित्रे, भौमगुरुसमौ तथा सूर्यचन्द्रौ शत्रू एवं च शनेः बुधशुक्रौ मित्रे, गुरुः समः तथा सूर्यचन्द्रभौमाः शत्रवः सन्ति।[3] स्मरणीयमस्ति यत् मैत्रीनैसर्गिकी तात्कालिकी च द्विधा भवति, किन्तु विवाहे सदा नैसर्गिकी मैत्री एव प्रशस्या भवति। परस्परं ग्रहाणां शत्रुतायाः स्थितौ दाम्पत्यजीवनं सर्वदा कलहपूर्णं भवति। अतएव विवाहे नैसर्गिकी मैत्री एव विचारयेत्, आप्नुयात् च। दैवज्ञानां इदमपि तमस्ति यत् कन्याविवाहे कुमारस्योपनयने च गुरुबलम् अवश्यं द्रष्टव्यम्।[4] यदा वरकन्ययोः राशीशः परस्परं मित्रं स्यात्, तदा पंचगुणाः समशत्रुत्वे, अर्धं सममित्रत्वे, चतुर्गुणा शत्रुमित्रत्वे, औदासिन्ये त्रयः गुणाः तथा च द्वयोः शत्रुत्वे शून्यगुणः प्राप्यते।

एकं तथ्यं नैव विस्मर्यते दैवज्ञैः, यदा षष्ठगणकूटस्य विचारणं भवति, तदा ते जानन्ति यत् गणानां संज्ञा नक्षत्राधीना एव वर्तते। गणः तु देवमानवराक्षसभेदात् त्रिधा भवति। **विवाहवृन्दावनमिति**ग्रन्थानुसारं पूर्वात्रयम् उत्तरात्रयं रोहिण्यार्द्राभरणीनक्षत्राणां मनुष्यसंज्ञकः गणः भवति। श्रवणस्वात्यनुराधापुनर्वसुपुष्य-

---

1. संस्कारचन्द्रिका पृ. 82, संस्काररत्नमाला, पृ. 460
2. मूहूर्तचिन्तामणि-विवाहप्रकरण, श्लोक-25, 26
3. जातकालङ्कार पृ. 7, 8
4. स्त्रीणां गुरुबलं श्रेष्ठं पुरुषाणां च रवेर्बलम्। पा. गृ. ग. भ.-1.16.4
   विवाहे बलमावश्यं दम्पत्योर्गुरुसूर्ययोः।
   चेत्पूजां यत्नतः कुर्याद्दुर्बलप्रदत्ता तयोः।। संस्काररत्नमाला. पृ. 465

हस्तरेवत्याश्विनीमृगाशिरानक्षत्राणां देवसंज्ञकः गणः भवति एवं च शेषचित्राज्येष्ठाधनिष्ठाविशाखामूल-कृत्तिकाशतभिषामघाश्लेषानक्षत्राणां राक्षससंज्ञकः गणः भवति।[1] प्रयोजनं चैतेषां यत् वरकन्ययोः गणौ यदि अन्योन्यं राक्षसमनुष्यौ भवतः, तदा मृत्युः भवति। राक्षसदेवयोः अत्यन्तं शत्रुता भवति। शेषेषु मैत्री एव ज्ञातव्या। कन्यावरयोः स्वगणेमिलापे सत्येव उत्तमा प्रीतिः जायते, अन्यथा तु न।[2]

अष्टकूटेषु सप्तमः भकूटोऽस्ति। भकूटनिर्णयः राश्यनुसारं भवति। भकूटः सप्तधा भवति।[3] समानराशिः समसप्तकः चतुर्थदशमः त्रिरेकादशः नवपंचमः तथा च षडाष्डकः इति। एतेषु प्रथमचतुर्भकूटाः उत्तमाः तथा शुभाः च भवन्ति, यदर्हि अन्ये त्रयः प्रतिकूलाः एवमशुभाः मन्यते दैवज्ञैः।[4] एकराशौ द्वयोः राशिस्वामिनो परस्परं मित्रयोगे वा एकाधिपत्योगे दुष्टोऽपि भकूटः शुभदः भवति। अष्टकूटेषु नाडीकूटः शीर्षस्थः महत्तमः चास्ति। अन्येषां कूटानां केनापि परिहारादिप्रकारेण अशुभतास्यान्नाम स्वीकरणीयाः, किन्तु नाडीशुद्धिः सर्वदा सर्वथा चापेक्षते। महर्षिगर्गानुसारं ग्रहमेलापके शुभनाडीग्रहणं कृत्वैव मेलापकं समुचितं भवति। यतः ब्रह्मणा कन्याकण्ठसूत्रमेव एतन्निर्मितमस्ति। यथा-विवाहे मंगलार्थं विवाहपुष्टिकरणार्थं च मंगलसूत्रमावश्यकं भवति, तथैव नाडीकूटस्योऽपि आश्रयणमपि आवश्यकम्। नाडीकूटस्य वर्गीकरणं नक्षत्रमाश्रितमस्ति। ज्येष्ठामूलार्द्रापुनर्वसूत्तराफाल्गुनीहस्त-शतभिषापूर्वाभाद्रपदाश्विनीनक्षत्राणां गणना आदिसंज्ञकनाडी एवं च पुष्यमृगशिराचित्रानुराधा भरणीधनिष्ठापूर्वाषाढ़ापूर्वाफाल्गुनी नक्षत्राणां तथा च उत्तराभाद्रपदनक्षत्रस्य मध्यनाडी अथ च शेषनवनक्षत्राणां अन्त्यनाड़ीसंज्ञा भवति। आचार्यवराहमिहिरानुसारेण[5] मुहुर्तचिन्तामणिकारस्यानुसारेण च वरकन्ययोः नाड्यैकत्वे सति विवाहः अशुभः अमंगलकारी च भवति।[6] यदि नाडीदोषे सति नाडीवेधोऽपि स्यात् तर्हि कथमपि विवाहः नैव करणीयः। यदि बेधाभावरेव स्यात्, न तु नाडीदोषः, तदा विवाहः कथमपि भवितुं शक्नोति। नाडीवेधः नक्षत्रचरणाधारिणः भवति, एवं च प्रत्येकनक्षत्रे चत्त्वारश्चरणाः भवन्ति। नरपतिजयचर्यामुहूर्तचिन्तामण्यानुसारं च कन्यायाः वरस्य वा परस्परं प्रथमचरणस्य चतुर्थचरणेन सह,

---

1. विवाहवृन्दावन, पृ. 52-52
2. स्वगणे चोत्तमा प्रीतिः मैत्रीस्यान्नरदेवयोः।
   असुरामरयोर्वैरं मृत्युर्मानुषरक्षयोः।। इति।-विवाहवृन्दावन् पृ. 60
3. वर्णो वश्यं तथा तारा योनिश्च ग्रहमैत्रकम्।
   गणमैत्रं भकूटञ्च नाडी चैते गुणाधिकाः।। मुहूर्तचिन्तामणि-विवाह प्रकरण श्लोक, 21
4. एकराशौ महाप्रीतिश्चतुर्थदशमे सुखम्।
   तृतीयैकादशे वित्तं सुप्रजा समसप्तके।।
   षट्काष्टके मृतिर्ज्ञेया पंचमेत्वनपत्यता।
   नैस्वं द्विर्द्वादशेन्येषु दम्पत्योः प्रीतिरुत्तया।।- विवाहवृन्दावन-पृ.60
5. आद्येकनाडीकुरुते वियोगं मध्याख्यनाड्यामुभयोर्विनाशनम्।
   अन्त्ये च वैधव्यमतीव दुःखं तस्माच्च तिस्रः परिवर्जनीयाः।। वृ. सं., पृ. 215
6. एकनाडीवियोगश्च गुणैः सर्वै समन्वितः।
   वर्जनीयः प्रयत्नेन दम्पत्योनिर्धनप्रदः।। मु. चि. पीयूष टीका. पृ. 172 एवं द्रष्टव्य मु. चि. विवाहप्रकरण श्लोक. 34

द्वितीयस्य तृतीयेन सह वेधो भवति।[1] अतएव अयं त्याज्यः। नाडीदोषं प्रति**विवाहकुतूहलनाम्नि** ग्रन्थे कथितमस्ति, यत् शुक्रगुरुबुधेषु यदि वरकन्ययोः राशिनाथः मेलापके एकलः स्यात् तर्हि दैवज्ञैः यत्नपूर्वकं नाडीदोषः नैव वक्तव्यः।[2]

विवाहे वरकन्ययोः गुणानामपि मेलनं भवति, एवं च साकल्येन गुणानां योगः षट्त्रिंशत्संख्याकः एव लभ्यते। विवाहे आषोडशगुणाः निन्द्यः, आविंशतिगुणाः मध्यमः एवं च आत्रिंशद्गुणाः श्रेष्ठः, ततोधिकः उत्तमोत्तमः कथितोऽस्ति ज्योतिषविशारदैः। यथा–

गुणैः षोडशभिर्निन्द्यं मध्यमं विंशतिस्तथा।
श्रेष्ठं त्रिंशदगुणं यावत्परस्तूत्तोत्तमम्।।[3]

विवाहे नाडीदोषवेधयोः गुणविचारानन्तरं जन्माङ्गे मंगलीकविचारो अपि भवति। मंगलग्रहस्य विचारः जन्माङ्गात् चन्द्राङ्गात् च उभयथा करणीयोऽस्ति। मंगलीजातकविषये ज्योतिषविशारदानां मतमस्ति यत् लग्नात् चन्द्रात् वा मंगलग्रहस्य प्रथमद्वादशचतुर्थसप्तमाष्टमस्थानेषु स्थितौ सत्यां मंगलीदोषो भवति। अयं दोषः परस्परं एकत्रकुण्डल्यां स्यात्, परत्र कुण्डल्यां न स्यात्, तदा कन्यावरस्य तथा वरः कन्यायाः विनाशको भवति, किन्तु यदि द्वयोः कुण्डल्यां तादृशभौमस्थितौ सति, मंगलीदोषस्य सर्वथा परिहारो भवति। यस्मिन् मेलापके भौमतुल्यः भौमः वा तत्प्रकारकः पापग्रहः भवति, तदा विवाहः शुभफलदायी भवति एवं च कन्यावरौ दीर्घायुष्यः पौत्रपुत्रादिभिः सम्पन्नौ भवतः।[4] यथा–

भौमतुल्यो यदा भौमः पापो वा तादृशो भवेत्।
उद्वाहः शुभदः प्रोक्ताश्चिरायुः पुत्रपौत्रदः।।[5]

दैवज्ञानामिदमपि मतमस्ति यत् मंगलग्रहः यदा अशुभ स्थानेषु स्थितः सन् गुरुणा द्रष्टः स्यात्, तदा मंगलीदोषस्य प्रभावः न्यूनः भवति। एवं च भौमः तु कालपुरुषस्य बलरूपेण निगदितमस्ति

---

1. वेधो द्वादशनाडीभिः कर्त्तव्यः पन्नगाकृतिः।
   आद्यांशेन चतुर्थांशं चतुर्थांशेन चादिमम्।
   द्वितीयेन तृतीयं तु तृतीयेन द्वितीयकम्।।
   एवं भांशव्यधो येषां जायते वरकन्ययोः।
   तेषां मृत्युर्न संदेहः शेषांशाः स्वल्पदुष्टदाः।। नरपतिजयचर्या, नाडीचक्रप्रकरण श्लोक. 21, 22
2. शुक्रेजीवे तथा सौम्ये एकराशीश्वरो यदि।
   नाडीदोषो न वक्तव्यः सर्वथा यत्नतो बुधैः।। विवाहकूतूहल. पृ. 127
3. लग्ने व्यये च पाताले यामित्रचाष्टमे कुजे।
   कन्याभर्तृविनाशाय भर्तृकन्या विनश्यति।। विवाहकूतूहल. पृ. 131
4. यामित्रे च यदा सौरि लग्ने च हिबुकेऽथवा।
   अष्टमे द्वादशे वापि भौमदोषोविनाशकृत्।। बृहद्ज्योतिश्सार–पृ. 158
5. ज्योतिर्निबन्धावलि–पृ. 54

वराहमिहिरेण बृहज्जातकनाम्नि ग्रन्थे।[1] यथार्थमस्ति यत् संसाररथचक्रस्य संचालने वरः कन्या च द्वावपि चक्रभूतौ स्तः। यतो हि अयं संसारः नारीनरयोः द्वयोः योगं विना नैवं संचालितुं शक्तः। अस्यां स्थितौ यदि द्वयोः चक्रयोः परस्परं समर्थकत्वपूरकत्वप्रभृतितत्त्वापहानिः स्यात्, तदा न भवति संसारस्य संसरणं संभवम्, किन्तु यदि द्वयोः चक्रयोः समुचितं सन्तुलनं स्यात्, तदैव जीवनयापनं ससुखं भविष्यति, अन्यथा तु न। वस्तुतः सुखदुःखे द्वितये परस्परं पूरकत्त्वेन स्वीकृते स्तः। एकं विना परस्य आस्तित्वमपि सन्दिग्धं भवति। अतएव वरकन्ययोः मेलापकं आवश्यकमस्ति विवाहपूर्वे विवाहनिर्धारणे वा।

वरकन्ययोः कुण्डलीमेलापके वर्णगणयोः चिन्तनमपि अवश्यमेव क्रियते।[2] ज्योतिश्शास्त्र-विवरणानुसारं यदि कश्चन् जातकः अश्विनीनक्षत्रे जातोऽस्ति, तदा स क्षत्रियवर्णः, चतुष्पदवैश्यः, अश्वयोनिः, देवगणः, आदिनाडिकः च भवति। भवतीयं प्राकृतिकी प्रक्रिया, यतो ही मानवः स्वपूर्वजन्मविपाकवशात् तादृशमेव स्वाभाविकं वैशिष्ट्यमादाय जन्म लभते। ब्राह्मणकुलजातस्य मनुष्यस्य यदि जन्मनक्षत्रमश्विनी विद्यते, तर्हि सः वर्णेन क्षत्रियः भवति। अत्रप्रश्नः समायाति? यत् नाडीदोषस्तु विप्राणाम् इतिदिशानुसारं कुण्डलीमेलापकं विधातव्यम् अथवा नक्षत्रवशात्? क्षत्रियवर्णत्वात् क्षत्रियवर्णः ध्यातव्यः भवति। अत्र एतदपि ध्यातव्यमस्ति यत् किं ब्राह्मणकुलजन्मत्त्वादेव मेलापके ब्राह्मणवर्णस्य स्वीकरणं समुचितमस्ति? यदि कस्मादपि कारणात् ब्राह्मणकुलस्वजातिं परिवर्तते चेत्, तदा तस्य भाविनीसंततिः कस्यां श्रेण्यां स्वीकरिष्यते? सम्भवतः इदमेव कारणमस्ति, यदधुना इयमाधारमवलम्ब्य कुण्डलीमेलनं क्रियते, ततः सर्वथा सत्यं फलं नोपलब्धं भवति, सहैव लोके शास्त्रनिन्दाऽपि भवति। अस्तु इदं तर्कसंगतं भविष्यति यत् नक्षत्रानिपाकेन यत् किमपि अस्ति, तदेव सुनिश्चितं सुस्थिरं चास्ति। यतो हि नक्षत्रवशात् ब्राह्मणकुलोत्पन्नोऽपि जातकः क्षत्रियगुणैः सम्पन्नो भवत्येव यथा–परशुरामविश्वामित्रौ आस्ताम्, आचारोऽपि तत्सादृश्यं बाहुल्येन भजते एव।

यदा कदा कुण्डलीमेलनान्तरं गुणेषु शोभनेषु सत्स्वपि वैधव्यविधुरश्च दोषः आपतति, तदा ज्योतिश्शास्त्रं दैवज्ञं प्रति च लोकस्य अनास्था भवति लोके, इति सत्यम्। ध्यातव्यं भवत्यत्र यदि एतस्यानर्थस्य कारणं मेलापके कश्चन् दोषः तु न विद्यते? स्यान्नाम! एवमेव तर्कस्तु इदमेव साधयति। इदानीं प्रश्नोऽयमुज्जृम्भते जागर्ति वा मनसि, यत् यदि स्यात् विजातीयविवाहः, गान्धर्वविवाहरूपे, तदा कस्य विचारस्य औचित्यं भवति? अस्मिन् प्रसङ्गे **मुहूर्तचिन्ता**मणिकारस्य मतं समीचीनं प्रतिभाति यत् ''नक्षत्रादिकं वर्णादिकमाश्रित्य वरस्य वर्णादिकं ध्यात्वा, कन्यायाः वर्णादेः अधिकं ग्रहणं कर्त्तव्यं विधिसम्मतं भवति। यथा-वरस्य वर्णतोऽधिकावधूर्नशस्यते बुधैः।'' परन्तु कोऽपि माहात्म्यं न हि विद्यते ज्योतिश्शास्त्रं प्रति गान्धर्वविवाहकर्मकराणाम्, इति सत्यम् आधुनिके युगे।

---

1. कालात्मा दिनकृन्मनस्तुहिनगुः सत्त्वं कुजो ज्ञो वचो।
   जीवो ज्ञानसुखे सितश्च मदनो दुःखं दिनेशात्मजः।।-बृहज्जातक, पूर्वार्द्ध 2/1
2. नाडीदोषस्तु विप्राणां वर्णदोषास्तु क्षत्रिये।
   गणदोषश्च वैश्येषु योनिदोषस्तु पादजे।। – वृहद्ज्योतिस्सार, पृ. 177

अर्वाचीनयुगेऽपि विवाहपूर्वे सम्बन्धस्य निश्चितार्थं ग्रहमेलापकस्य कुण्डलीमेलनस्य च व्यवस्था विद्यते अस्माकं भारतवर्षे, तादृशी व्यवस्था पाश्चात्य देशे न हि प्राप्यते, एतदेवकारणं यत् तत्र विवाहसम्बन्धविच्छेदस्य विविधाः दृष्टान्ताः विद्यन्ते, अद्यापि भवन्ति च परन्तु पाश्चात्यसमाजे विवाहादौ रक्तसमूहस्य परीक्षणं तथा च आनुवंशिकीपरामर्शस्य प्रथा तु प्रचलत्येव। अधुनापाश्चात्यप्रणालिमाश्रित्य भारतवर्षेऽपि किञ्चित्रूपेण विवाहसम्बन्धः स्वीक्रियते। स्पष्टमस्ति यत् शास्त्रीयपद्धतौ अस्माकं आस्था ह्रासपरा अस्ति, तथापि स्वजातकस्य दाम्पत्यजीवने न कश्चन् कष्टो भविष्येत् भविष्ये, इति विचिन्त्य भारतीयाः ग्रहमेलापकं विवाहनिर्धारणपूर्वे तु कुर्वन्तु एव। विवाहपश्चात् या सन्ततिः जायते सापि पित्रोः रक्तस्य साभिन्ना परिणतिः भवत्येव, यतो हि यदि पितुः रक्तःसमूहः 'ए' इति विधो तथा च मातुः 'बी', तदा सन्ततौ ए, बी, ओ प्रभृतिरक्तसमूहस्य सम्भावना, सम्भाव्याः सन्ति। वांशिकी विशेषता अपि मातुः पितुर्वा द्वावपि स्वास्मिन् संयोज्य रक्षति, एवं च वंशपरम्परया दोषगुणादिकं जातकोऽपि दायरूपेण प्राप्नोति। यदि कन्यावरयोः क्वापि नाडीदोषोऽस्ति, तथा द्वयोः अन्त्यनाडीविद्यते, तदा अन्त्यनाडीवशात् द्वयोरपि कफप्रकृति भवति। एवं च या सन्ततिः जायते, तत्रानुपातादधिकं वातकफपित्तेषु त्रिदोषेषु कफप्रकृतिः दायरूपेण लभते। यथा रक्तस्य त्रयः समूहाः ए. बी. ओ. कृताः सन्ति तथैव आदिमध्यान्तनाडिकाः अपि सन्ति। यथा अन्त्यनाडिकायां कफप्रकृतेः क्रोमोसोमनामतत्त्वमस्ति, तथैव क्रमशः मध्यमायां तथा आदिनाडिकायां वातस्य एवं पित्तस्य क्रोमोसोमतत्त्वं लभ्यते, एवं च स्वभावतः एव एतेषां बाहुल्येन अल्पत्वेन च आनुसंगिकविसंगतयः सम्भाव्यन्ते। कन्यावरयोः दाम्पत्यजीवनं कुण्डलीमेलनेन तथा च मेलापकगुणसंस्कारवशात् सहजमेव कश्चन ज्योतिर्विद् ज्ञातुं शक्नोति।

ग्रहमेलापकं गणितविधिना सम्पाद्यते, अतएव यदपि त्रुटेः सम्भावना अल्पीयसी भवति तथापि पूर्णता तु नैवास्ति सम्भवा, परन्तु ग्रहमेलापकेन शुभाशुभगवेषणायाः संकेतः तु प्राप्यते एव विवाहनिर्धारणे। साम्प्रतिकसमाजे गान्धर्वविवाहस्य प्रेमाविवाहस्य वा परम्पराऽपि प्रचलिता, तस्मिन् विवाहे तु ग्रहमेलापस्यानुशीलनं तु नैव भवति, एतदेव कारणं वर्तते, यत् प्रेमविवाहस्यासाफल्यं प्रायः दृश्यते लोके, यदि एतस्य विवाहस्य पूर्वेऽपि ग्रहमेलापकं क्रियेत चेत् तर्हि अयमपि विवाहः भ्रंशनं नाप्नोत्। विवाहसंस्कारः तु अतीव प्राचीनः ऋग्वेदेऽपि वर्णनं प्राप्यते यत् मनोरमा रूपमण्डना कन्या स्वयमेव सुसज्जयित्वा वरं चिनोति।[1] वरोऽपि स्ववेशभूषया सौन्दर्येण च कन्यकां स्वां प्रति आकर्षयति[2], तस्मिन् समये कन्यकानां सौन्दर्यनिरूपणं पूर्णप्रतिष्ठां च अप्राप्नोत्।[3] सूत्रस्मृतियुगेऽपि च लक्षणसम्पन्नं

---

1. अद्दा अर्भा महते वचस्यवे कक्षीवते वृचयामिन्दु सुन्वते।
   मेनाभवो वृषणश्वस्य सुक्रतो विश्वेत् ता ते सवनेषु प्रवाच्या।। ऋ. 1.51.13
   पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्याऽश्विना त्वा प्रहतां रथेन।
   गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनीत्वं विदथमा वदासि।। ऋ. 10.85.26
   एवं ऋग्वेदः 10.27.12, 1.126.6-7, 10.85.27
2. ऋग्वेद 1.115.2, अथर्ववेद - 2.30, 3.25
3. स्वयमेव हि योषां प्रशंसन्ति पृथुश्रोणिं विमृष्टान्तरा सा मध्ये संग्राह्येति। श.ब्रा.1.2.5.16

स्वस्थजनं वररूपेण चयनीय इति स्पष्टं विहितम्।[1] महर्षिः याज्ञवल्क्यः अपि अकथयत् यत् गुणवन्तं वराय एव कन्या प्रदेया, वरोऽपि च गुणयुक्तो भवतेः।[2] स्मृतिचन्द्रिकायां यमस्योक्तिरपि प्राप्यते यत्–

कुलं च शीलं च वपुर्वयस्य विद्यां च वित्तं च सनाथतां च।
एतान्गुणान्सप्त परीक्ष्य देया कन्या बुधैः शेषमचिन्तनीयम्।।[3]

विवाहपूर्व कन्यकानां बाह्याभ्यन्तररूपेण परीक्षणस्य सम्मतिः याज्ञवल्क्यमनुस्मृति-वात्स्यायनप्रभृतिमहर्षयः ददति, परन्तु साम्प्रतिके इदं परीक्षणं असमीचीनम् अप्रासंगिकमपि वर्तते भारतीयसमाजे, केवलं विवाहसम्बन्धनिर्धारणपूर्वे ग्रहमेलापस्यानुशीलनमेव भवति, यो अतीव प्रासङ्गिकः समीचीनः, लाभदायी चापि वर्तते, सफलदाम्पत्यसम्बन्धनिर्वाहे च। मुहूर्तचिन्तामणिकारोऽपि अकथयत् यत्--

भार्या त्रिवर्गकरणं शुभशीलयुक्ता, शीलं शुभं भवति लग्नवशेन तस्याः।
तस्माद् विवाहसमयः परिचिन्त्यते हि, तन्निघ्नतामुपगताः सुतशीलधर्माः।।[4]



1. आपस्तम्ब गृ.सू. - 1.3.20
2. याज्ञवल्क्य स्मृति - 1.35
3. याज्ञ - स्मृ. - 1.55
4. मुहूर्तचिन्तामणि - विवाह प्रकरण, श्लोक - 01

प्रो. वेदकुमारी घई, संस्कृतविभाग और सहयात्री प्राध्यापकगण

प्रो. रामप्रताप

प्रो. वेदकुमारी घई

प्रो. वेदकुमारी घई का जन्म 16 नवम्बर 1932 जम्मूकश्मीर राज्य के जम्मूनगर में हुआ। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा इसी नगर में हुई किन्तु अपनी उच्चशिक्षा की प्राप्ति के लिए इन्हें जालन्धर शहर और वाराणसी जाना पड़ा था क्योंकि उन दिनों इस नगर में ऊँची श्रेणियों की पढ़ाई के लिए व्यवस्था नहीं थी। संस्कृत और प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति में एम.ए. उपाधियाँ प्राप्त करने के अनन्तर इन्होंने संस्कृत में पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। इन्होंने नीलमतपुराण (सांस्कृतिक अध्ययन एवं अनुवाद अंग्रेज़ी भाषा में) आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की। इन्हें विभिन्न संस्थाओं और सरकार से अनेक पुरस्कार प्राप्त हुए हैं जिनमें राष्ट्रपतिसम्मान पुरस्कार (भारत सरकार) प्रमुख है। इन्होंने बालसेवा, महिलासेवा, खादी ग्रामोद्योग, प्राकृतिकचिकित्सा और शिक्षा आदि क्षेत्रों में उल्लेखनीय कार्य किया है।

संस्कृत के अध्यापन क्षेत्र में प्रोफेसर घई ने सन् 1953 में पदार्पण किया। उस वर्ष इनकी प्रथम नियुक्ति महारानी महिला कॉलेज परेड ग्राउण्ड में हुई थी। बाद में इस संस्था का नाम गवर्नमैण्ट कॉलेज फॉर वोमेन हो गया था। इसके अनन्तर इन्होंने जम्मू और श्रीनगर के अनेक कॉलेजों में अध्यापन कार्य किया। डॉ. सरला खोसला, मिस एस. डब्ल्यू. शाह, मिस महमूदा अली शाह और डॉ. कृष्णा मोहन जैसी सुयोग्य प्राचार्याओं के निर्देशन में इन्हें संस्कृत पढ़ाने का अवसर मिला। बी.ए. श्रेणी में पढ़ाई गई इन छात्राओं में सुश्री सुषमा चौधरी (रिटायर्ड आई.ए.एस.) प्रो. कुसुम गुप्ता, प्रो. चम्पा शर्मा एवं प्रो. रीता जितेन्द्र प्रमुख हैं। महिला कॉलेज परेड ग्राउण्ड की पत्रिका द्विगर्त की भी ये मुख्यसम्पादिका रहीं थीं।

5-10-1962 में जम्मू-कश्मीर विश्वविद्यालय श्रीनगर में स्नातकोत्तर संस्कृतविभाग खोला गया किन्तु कुछ मासों के बाद सन् 1963 में यह संस्कृतविभाग जम्मू में स्थानान्तरित हो गया। प्रो. वेदकुमारी घई की नियुक्ति विभागाध्यक्षा के रूप में की गई और प्रो. शम्भुनाथ शास्त्री को उनके सहयोगी के रूप में नियुक्त किया गया। अगले वर्ष सन् 1964 में डॉ. कौशल्या वल्ली और डॉ. रामप्रताप भी इस विभाग में नियुक्त होकर आ गये।

इसके अनन्तर 22 जून सन् 1975 में डॉ. चम्पा शर्मा की प्रवक्त्री के रूप में संस्कृतविभाग में नियुक्ति हो गई। तदनन्तर डॉ. महेशचन्द्र शर्मा, डॉ. उमा पाण्डेय, डॉ. शारदा गुप्ता, डॉ. रमणीका

जलाली, डॉ. जागीरसिंह, डॉ. केदारनाथ शर्मा एवं डॉ. पुरुषोत्तम शर्मा की नियुक्ति होने से विभाग का विस्तार हो गया। प्रो. घई के निर्देशन और नेतृत्व में इन सहयात्रियों ने बड़ी निष्ठा और लगन के साथ काम करके इस विभाग का नाम न केवल भारत में अपितु विदेशों में भी फैलाया। स्वयं प्रो. वेदकुमारी तथा इनके सहयोगियों ने इंग्लैण्ड, डेनमार्क और चैकोस्लावेकिया आदि देशों में जाकर संस्कृत भाषा का प्रचार किया। इस विभाग के प्राध्यापकों ने न केवल जम्मू कश्मीर प्रान्त में अपितु इस प्रदेश से बाहर भारत के सभी प्रान्तों में संस्कृत सम्बन्धी विभिन्न कार्यक्रमों में सम्मिलित होकर अपना विशिष्ट स्थान बनाया है। 31 दिसम्बर, सन् 1991 में प्रो. घई जम्मू विश्वविद्यालय की सेवा से निवृत्त हो गई थीं किन्तु आज भी ये उत्साहपूर्वक संस्कृत और समाज की सेवा के कार्यों में लगी हुई हैं। फल की आशा छोड़कर कर्म करते रहने में ही ये विश्वास रखती हैं। 1 सितम्बर से 5 सितम्बर 2009 तक जापान में सम्पन्न हुए विश्वसंस्कृत संस्कृत सम्मेलन में इन्होंने सक्रिय भाग लिया और कविसम्मेलन में कवितापाठ किया।

दक्षिणा सरलोदारा परछन्दानुवर्तिनी।
उदात्तगुणसंयुक्ता नैकशास्त्रविशारदा।
नित्यं वेदकुमारीयं जम्मूकश्मीरवासिनी।
सूरसरस्वतीभक्त्यां यापयति स्वजीवनम्॥

संस्कृतविभाग

स्वर्गीय प्रो. वासुदेवशरण अग्रवाल प्रायः कहा करते थे–स्वराज्यसम्पन्नदेश में हम जिस प्रकार ऊँचे धरातल पर लोककल्याण, चरित्रनिर्माण, विश्वप्रेम, कलात्मक संस्कृति एवं आध्यात्मिक जीवन की बात सोचते हैं उसका पञ्चायतनी देवमन्दिर संस्कृतसाहित्य है। इस ज्ञानमन्दिर में प्रवेश करने का जन्मसिद्ध अधिकार हमें प्राप्त करना चाहिए। प्रोफेसर अग्रवाल के ये वचन न केवल संस्कृत भाषा से सम्बद्ध व्यक्ति के लिए अपितु विश्व के समस्त प्रबुद्ध व्यक्तियों के लिए पथ प्रदर्शक एवं प्रेरणादायक हैं। यह बड़े सन्तोष एवं हर्ष का विषय है कि स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग के प्राध्यापक एवं छात्र इस विभाग के प्रारम्भ काल से लेकर अब तक संस्कृत भाषा की अभ्युन्नति के कार्य में लगे हुए हैं। सन् 1964 में संस्कृत विभाग के अध्यापकों तथा छात्रों की एक सभा का गठन किया गया जिसका नाम संस्कृतपरिषद् रखा गया। प्रारंभ से लेकर अब तक इस संस्कृतपरिषद् के तत्त्वावधान में संस्कृतविभाग के प्राध्यापक तथा छात्रगण प्रतिवर्ष संस्कृतदिवस (इसका प्रारम्भ सन् 1976 में किया गया) सत्रारम्भ, सत्रसमापन, कालिदासजयन्ती, संस्कृतसमूहगानप्रतियोगिता, श्लोकपाठप्रतियोगिता, ज्ञानविस्तारभाषण तथा सङ्गोष्ठियों का आयोजन तथा संस्कृत नाटक और भावनृत्यादियों का मञ्चन किया जाता रहा है। संस्कृतपरिषद् द्वारा आयोजित इन तीन प्रकार की प्रतियोगिताओं में भाग लेने के लिये जम्मू के विद्यालयों, महाविद्यालयों तथा श्रीरणवीर केन्द्रिय संस्कृत विद्यापीठ (मानित विश्वविद्यालय) के छात्र बड़े उत्साह के साथ आते रहे हैं। इन अवसरों पर प्रदत्त चल विजयोपहार तथा व्यक्तिगत पुरस्कारों को प्राप्त करके उनका उत्साहवर्धन होता रहा

है। जम्मू नगर तथा इसके आसपास के क्षेत्रों में संस्कृत भाषा का प्रचार हुआ है। संस्कृत विभाग के छात्र उज्जैन हरिद्वार, खन्ना और होशियारपुर आदि नगरों में विभिन्न संस्थाओं द्वारा आयोजित प्रतियोगिताओं में भाग लेकर वहाँ से चलविजयोहार और व्यक्तिगत पुरस्कार प्राप्त करते रहे हैं। संस्कृत विभाग और संस्कृत परिषद् द्वारा आयोजित इन कार्यक्रमों की अध्यक्षता करने के लिए भारत सरकार के केन्द्रिय मंत्री, जम्मूकश्मीर प्रान्त के राज्यपाल, मुख्यमंत्री, मन्त्री और शासनाधिकारी भी पधारे हैं। बाहर के विभिन्न प्रान्तों से आने वाले प्रो. वासुदेवशरण अग्रवाल, प्रो. फिन थीसेन (डेन्मार्क) प्रो. मोर्गेन राथ (जर्मनी) प्रो. इकारी (जापान) प्रो. गोपिकामोहन भट्टाचार्य, डॉ. रामकरण शर्मा, प्रो. पी.एन. कोठेकर, प्रो. रामचन्द्र द्विवेदी, प्रो. ब्रजबिहारी चौबे तथा प्रो. सत्यव्रत शास्त्री आदि लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् संस्कृत विभाग के विविध समारोहों में सम्मिलित होकर निष्णात विद्वानों, शिक्षाविदों और साधारण जनता को अपने विचारों से लाभान्वित करते रहे हैं।

सन् 1977 में प्रो. जगन्नाथ अग्रवाल के सभापतित्व में जम्मू विश्वविद्यालय के एम. ए., एम्. फिल् तथा पी एच.डी. परीक्षोत्तीर्ण प्राक्तन छात्रों की एक सभा तौषीधारा की स्थापना की गई। सन् 1987 में डॉ. रमाकान्त आङ्गिरस की अध्यक्षता में संस्कृतविभाग के शोधछात्रों की शोधसंस्था संस्कृतशोध परिषद् का गठन किया गया। इन दोनों सभाओं ने संस्कृतपरिषद् का सहयोग करके संस्कृतविभाग की गतिविधियों को आगे बढ़ाया है। संस्कृतविभाग की संस्कृत परिषद् की ओर से विगत दशाब्दियों में खेले जाने वाले नाटकों की तालिका इस प्रकार है-

महाकवि कालिदास विरचित तीन नाटक 1. अभिज्ञानशाकुन्तल (वर्ष 1964, 65, 68, 69, 1971, 74, 75, 76, 1985, 88) 2. मालविकाग्निमित्र (1970, 72, 73) 3. विक्रमोर्वशीय (1977) 4. ऋतुसंहार (1984) और 5. कुमारसम्भव महाकाव्य (1977) पर आधारित नृत्य नाटिकायें, शूद्रकरचित मृच्छकटिक (1984) हर्षकृत रत्नावली (1974) भवभूतिकृत उत्तररामचरित (1977) भगवदज्जुकीय (1981 84, 85) श्रीमती रीता जितेन्द्रकृत इन्द्रधनुष (1985) स्त्रीशक्ति (1987) डॉ. केदारनाथकृत किमर्थं तलाक: (1986) रेडियो कश्मीर जम्मू पर संस्कृत विभाग की ओर से भगवदज्जुकीय (1985) डॉ. वेदकुमारी लिखित सुगन्धा (1988) एवं मदालसा चरित (89) नाटकों का प्रसारण किया गया। इसके अतिरिक्त विक्रमोर्वशीय (मुम्बई नाटक मण्डली मुम्बई (1977) नाटक का भी मञ्चन किया गया।

कविसम्मेलन (1977, 78) एवं संस्कृत सम्भाषण शिविर 2008, 2009) का भी आयोजन किया गया।

संस्कृतविभाग के तत्त्वाधान में अखिलभारतीय स्तर की निम्नलिखित सङ्गोष्ठियाँ की गई हैं–स्वातन्त्रोत्तर संस्कृतनाटकों में आधुनिक प्रवृत्तियाँ (1980) कश्मीर शैवदर्शन (1985) महामहोपाध्याय कविराज गोपीनाथ व्यक्तित्व और कृतित्व (1986) राष्ट्रिय एकता में संस्कृत का योगदान (1988) अखिल भारतीय संस्कृत सङ्गोष्ठी का आयोजन 1994, 1995 तथा 1996, इण्टरनेशनल कान्फ्रैंस ऑन ऐस्ट्रो साइन्टीफिक एण्ड स्प्रिच्युअल स्टडीज़ दिसम्बर 2005, इन्टरनेशनल फिलॉस्फी डे पर

सैमिनार (नवम्बर, 2006) 43 वाँ अखिल भारतीय प्राच्यविद्यासम्मेलन (अक्टूबर 2006) संस्कृत विभाग के तत्त्वावधान में अखिल भारतीय संस्कृत परिषद् 6-8 नवम्बर 2009 का आयोजन किया जा रहा है।

जम्मू विश्वविद्यालय का स्नातकोत्तरसंस्कृतविभाग विगत 46 वर्षों से आज तक अपने क्रियाकलापों से न केवल भारत में अपितु विश्व के अनेक देशों में अपना नाम एवं कीर्ति फैला चुका है। प्रो. वेदकुमारी, प्रो. कौशल्या वल्ली तथा प्रो. रामप्रताप ने इंग्लैण्ड, अमेरिका, डेनमार्क और जैकोस्लावेकिया आदि देशों में पहुँचकर संस्कृत भाषा का अध्ययन-अध्यापन किया है वहाँ के पुस्तकालयों से हस्तलिखित ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ भी प्राप्त की हैं। प्रो. विद्यानिवास मिश्र के नेतृत्व में आई निरीक्षण समिति ने अपनी रिपोर्ट में कहा है—जम्मू विश्वविद्यालय का संस्कृतविभाग भारत के प्रसिद्ध शिक्षा संस्थानों में से एक प्रख्यात संस्कृतशिक्षा केन्द्र है। विशेष रूप से संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों के अनुसन्धान के क्षेत्र में इसका महत्त्वपूर्ण योगदान है (विश्वविद्यालय अनुदान आयोग रिपोर्ट वर्ष 1985)। इस विभाग के प्राध्यापकों और विद्यार्थियों ने अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलनों तथा अनेक संस्थाओं तथा विश्वविद्यालयों में होने वाले सांस्कृतिक साहित्यिक संस्कृत सम्मेलनों में उत्साहपूर्वक भाग लिया है। इसके अतिरिक्त इस विभाग के प्राध्यापक भारत के हिमाचल, कुरुक्षेत्र, पंजाब आदि अन्य विश्वविद्यालयों की विविध प्रकार की शिक्षा समितियों के सदस्य रहे हैं और वहाँ जाकर ज्ञानविस्तारभाषण, विशेषभाषण तथा रिफ्रैशर कोर्स सम्बन्धी भाषण देते रहे हैं और वे विश्वसंस्कृत प्रतिष्ठान, भारतीय विद्याभवन, राष्ट्रभाषाप्रचारपरिषद् आदि की जम्मू शाखाओं के प्रतिष्ठित पदों पर आसीन हुए हैं। प्रो. वेदकुमारी की सेवानिवृत्ति के अनन्तर प्रो. कौशल्या वल्ली, प्रो. शम्भुनाथ, प्रो. रामप्रताप, प्रो. महेशचन्द्र शर्मा, प्रो. रमणीका जलाली और प्रो. केदार नाथ शर्मा ने बारी-बारी विभागाध्यक्ष का पद सम्भाला है और उन्होंने भी प्रवक्ता पद से लेकर प्रवाचक, प्राचार्य, सिण्डीकेट सदस्य, विश्वविद्यालय सांस्कृतिक समिति सदस्य, और सङ्काय अध्याक्षादि महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त कर परम्परागत गतिविधियों को जारी रखकर अपने कर्त्तव्य का निर्वहण किया है। इस विभाग से शिक्षाप्राप्त विद्यार्थियों ने भी विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में तो अध्यापन कार्य किया ही है किन्तु इस शिक्षा के क्षेत्र से बाहर राजकीय प्रशासन, डाकतार विभाग, दूरभाष, सेना, पुलिस, सङ्ग्रहालय, बैंक, पूजागृह और ज्योतिष आदि के क्षेत्रों में पदार्पण करके अपनी प्रतिभा, कर्मशीलता और योग्यता का परिचय दिया है। विशेष रूप से संस्कृतभाषा के अभ्युत्थान के लिए सहयोग और समर्पण भावना अपनाकर इस विभाग द्वारा किया गया प्रयत्न सराहनीय है। अपनी कर्तव्यप्रियता, अनुशासन, शिक्षा एवं देशप्रेम के लिए जम्मू विश्वविद्यालय का संस्कृत विभाग सर्वत्र जाना जाता है। इसके लिए इस विभाग के प्राध्यापक एवं छात्र साधुवाद एवं बधाई के पात्र हैं।

सहयात्री प्राध्यापक गण

सन् 1962 से लेकर आज तक प्रोफेसर वेदकुमारी घई के साथ रहकर संस्कृतविभाग में

जिन सहयात्रियों ने सरस्वतीसाधना की है उनकी दो श्रेणियाँ हैं–1.सहयात्री प्राध्यापक 2. सहयात्री प्राध्यापक एवं शिष्य। प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत प्रो. कौशल्या वल्ली, प्रो. शम्भुनाथ तथा प्रो. रामप्रताप तथा प्रो. उमा पाण्डे हैं और दूसरी श्रेणी में प्रो. चम्पा शर्मा, प्रो. महेशचन्द्र शर्मा, प्रो. रमणीका जलाली, प्रो. केदारनाथ शर्मा, प्रो. जागीरसिंह, प्रो. पुरुषोत्तम शर्मा, डॉ. सुषमादेवी गुप्ता एवं डॉ. रामबहादुर शुक्ल हैं। यहाँ इन सभी प्राध्यापकों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

1. प्रो. कौशल्या वल्ली जन्मतिथि 27-11-1935 जन्मस्थान श्रीनगर, जम्मूकश्मीर, जम्मूविश्वविद्यालयसेवा का प्रारम्भ 7-5-1964 सेवानिवृत्ति 31-3-1996 विशेषपद आचार्या, संस्कृतविभागाध्यक्षा एवं प्राच्यविद्यासङ्कायाध्यक्षा शिक्षा बी.ए., एम. ए. (संस्कृत हिन्दी) पी एच.डी. , डी. लिट्. विशेषविषय व्याकरण, दर्शन, साहित्य एवं अनुसन्धानविधि, लगभग 150 प्रकाशित लेख, अध्यापन बी.ए., एम.ए. तथा एम. फिल श्रेणी अनुसन्धानार्थ मार्गदर्शन एम. फिल्., और पी. एच.डी. उपाधिप्राप्त 40 छात्र विशेष अध्ययन शैवदर्शन विषयक विश्वविद्यालय अनुदान आयोग प्रदत्त परियोजना पर कार्य विदेशयात्रा तथा संस्कृत अध्यापन सोफिया (जैकोस्लावाकिया) फिलाडल्फिया अमेरिका, इंग्लैण्ड, जर्मनी आदि सम्मान एवं पुरस्कार, भारत सरकार द्वारा संस्कृतसेवार्थ राष्ट्रपतिसम्मान पुरस्कार, प्रकाशित पुस्तकें–

1. Concept of Ahinsa in Sanskrit literature
2. Concept of Karman and Bhagya in Sanskrit Literature
3. विजिज्ञासा (कविराजगोपीनाथ की कृति का हिन्दी अनुवाद।
4. जम्मू कश्मीर की स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता-एक अध्ययन

विशेष योगदान जम्मू विश्वविद्यालय में शैवदर्शनविषयक अखिल भारतीय सङ्गोष्ठी का आयोजन, सदस्य भारतीय विद्याभवन मुम्बई, अध्यक्षा, विश्वसंस्कृत प्रतिष्ठान वाराणसी (जम्मू शाखा) अध्यक्षा, कश्मीरी पण्डित सभा आदि।

2. प्रो. शम्भुनाथ शर्मा जन्मतिथि 23-8-1936 जन्मस्थान - जम्मू, जम्मू कश्मीर प्रान्त जम्मूविश्वविद्यालयसेवा का प्रारम्भ 5-10-1962 देहावसान 18-8-1986 विशेषपद प्रवाचक, शिक्षा एम.ए., पी एच.डी. लगभग 100 प्रकाशित लेख विशेष विषय - वेद व्याकरण, काव्य, गद्यसाहित्य एवं पाण्डुलिपिविज्ञान, अध्यापन बी.ए. एम.ए., एम.फिल् श्रेणी अनुसन्धानार्थमार्गदर्शन, एम.फिल्. एवं पी एच.डी. उपाधिप्राप्त 12 छात्र प्रकाशित पुस्तकें– 1. A History of Vedic Literature 2. A new Approach to some Important Aspects of Indology, 3. पाठालोचन 4. आधुनिकसन्दर्भे कालिदासः 5. कात्यायनश्रौतसूत्र कर्कभाष्यसहित (अप्रकाशित शोधप्रबन्ध) विशेषयोगदान सदस्य भारतीय विद्याभवन मुम्बई, अध्यक्ष डोगरा ब्राह्मणसभा जम्मू आदि।

प्रो. रामप्रताप जन्मतिथि - 26-7-1936 जन्मस्थान दादरी, गौतमबुद्धनगर उत्तरप्रदेश जम्मूविश्वविद्यालयसेवा का प्रारम्भ 13-5-1964 सेवानिवृत्ति 31-7-1996 विशेषपद - पीएच.डी.

प्रवाचक, आचार्य, हिन्दी एवं संस्कृत विभागाध्यक्ष तथा कलासङ्कायाध्यक्ष शिक्षा वेदालङ्कार एम.ए. (संस्कृत) एवं साहित्याचार्य।

विशेषविषय वेद, दर्शन, व्याकरण, काव्य, काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र एवं पाण्डुलिपि विज्ञान, लगभग 200 प्रकाशित लेख अध्यापन बी.ए. एम.ए. तथा एम. फिल् श्रेणी अनुसन्धानार्थ मार्गदर्शन एम. फिल् और पी.एच.डी. उपाधिप्राप्त 42 छात्र, विशेष अध्ययन-विश्वविद्यालय अनुदान आयोगप्रदत्त दो बड़ी परियोजनाओं पर काव्यशास्त्रविषयक अनुसन्धानकार्यविदेशयात्रा तथा संस्कृत अध्ययन इंग्लैण्ड तथा डेन्मार्क के पुस्तकालयों की हस्तलिखित एवं मुद्रित पुस्तकों का अध्ययन, पुरस्कार एवं सम्मान उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी लखनऊ द्वारा साहित्यसुधासिन्धु तथा भल्लटशतक पुरस्कृत, राष्ट्रभाषा प्रचार परिषद् द्वारा पुरस्कृत, भारत सरकार द्वारा संस्कृतसेवार्थ राष्ट्रपतिसम्मानपुरस्कार।

प्रकाशित पुस्तकें 1. सांस्कृतिक और साहित्यिक निबन्ध 2. राजेन्द्रकर्णपूर 3. भल्लटशतक 4. ऊर्मिका 5. मेरे गीत तुम्हारे गीत (प्रो. वेदकुमारी के साथ 1-5 संयुक्तरचना) 6. पुराणानां काव्यरूपताया विवेचनम् 7. साहित्यसुधासिन्धु 8. पुराणविमर्शः 9. चमत्कारविचारचर्चा 10. त्रिविधा काव्यसमीक्षा 11. मम्मटोत्तर युग में भारतीय काव्यशास्त्र में नूतन अवधारणायें। 12. अनुसन्धान पत्र जम्मू यूनिवर्सिटी रिव्यू (1993, 1994 तथा 1995) तथा ऋतम्भरा (1989) का सम्पादन 13. काव्यचमत्कारः (यन्त्रस्थ), विशेषयोगदान-सदस्य भारतीय विद्याभवन मुम्बई, सदस्य विश्वसंस्कृतप्रतिष्ठान (जम्मू शाखा) अध्यक्ष, संस्कृतपरिषद्, संस्कृतविभाग; जम्मू विश्वविद्यालय जम्मू में तीन अखिल भारतीय सङ्गोष्ठियों का आयोजन किया गया।

4. प्रो. चम्पा शर्मा जन्मतिथि - 9 जून 1941, जन्मस्थान - डघोड़ जिला साम्बा जम्मूकश्मीर प्रान्त के महाविद्यालय में सेवा का प्रारम्भ 21-1-1975 जम्मू विश्वद्यालय के संस्कृत विभाग में सेवा 27-12-1980 से 31-5-1989 डोगरीविभाग में सेवा का प्रारम्भ- 28-12-1989 सेवानिवृत्ति 31-5-1999 विशेषपद निदेशिका डोगरी रिसर्च सैण्टर, आचार्या, डोगरी विभागाध्यक्षा, सदस्या - विश्वविद्यालय सिण्डीकेट, प्राच्यविद्या सङ्कायाध्यक्षा शिक्षा बी.ए. आनर्स (हिन्दी, डोगरी) बी.एड., बी.ए. एम.ए. (संस्कृत) पीएच.डी. अनुसन्धानार्थ मार्गदर्शन एम. फिल्. और पी.एच.डी. उपाधिप्राप्त 25 छात्र विशेष अध्ययन विश्वविद्यालय अनुदान आयोग प्रदत्त परियोजना पर काव्यशास्त्र विषयक कार्य

पुरस्कार एवं सम्मान डोगरा रत्न पुरस्कार, सादिक स्मृति पुरस्कार, जम्मू कश्मीर स्टेट एवार्ड 4. दिवानिनी विद्यावती डोगरा पुरस्कार, राष्ट्रभाषा प्रचार परिषद् पुरस्कार, साहित्य अकादमी (दिल्ली) पुरस्कार, जम्मू कश्मीर सांस्कृतिक एकाडमी सम्मान फलक

प्रकाशित पुस्तकें एवं अनुवाद इन पुस्तकों की तालिका इस प्रकार है-

1. डोगरी काव्यचर्चा 2. इक झांक, 3. डुग्गर धरती 4. डुग्गर दा लोक जीवन 5. अनुवाद विज्ञान 6. गुढे, धुंधले चेहरे, 7. काव्यशास्त्र ते डोगरी काव्यसमीक्षा 8. ठाकुर रघुनाथसिंह सम्याल

9. जेजींदे सुर्ग दिक्खना 10. जम्मू के प्रमुख त्यौहार 11. साक सुन्ना प्रीत पित्तल 12. कथासरित्सागर (तीन खण्ड) 13. गडीरना 14. चेतें दी र्होल 15. प्रतिनिधि डोगरी कहानियाँ 16. भाषा विज्ञान ते डोगरी 17. डोगरी शोध (1,2,3,4 खण्ड) 18. डोगरी पाठमाला (1,2,3,4 भाग) 19. डुआंरी कबूतरें दी 20. अजकणी डोगरी कवता (1,2, भाग) 21. डाइरेक्टरी ऑफ डोगरी राइटर्स 22. कवि किशन स्मैल पुरी व्यक्तित्व ते कृतित्व 23. हिरखी तन्दां 24. डोगरी (द्विभाषिक) डिक्शनरी 25. डोगरी भाषा में प्रयुक्त संस्कृत शब्दों का अर्थ विषय प्रो. वेदकुमारी व्यक्तित्व ते कृतित्व 26. (एक) अध्ययन अप्रकाशित शोधग्रन्थ, विशेष योगदान छात्रावस्था में संस्कृत नाटकों में सक्रिय भागीदारी (राजा दुष्यन्त का अभिनय) सदस्य संस्कृत परिषद् संस्कृतविभाग, जम्मूविश्वविद्यालय, सदस्य, भारतीय विद्याभवन मुम्बई (जम्मू शाखा) आजीवन सदस्य, लिग्विस्टिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया मुम्बई, महामंत्री, डोगरीसंस्था, जम्मू सदस्य, साहित्य एकाडमी (दिल्ली) की एडवाइज़री बोर्ड इन डोगरी।

5. प्रो. उमा पाण्डेय-जन्मतिथि 31-10-1935 जन्म स्थान उत्तरप्रदेश जम्मूविश्वविद्यालय सेवा का प्रारम्भ 3-1-1975 सेवानिवृत्ति (अन्यत्र गमन) 25 मार्च, 1985 विशेषपद प्रवाचिका शिक्षा - बी.ए., एम.ए. (संस्कृत, दर्शन, इंग्लिश) पीएच.डी. (संस्कृत, दर्शन) डी. लिट्. संस्कृत विशेष विषय–दर्शन, योग एवं उपनिषद् लगभग 100 प्रकाशित लेख अध्यापन एम.ए. एवं एम. फिल्. श्रेणी अनुसन्धानार्थ मार्गदर्शन एम. फिल्. एवं पी.एच.डी. उपाधिप्राप्त 10 छात्र विशेष अध्ययन विश्वविद्यालय अनुदान आयोग प्रदत्त शाङ्कर वेदान्त पर अनुसन्धान कार्य, पुरस्कार एवं सम्मान उत्तर प्रदेश शासन के विविध पुरस्कार केन्द्र (लखनऊ) द्वारा सम्मानित।

प्रकाशित पुस्तकें

1. औपनिषदिक परम्परा (मूलसिद्धान्त)
2. Kashmir Shaivism in Historical Prospective
3. वाराणसी
4. शोधप्रस्तुति

विशेष योगदान-भोपाल विश्वविद्यालय मध्य प्रदेश में योगप्रशिक्षण

6. प्रो. महेशचन्द्र शर्मा जन्मतिथि 29-10-1948 जन्मस्थान भरवाईं जिला कांगड़ा हिमाचल प्रदेश जम्मूविश्वविद्यालयसेवा का प्रारम्भ जनवरी 1978 देहावसान 21-8-2001 विशेषपद प्रवाचक, आचार्य एवं विभागध्यक्ष शिक्षा बी.ए. एम.ए. (संस्कृत, हिन्दी) पीएच. डी. विशेष विषय काव्य, नाट्यशास्त्र, काव्यशास्त्र एवं गद्यसाहित्य

लगभग 100 प्रकाशित लेख

अध्यापन बी.ए. एम. ए. तथा एम. फिल्. श्रेणी अनुसन्धानार्थ मार्गदर्शन एम. फिल्. और पी.

एच.डी. की उपाधिप्राप्त 12 छात्र

प्रकाशित पुस्तकें

1. Sacred Idias of East
2. मुद्राराक्षास नाटकः एक अध्ययन
3. अंशुक कवितासङ्ग्रह
4. संस्कृत गद्यकाव्यों में श्लेषालङ्कार (अप्रकाशित शोधप्रबन्ध)

7. प्रो. रमणिका जलाली जन्मतिथि 11-7-1955 जन्मस्थान अनन्तनाग (श्रीनगर जम्मू कश्मीर)

जम्मूविश्वविद्यालयसेवा का प्रारम्भ 1984।

विशेष पद प्रवाचिका आचार्या, संस्कृतविभागाध्यक्षा

शिक्षा बी.ए., एम.ए. पी.एच.डी.

विशेषविषय काव्य, काव्यशास्त्र, भाषाशास्त्र, अभिलेखिकी, स्त्रीविज्ञान, वैज्ञानिकसाहित्य लगभग 60 प्रकाशित लेख अध्यापन एम.ए. तथा एम. फिल्. श्रेणी अनसन्धानार्थ मार्गदर्शनः एम. फिल्. तथा पी.एच.डी. उपाधि प्राप्त 38 छात्र

विशेष अध्ययन विश्वविद्यालय अनुदान आयोग प्रदत्त दो बड़ी परियोजनाओं तथा एक लघु परियोजना पर कार्य पुरस्कार एवं सम्मान स्वर्णपदक-एस्ट्रो साइन्टीफिक स्टडीज़ श्रीलङ्का तथा भारत, पद्मभूषण ऐस्ट्रो साइन्टीफिक स्टडीज़ श्रीलङ्का तथा भारत, बैस्ट वोमैन रिसर्चर ए.बी. आई.यू.एस. ए.

प्रकाशित पुस्तकें-

1. Indian women in Smritis
2. Kalchuris of Tripurari
3. Status of Women

Editor of the following:

4. Vedic studies Part I & Part II
5. Kashmir Shaiva Darshan
6. Smarika. Deptt. of Sanskrit Jammu University (2006)
7. 43rd Session of A.I.O.C. Journal (2006)
8. Glimpses of Chalukya Dynesty (Unpublished)

विशेष योगदान छात्रावस्था में संस्कृत नाटकों में सक्रिय भागीदारी (भगवान् शिव का

अभिनय)।

स्थानीय मन्त्रिणी, संयोजिका, अखिल भारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलन जम्मूविश्वविद्यालय जम्मू अक्टूबर 2006, जम्मू विश्वविद्यालय परिषद् संस्कृतमन्त्रिणी, तौषीधारा उपप्रधान, वसुधैव कुटुम्बकम् वैल्फेयर सोसाइटी, जम्मू आजीवन सदस्य, विश्वभाषा पाण्डिचेरी, आजीवन सदस्य अनुसन्धानम् चौधरी चरणसिंह विश्वविद्यालय मेरठ आजीवन सदस्य, इण्डियन सोसाइटी ऑफ बुद्धिस्ट स्टडीज़ आदि

8. प्रो. शारदा गुप्ता – जन्मतिथि 13 अक्टूबर 1953, जन्मस्थान जम्मू जम्मूविश्वविद्यालय-सेवा का प्रारम्भ 9 फरवरी 1983, विशेषपद प्रवाचिका एवं आचार्या, शिक्षा बी.ए. एम.ए. (संस्कृत) पी.एच.डी. विशेष विषय काव्य दर्शन तथा अभिलेखिकी लगभग 15 प्रकाशित लेख

अध्यापन बी.ए. एम.ए. तथा एम. फिल् श्रेणी अनुसन्धानार्थ मार्गदर्शन एम. फिल् उपाधि प्राप्त 10 छात्र पुरस्कार एवं सम्मान स्वर्णपद इण्टरनेशनल फैडरेशन ऑफ ऐस्ट्रोलौजी एण्ड स्प्रिच्युअल साइन्स इण्डिया एण्ड श्रीलङ्का।

प्रकाशित पुस्तकें

1. अद्वैत मार्तण्ड और शाङ्करवेदान्त

2. विरह (मरने से पहले कफन ओढ़े कोई, अंधेरे हमें रास आने लगे हैं आदि मार्मिक कविताओं का संग्रह)

3. वेदना (भँवर में फँसी नौका आदि अनुभूतिप्रधान कवितायें)

विशेषयोगदान छात्रावस्था संस्कृत नाटकों में सक्रिय भागीदारी (विदूषक का अभिनय)

9. प्रो. केदारनाथ शर्मा जन्मतिथि 10-10-1959 जन्मस्थान हेटोड़ा नेपाल जम्मूविश्वविद्यालय सेवा का प्रारम्भ विशेषपद प्रवाचक, आचार्य, संस्कृतविभागाध्यक्ष, शिक्षा शास्त्री, एम.ए. (संस्कृत) डिप्लोमा इन लिंग्विटिक्स, एडिशनल पेपर इन एम.ए. (अभिलेखिकी, दर्शन, विशेषयोग्यता प्रमाणपत्र, प्रवेश उपचारक (प्राकृतिक चिकित्सा) एम. फिल्, पीएच.डी.डी. लिट्., (रजिस्टर्ड)

विशेषविषय व्याकरण, दर्शन, काव्यशास्त्र, भाषाविज्ञान, अभिलेखिकी एवं वास्तुशास्त्र लगभग 100 प्रकाशितलेख अध्यापन एम.ए. तथा एम. फिल्. श्रेणी अनुसन्धानार्थ मार्गदर्शन, एम. फिल् और पी.एच.डी. उपाधिप्राप्त 30 छात्र।

विशेष अध्ययन विश्वविद्यालय अनुदान प्रयोग प्रदत्त भाषा विज्ञान एवं ध्वनिविश्लेषण सम्बन्ध दो बड़ी परियोजनाओं पर कार्य, भाषाविज्ञान विषयक दो तथा प्राचीन भारत में पुरनिवेश सम्बन्धी एक लघु परियोजना पर कार्य। हिन्दी संस्कृत ध्वनियों पर संयुक्त परियोजना पर शोध।

विदेशयात्रा Sandhi and Morphophonemics विषय पर पत्र वाचन के लिए बैंकाक थाइलैण्ड की यात्रा पुरस्कार एवं सम्मान संस्कृत साहित्य एवं काव्यशास्त्र के क्षेत्र में योगदान के

लिए महेन्द्र विद्याभूषण पुरस्कार (नेपालनरेश द्वारा)

वास्तुविशारद सम्मान-फैडरेशन ऑफ ऐस्ट्रोलोजी एण्ड स्प्रिच्युअल साइन्स चण्डीगढ़ भारत तथा श्रीलङ्का। सोरबोन्ने नोविल्ले यूनिवर्सिटी, पेरिस (फ्रान्स) में संस्कृत विज़िटिंग प्रोफेसर के रूप में दो वर्ष (नवम्बर 2009 - अक्टूबर 2011) के लिए कार्य करने के निमित्त भारत सरकार द्वारा चयन।

प्रकाशित पुस्तकें–

1. रसाभास और भावाभास
2. संस्कृत में रूपस्वनिमिक विश्लेषण
3. कश्मीरी स्तोत्रपरम्परा एवं दीनाक्रन्दन स्तोत्र
4. त्रिवेणी (अनुसन्धानपत्रों का संग्रह)
5. कश्मीर के काव्याचार्य

विशेष योगदान छात्रावस्था में संस्कृतसम्भाषण सम्बन्धी विभिन्न प्रतियोगिताओं में भागीदारी आजीवन सदस्य, लिंग्विस्टिक्स सोसाइटी ऑफ इण्डिया, दक्कन कॉलेज पूने, आजीवन सदस्य, अखिल भारतीय प्राच्यविद्यासम्मेलन पूने, आजीवन सदस्य इण्डियन सोसाइटी फॉर बुद्धिस्ट स्टडीज़ जम्मू, मन्त्री विश्वसंस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी (जम्मू शाखा)

10. प्रो. जागीर सिंह जन्मतिथि - 15-1-1950 जन्मस्थान - बहरामपुर दीनानगर पञ्जाब जम्मू विश्वविद्यालयसेवा का प्रारम्भ 24-9-1985 शिक्षा एम. ए., एम. फिल्., पीएच. डी. विशेष पद - प्रवक्ता, प्रवाचक, आचार्य विषय शैवदर्शन एवं भारतीय दर्शन लगभग 65 प्रकाशित लेख अध्यापन एम. ए. तथा एम. फिल्. श्रेणी अनुसन्धानार्थ मार्गदर्शन एम. फिल् तथा पी. एच. डी. उपाधिप्राप्त छात्र पुरस्कार एवं सम्मान 55 छात्र विजयरत्न एवार्ड सर्टिफिकेट ऑफ ऐक्सैलैन्स, इण्डियन इण्टरनेशनल फ्रैण्डशिप सोसाइटी नई दिल्ली दर्शनशिरोमणि स्वर्णपदक ऐस्ट्रो साइन्टिफिक एण्ड स्प्रिच्युअल कॉन्फ्रेंस, इण्डिया एण्ड श्रीलङ्का जम्मू बैस्ट सिटिज़न ऑफ इण्डिया, बैस्ट सिटिज़न पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली

प्रकाशित पुस्तकें–1. प्रत्यभिज्ञाहृदयम और वेदान्तसार के सन्दर्भ में काश्मीर अद्वैत शैवदर्शन और अद्वैतवेदान्तदर्शन : एक पर्यवेक्षण 2. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा और साङ्ख्यकारिका के परिप्रेक्ष्य में प्रत्यभिज्ञासिद्धान्त तथा साङ्ख्यदर्शन एक पर्यालोचन 3. अद्वैत शैवभक्ति तथा उत्पलदेव 4. त्रिकदर्शन में पराशक्ति काली 5. शैवी योगरस।

विशेष योगदान–सदस्य, अखिल भारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलन, पूने, सदस्य कश्मीर शैविज़्म ईश्वर अद्वैत आश्रम ट्रस्ट, श्रीनगर, आजीवन सदस्य इण्डियन सोसाइटी ऑफ बुद्धिस्ट स्टडीज़ जम्मू आदि, कम्प्यूटर के क्षेत्र से भाषाविज्ञानसम्बन्धी विशेष अनुसन्धान एवं अध्ययन अनुदान विशेष

अध्ययन - विश्वविद्यालय अनुदान आयोग प्रदत्त दर्शन विषयक परियोजना पर कार्य

प्रो. पुरुषोत्तम शर्मा जन्मतिथि 14-04-1953 जन्मस्थान, कटरा, जिला उधमपुर, जम्मू कश्मीर जम्मूविश्वविद्यालयसेवा का प्रारम्भ विशेषपद प्रवाचक एवं आचार्य शिक्षाशास्त्री, एम .ए (संस्कृत) तथा हिन्दी एम. एम. फिल्. ज्योतिषाचार्य, पीएच. डी. विशेष विषय-व्याकरण, काव्यशास्त्र, ज्योतिष. पाठालोचन एवं वास्तुशास्त्र लगभग 50 प्रकाशित लेख

अध्यापन एम. ए. तथा एम. फिल्. श्रेणी अनुसन्धानार्थ मार्गदर्शन एम. फिल्. और पी. एच. डी. उपाधिप्राप्त 40 छात्र विशेष अध्ययन विश्वविद्यालय अनुदान आयोग प्रदत्त ज्योतिषविषयक परियोजना पर कार्य पुरस्कार एवं सम्मान स्वर्णपदक एवं ज्योतिष शिरोमणि इण्टरनेशनल फैडरेशन ऑफ एस्ट्रोलोजी एण्ड स्प्रिच्यूअल साइन्स इण्डिया एण्ड श्रीलङ्का

प्रकाशित पुस्तकें-

1. ईशावास्योपनिषद्
2. भारतीय ज्योतिष प्रवेश
3. लघुसिद्धान्तकौमुदी
4. सिद्धान्तकौमुदी (कारक, विभक्त्यर्थ प्रकरण)
5. ज्योतिषरहस्य
6. ज्योतिषसार
7. रामायण में युद्धविज्ञान
8. सूर्य जगत् की आत्मा है

विशेष योगदान छात्रावस्था में संस्कृतसम्भाषण सम्बन्धी विभिन्न प्रतियोगिताओं में भागीदारी, सदस्य, अखिल भारतीय प्राच्य विद्यासम्मेलन पूने

12. डॉ. सुषमा देवी गुप्ता-जन्मतिथि 13-06-1962 जन्मस्थान - चौकी जन्दरोर रामनगर, जिला ऊधमपुर, जम्मू कश्मीर विश्वविद्यालयसेवा का प्रारम्भ विशेष पद प्रवाचिका शिक्षा बी. ए., बी. ए. (कत्थक नृत्य) एम. ए. (संस्कृत) स्नातकोत्तर डिप्लोमा (भाषा विज्ञान) एम. फिल्. पीएच. डी.

विशेष विषय काव्य, काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र, भाषाविज्ञान, धर्मशास्त्र, वास्तुशास्त्र इत्यादि। लगभग 50 प्रकाशित लेख

अध्यापन एम. ए. तथा एम. फिल्. श्रेणी अनुसन्धानार्थ मार्गदर्शन एम. फिल्. और पी. एच. डी. उपाधि प्राप्त 25 छात्र पुरस्कार एवं सम्मान जम्मू कश्मीर शासन द्वारा बख्शी मैमोरियल एवार्ड से सम्मानित नौर्थ जोन अन्तर्विश्वविद्यालय यूथ फैस्टिवल में स्पैशल एवार्ड द्वारा सम्मानित

अनुसन्धान क्षेत्र में योगदान के लिए स्वर्णपदक–इण्टरनेशनल फैडरेशन ऑफ ऐस्ट्रोलोजी एण्ड स्प्रिच्युअल साइन्स इण्डिया तथा श्रीलङ्का (चण्डीगढ़)

प्रकाशित पुस्तकें–

1. भारतीय ललित कलायें एवं नृत्यकला
2. भारतीय परम्परा में नाट्यशास्त्र का नृत्य को योगदान
3. पंच कल्याणी (डोगरी एकांकी नाटक का हिन्दी रूपान्तरण)
4. एक लड़ाई और (डोगरी एकांकी नाटक का हिन्दी रूपान्तरण)
5. श्वासों की नदी मैं (काव्यसंग्रह 52 डोगरी कविताओं का हिन्दी रूपान्तरण)

विशेष योगदान छात्रावस्था में अभिनय, नृत्य, गायन सम्बन्धी प्रतियोगिताओं में सक्रिय भागीदारी, शकुन्तला नायिका का अभिनय अखिल भारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलन पूना विश्वविद्यालय की सांस्कृतिक समिति की सदस्या आकाशवाणी रंगमंच एवं दूरदर्शन कलाकार

13. डॉ. रामबहादुर शुक्ल जन्मतिथि 1-2-1967 जन्मस्थान - बेउर (भौनरी) जिला चित्रकूट उत्तरप्रदेश जम्मूविश्वविद्यालयसेवा का प्रारम्भ 1-11-2001

विशेष पद, प्रवक्ता शिक्षा, बी. ए. एम. ए. (दर्शन, संस्कृत) यू.जी.सी. नैट, डी. फिल्. विशेषविषय दर्शन, काव्यशास्त्र, व्याकरण, धर्मशास्त्र, एवं ज्योतिष लगभग 10 प्रकाशित लेख अध्यायन बी. ए., एम. ए. तथा एम. फिल् श्रेणी अनुसन्धानार्थ मार्गदर्शन एम. फिल् और पी. एच. डी. उपाधिप्राप्त 25 छात्र विशेष अध्ययन विश्वविद्यालय अनुदान आयोग प्रदत्त एक बड़ी परियोजना पर मुखसामुद्रिक ज्योतिषविषयक अनुसन्धान कार्य पुरस्कार एवं सम्मान ज्योतिष- शिरोमणि इन्टरनेशनल ऐस्ट्रो साइन्टीफिक कॉन्फ्रैंस इण्डिया एण्ड श्रीलङ्का, चण्डीगढ़

प्रकाशित पुस्तकें–

1. नैषधीयचरितम् की शास्त्रीय मीमांसा
2. नीतिमञ्जरी सम्पादन एवं अनुवाद
3. अङ्गप्रस्फुरण विचार
4. तर्कचन्द्रिका (अप्रकाशित)

विशेष योगदान छात्रावस्था में विभिन्न प्रतियोगिताओं में भागीदारी एवं संस्कृत कविसम्मेलनों में कवितापाठ, इन तीन संस्थाओं की आजीवन सदस्यता अखिल भारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलन, अखिल भारतीय फिलोस्फी एसोसियेशन तथा इण्डियन सोसाइटी फौर बुद्धिस्ट स्टडीज़।

परिकरश्लोकाश्चेमे–

संस्कृतस्य विभागेऽस्मिंश्छात्राः प्राध्यापकास्तथा।

संस्कृतोत्थानकार्यार्थं प्रयतन्ते दिवानिशम्।।1।।

वाञ्छन्ति नापि ते मोक्षं ते समृद्धिं नापि लौकिकीम्।
कामन्ते केवलं सर्वे संस्कृतमातृरक्षणम्।।2।।

धन्या संस्कृतभाषेयं चतुर्वर्गप्रदायिनी।
भुवनेषु यया कीर्ति र्भारतस्य प्रसारिता।।3।।

धन्यं भारतं वर्षं धन्येयमस्य संस्कृतिः।
विश्वं प्रकाशितं याभ्यां दीप्रभिर्ज्ञानरश्मिभिः।।4।।

विदित्वा संस्कृतं सर्वे पृथिव्या विबुधा जनाः।
ऐक्यभावं समायाता योगक्षेमाववाप्नुयुः।।5।।



कश्मीर शैवसिद्धान्त के विशेषपरिप्रेक्ष्य में पुष्टिमार्गीय ख्याति की समीक्षा

-प्रो० अभिराज राजेन्द्रमिश्र

ख्याति शब्द मूलतः विवेक का पर्याय है। व्यवहारज्ञान के क्षेत्र में यह शब्द सविकल्पक प्रत्यक्ष का अर्थ देता है। निर्विकल्पक ज्ञान से प्रामाण्य-विनिश्चय का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रामाण्य का निश्चय सदैव सविकल्पक प्रमा से ही संभव होता है। न्यायमुक्तावली में स्पष्टतः कहा गया है-

न प्रमा नापि भ्रमः स्यान्निर्विकल्पकम्।

विविध दार्शनिक सम्प्रदायों में सविकल्पक ज्ञान को लेकर जो जो व्याख्या-पक्ष उभरे हैं, सामान्यतः उसी को ख्यातिवाद कहा जाता है। इस व्याख्या में भ्रमात्मक ज्ञान के मूल्यांकन अथवा समीक्षा को प्रमुखता दी गई है, क्योंकि उसी के निरसन अथवा निराकरण के अनन्तर 'प्रमात्व' का निश्चय हो पाता है। इस प्रकार, ख्यातिवाद की भूमिका यथाकथंचित् प्रामाण्यवाद तथा अनुव्यवसाय से जुड़ी प्रतीत होती है। यद्यपि, विवेकपर्याय होने के कारण ख्याति एक विध्यात्मक शब्द है, परन्तु वैचारिक-प्रक्रिया के स्तर पर वह भ्रम, भ्रमज्ञान अथवा भ्रान्तिज्ञान का उपलक्षण जैसा बन गया है। क्योंकि भ्रान्ति के निराकरण से ही ख्याति का उदय होता है ठीक उसी प्रकार जैसे अंधकार-पटल को निरस्त कर उदित होता है सूर्य।

भारतवर्ष विख्यात है अपनी द्वादश दर्शनपरम्पराओं के लिये। इनमें सांख्ययोग, न्यायवैशेषिक तथा मीमांसा-उत्तरमीमांसा (वेदान्त) तो आस्तिक दर्शन हैं अन्य 6 (माध्यमिक, योगाचार, वैभाषिक, सौत्रान्तिक, आर्हत एवं लौकायतिक) वेदप्रामाण्य को न मानने के कारण, नास्तिक दर्शन कहे गये हैं। इन समस्त दर्शनों में यद्यपि विचार-विषय दो ही हैं- प्रमेयमीमांसा तथा प्रमाण मीमांसा। तथापि इन्हीं दो विषयों के पारस्परिक खण्डनमण्डन से प्रत्येक दर्शन का अपना पृथक् स्वरूप भी निश्चित हुआ है। किसी का प्रमेय अद्वैत तत्त्व है तो किसी का द्वैत तो किसी का बहुत्व। किसी के प्रमाण चार हैं। तो किसी के पाँच तो किसी के छः, और कोई एक ही प्रमाण के प्रति आस्थावान् है। वैचारिक स्वतंत्रता, पूर्वपक्ष का समादर पूर्वक युक्तियुक्त खण्डन तथा स्वपक्ष अर्थात् सिद्धान्तपक्ष का, निरुत्तरित कर देने वाला प्रतिपादन-भारतीय दर्शनपद्धतियों का वैशिष्ट्य है।

प्रमाणमीमांसा आस्तिक एवं नास्तिक-दोनों ही दर्शनों को अभीष्ट है क्योंकि बिना प्रमाण के प्रमा अर्थात् शुद्धज्ञान की प्रतिष्ठा असंभव है। इसी प्रकार प्रमेयान्तर्गत व्याख्यात आत्मादि कई तत्त्व भी सभी दर्शनों में समान रूप से समीक्षित हुए हैं। हाँ, कुछ ऐसे प्रमेय भी हैं जो किसी एक ही दर्शन पद्धति की पहचान कराते हैं जैसे आर्हत दर्शन का अनेकान्तवाद, बौद्धों का अभाव-प्रमाण तथा

आर्यसत्य-चतुष्ट्य, मीमांसा का अपूर्वसिद्धान्त, सांख्य का प्रकृति-पुरुष यौगपद्य अथवा चार्वाकों का काष्ठदहनन्यायेन प्रतीत देहात्मैक्यवाद।

सौभाग्य से ख्यातिवाद भी सर्वदर्शनाभीष्ट विवेच्य विषय है- संभवतः ज्ञानमीमांसा का अंगभूत होने के कारण। पाँच प्रकार के ख्यातिवाद तो प्रायः सर्वविदित हैं-

आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा।
तथा ऽनिर्वचनख्यातिरित्येतत्ख्यातिपञ्चकम्।।
योगाचारा माध्यमिकास्तथा मीमांसका अपि।
नैयायिका मायिनश्च पञ्च ख्यातिः क्रमाज्जगुः।। -न्या. को.

वस्तुतः ख्यातिवाद का भी क्रमिक पल्लवन हुआ दीखता है। उपर्युक्त पञ्चविध ख्यातिवाद आचार्यशंकर के युग तक के हैं जबकि रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ एवं गौराङ्ग महाप्रभु का उदय भी नहीं हुआ था। अतः यह मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिये कि शंकरोत्तरयुग में भी ख्यातिवाद की तात्त्विक समीक्षा से अनेक नई उपलब्धियाँ हुईं। ये उपलब्धियाँ वेदान्त के अवान्तर सम्प्रदायों तथा कश्मीर शैवदर्शन की देन हैं, जो निःस्सन्देह आचार्य शंकर (आठवीं शती ई.) के बाद की दार्शनिक परम्परायें हैं।

यदि शंकरपूर्व एवं शंकरोत्तर पल्लवित ख्यातिवादों का, उनके नामान्तरसहित, साकल्येन परिगणन किया जाये तो चौदह सम्मत ख्यातिवादों तथा 6 नामान्तरों के साथ उनकी संख्या बीस सिद्ध होती है। इन समस्त ख्यातिवादों में भ्रमनिरूपण का प्राधान्य है और इस भ्रमनिरूपण की उपलब्धि है-प्रस्थानसम्मत सम्यक् ख्याति (शुद्धज्ञान) जैसा प्रारंभ में कहा गया है कि ख्याति शब्द कथमपि भ्रमवाचक नहीं है, प्रत्युत वह प्रत्यक्षमात्र के सविकल्पक पक्ष अथवा ज्ञानमात्र की संज्ञा है। श्रीमद्भागवत (11.11.2) में बड़ी स्पष्टता से कहा गया है कि 'स्वप्न के समान संसार भी यथार्थ न होकर आत्मा की ख्यातिमात्र है।' पर समस्त दार्शनिक ख्यातिवादों की प्रतिष्ठा भी है।

आचार्य प्रभाचन्द्र सूरि ने उपर्युक्त ख्यातिवादों की गणना अन्य प्रकार से की है जिनमें क्रमशः विवेकख्याति, अख्याति, असत्ख्याति, प्रसिद्धार्थख्याति, आत्मख्याति, अनिर्वचनीयख्याति, अलौकिकार्थख्याति तथा विपरीतार्थख्याति के नाम आये हैं।

आचार्य बच्चूलाल अवस्थी ने दार्शनिक-सम्प्रदायों को दृष्टि में रख कर विविध ख्यातिवादों का जो परिचय दिया है वह अत्यन्त सुस्पष्ट प्रतीत होता है। विषय-विवेचनदृष्ट्या मैं उसे यथावत् उद्धृत कर रहा हूँ-

1. शुद्ध अख्यातिवादी चार्वाक दार्शनिक हैं जो भौतिक शरीर में विद्यमान चैतन्य को मद के समान मानते हैं। उन्हें निर्विषयख्यातिवादी तथा निरालम्बनख्यातिवादी कहा जाता है।

2. परन्तु निर्विषय अथवा निरालम्बन ख्यातिवादियों में मुख्यतः शून्यवादी तथा विज्ञानवादी बौद्ध दार्शनिक आते हैं। पृथक्तया शून्यवादियों का असत्ख्यातिवाद तथा विज्ञानवादियों का

आत्मख्यातिवाद प्रसिद्ध है। आत्मख्यातिवाद को ही स्वख्यातिवाद तथा विज्ञानाकारख्यातिवाद भी कहा गया है।

3. सांख्ययोगदर्शन को सदसत्ख्यातिवादी अथवा प्रसिद्धार्थख्यातिवादी कहते हैं।

4. वैशेषिक, द्वैत, वेदान्त तथा जैनदर्शन का ख्यातिसिद्धान्त विपरीतख्यातिवाद के नाम से प्रसिद्ध है।

5. न्यायदर्शन, भाट्टमीमांसा तथा दाक्षिणात्य शैवदर्शन में अन्यथाख्यातिवाद मान्य है जो प्रकारान्तर से विपरीतख्यातिवाद ही है।

6. कुमारिल-मीमांसा तथा प्रभाकर-मीमांसा के मतों को विवेकाख्यातिवाद कहा जाता है जो सामान्यतः अख्यातिवाद नाम से सुप्रतिष्ठित है। प्रभाकर को अख्यातिवादी कहा जाता है परन्तु वह यथार्थख्याति में सविशेष प्रतिष्ठित हैं।

7. आचार्य मण्डन मिश्र ने अभेदख्यातिवाद को प्रतिष्ठित किया है।

8. अलौकिकज्ञानलक्षण-प्रत्यासत्ति द्वारा भ्रम की व्याख्या करने के कारण न्याय तथा कुमारिल मीमांसा को अलौकिकख्यातिवादी भी कहा जाता है।

9. व्याकरणदर्शन का बुद्धिसत्ख्यातिवाद सत्ख्यातिवाद है।

10. अद्वैत शाङ्कर वेदान्त अनिर्वचनीयख्यातिवाद का समर्थक है प्रभाकर मीमांसा तथा विशिष्टाद्वैतवेदान्त दोनों यथार्थख्यातिवादी हैं परन्तु इस वर्ग में विशेष रूप से रामानुज के मत को लेकर उसे सत्ख्यातिवाद कहा जाता है।

12. शुद्धाद्वैत वेदान्त में अन्यख्यातिवाद मान्य है।

13. प्रत्यभिज्ञा शैव दर्शन का ख्यातिवाद व्यावहारिक ख्यातियों में संकुचितख्यातिवाद है परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से, प्रत्यभिज्ञा के अभाव की व्याख्या वह 'अख्याति' नाम से करता है। वस्तुतः यह सत्ख्यातिवाद का ही रूपान्तर है।

वस्तुतः 'अख्याति' का अभिप्राय भी एक नहीं है। जो सविकल्पक प्रत्यक्ष को प्रमा-वर्ग में नहीं लेते उनके लिये वह सविकल्पकाभाव मात्र है। आत्मज्ञानरूप अद्वैतख्याति के पक्षधरों की दृष्टि में, अख्याति का अर्थ है-अविद्याजनित व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक प्रत्यय। मीमांसा में यह शब्द विवेकाख्याति अथवा असंसर्गाग्रह के सन्दर्भ में प्रयुक्त है जबकि प्रत्यभिज्ञा शैवदर्शन में 'शिवाद्वैतबोध' न होना ही अख्याति है।

प्रस्तुत आलेख में शैवप्रत्यभिज्ञा दर्शन एवं वाल्लभ वेदान्ताभिमत ख्यातिवाद का युगपद् विवेचन अभीष्ट है। दोनों दर्शनसरणियों के ख्यातिविचार में कोई साम्य अथवा अन्तःसम्बन्ध है अथवा हो सकता है अथवा नहीं, यह तो विद्वत्समज्या निर्णयाधीन है। परन्तु मेरा विनम्र प्रयास है दोनों मतों को सम्प्रदायोचित सन्दर्भ में निरूपित करना। एक तथ्य सर्वथा सुस्पष्ट है वह यह कि

कश्मीर का प्रत्यभिज्ञादर्शन एवं शुद्धाद्वैत वेदान्त मत-दोनों शंकरोत्तरयुगीन होने के कारण, अन्य दर्शनों एवं मत-मतान्तरों की तुलना में, अभी भी अल्पव्याख्यात एवं अल्प हृदयङ्गत रहे हैं।

कश्मीर का प्रत्यभिज्ञा दर्शन यद्यपि आचार्य उत्पलदेव द्वारा प्रतिष्ठापित माना जाता है तथापि उसकी परम्परा उत्पल से भी पूर्ववर्तिनी सिद्ध होती है। त्र्यम्बक सम्प्रदायोत्पन्न आचार्य सोमानन्द को स्वयं उत्पलदेव शिवदृष्टिवृत्ति के मंगलाचरण में अपना गुरु बताते हैं-

श्रीत्र्यम्बकसद्वंशमध्यमुक्तामयास्थितेः।
श्रीसोमानन्दनाथस्य विज्ञानप्रतिबिम्बकम्॥ -ईश्वरप्रत्यभिज्ञा वि. वि., मंगल. 2

ईश्वरप्रत्यभिज्ञोक्तविस्तरे गुरुनिर्मिते।
शिवदृष्टिप्रकरणे करोमि पदसंगतिम्॥ -शिवदृष्टिविवृति, मंगलश्लोक 3

इति प्रकटितो मया सुघट एष मार्गो नवो
महागुरुभिरुच्यते स्म शिवदृष्टिशास्त्रे यथा। -ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका 4.16

यद्यपि उत्पलदेव ने अपने पिता का नाम उदयाकर बताया है[1], परन्तु अभिनवगुप्त ने तंत्रालोक में उन्हें सोमानन्द का ही पुत्र एवं शिष्य बताया है।[2] इससे स्पष्ट है कि सोमानन्द का ही नामान्तर उदयाकर भी रहा होगा।

आचार्य उत्पल के पुत्र एवं शिष्य लक्ष्मणगुप्त, जो भट्टेन्दुराज के समसामयिक थे, महामाहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्त के प्रत्यभिज्ञागुरु थे। भट्टेन्दुराज से भी अभिनव ने अलंकारशास्त्र की शिक्षा प्राप्त की थी।

काश्मीरक शैव-परम्परा में यह मान्य है कि सिद्ध वसुगुप्त को साक्षात् श्रीकण्ठ अर्थात् भगवान् शिव से ही प्रत्यभिज्ञाज्ञान प्राप्त हुआ था। वसुगुप्त से ही यह ज्ञान भट्टकल्लट को प्राप्त हुआ। शिवसूत्रविमर्शिनी में आचार्य क्षेमराज स्वयं यह तथ्य प्रकाशित करते हैं-

वसुगुप्तनामा गुरु एतानि (शिवसूत्राणि) च सम्यगधिगम्य भट्टश्रीकल्लटाद्येषु सच्छिष्येषु प्रकाशितवान्।

इस प्रकार, प्रत्यभिज्ञादर्शन की परम्परा स्वयं भूतभावन शिव (श्रीकण्ठ) से प्रारम्भ होकर भट्टकल्लट एवं सोमानन्द के माध्यम से विकसित हुई। इस परम्परा के विकास में उत्पलदेव, लक्ष्मणगुप्त (पुत्र) राजानक रामकण्ठ (उत्पलशिष्य) अभिनवगुप्त तथा क्षेमराज का विलक्षण योगदान है। विभ्रमाकर (उत्पल के दूसरे पुत्र) पद्मानन्द (सहाध्यायी) मनोरथगुप्त आदि भी उसी परम्परा की अग्रिम कड़ी हैं। चूँकि भट्टकल्लट एवं अभिनव का समय राजतरंगिणी एवं क्षेमेन्द्र के प्रामाण्य से सुनिश्चित है अतः यह कहा जा सकता है कि प्रत्यभिज्ञा शैव दर्शन की प्रभविष्णुता

---

1. जनस्यायत्नसिद्ध्यर्थमुदयाकरसूनुना-
   ईश्वरप्रत्यभिज्ञेयमुत्पलेनोपपादिता॥ -ई. प्र. का. ४.१८
2. त्रैयम्बकप्रसरसागरशायिसोमानन्दात्मजोत्पलजलक्ष्मणगुप्तनाथः। -तंत्रा. 37.61

की अवधि ई. सन् 825 से 1025 बीच रही होगी।[1]

वल्लभवेदान्त में कृष्णभक्ति की प्रतिष्ठा 'पुष्टितत्त्व' के रूप में हुई है। इस दृष्टि से प्रत्यभिज्ञा शैवदर्शन शुद्धाद्वैत का सहोदर प्रतीत होता है। क्योंकि इस दर्शन में भी परमसत्ता अथवा मोक्ष-प्राप्ति के लिये 'भक्तिलक्ष्मी' की ही सर्वोपरि प्रतिष्ठा की गई है। भक्तिश्री से सम्पन्न व्यक्ति के समान न कोई ऐश्वर्यवान् है और न भक्तिरहित जैसा निपटदरिद्र। यद्यपि मोक्षप्राप्ति के लिये इस दर्शन में भी आगमसम्मत अनुपाय, शाम्भव उपाय, शाक्त उपाय तथा आणव उपाय को पूर्ण मान्यता दी गई है, तथापि आचार्य उत्पल 'अनुपाय' पर ही आश्रित दीखते हैं, जिसमें महेश्वर के साक्षात् शक्तिपातवश सद्यः महेश्वरताप्राप्ति की संभावना बनी रहती है। महेश्वर की यही अहैतुकी कृपा (शक्तिपात) वाल्लभवेदान्त की पुष्टि के समकक्ष प्रतीत होती है। आचार्य उत्पल कहते हैं–[2]

न ध्यायतो न जपतः स्याद्यस्याविधिपूर्वकम्।
एवमेव शिवाभास्तं नुमो भक्तिशालिनम्।।। 2.1

भक्तिलक्ष्मीसमृद्धानां किमन्यदुपयाचितम्।
एतया वा दरिद्राणां किमन्यदुपयाचितम्।। 20.11-शिवस्तोत्रावली

यदि आचार्य उत्पल का प्रामाण्य स्वीकार करें तो भक्तिभावसंवलित शिवाद्वैत ज्ञान ही प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय का एकमात्र लक्ष्य सिद्ध होता है। भक्तिसमन्वित शुद्धाद्वैत ही वाल्लभवेदान्त का भी एकमात्र लक्ष्य है। इस प्रकार, पुष्टितत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित शिवभक्ति तथा कृष्णभक्ति और उन्हीं दोनों से संवलित कृष्णाद्वैत तथा शिवाद्वैत क्रमशः दोनों सम्प्रदायों में तुल्यप्रतिष्ठ दीखता है।

आचार्य उत्पल भक्तिसमन्वित अद्वैत के ही पक्षधर हैं, शुष्क ज्ञानमात्र के नहीं।[3] वह परमेश्वर से भी बढ़कर, उसकी भक्ति को श्रेय देते हैं।[4] आत्मा एवं परमात्मा (शिव) की प्रत्यभिज्ञा एवं उसकी परिपूर्ण अहन्ता का सतत विमर्श, शैवदर्शनाभिमत छत्तीस तत्त्वों के क्रियाकलापों के माध्यम से, परमेश्वर शिव का ही लीलोल्लास मानते हुए आचार्य उत्पल शिवाद्वैत का अनुभव करते हैं। उल्बण शिव-भक्ति-संवलित अद्वैतसिद्धि ही भोग एवं मोक्ष-दोनों का स्रोत है। इस शिवाद्वैत के सिद्ध होते ही दुःख भी सुखरूपता को प्राप्त हो जाता है, विष भी अमृत बन जाता है और संसार-बन्धन भी मोक्षरूप हो जाता है। ऐसे सिद्ध भक्त परमहंस-स्थिति में अनिर्वचनीय अद्वैतानन्द

---

1. भट्टेन्दुराजचरणाब्जकृताधिवासहृद्यश्रुतोऽभिनवगुप्तपदाभिधोऽहम्।। -ध्वन्यालोकलोचन।
तद्दृष्टिसंसृतिच्छेदि प्रत्यभिज्ञोपदेशिनः।
श्रीमल्लक्ष्मणगुप्तस्य गुरोर्विजयते वचः।। -मालिनीविजयवार्तिक, मंगल० 2
2. अनुग्रहाय लोकानां भट्टश्रीकल्लटादयः। अवन्तिवर्मणः काले सिद्धा भुवमवातरन्।। -राज० 5.66
श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात्साहित्यं बोधवारिधेः। --क्षेमेन्द्र
3. शुष्ककं मैव सिद्धेय मैव मुच्येय वापि तु। स्वादिष्टपरकाष्ठाप्तत्वद्भक्तिरसनिर्भरः।।
न विरक्तो न चापीशो मोक्षाकांक्षी त्वदर्चकः। भवेयमपि तूद्रिक्तभक्त्यासवरसोन्मदः।।
4. मुक्तिसंज्ञा विपक्वाया भक्तेरेव त्वयि प्रभो। तस्यामाद्यदशारूढा मुक्ताकल्पा वयं ततः।। -शिवस्तोत्रावली

का अनुभव करते हैं। आचार्य उत्पल ने अपनी लम्बी आयु में[1] संभवतः स्वयं इस शिवाद्वैत-सुख का अनुभव किया था-

दुःखान्यपि सुखायन्ते विषमप्यमृतायते।
मोक्षायते च संसारो यत्र मार्गः स शाङ्करः॥ 20.12
साक्षात्कृतभवद्रूपप्रसृतामृततर्पिताः।
उन्मूलिततृषो मत्ता विचरन्ति यथारुचि॥ 12.4-शिवस्तोमात्रावली

उपर्युक्त समस्त विवरण, कश्मीर प्रत्यभिज्ञा शैवदर्शन की परिचयात्मक प्ररोचनामात्र, माने जा सकते हैं। अभी उन विवरणों में ख्यातिवाद की पृष्ठभूमि भर प्रतिबिम्बित है। उसका स्वरूप अभी भी व्याख्येय ही है। प्रत्यभिज्ञादर्शन का सैद्धान्तिक विशदीकरण उत्पल की कालजयी कृतियों- शिवस्तोत्रावली, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृति (टीका) सिद्धित्रयी (अजडप्रमातृसिद्धि, ईश्वरसिद्धि, सम्बन्धसिद्धि) तथा शिवदृष्टिवृत्ति में सांगोपांगतया उपलब्ध होता है। आचार्य उत्पल के प्रथम तीनों ग्रंथों तथा उन पर लिखी गई आचार्य अभिनव की विमर्शिनी एवं विवृतिविमर्शिनी को मिलाकर ही प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का 'शास्त्रस्त्रपञ्चक' बनता है।

प्रत्यभिज्ञादर्शन में परमेश्वर चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया शक्तियों से सम्पन्न तथा सदैव सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह रूप पञ्च कृत्यों का कर्ता माना गया है-

आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्विभुः।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः॥ शिवदृष्टिः 1.2

इस दर्शन में शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त 36 तत्त्वों, 118 भुवनों, समस्त स्थूल-सूक्ष्म भावों तथा शिव से लेकर सकलपर्यन्त सात प्रमाताओं का विकास एक ही परमसत्ता से निरूपित किया गया है। बन्धन-मोक्ष, जीव-मुक्त, शिव-शक्ति- सबको एक ही परमेश्वर का लीलाविलास बताया गया है। फलतः शाङ्करवेदान्त के 'ब्रह्मसत्यम्' अथवा ब्रह्माद्वैततत्त्व की ही भाँति यह दर्शन भी 'शिवाद्वैत' की प्रतिष्ठा करता है। उत्पलदेव स्वयं इस दर्शन को अद्वयवाद, ईश्वराद्वयवाद, शिवाद्वैत, शिवाद्वय, शक्तिमद्वाद अथवा शैवदर्शन कहते हैं। पति (पशुपति) पाश एवं पशु के संघटकत्रय की प्रधानतावश इसे त्रिकदर्शन भी कहा जाता है। परन्तु अचार्य उत्पल की ही कृति 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' की प्रसिद्धिवश यह दर्शन कालान्तर में प्रत्यभिज्ञादर्शन के नाम से प्रख्यात हो गया।

प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार जीव (पशु) वस्तुतः शिव ही होता है परन्तु संसार में आकर अपने मूलस्वरूप अर्थात् शिवत्व को भूल जाता है तथा अपने स्थूल, सूक्ष्म अथवा कारणशरीर को ही अपना स्वरूप समझने लगता है। ऐसे बद्धजीव को अपने मूलस्वरूप शिवत्व की पहचान कराने के कारण ही यह दर्शन 'प्रत्यभिज्ञा' दर्शन कहा जाता है। प्रत्यभिज्ञा (प्रति+अभि+ज्ञा) का अर्थ है

---

1. मूढोऽस्मि दुःखकलितोऽस्मि जरादिदोषभीतोऽस्मि शक्तिरहितोऽस्मि तवाश्रितोऽस्मि।
शम्भो तथा कलय शीघ्रमुपैमि येन सर्वोत्तमां धुरमपोज्झितदुःखमार्गः॥ शिवस्तोत्रावली।1.8

पहचान, जिसमें तत्ता एवं इदन्ता की युगपत्प्रतीति होती है (तत्तेदन्तावगाहिनी प्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा) प्रति का अर्थ है प्रतीप अथवा विपरीत। अभि का अर्थ है- अभिमुख, आमने-सामने। ज्ञा का अर्थ है ज्ञान अथवा प्रकाश। अतएव विस्मृततत्त्व का अभिमुख रूप से ज्ञान होना ही प्रत्यभिज्ञा कहा जाता है। प्रतीपम् का तात्पर्य इतना ही है कि अपनी आत्मा का पूर्व में भी अवभास होता है। ऐसा नहीं है कि पहले उसका अस्तित्व विद्यमान न रहा हो क्योंकि वह अनवच्छिन्न रूप से प्रकाशित रहने वाला तत्त्व है। अपनी ही स्वातंत्र्य शक्ति के विलास से असीमित (अबाधित, अविभक्त) होते हुए भी वह सीमित (बाधित, विभक्त) सा प्रतीत होता है। अतएव प्रत्यभिज्ञा का अर्थ है- पूर्व में भात (ज्ञात) वस्तु का सम्प्रति भासमान के साथ एकीकरण। आचार्य अभिनव कहते हैं-

प्रतीपम् आत्माभिमुख्येन ज्ञानं प्रकाशः प्रत्यभिज्ञा। प्रतीपम् इति स्वात्माभासो हि नाननुभूतपूर्वोऽविच्छिन्नप्रकाशत्वात् तस्य।। स तु तच्छक्त्यैव विच्छिन्न इव विकल्पित इव लक्ष्यते इति वक्ष्यते। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा वि०।

यद्यपि आचार्य सोमानन्द, उत्पलदेव, अभिनवगुप्त तथा क्षेमराज ने प्रत्यभिज्ञा की व्याख्यायें भिन्नरीति से की हैं तथापि उन सबका निर्गलितार्थ एक ही प्रतीत होता है। वह यह कि आत्मा में माहेश्वर्य की अनुभूति ही प्रत्यभिज्ञा है। महेश्वर ही समस्त प्राणियों की आत्मा है क्योंकि उन (प्राणियों) की समस्त क्रियायें उसकी इच्छा, ज्ञान एवं क्रियादि शक्तियों से संवलित होती हैं। यह आत्मा स्वप्रकाश, पूर्वसिद्ध, पुराण तथा समस्त कार्यों की सिद्धि का समाश्रयभूत है। परन्तु ऐसा स्वसंवेदनसिद्ध आत्मा शिवरूप होते हुए भी मोह (मायाशक्ति अथवा मल) वश अपने ऐसे असीमित ऐश्वर्य को सर्वथा विस्मृत कर देता है और जब इसका वही असाधारण प्रभाव या सामर्थ्य अभिज्ञापित होता है अर्थात् जब उस आत्मा की अबाधित ज्ञान एवं क्रियाशक्तियों का अनुसन्धान होता है तो निश्चय ही उसकी प्रत्यभिज्ञा निरूपित होती है-

किन्तु मोहवशादस्मिन्दृष्टेऽप्यनुपलक्षिते।
शक्त्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदर्श्यते।। ई. प्र. का. 1.3

आचार्य क्षेमराज स्व-स्वरूप से अनभिज्ञ को ही संसारी जीव (पशु अथवा बद्ध) तथा अपनी वास्तविक शक्तियों से प्रत्यभिज्ञान को शिव मानते हैं-

तथाशक्तिदरिद्रः संसारी उच्यते। स्वशक्तिविकासे तु शिव एव।
-प्रत्यभिज्ञाहृदयम् पृ० 49

इस प्रकार, प्रत्यभिज्ञाशास्त्र का लक्ष्य है जीव को उसके वास्तविक शिवस्वरूप का प्रत्यभिज्ञान कराना ताकि वह सीमितता के निकृष्ट क्षेत्र से ऊपर उठकर असीमित ऐश्वर्य के उत्कृष्ट क्षेत्र का आनन्दानुभव कर सके।

प्रत्यभिज्ञादर्शन की ज्ञानमीमांसा सर्वथा स्पष्ट है। शङ्कर के ब्रह्माद्वैत की तरह यहाँ भी शिवाद्वैत की प्रतिष्ठा है, परन्तु शाङ्कर वेदान्त जैसा विवर्तवाद का उलझाव यहाँ नहीं है। इस दर्शन की मान्यता

है कि समस्त जगत्प्रपञ्च का मूल है एक परमसत्ता (परमशिव) जो प्रकाशविमर्शरूप है। अवभासित अथवा अभिव्यक्त होना उसका निसर्ग है। कर्तृत्व उसका ऐश्वर्य है। यदि वह परमसत्ता अवभासित होने में असमर्थ होती तो वह चैतन्याधिष्ठान आत्मा न होकर, घटादि की भाँति जड़वस्तु, होती, जैसा कि तंत्रालोक में आचार्य अभिनव कहते हैं-

अस्थास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः।
महेश्वरत्वं संवित्त्वं तदत्यक्षद् घटादिवत्।। 3.100

वस्तुतः वह महेश्वर (परमशिव) असीमित रूपों में अवभासित होने की सामर्थ्य से युक्त संवित्स्वरूप है। इसके विश्वोत्तीर्ण रूप में अहम् तथा इदम् (=विश्व) अभेदरूप में अवस्थित है अर्थात् परमशिव के चिन्मय रूप के साथ, पदार्थों का तादात्म्य होने के कारण, उनका भी चिन्मय ही रूप होता है।[1] अहम् उस महेश्वर का प्रकाशरूप है तथा उस अहन्ता की अनुभूति उसका विमर्शरूप है। यही विमर्श उस परमशिव की स्वातंत्र्यशक्ति भी कहा जाता है। इसी में चराचर जगत् सूक्ष्मरूप में अवस्थित रहता है, नन्हें बीज में वटवृक्ष की तरह। परमशिव की शक्ति ही चिति, परा शक्ति अथवा परावाक् कही जाती है। यही शक्ति विश्व के रूप में विकसित होती है। यह जगद्विकास ही परमशिव का विश्वमयरूप कहा जाता है-

यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः।
तथा हृदयबीजस्थं विश्वमेतच्चराचरम्।। परा त्रिं० 34

वस्तुतः विश्वोत्तीर्ण तथा विश्वमय- दोनों ही स्थितियों में परमार्थता एक ही मूलसत्ता की होती है। विश्वोत्तीर्ण रूप में जो परमशिव है, महेश्वर अथवा शिव भट्टारक है, विश्वमय रूप में भी वस्तुतः वही है। जब वह परमशिव जगत् रूप में अपना विकास करना चाहता है तो स्वयं से अभेदात्मना अवस्थित प्रमाता एवं प्रमेयों (तत्त्वों) को अपनी स्वातंत्र्यशक्ति (विमर्श) की महिमा से, स्वयं को ही आधार बनाकर पृथक् उन्मीलित कर देता है। कैसे नगरदर्पणवत्। उन्मीलन का तात्पर्य है पूर्वावस्थित का ही प्रकटीकरण, जो सृष्टि सृष्टि से पूर्व प्रकाशैकात्म्य रूप में अवस्थित है। जगद्विकास छत्तीस तत्त्वों में विभक्त है। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञादर्शन में सृष्टि, शाङ्करवेदान्त के ब्रह्मविवर्त जैसी नहीं है प्रत्युत वह परमशिव की आनन्दशक्ति का स्फारमात्र है, परमशिव की स्वातंत्र्यशक्ति का विलास है, स्व का ही उन्मीलन है जो अभिन्न होते हुए भी भिन्न दीखता है दर्पण में प्रतिबिम्बित नगर के समान।

अभिनव तथा क्षेमराज दोनों ही महेश्वर की स्वातंत्र्यशक्ति (विमर्श) को विश्वप्रपञ्च का हेतु मानते हैं।[2]

---

१. तदुत्तीर्णशिवभट्टारकस्य प्रकाशैकवपुषः प्रकाशैकरूपा एव भावाः।
२. चितिः स्वतंत्रा विश्वसिद्धिहेतुः। प्रत्य० सू०1- प्रत्यभिज्ञाहृदयम् पृ०50
सर्व एवायं विश्वप्रञ्च आनन्दशक्तिस्फारः। तंत्रालोक पृ०201
स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति। प्रत्य० सूत्र 2

निष्कर्ष यह है कि प्रत्यभिज्ञा दर्शन में परमसत्ता (परमशिव, महेश्वर) का अर्थ है शिव एवं शक्ति (अथवा प्रकाश एवं विमर्श) का सामरस्य। परन्तु यह सामरस्य दो पृथक् तत्त्वों का नहीं प्रत्युत एक ही वस्तु के दो पक्षों का है। मूल तत्त्व तो शिवाद्वैत ही है। विश्वोत्तीर्ण दशा का ही नाम है शिव तथा विश्वमय दशा का नाम है शक्ति। शिव प्रकाशरूप है तथा शक्ति विमर्श रूप। प्रकाशरूप शिव नित्यसत्तारूप अहन्ता का परिचायक है जिसके अभाव में किसी भी वस्तु का अस्तित्व ही संभव नहीं होता। विमर्शरूप शक्ति का तात्पर्य है अकृत्रिम अथवा स्वाभाविक रूप से अहम् का विस्फुरण या प्रतीति।

परन्तु परमसत्ता के ये दोनों पक्ष-शिव तथा शक्ति (अथवा प्रकाश एवं विमर्श, विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय) पूर्णतः अद्वैत हैं, कथमपि भिन्न नहीं। जैसे अग्नि से उष्णता, जल से शीतलता, पुष्प से सौरभ सर्वथा अभिन्न अथवा समरस होते हैं ठीक उसी प्रकार शिव तथा शक्ति तत्त्व भी पूर्णतः अभिन्न हैं-

न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।
न हिमस्य पृथक् शैत्यं नाग्नेरौष्ण्यं पृथग्भवेत्।। -शिवदृष्टिः 3.2.7

प्रत्यभिज्ञादर्शन में शिव-शक्ति अथवा प्रकाश-विमर्श की यह अद्वैतानुभूति ही 'शिवाद्वैत' के नाम से जानी जाती है। यही प्रत्यभिज्ञा है, अर्थात् पशु को (जीव) अपने पशुपतित्व का प्रत्यभिज्ञान, आत्मा को अपने महैश्वर्य का बोध होना। यही यथार्थज्ञान है। इस प्रत्यभिज्ञा की प्रतीति न होना अथवा शिवाद्वैतता की अनुभूति न होना ही इस दर्शन में **अख्याति** मानी जाती है।

वाल्लभ वेदान्त मूलतः अन्यख्यातिवादी दर्शन है। अन्यख्याति को परिभाषित करते हुए आचार्य बालकृष्ण भट्ट कहते हैं--

इन्द्रियेण गृह्यमाणाद् विषयात् शुक्त्यादिरूपात् अन्यस्य रजतादेः ख्यातिः अन्यख्यातिरित्युच्यते। -प्रमेयरत्नार्णवः

यह एक प्रकार की बुद्धिवृत्ति है जिसे **विपर्यास** कहा जाता है। विपर्यास की व्याख्या करते हुए महाप्रभु वल्लभाचार्य कहते हैं- **विपर्यासो भिन्नार्थपतिपादकः** और भिन्नार्थ की व्याख्या आचार्य बालकृष्ण करते हैं- **इन्द्रियसंयुक्तादर्थाद् भिन्नोऽर्थः।**

इस प्रकार इन्द्रियसंयुक्त अर्थ (शुक्ति) से भिन्न रजतत्वरूप अर्थ की प्रतीति ही अन्यख्याति है। इसकी सांगोपांग प्रक्रिया स्पष्ट करते हुए गोस्वामी पुरुषोत्तम कहते हैं-

तत्र पूर्वोत्पन्नस्यानुभवस्य संस्कारात्मना स्थितस्य उद्बोधकैः प्राबल्ये मायिकार्थाकारवती बुद्धिवृत्तिः मायया बहिः क्षिप्यते। तदा सा पुरोवर्तिनं सर्वतोऽशतो वा ऽऽवृत्य बहिः अवभासते इति मायिकस्यान्यस्यैव ख्यानाद् **अन्यख्यातिरित्यत्र व्यवह्रियते।**

अन्यख्याति का वाल्लभवेदान्तीय सिद्धान्त सर्वथा स्पष्ट है। परन्तु शुद्धाद्वैतमत में **अख्याति** का सन्दर्भ गोस्वामी पुरुषोत्तमचरण जी ने विवेचित किया है जो प्रत्यभिज्ञादर्शन-सम्मत अख्याति के

नामसाम्यवश व्याख्येय प्रतीत होता है।

गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरण की दृष्टि में **अन्यख्याति** की प्रासंगिकता मात्र अल्पज्ञान-सम्पन्नों में है। जो तत्त्वज्ञान अथवा यथार्थ ज्ञान से विरहित है उन्हीं को अन्यख्याति होनी संभव है। परन्तु जो पूर्णज्ञानी अथवा पूर्णयोगी हैं उन्हें शुक्ति में रजत का भ्रम भला क्यों होगा? वे तो तत्त्ववित् हैं, पूर्णयोगी हैं उन्हें शुक्ति में रजत का भ्रम भला क्यों होगा? वे तो तत्त्ववित् हैं, यथार्थज्ञाता हैं। अतः उन्हें अन्यख्याति क्यों होगी। वस्तुतः उनके सन्दर्भ में तो **अख्याति** ही उचित है। अर्थात् उनके सन्दर्भ में तो भ्रमाभाव ही उचित है।

तदस्माकमभीष्टम्। परं कश्चिद् विशेषोऽस्ति। तस्माद्ये पूर्णज्ञानिनः पूर्णयोगिनो वा तेषां सर्वत्र सर्वप्रत्यक्षम्। अनागतमतीतञ्च (भाग० पुराण 10, 61.21) **इत्यादिवाक्यात्। अतस्तेषां ज्ञानस्य यथार्थत्वात् तत्रोक्ता अख्यातिः उचिता, न सर्वत्र।**

उपर्युक्त सन्दर्भ में निश्चय ही गोस्वामी जी अख्यातिशब्द का प्रयोग **भ्रमात्मक ज्ञान के अभाव-अर्थ** में कर रहे हैं।

परन्तु प्रत्यभिज्ञादर्शन में प्रयुक्त अख्याति ठीक इसके विपरीत अर्थ में प्रयुक्त परिलक्षित होती है। शिव-शक्ति का, आत्मापरमात्मा का, पशुपशुपति का अथवा प्रकाशविमर्श का अद्वैत ही मूलतः ख्याति अर्थात् यथार्थज्ञान है। इस अद्वैत अथवा प्रत्यभिज्ञा की अननुभूति ही शैवदर्शन में अख्याति अथवा संकुचितख्याति मानी गई है। इस प्रकार, वाल्लभवेदान्त तथा शिवाद्वैत मतों में प्रतिष्ठित **अख्याति** संज्ञाबलेन जो उभयनिष्ठ सिद्ध होती है परन्तु दोनों की अन्वर्थनामता सर्वथा भिन्न है। शुद्धाद्वैत की अख्याति भ्रमाभाव है जबकि शिवाद्वैत की अख्याति पूर्णतः भ्रममात्र है।

प्रत्यभिज्ञादर्शन में भी अन्यान्य दर्शनों की तरह अज्ञान को ही बन्धन का कारण माना गया है। परन्तु इस ज्ञान-अज्ञान के स्वरूप एवं क्रियाकलापादि के विषय में उसका मतैक्य अन्य दर्शनों से सिद्ध नहीं होता। प्रत्यभिज्ञादर्शन में परमसत्ता की अभिन्न शक्ति भगवती परा वाक् (चित् शक्ति) ही क्रमशः पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी रूप में परमसत्ता से ऐक्यप्राप्त सूक्ष्मतम ज्ञान का स्थूलतम रूप में आभासन करती है। अतः इससे ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय में परमार्थतः अभेद होता है। ज्ञाता ही ज्ञान के माध्यम से ज्ञेय रूप में अवस्थित होता है। इस ज्ञान का, अपने पूर्ण अबाधित सामर्थ्य के साथ प्रकाशित होना ही शिवदशा है परन्तु भेदरूपता, अपूर्ण एवं संकुचित सामर्थ्य के साथ स्फुटित होना ही अज्ञान तथा जीवदशा मानी गई है। अतएव प्रत्यभिज्ञा में अज्ञान, ज्ञान का अभाव नहीं प्रत्युत ज्ञान का सीमिततया प्रकाशन मात्र है। यही अज्ञान, जाड्य अथवा अविद्या है। यह अज्ञान ही स्वरूपविकास-स्थिति में ज्ञान बन जाता है! वस्तुतः ज्ञान एवं अज्ञान-दोनों ही परमसत्ता की स्वतंत्र इच्छा की लीलामात्र हैं।

स्वात्मप्रकाशकत्वेन विद्या। जगत्प्रकाशकत्वेन अविद्या।।

इसी सन्दर्भ में यह दर्शन त्रिविध मलों (आणव, मायीय तथा कार्म) की भी व्याख्या करता

है। ये त्रिविध मल भी परमेश्वरेच्छया माया शक्ति द्वारा अवकल्पित होते हैं। इस प्रकार माया के पञ्चविध कञ्चुकों से आवेष्टित रूपों को चित् आनन्द इच्छादि शक्तियों के संकोचन के साथ कला विद्यादि रूपों को धारण करना ही शिव का पशुभाव, तथा इनका निवारण ही मोक्षभाव है। इसलिये प्रत्यभिज्ञादर्शन में मोक्षप्राप्ति से किसी अवस्थान्तर या लोकान्तर की प्राप्ति जैसी उपलब्धि का व्याख्यान नहीं। वस्तुतः महैश्वर्य की अनुभूति ही मुक्ति है। जीव की शिवतावाप्ति ही मुक्ति है।

नान्दीवाक्

यह जानकर हार्दिक आनन्द-उल्लास हुआ है कि संस्कृत-विदुषी सौजन्यमूर्ति आचार्य वेदकुमारी घई का जम्मू विश्वविद्यालयीय उनके वशंवद शिष्यों, सुहृदों एवं प्रशंसकों द्वारा सारस्वताभिनन्दन किया जा रहा है। मैं इस मंगल-वृत्त से पुलकित हूँ- स्वयमेव प्रो० घई का आत्मीय अनुकम्प्य होने के कारण।

आचार्या वेदकुमारी घई काव्यशास्त्रमर्मज्ञ, लोकप्रिय कवयित्री, निष्पक्ष समीक्षिका, मुखर वक्ता एवं सर्वमान्य विदुषी हैं। नीलमतपुराणविषयक उनका प्रगाढ़ अध्ययन जहाँ उनकी अनुसन्धानात्मक अर्हता का साक्षी है वहीं भल्लटशतक एवं सूर्यशतक के प्रकाशित संस्करण उनकी सम्पादकीय प्रतिभा के प्रतिमान हैं।

परन्तु इन अर्हताओं से भी ऊपर है आचार्य घई का एक ममतामयी सहृदय कवयित्री का रूप। मैंने स्वयं उन्हें 'विंशशताब्दीसंस्कृतकाव्यामृतम्' (दिल्ली संस्कृत अकादमी-प्रकाशित, 200 ई०) में सादर संकलित किया है।

ऐसी प्रतिभापटिष्ठा, सद्गुणगरिष्ठा एवं वात्सल्यमयी सर्वमान्या विदुषी का अभिनन्दन कर, वस्तुतः सहृदय-लोक स्वयं कृतार्थ हो रहा है। मैं परमश्रद्धेया प्रो० वेदकुमारी घई की निर्विघ्न शतायुष्य-कामना करता हूँ।

नान्दीवाक्

आजीवनं तपस्तप्तं सारस्वतमहो यया।
समाप्नुयाच्छतायुष्यं घई वेदकुमार्यसौ।।1।।

रामप्रतापसम्पृक्ता सौष्ठवौदार्यवाङ्मयी।
सवित्री कान्तकाव्यानां विदुषी सा यशस्विनी।।2।।

आर्तानाञ्चव्यथावेत्री कवयित्री विकस्वरा।
काव्यशास्त्रबृहन्मर्मज्ञापयित्री विदां वरा।।3।।

अक्लिष्टपदबन्धौघमण्डिताश्चारुसूक्तयः।
अधिगोष्ठि विराजन्ते यदीया बुधशंसिताः।।4।।

सुरवाक्सेवनाऽवाप्तकीर्तिभास्वरजीवना।
घई वेदकुमारी सा भारते कैर्न वन्द्यते।।5।।

काव्यशास्त्रलसज्ज्योत्स्ना शीलसद्‌गुणपीठिका।
पाण्डितीसाहितीमूर्तिर्घई भातु शतं समाः।।6।।

काव्ये नाट्ये समीक्षायां मधुवाचामुपक्रमे।
लीलायते समं यस्या रससिद्धा सरस्वती।।7।।

अभिनन्द्यां समर्च्यां तामभिनन्द्य कवीश्वरीम्।
जातस्संस्कृतलोकोऽयं धन्यधन्यो ऽथ सम्मतः।।8।।

मिश्रो ऽभिराजराजेन्द्रो वत्सलां वन्दतेऽनघाम्।
शारदामपरां प्रीत्या शारदादेशवासिनीम्।।9।।

श्रियं नैलमतीं शोधे दधाना विबुधोत्तमा।
वन्द्या वेदकुमारी सा यशोभिरमरा भवेत्।।10।।

हृदयेन पराम्बाभा कराभ्याञ्च सरस्वती।
नेत्राभ्यां कमला जीव्याच्चिरं कोविदसत्तमा।।11।।



श्रीहर्षकृत नैषधीयचरित में सूर्यवर्णन

प्रो. शुकदेव शर्मा

भगवान् सूर्य चराचरात्मक जगत् का प्राण ही नहीं अपितु उसका मूलभूत तत्त्व भी हैं। सम्पूर्ण प्राणी सूर्य से ही चैतन्य को प्राप्त करते हैं; फलतः सूर्य के अभाव में सारी सृष्टि अन्धकाराच्छन्न ही नहीं, निष्पन्द सी प्रतीत होने लगती है। देवों का प्रसविता होने के कारण इन्हें 'सविता' के महत्त्वपूर्ण अभिधान से अभिमण्डित किया जाता है। प्राण-ऊर्जा से ऊर्जस्वित् हुआ 'आदित्य' अपनी प्रखर दीप्ति से समस्त चराचर संसार को जीवन्त बनाता है। 'सविता' अथवा 'आदित्य' संज्ञाओं से विभूषित सूर्य प्रभाजन्य अप्रतिम/उद्दाम शक्ति का समुच्चय है; उसी प्रभासित सूर्य की आराधना/पर्युपासना करने से प्राणवन्त प्राणियों के जीवन में प्रभास्वरता, तेजस्विता तथा प्रचण्डता का संचार स्वतः ही हो जाता है। 'श्रीमद्भगवद्गीता' के--"ज्योतिषां रविरंशुमान्" (10, 21) कथन से यह तथ्य प्रमाणित हो जाता है कि सूर्य न केवल एक देदीप्यमान नक्षत्र मात्र है, अपितु वह स्वयं ब्रह्मस्वरूप है जो स्वयं को समस्त धरा पर बृंहणशील बना कर 'सर्वजनहिताय' की चेतना का विस्तार करता है। अत एव भारतीय संस्कृति में सूर्य देवता की आराधना आध्यात्मिक भावना से संवलित होकर की जाती है। हमारे आद्य पूर्वजों (ऋषियों) के समय से ही सूर्योपासना, अर्घ्यदान आदि की परम्परा भारतीय संस्कृति में प्रोद्भासित रही है। भारतीय वाङ्मय में यह एक प्रतिबद्ध धारणा परिव्याप्त है कि सूर्य-सान्निध्य (सूर्यप्रभा के स्पर्श) से शरीर में अपूर्व शक्ति, ओज, तेज एवं सहज कान्ति की अभिवृद्धि होती है।

संस्कृतसाहित्य में अन्यान्य स्थानों पर सूर्य का 'वैद्याभिराज' के रूप में वर्णन उपलब्ध है। सूर्य अपनी रक्ताभ चिन्मयी रश्मियों द्वारा बहुविध रोगों (कुष्ठादि) का निवारण कर जीवों को आरोग्य प्रदान करता हुआ सुखात्मक अनुभूति करवाता है। समदर्शिता तथा 'सर्वभूतहिते रतः' की उदात्त भावना से अनुप्राणित सूर्य को हमारे शास्त्र 'मित्र' के रूप में वर्णित करते हैं। अन्य सभी देवताओं की अपेक्षा, सूर्य एकमात्र प्रत्यक्ष दर्शनीय देव है। सूर्य काल-स्वरूप, काल-नियन्ता एवं ऋतु-नियामक भी है--"ऋतुकर्ता प्रभाकरः।" घटी-पल, दिन-रात, नक्षत्र-मुहूर्त्त, तिथि-पक्ष, मास-संवत्सर आदि सब सूर्याश्रित हैं।

संस्कृतसाहित्य के आदि साहित्य--वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, पुराण, रामायण, महाभारत आदि तथा तदुत्तर महाकाव्य नाटक, गद्यकाव्य, स्तोत्र, शतक एवं संस्कृतसाहित्य की अन्य विधाओं में इतर ऋषियों, मुनियों, योगियों द्वारा प्रणीत अनेक सूर्य-स्तवन उपलब्ध हैं। भारतीय संस्कृत-काव्यशास्त्र के अनुसार, 'महाकाव्य' में प्राकृतिक तत्त्वों का वर्णन नितरां अपेक्षित माना गया

है।[1] अत एव सूर्य को प्राकृतिक तत्त्व मानते हुए संस्कृत-कवियों ने सूर्य के विविध स्वरूपों का विशद वर्णन किया है। इसी परम्परा का नैषधकार श्रीहर्ष अपवाद न बन सके।

संस्कृतसाहित्य के महाकवि श्रीहर्ष कान्यकुब्जेश्वर[2] जयचन्द्र (जयन्तचन्द्र) के राज्याश्रित (समकालीन 1136-1195 ई.) एवं श्रीहीर-मामल्लदेवी के सुपुत्र थे।[3] संस्कृतसाहित्य में, यद्यपि स्थैर्यविचारप्रकरण, विजयप्रशस्ति, खण्डनखण्डखाद्य, गौडोर्वीशप्रशस्ति, अर्णववर्णन, छिन्दप्रशस्ति, शिवशक्तिसिद्धि, नवसाहसाङ्कचरित, ईश्वराभिसन्धि इनकी रचनायें स्वीकार की जाती हैं; तदपि इनका कीर्त्तिस्तम्भ तो खण्डनखण्डखाद्य (दार्शनिक ग्रन्थ) एवं नैषधीयचरित (महाकाव्य) पर ही समाश्रित है। इनका 'नैषधीयचरित' संस्कृत में अपने अप्रतिम काव्यसौष्ठव के लिए विख्यात है। यह "गौरवपूर्ण महाकाव्य-पञ्चक" में अन्यतम ही नहीं अपितु सर्वोत्तम माना जाता है। संस्कृत साहित्य में निर्विवादरूपेण दीपशिखा महाकवि कालिदास को श्रेष्ठतम माना जाता है किन्तु भारवि-माघ की अपेक्षा श्रीहर्ष कहीं अधिक उच्चतर माने गए हैं।[4]

यद्यपि 'नैषधीयचरित' चरित्र-प्रधान (नल-दमयन्ती) महाकाव्य है तदपि इतने मात्र से, महाकवि द्वारा तत्सम्बन्धी घटनाओं के संघटन; पदार्थों के रम्य विवरणों के प्रस्तुतीकरण; भावों-रसों के निरूपण एवं प्राकृतिक दृश्यों के भव्य चित्र चित्रित करने में किसी प्रकार की न्यूनता दृग्गोचर नहीं होती।

प्रकृति की अनोखी एवं आश्चर्यमयी लीलायें प्राणीमात्र के लिए दैनन्दिन अनुभव के विषय हैं। इस भूतल पर अवतरित होते ही मानव स्वयं को कौतुकावह प्राकृतिक दृश्यों द्वारा चारों ओर से घिरा हुआ पाता है। प्रातःकाल प्राची दिशा में कमनीय किरणों को छिटका कर भूतल को काञ्चन-रञ्जित बना देने वाला अग्निपुञ्जमय-सा सूर्यपिण्ड एवं सायंकाल में राजत-रश्मियों को बिखेर कर जगन्मण्डल को शीतलता-सागर में उन्मज्जित करने वाला चन्द्रबिम्ब किस प्राणी के अन्तस् में कौतुकमय विस्मय उत्पन्न नहीं करते? वर्षाकालीन नील गगनमण्डल में काले-काले विचित्र बलाहकों की उड़ती हुई कतारें, उनके पारस्परिक संघर्ष से उत्पन्न कौंधने वाली बिजली की लपक तथा कर्णकुहरों को बधिर बना देने वाले मेघों के गर्जन की गड़गड़ाहट आदि प्राकृतिक दृश्य मनुष्य मात्र के हृदय पर एक अमिट छाप बनाये बिना नहीं रह सकते? वैदिक आर्यों ने इन प्राकृतिक लीलाओं को सुगमतया स्पष्ट करने के लिए विभिन्न देवताओं की उद्भावना की है। उनका विश्वास है कि इन्हीं देवताओं के अनुग्रह से जगत् का समस्त कार्यकलाप संचालित होता है तथा भिन्न-भिन्न प्राकृतिक घटनायें उन्हीं के प्रभाव से सम्पन्न होती हैं।

---

1. "सन्ध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः। प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः।।" – साहित्यदर्पण, आचार्य विश्वनाथ, 6, 322
2. "ताम्बूलं द्वयमासनञ्च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्।" नैषधीयचरित, देवर्षि सनाढ्य शास्त्री (व्या.), (वाराणसी : कृष्णदास अकादमी), 1987, (22, 153)।
3. "श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं, श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।" वही, (लै. 1, 145)।
4. "उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः च भारविः।" (अज्ञात)।

वैदिक समय में मन्त्रों द्वारा जिस देवता की स्तुति की जाती थी, वही देवता स्तुतिकाल में बृहत्तम, व्यापक, जगत्स्रष्टा तथा संसार का सर्वाधिक उपकर्त्ता माना जाता था। आर्यों ने सभी देवताओं को मुख्यतया द्यु-अन्तरिक्ष-पृथिवीस्थानीय के रूप में त्रिधा विभक्त किया है। सौर-देवताओं में सूर्य का इतना ठोस स्वरूप है कि इसके भौतिक आधार–उदय होने वाले सूर्य– को मन्त्रों में कभी विस्मृत नहीं किया गया है। इसके स्थूलतम-सूक्ष्मतम स्वरूप का वर्णन 'ऋग्वेद' में विविधतया उपलब्ध है : नेत्ररूपेण सभी प्राणियों के शुभाशुभ कार्यों का द्रष्टा; स्थावर-जङ्गम पदार्थों की आत्मा (सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च); 'हरित' नामक सात घोड़ों के रथ पर आरूढ़, आकाश में उड़ने वाला पक्षी, रोगादि का विनाशक – न जाने किस-किस रूप में इसका अङ्कन हुआ है।[1]

आगे चलकर, ब्राह्मणग्रन्थों - उपनिषदों - पुराणों में सूर्यसम्बन्धी विविध वर्णनों की बहुतायत उपलब्ध है। किन्तु प्रकृति-तत्त्व के रूप में सूर्य का चित्रण आदि कवि वाल्मीकि ने किया है। तत्पश्चात् प्रायः संस्कृत के सभी कवियों ने अपनी-अपनी कृतियों में इसके विलक्षण स्वरूपों के असंख्य चित्र चित्रित किये हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों ने तो महाकाव्य में सूर्योदय सन्ध्या आदि प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण आवश्यक स्वीकार किया है। सम्भवतः इससे कथानक में गति, सहजता, रसपरिपाक एवं नायक-नायिका के चरित्र को चित्रित करने में सहजता का सन्निवेश हो जाता है। इसी मार्ग का अनुसरण करते हुए महाकवि श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य 'नैषधीयचरित' में सूर्य के विभिन्न स्वरूपों का चित्रण कर अपने वैदग्ध्य एवं प्रकृतिप्रियता का परिचय दिया है।

ध्रुव–अरुन्धती–स्वाती–आर्द्रा–आदि तारिकाओं की (प्रातः होते ही) अप्रकाशशीलता, सूर्यकिरणों का अतिवेगेन नभःप्रसार, चन्द्रमा की निष्प्रभता एवं अन्धेरे से लड़ते रहने के कारण उसकी श्रान्तता का भव्य दृश्य प्रस्तुत करते हुए कवि का कहना है कि, "स्वरूपतः सूक्ष्म (ध्रुव-अरुन्धती आदि) तारिकाएं पूर्ववत् दृग्गोचर नहीं होतीं; अहमहमिकया सतत प्रवृत्त सूर्यकिरणें क्रमशः गगन–प्राङ्गण में व्याप्त हो रही हैं। क्षीणप्रभ यह निशापति रात्रि-अन्धकार से युद्धरत किरणों की थकान कह रहा है।"[2]

लाल-लाल सूर्यकिरणों के प्रसार, तमोनाश एवं अतिशय रक्त सूर्यकिरणों को 'लाक्षालक्ष्मी की अभिपातुक' के रूप में अभिव्यक्त करते हुए श्रीहर्ष का कथन है कि, "अन्धकार का ढेर अलक्तक की लक्ष्मी (लाल शोभा) को अतिक्रान्त करती हुई सूर्यकिरणों द्वारा अत्यन्त शुभ्र पंखों वाले हंसों की चञ्चल चोञ्चों से स्पष्टतः विलोडित कीचड़ के ढेर की भान्ति ऊपर उड़ा जा रहा है और स्वयं को कृष्ण मानती हुई भ्रमरी भी (सूर्यकिरणों द्वारा) कृष्णारूप शोभा को जैसे प्राप्त कर रही है।"[3]

---

1. ऋग्वेद : 7, 77, 3; 1, 191, 9; 5, 7, 63, 4; 3, 62, 10; 7, 63, 1. आदि।
2. "अमहतिरास्तादृक् तारा न लोचनगोचरास्तरणिकिरणा द्यामञ्चन्ति क्रमादपरस्परा:। कथयति परिश्रान्तिं रात्रीतमः सहयुध्वनाम् अयमपि दरिद्राणप्राणस्तमीदयितस्त्विषाम्।।" नैषधीयचरित,देवर्षि सनाढ्य शास्त्री (व्या.) (वाराणसी : कृष्णदास अकादमी), 1987 (नै. 17, 4)।
3. "स्फुरति तिमिरस्तोमः पङ्कप्रपञ्च इवोच्चकैः पुरुसितगरुच्चञ्चच्चञ्चूपुटस्फुटचुम्बितः। अपि मधुकरी कालिम्मन्या विराजति धूमलच्छविरिव रवेर्लाक्षालक्ष्मीं करैरभिपातुकैः।।" वही, (नै. 19, 5)।

ऐसा प्रतीत होता है कि कवि की बहुज्ञता ने यत्र-तत्र पर्याप्त हस्तक्षेप किया है। उसका मन प्रभातकालीन रमणीयता से बहक कर वेदों, शास्त्रों एवं पुराणों के गह्वर में भी अपनी कल्पना के उपकरण ढूंढ़ने चला जाता है। प्रातः सूर्यकिरणों के शनैः शनैः विस्तृत; तारों के विलुप्त तथा चन्द्रमा के निष्प्रभ होने के प्रति महाकवि कितनी दूर की गूढ़कल्पना करता है कि, "भगवान् सूर्य की प्रभातकालिक किरणें 'ऋक्' रूप मानी गई हैं और प्रत्येक ऋचा के प्रारम्भ में 'ओङ्कार' अवश्य रहता है। तो प्रातः सूर्य की किरणरूपी ऋचाओं के ओङ्कारों में अनुस्वारसूचक बिन्दुओं को लगाने के लिए ही मानों ये आकाश के निर्मल तारे बटोर लिए जाते हैं और उदात्त स्वर की रचना के लिए ही सम्भवतः चन्द्रमण्डल से उदात्त (ऊंची) रश्मियां ले ली जाती हैं।"[1]

प्रातःकाल वेदपाठियों की वेदध्वनि के प्रति वेदों की सहस्र शाखाओं के समान सूर्य की सहस्र किरणों के रूप में श्रीहर्ष की परिकल्पना अत्यन्त रमणीय प्रतीत हो रही है कि, "चारों वेदों की एक सहस्र शाखायें ही सूर्य की सहस्र किरणों के रूप में विवर्तित हुई हैं और वे किरणें हमारे समीप आ गई हैं। यह प्रातः वेदपाठियों की मुखरूपी कन्दराओं में इन्हीं वेदशाखा- रूपधारी सूर्यकिरणों की वेद-पदरूप प्रतिध्वनि ही तो गगन में उड़ती (गूंजती) है।"[2] इस प्रकार की कल्पना कवि की शास्त्रज्ञता तथा रचना-कौशल का तो अवश्य पूर्व परिचय देती है किन्तु रविकिरणों अथवा वेदपाठियों के प्रति क्या भाव उत्पन्न करती है, यह कहा नहीं जा सकता? एवमेव, कभी 'रामायण', कभी पुराण, कभी धर्मशास्त्र तथा कभी 'महाभारत' आदि के प्रसङ्ग कवि को दूर खींच ले जाते हैं।[3] किन्तु इस पर भी कहा जा सकता है कि "नैषधीयचरित" में प्रभात का सौन्दर्य-वर्णन बड़ी सहृदयता के साथ हुआ है।

प्राकृतिक दृश्य है कि रात्रि-समाप्ति पर दिनोदय हो रहा है। सूर्यकिरणें उदयगिरि-शृङ्गों पर पड़ रही हैं, जिससे पिघल कर शिलाजतु बह रहा है; सूर्य की सुनहरी दीप्ति पड़ने से गारुड़मणी का लाल सुनहरी नई ईंटों का घेरा-सा बन गया है। इस पर महाकवि ने यह कल्पना कर डाली कि रात्रि का दिन के साथ युद्ध हुआ जिसमें दिन की विजय हुई कि, "इस कौतुक (युद्ध) के दर्शनार्थ भगवान् सूर्य उदयाचल के शिखर पर चढ़ गए हैं। उनके ताप (ऊष्मा) से शिखर की लाक्षाशिलायें शीघ्र पिघल कर बहने लगीं (यह प्राची की लालिमा उदयगिरि के वे ही लाक्षा-प्रवाह हैं)। (सूर्यदेव के साथ अरुणदेव भी हैं) अतः अनुज (गरुड़) उनसे मिलकर श्रद्धावनत हो गए हैं। दोनों भाईयों के मिलने से यह नई ईंटों की चारदिवारी की शङ्का-सी बन गई है क्योंकि अरुण का प्रकाश लाल है और गरुड़ के स्वर्णिम विशाल पंख हैं।[4]

1. "रविरुचिऋचामोङ्कारेषु स्फुटामलबिन्दुतां, गमयितुममूरुच्चीयन्ते विहायसि तारकाः। स्वरविरचनाया-सामुच्चैरुदात्ततयाऽऽहृताः, शिशिरमहसो बिम्बादस्मादसंशयमंशवः।।" वही, (नै. 19, 7)।
2. "दशशतचतुर्वेदी शाखाविवर्तनमूर्त्तयः, सविधमधुनाऽलङ्कुर्वन्ति ध्रुवं रविरश्मयः। वदनकुहरेष्वध्येतॄणामयं तदुदञ्चति, श्रुतिपदमयस्ते धामेव प्रतिध्वनिरध्वनि।।" वही, (नै. 19, 10)।
3. वही, (नै. 19, 8; 15; 43)।
4. "उदयशिखरिप्रस्थान्यह्ना रणेऽत्र निशःक्षणे, दधति विहरत्पूषाण्यूष्मद्रुताश्मजतुस्रवान्। उदयदरुणप्रह्वीभावादरादरुणानुजे, मिलति किमु तत्सङ्गाच्छङ्क्या नवेष्टकवेष्टना।।" वही, (नै. 19, 16)।

अरुणिमा में अग्नि, ताराओं में लाजा, प्रातः सन्ध्या में वधू एवं सूर्य में वर का आरोप कर विवाह-दृश्य के रूप में कल्पना करते हुए महाकाव्यकार का कथन है कि, "जो प्रातः सन्ध्या अरुण देव की किरणरूपी अग्नि में तारकरूपी लाजाओं की आहुति दे रही है, (अब) ऐसा प्रतीत होता है कि इस (होमकारिणी) सन्ध्या (वधू) का दिनकर पाणिग्रहण करेंगे। क्योंकि इसी (सन्ध्यावधू) के समान वह (वर सूर्य) भी आगे-पीछे (अरुण किरणरूपी) अग्नि की भ्रान्तिरूपा परिक्रमा कर रहा है। भला कौन व्यक्ति उनके किरणरूपी हाथों को उत्कण्ठित होकर (या जल देते हुए) सकुतूहल न देखेगा?"[1]

सूर्य का तेज (किरणें) अब पूर्व दिशा की ओर से नल-प्रासाद में आकर फैलना चाहता है जिससे महाराज नल के उठने में एक क्षण का भी विलम्ब न होगा; इसी भाव को अभिव्यक्त करते हुए कवि कहता है कि, "प्राची के नित्य पथिक होने के कारण वृत्रासुर-हन्ता (इन्द्र) को प्रत्यक्ष करने वाली तेजोराशि के स्वामी (सूर्य) के तेज यहाँ (प्रासाद में) तुझे (नल को) भलीभान्ति देखेंगे। अरे! तीक्ष्णता (चातुरी = सूक्ष्मबुद्धित्व) के धारण करने से ऊहा (अविद्यमान प्रकाशादि का प्रकटीकरण) एवं अपोह (विद्यमान अन्धकार का निराकरण करने) में समर्थ (सूर्य तेज) तुम दोनों (इन्द्र-नल) की शोभा-सम्पदारूप लक्ष्मी के तारतम्यसम्बन्धी विचारकौशल का विस्तार करें।"[2]

प्रभात के समय शनै-शनैः कमल-कमलिनी की पंखुड़ियों के विकसित होने का वर्णन कर कवि पाठकों के अन्तस् में एक अभिनव भाव उत्पन्न करते हुए कहता है कि, "यह कमलिनी दिन का उदय होने पर (प्रातःकाल) प्रथम विकसित पत्र (पंखुड़ी) द्वारा सूर्यकिरणों का आभोग भोगने (भोजन) में प्रवृत्त होने से पूर्व 'आपोशान' (मन्त्र पढ़कर आचमन) करने के निमित्त क्या चुल्लू बनाये हैं? दर्शकों के मन में वस्तुतः ऐसा विचार उत्पन्न हो जाता है।[3]"

कवि ने कमलों एवं कुमुदों का सूर्य के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हुए कहा है कि सूर्य के उदित होने पर कमल विकसित तथा कुमुद मूर्च्छित हो जाते हैं परन्तु सूर्य के अस्त होने पर कमल मूर्च्छित और कुमुद खिलने लगते हैं, "कमलों के मित्र सूर्य के उदित होने पर कमल प्रसन्न क्यों न हों तथा अपने मित्र चन्द्रमा के निस्तेज होने पर कुमुद मूर्च्छित (निमीलित) क्यों न हो? ऐसा प्रतीत होता है कि दिन में कमलों ने कुमुदों को अपनी निद्रा देकर रात्रिगत हिमालय की शिलाओं जैसी उनकी शुभ्र हंसी ले ली हो।"[4]

---

1. "अरुणकिरणे वह्नौ लाजानुडूनि जुहोति या, परिणयति तां सन्ध्यामेतामवैमि मणिर्दिवः। इयमिव स एवाग्निभ्रान्ति करोति पुरा यतः, करमपि न कस्तस्यैवोत्कः सकौतुकमीक्षितुम्।।" वही, (नै. 19, 20)।
2. "प्रथमककुभः पान्थत्वेन स्फुटेक्षितवृत्रहाण्यनुपदमिह द्रक्ष्यन्ति त्वां महाँसि भट्टस्पतेः। पटिमवहनादूहापोहक्षमाणि वितन्वतामहह! युवयोस्तावल्लक्ष्मीविवेचनचातुरीम्।।" वही, (नै. 19, 26)।
3. "मिहिरकिरणाभोगं भोक्तुं प्रवृत्ततया पुरः, कलितचुलुकाऽऽपोशानस्य ग्रहार्थमियं किमु? इति विकसितेनैकेन प्राग्दलेन सरोजिनी, जनयति मतिं साक्षात्कर्त्तुर्जनस्य दिनोदये।।" वही, (नै. 19, 28)।
4. "सरसिजवनान्युद्यत्पक्षार्यमाणि हसन्तु न? क्षतरुचिसुहृच्चन्द्रं तन्द्रामुपैतु न कैरवम्? हिमगिरिदृषद्दायादश्रीप्रतीतमदः स्मितं, कुमुदविपिनस्याथो पाथोरुहैर्निजनिद्रया।।" वही, (नै. 19, 32)।

प्रभात वेला में राजाओं को जगाने के लिए चारणों द्वारा स्तुतिगान तथा शहनाई आदि वाद्य बजाए जाते रहे हैं। 'नैषधीयचरित' में इसका प्रयोग अत्यन्त उपयुक्त स्थान पर हुआ प्रतीत होता है। प्रभात-वर्णन का आश्रय वैसे तो नल-दमयन्ती हैं, किन्तु इस प्रकार के प्राकृतिक दृश्य श्रोता या पाठक के भावों के भी आलम्बन होते हैं। - - - - प्राकृतिक दृश्य है कि सूर्योदय हो गया और कुमुदिनी संकुचित हो गई। कल्पना की गई है कि सूर्य तो पवित्र है, मित्र है, जो कुमुदिनी जानबूझ कर अपने कोरकनयन बन्द कर सूर्य-दर्शन नहीं करती, यह अनुचित है। इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हुए कवि ने प्रभात में कुमुदिनी के मुकुलित होने की स्थिति को "असूर्यम्पश्याः राजदाराः" उक्ति के माध्यम से अभिव्यक्त किया है कि, "दिन में कुमुदिनी अपने मुकुलरूपी नेत्रों को बन्द कर अन्धी बन जाती है, वह सूर्य को नहीं देखती, जिससे लोग उसे बुरा कहते हैं। बात यह है कि कवियों ने राजदारा के लिए 'असूर्यम्पश्या' विशेषण निश्चित कर दिया है। कुमुदिनी भी तो द्विजराज या उडुराज की दारा है, फिर वह 'असूर्यम्पश्या' क्यों न हो?"[1]

सूर्य-रश्मियों की रक्तिमा को कुङ्कुम-कुसुम से उपमित कर सूर्यकिरणों, भ्रमरों एवं कमलों के संयोग से सरोवर की शोभा का कवि ने अत्यन्त संश्लिष्ट चित्र चित्रित करते हुए कहा है कि, "सरोवर के चारों ओर फैलती हुई सूर्य की बालकिरणों की अरुणिमा कुङ्कुम-कुसुमों की रक्तिमा और कान्ति की भी तिरस्कर्त्री है। सरोवर-कमलों की सुगन्ध से आनन्दित तथा ऊपर मंडराते हुए भ्रमरों की कृष्णिमा से शबलित (मिश्रित) किरणें गुञ्जाओं के पुञ्ज की शोभा धारण करती हुई सी प्रतीत होती है।"[2]

पुष्करिणी में श्वेत कमल-कलियों के विकसित होने; सूर्य की अरुणाभा के विस्तार एवं कमलकलियों के मधुपानार्थ कृष्ण भौंरों की कर्णप्रिय गुञ्जार से उत्पन्न सरसी-शोभा के चित्र को अङ्कित करते हुए कवि का कथन है कि, "सूर्य की बालरश्मियां (नव प्रकाशमयी आभा) इस पुष्करिणी (सरोवर) को अरुणिमा दे रही हैं। सरसी में विकसित कमलकलियों पर मण्डराती हुई भ्रमरों की श्यामावलियां उसे कृष्णिमा दे रही हैं। सरोवर के मध्य प्रफुल्लित कमलकलियों वाले धवल कमल उसे श्वेतिमा प्रदान कर रहे हैं। इस प्रकार (वस्तुतः) सरोवर श्वेत-श्याम-रतनार (चितकबरा-सा) हो गया है।"[3]

प्रभात होते ही सूर्य-किरणों के संस्पर्श से कमल विकसित हो गए और उलूक की दर्शन-क्षमता गायब हो गई क्योंकि उसे कमलोपमान प्राप्त नहीं है; "अरे! कमलों के कल्याण-विधान (विकसित करने) में सूर्य का पुरुषों जैसा दृढ़ अध्यवसाय आश्चर्यजनक है कि वह (सूर्य)

1. "स्वमुकुलमयैर्नेत्रैरन्धम्मविष्णुतया जनः, किमु कुमुदिनीं दुर्व्याचष्टे रवेरनपेक्षिकाम्? लिखितपठिता राज्ञो दाराः कविप्रतिभासु ये, शृणुत शृणुतासूर्यम्पश्या न सा किल भाविनी।।" वही, (नै. 19, 36)।
2. "घुसृणसुमनः श्रेणीश्रीणामनादरिभिः सरःपरिसरचरैर्भासां पत्युः कुमारतरैः करैः। अजनि जलजामोदानन्दोत्पतिष्णु-मधुव्रतावलिशबलनाद् गुञ्जापुञ्जश्रियं गृहयालुभिः।।" वही, (नै. 19, 38)।
3. "रचयति रुचिः शोणीमेतां कुमारितरा रवेर्यदलीपटली नीलीकर्त्तुं व्यवस्यति पातुका। अजनि सरसी कल्माषी तद्ध्रुवं धवलस्फुटत्कमलकलिकाषण्डैः पाण्डूकृतोदरमण्डला" वही, (नै. 19, 39)।

श्री (लक्ष्मी) का आवास कहने के इच्छुक कावयों द्वारा उपमान के प्रयोग से कमलता को प्राप्त नेत्रों का भी (अवलोकन क्षमता उत्पन्न करने से) उपकारक है। वैसा न होने पर (कमलतुल्य न होने से), उलूक के नेत्रों को वंचित कर देता है।"[1]

कवि ने उदीयमान सूर्य के महत्त्व का उल्लेख करते हुए सूर्योपासक नल द्वारा जलार्घ्य देते समय उपस्थान-मन्त्र से अभिषिक्त जल ऊपर को उछाले जाने पर वज्रसम होकर साढ़े तीन करोड़ 'मन्देह' नामक निद्रासुरों के अविलम्ब विनाश का वर्णन किया है कि, "यज्ञशील महाराज! यदि सूर्य देव के प्रति आपकी श्रद्धा है तो आप उदित होते हुए सूर्य की उपासना में शीघ्र प्रवृत्त हो जाएं। क्योंकि इसी समय (प्रात:काल) 'उपस्थान' मन्त्र द्वारा सूर्य को अर्घ्य के रूप में दी गई जलाञ्जलियां 'मन्देह' नामक निद्राराक्षसों पर जलरूपेण वज्रमय होकर गिरती हैं।"[2]

एक स्थान पर, 'बालसूर्य स्वर्णमयी आभा को बिखेरता हुआ सुशोभित हो रहा है', भाव को 'महाभारत' (वनपर्व) की सुप्रसिद्ध कथा के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। इन्द्र द्वारा कर्ण से प्राप्त कुण्डलों में से एक चन्द्र और दूसरा सूर्य को बताते हुए कहा है कि, "ब्राह्मणवेषधारी इन्द्र ने वीर कर्ण से (सूर्य-प्रदत्त) कुण्डलों की जोड़ी की याचना कर ली और उसने वे कुण्डल प्रसन्नतापूर्वक प्राची को दे दिये। उन दो कुण्डलों में से एक सन्ध्या- समय उदीयमान चन्द्र और दूसरा अपनी नूतन स्वर्णमयी कान्ति छिटकाता हुआ उदीयमान सूर्य के रूप में दिखाई देता है।"[3]

अन्यत्र, आकाशमध्यगामी तथा तीक्ष्ण किरणों वाले सूर्य का वर्णन करते हुए कवि ने सूर्य की रक्तिम (प्रखर) किरणों को ऐसी स्त्री के रूप में देखा है जो पति की मृत्यूपरान्त अग्निप्रवेश कर निज पातिव्रत धर्म के बल पर अधोगति प्राप्त पति को स्वर्ग दिला देती है। एवमेव, अग्निप्रविष्टा दीप्ति के सहाग्निप्रवेश की कल्पना की गई है कि प्रथम दिन सूर्य अस्त हो नरकसम अधोलोक (पाताललोक) चला गया था परन्तु सहमरण द्वारा पतिव्रता दीप्ति ने वहाँ से उसका उद्धार कर पुनः ऊपर पहुंचा दिया कि, "अनुरागिणी नारी-सी रक्तवर्ण सूर्यप्रभा जो गतदिन अवसान समय (सन्ध्याकाल-मृत्यु) में पति सूर्य के अस्तंगत (मृत) होने पर अग्नि में प्रविष्ट हो गई थी, वह (नारी-सी सूर्यप्रभा) आत्मप्रणयप्रभावबल (पातिव्रत) द्वारा अधोभुवन (पाताल) से उद्धार कर (पतिसदृश) सूर्य को (स्वर्गसम) प्राची दिशा में उपस्थिति (उदय) दिला कर पतिपरायणताव्रत के मूर्त्तिभाव को धारण कर रही है।"[4] भाव यह है कि गतसन्ध्या के समय जब सूर्यदेव अस्त हो गये

1. "कमलकुशलाधाने भानोरहो पुरुषव्रतं, यदुपकुरुते नेत्राणि श्रीगृहीत्वविवक्षुभिः। कविभिरुपमादानादम्भोजतां गमितान्यसावपि यदतथाभावान्मुञ्चत्युलूकविलोचने।।" वही, (नै. 19, 40)।
2. "यदतिमहती भक्तिर्भानौ तदेवमुदित्वरं, त्वरितमुपतिष्ठस्वाध्वन्य! त्वमध्वरपद्धतेः। इह हि समये मन्देहेषु व्रजन्त्ययुद्धवज्रतामभिरविमुपस्थानोत्क्षिप्ता जलाञ्जलयः किल।।" वही, (नै. 19, 41)।
3. "सुरपरिवृढः कर्णात्प्रत्यग्रहीत्किल कुण्डलद्वयमथ खलु प्राच्यैः प्रादान्मुदा स हि तत्पतिः। विधुरुदयभागैकं तत्र व्यलोकि विलोक्यते, नवतरकरस्वर्णस्रावि द्वितीयमहर्मणिः।।" वही, (नै. 19, 43)।
4. "दहनमविशद्दीप्तिर्याऽस्तंगते गतवासरप्रशमसमयप्राप्ते पत्यौ विवस्वति रागिणी। अधरभुवनात्सोद्धृत्यैषा हठात्तरणेः कृतामरपतिपुरप्राप्तिर्धत्ते सतीव्रतमूर्त्तिताम्।।" वही, (नै. 19, 44)।

थे तो उनकी प्रिया दीप्ति (लाल रंग की प्रभा) अग्नि में प्रविष्ट हो गई थी और इस प्रकार अपने सतीव्रत के प्रभाव से उसने पाताल में गये अपने प्रिय सूर्यदेव को बलपूर्वक देवेन्द्रपुरी प्राची दिशा में प्रभात होते-होते पहुंचा दिया। शास्त्रों का कहना है कि जो स्त्री पति के निधन पर उसके साथ स्वयं भी चिता पर चढ़ जाती है वह पापी पति को भी अपने सतीत्व के प्रभाव से स्वर्ग ले जाती है।

अन्धकारनाशक सूर्य अन्धकार को पीता है अतः माता-पिता द्वारा उपभुक्त पदार्थों का सन्तान के वर्ण पर भी प्रभाव पड़ता है। यदि ऐसा न होता तो स्वर्णमय देहधारी सूर्य की यम-यमुना-शनैश्चर तीनों सन्तानें कृष्ण वर्ण की न होतीं। इसी भाव को द्योतित करते हुए कवि का मन्तव्य है कि, "विद्वानों का यह कथन सत्य ही है कि सन्तान का रंग माता-पिता के खान-पान पर समाश्रित होता है। (काले पदार्थ खाने से सन्तति भी कृष्णवर्ण होगी)। अत एव सूर्यदेव के भास्कर होने पर भी, अन्धकार पीने के कारण यम-यमुना-शनैश्चर उनकी तीनों ही सन्तानें काली उत्पन्न हुईं।"[1]

उपरोक्त सन्दर्भ के परिप्रेक्ष्य में कवि ने 'स्वभावो हि दुरतिक्रमः' एवं कालप्रसूति के चिराभ्यास को ही कारण स्वीकार करते हुए कहा है कि, "सूर्यदेव ने प्रत्येक रात्रि की समाप्ति पर दिनरूप 'काल' (समय, काली सन्तति) को पुनः-पुनः उत्पन्न कर इतना लम्बा अभ्यास कर लिया है कि वह यम-यमुना के गर्भाधान के समय भी काली सन्तान उत्पन्न करने के अपने पुराने स्वभाव को त्यागने में समर्थ न हो सका। और इस समय रात्रि का अवसान होने पर प्रभात वेला में अति अभ्यास करने के बावजूद भी उसने दिनरूपी काली (समय) ही सन्तान को उत्पन्न किया है।"[2]

यद्यपि संस्कृत के महाकाव्यों में अधिकतर महाकवियों ने सूर्य-सम्बन्धी अद्वितीय स्तुति तथा प्रशंसा की है, तथापि 'नैषधीयचरित' के निम्न पद्यों में महाकवि श्रीहर्ष ने सूर्य की स्तुति के साथ-साथ दुर्जनों द्वारा सूर्य-निन्दा का भी अङ्कन किया है कि, "सूर्य की सज्जनों ने अत्यधिक स्तुति की है परन्तु दुर्जन जब उनकी भी निन्दा करते हैं तो हम बन्दियों पर कौन नीच नहीं हँसेगा? सज्जन सूर्य की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि भगवान् भास्कर की किरणें अत्यन्त मनोहर हैं। सारथि अरुण की प्रभा से उनका रथ दीप्तिमान् है अथवा सूर्य की अपनी ही महती प्रभा से रथ दीप्तिमान् रहता है। सूर्यदेव ने शनि और यम दो पुत्रों को लोकरक्षा के लिए जन्म दिया; दुष्टों को दण्ड देना इन दोनों का कर्त्तव्य है। चक्रवाकों पर सूर्यदेव अति दयालु तथा विश्व के नेत्रों के प्यारे हैं।" दुर्जनों ने इन्हीं शब्दों में व्यञ्जनया सूर्य की निन्दा भी की है सूर्य में केवल सन्ताप ही सन्ताप है। शनि और यम दो नालायक पुत्र हैं जिनसे बढ़कर संसार को कष्ट देने वाला क्या कोई मिलेगा?

---

1. "बुधजनकथा तथैवेयं तनौ तनुजन्मनः, पितृशितिहरिद्वर्णाद्याहारजः किल कालिमा। शमनयमुनाक्रोडैः कालै- रितस्तमसां पिवादपि यदमलच्छायात्कायादभूयत भास्वतः।।" वही, (नै. 19, 45)।
2. "अभजत चिराभ्यासं देवः प्रतिक्षणदाऽत्यये, दिनमयमयं कालं भूयः प्रसूय तथा रविः। न खलु शकिता शीलं कालप्रसूतिरसौ पुरा, यमयमुनयोर्जन्माधानेऽप्यनेन यथोज्झितुम्।।" वही, (नै. 19, 46)।

विश्व को त्राहि-त्राहि की पुकार इन्हीं दो के भय से ही तो उठ रही है। सूर्य की कृपा भी हुई तो चक्रवाकों पर और अपनी प्रखर किरणों से वे आंख फोड़ डालते हैं। इस पर भी, लोग कहते हैं कि सूर्य आंखों का प्यारा है। कौन दुर्जन हम (स्तुतिपाठकों) पर नहीं हंसेगा?"[1] सूर्य-प्रशंसा करते हुए श्रीहर्ष का मत है कि सूर्य ही ऋतु-परिवर्तन का कारण है। उसी के कारण ऋतुएं आती-जाती रहती हैं। इस आवृत्ति के कष्ट को परहित के लिए सूर्य ही वहन करता है। अन्यथा, इस चराचर जगत् की स्थिति कैसी होगी?, "जो सूर्यदेव शीतकाल में शीत-पीड़ित प्राणियों के लिए वर्षर्तु में जल; वर्षर्तु के जल (बाढ़ आदि) से पीड़ित जीवों को शरदर्तु में ताप तथा शरदर्तु के ताप से व्याकुल जन्तुओं को हेमन्त की शीतता प्रदान करते हैं वही भगवान् भास्कर अब उदित हो रहे हैं।"[2]

अप्रतिहत गतिमान् भगवान् दिनकर के सामर्थ्य-असामर्थ्य की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए प्रबन्धकार का कहना है कि, "जिस सूर्य ने चतुर्दिग् की उत्सङ्ग में समाश्रित अन्धकार- परम्परा को एक क्षण में विनष्ट कर दिया, वही सूर्य वृक्षों की शरण में छायारूपेण विद्यमान अन्धेरे का उपशमन करने में असमर्थ रहा हो, यह देखकर किसे आश्चर्य नहीं होता?"[3]

यदि सूर्यदेव उपकर्त्ता (तमोनाशक एवं कमलजीवनाधायक) है तो अपकर्त्ता (कुमुदसंकोचक) भी। एवमेव, सूर्य का एक पुत्र (अश्विनी कुमार) रोगनाशक (प्राणदाता) है तो दूसरा पुत्र (यम) निष्करुण (प्राणहर्त्ता) भी। कवि ने इसी भाव का उद्घाटन करते हुए कहा है कि, "जिस प्रकार संसार में व्याप्त तिमिररोग एवं कमलों की मूर्च्छा के चिकित्सक अपने पिता (सूर्यदेव) से (चिकित्साशास्त्र) का अध्ययन कर अश्विनीकुमार (स्ववैद्य) चिकित्सा करते हैं। उसी प्रकार, यम ने भी अपने उसी पिता से मारने की कला सीखी है क्योंकि सूर्य बड़ी निर्दयता के साथ कुमुदों की अपमृत्यु (संकोच) कर ही उदित होता है। इसमें अनौचित्य क्या है।"[4]

यद्यपि महाकवि श्रीहर्ष ने सूर्य-विषयक अन्यान्य अद्वितीय कल्पनायें की हैं, किन्तु उनमें साथ ही उनका सूक्ष्म निरीक्षक एवं भावुक हृदय भी स्पष्टतया झलकता दिखाई देता है। प्रासाद के गवाक्षों से होकर प्रविष्ट होने वाली बाल सूर्य की अभिनव रश्मियों में अत्यन्त द्रुतगति से घूमने वाली 'त्रसरेणुओं' की पंक्तियों के प्रति बन्दीजनों का कथन है कि, "राजन्! भवन के गवाक्षों से प्रविष्ट होने वाली सूर्य की किरणरूपी रक्ताङ्गुलियों को सादर देखिए। वे ऐसी प्रतीत हो रही हैं कि

---

1. "रुचिरचरणः सूतोरुश्रीसनाथरथः शनिं, शमनमपि स त्रातुं लोकानसूत सुताविति। रथपदकृपासिन्धुर्बन्धुर्दृशामपि दुर्जनैर्यदुपहसितो भास्वान्नस्मान् हसिष्यति कः खलः?॥" वही, (नै. 19, 47)
2. "शिशिरजरुजा धर्मं शर्मोदयाय तवूभृतामथ खरकराश्यानास्यानां प्रयच्छति यः पयः। जलभयजुषां तापं तापस्पृशां हिममित्ययं, परहितमिलत्कृत्यावृत्तिः स भानुरुदञ्चति॥" वही, (नै. 19, 48)।
3. "इह न कतरश्चित्रं धत्ते तमिस्रततीर्दिशामपि चतसृणामुत्संगेषु श्रिता धयतां क्षणात्। तरुशरणतामेत्य च्छायामयं निवसत्तमः, शमयितुमभूदानैश्वर्यं यदर्यमरोचिषाम्॥" वही, (नै. 19, 49)।
4. "जगति तिमिरं मूर्च्छामब्जव्रजेऽपि चिकित्सतः, पितुरिव निजास्माद्दस्रावधीत्य भिषज्यतः। अपि च शमनस्यासौ तातस्ततः किममौचिती, यदयमदयः कह्लाराणामुदेत्यपमृत्यवे?॥" वही, (नै. 19, 50)।

मानों आपके नयन-कमल की अरुण नाल हों। इन किरणों में तेजी से घूमते हुए रजः परमाणु ऐसे प्रतीत हो रहे हैं कि मानों स्वर्ग के त्वष्टा (बढ़ई) विश्वकर्मा ने सूर्यदेव को फिर से शाण पर चढ़ाया हो, और ये उसी के स्फुलिङ्ग निकल रहे हों।"[1]

सूर्य और उसकी किरणों की सुन्दरता का दृश्य प्रस्तुत करते हुए कवि कहता है कि एक कुम्भज (अगस्त्य ऋषि) ने क्षीरसागर का पान कर लिया तो दूसरे कुम्भज (सूर्य) द्वारा तिमिरसागर का पान कर लिये जाने पर क्या नयापन है?, "पूर्व दिशा में सूर्य भगवान् इन्द्रदेव के प्रासाद के स्वर्णाभ कलश के समान प्रतीत हो रहे हैं और उनकी बाल-अरुण रश्मियां उस प्रासाद की स्निग्ध कुङ्कुम-सी रक्तपताकाओं के समान चित्त को मुग्ध कर रही हैं। इस प्रकार, इस सूर्य-कुम्भ से उत्पन्न होने वाली किरणों ने जो तिमिरसागर का पान कर डाला वह उचित ही था क्योंकि कुम्भज ही तो सागर को सुखा सकते हैं।"[2]

सूर्य-रश्मियों के वेगेन प्रसार के चित्र को चित्रित करते हुए, वर्ण--सादृश्य के आधार पर तम को तमाल-कानन तथा उसके विनाशक सूर्य को दावाग्नि के रूप में उपस्थित किया गया है कि, "अन्धकाररूपी तमाल के गहन वन को नष्ट करने के लिए तो सूर्य की दो-तीन किरणें ही दावानल बन गईं और फिर उन्हीं किरणों ने कमलवन में हर्षातिशय के साथ दिवसोत्सव मना लिया। अब दिशाओं एवं गगन के अन्धकाररूपी पाप के पूर्व ही नष्ट हो जाने पर उनके लिए सूर्य का वेगेन प्रसरित अपनी किरणों को और तीक्ष्ण करना मात्र पिष्टपेषण ही है।"[3]

प्रभात का समय तभी तक रम्य (सुहावना) प्रतीत होता है जब तक सूर्यमण्डल अपनी रक्तिमा को त्यागता नहीं। सूर्यमण्डल के स्वर्ण-सी आभा वाला हो जाने पर प्रभातकालीन अनुराग तिरोहित हो जाता है और वह 'दिन' कहलाने लगता है। गभस्तिमाली भगवान् सूर्य तिमिर का पूर्णतया पान कर चुका है। श्रीहर्ष के भावुक लोचन प्रभात-सौन्दर्य की इस सीमा को सुसम्यक्तया पहिचानते थे। अत एव उन्होंने उसे अन्धकारसागर का शोषक 'वडवाग्नि' कह उसके यथार्थ स्वरूप का अङ्कन किया है कि, "तिमिरसागर का वडवानलरूप तथा खिन्न कमलनियों का आनन्ददाता वह सूर्य दूर तक (आकाश में) आ गया है। इस गगनमणि (सूर्य) का रश्मिसमूह आज भी गगन को रक्तिम बना रहा है, इस प्रकार यह अपनी दमकती हुई प्राकृतिक शुभ्रता को क्यों नहीं धारण कर रहा है?।"[4]

---

1. "नय नयनयोर्द्राक् पेयत्वं प्रविष्टवतीरमूः, भवनवलभीजालान्नाला इवार्ककराङ्गुलीः। भ्रमदणुगणक्रान्ता भान्ति भ्रमन्त्य इवाशु याः, पुनरपि धृताः कुन्दे किं वा न वर्द्धकिना दिवः?।" वही, (नै. 19, 54)।
2. "पौरस्त्यानां घुसृणसुमनः श्रीजुषो वैजयन्त्याः, स्तोकैश्चित्तं हरति हरिति क्षीरकण्ठैर्मयूखैः। भानुर्जाम्बूनदरुचिरसौ शक्रसौधस्य कुम्भः, स्थाने पानं तिमिरजलधेर्भाभिरेतद्भवाभिः।।" वही, (नै. 19, 62)।
3. "द्वित्रैरेव तमस्तमालगहनग्रासे दवीभावुकैरुस्रैरस्य सहस्रपत्रसदसि व्यश्राणि घस्रोत्सवः। घर्माणां रयचुम्बितं वितनुते तत्पिष्टपिष्टीकृतक्ष्मादिग्व्योमतमोघमोघमधुना मोघं निदाघद्युतिः।।" वही, (नै. 19, 63)।
4. "दुरारूढस्तिमिरजलधेर्वाडवश्चित्रभानुर्भानुस्ताम्यद्वनरुहवनीकेलिवैहासिकोऽयम्। न स्वात्मीयं किमिति दधते भास्वरश्वेतिमानद्यामद्यापि द्युमणिकिरणश्रेणयः शोणयन्ति।।" वही, (नै. 19, 64)।

तत्पश्चात् शीघ्र ही सूर्यरश्मियों की प्रचण्डिमा चारों ओर फैल जायेगी; अतः उदयकालोत्तर सूर्य-सम्बद्ध वर्णन को महाकवि ने यहीं पर समाप्त कर दिया है। यह समाप्ति भी बन्दीजनों को पुरस्कार-दान आदि के द्वारा अनुशंसित है, न कि उनके अकस्मात् चुप हो जाने से।[1] वस्तुतः, महाकाव्य की यह अभिनयात्मकता उसकी श्रेष्ठता का अकाट्य प्रमाण है। उन्नीसवें सर्ग में उदयोन्मुख सूर्य के सम्पूर्ण वर्णन का अध्ययन करने से यही प्रतीत होता है कि मानों उसे महाकवि ने स्वयं जग कर उषःकाल के दूरारूढ़ सूर्य को सानन्द निहारते हुए लिखा हो!

'नैषधीयचरित' में जैसे अनोखे दृश्य उदयकालीन सूर्य, दमकती सूर्यकिरणों के हैं वैसे ही अस्तंगामी सूर्य एवं उपशमित होती हुई किरणों के अपूर्व दृश्य भी प्रचुरतया उपलब्ध होते हैं। महाकवि श्रीहर्ष ने जहाँ एक ओर, प्रातःकालीन गभस्तिमाली भगवान् दिवाकर का उन्नीसवें सर्ग में समग्र चित्र चित्रित किया है तो वहाँ दूसरी ओर, महाकाव्य के बाईसवें सर्ग में सन्ध्याकालीन सूर्य के रम्य चित्र भी चित्रित किये हैं। श्रीहर्ष ने प्रासाद-शिखर पर एकान्त में विराजमान नल-दमयन्ती द्वारा इस वर्णन को प्रस्तुत किया है; अत एव इसे उनके मनोभावों का उद्दीपन मात्र कहा जा सकता है। सूर्यास्त के समय अरुणाभ प्रतीची दिशा के प्रति कवि को उत्प्रेक्षा है कि, "इसे 'अलक्तक' (महावर) से धोकर कुङ्कुम से पूर दिया गया है।"[2] इसी विषय में, एक और उत्प्रेक्षा भी दर्शनीय है कि, "आकाशरूपी पर्वत के उत्तुङ्ग शिखर से सूर्यरूपी गैरिक की बृहत्-शिला पश्चिम दिशा की ओर गिरी। गिरकर चूर हो जाने पर उसी की धूल ऊपर उठकर यह सन्ध्या की रक्तिमा के रूप में फैली है।"[3]

भारतीय परम्परा है कि विवाह में लाल फूलों एवं सिन्दूरादि से रंगा लाल वस्त्र वर-वधू एक अवसर-विशेष पर धारण करते हैं। इस पर्व को 'पुष्पसिन्दूरिका-पर्व' कहा जाता है। इसी तथ्य को प्रस्फुटित करते हुए कवि ने कहा है कि, "शिव (श्वेत) दिशारूप वस्त्रधारी दिगम्बर हैं और पश्चिमी दिशा के लाल होने पर कल्पना की गई है कि यह पश्चिमी दिशा इसी कारण लाल है कि इसी को 'पुष्पसिन्दूरिका-पर्व' में लाल वस्त्ररूपेण शिव ने विवाह के समय धारण किया था।"[4] यहाँ पश्चिम दिशा वस्त्र; तारे फूल एवं सन्ध्याराग सिन्दूर के रूप में चित्रित है।

इसी प्रसङ्ग में, पौराणिक कथा के माध्यम से पूर्व-पश्चिम दिशाओं में सन्ध्या की फैली हुई अरुणिमा-विषयक भाव का द्योतन करते हुए कवि ने नलमुख से स्पष्ट किया है कि, "हे सुनयने! सती (दक्षपुत्री) एवं उमा (पार्वती) से विवाह के समय दिगम्बर (शिव) ने 'पुष्पसिन्दूरिका' पर्व

---

1. "प्रातर्वर्णनयाऽनया निजवपुर्भूषाप्रसादानाद् देवी वः परितोषितेति निहितामन्तःपुरीभिः पुरा। सूता मण्डनमण्डलां परिदधुर्माणिक्यरोचिर्मयक्रोधावेगसरागलोचनरुचा दारिद्र्यविद्राविणीम्।।" वही, (नै. 19, 65)।
2. "अकालि लाक्षापयसेव येयमपूरि पङ्कैरिव कुङ्कुमस्य।" वही, (नै. 22, 3)।
3. "उच्चैस्तरादम्बरशैलमौलेश्च्युतो रविर्गैरिकगण्डशैलः। तस्यैव पातेन विचूर्णितस्य सन्ध्यारजोराजिरिहोज्जिहीते।।" वही, (नै. 22, 4)।
4. "सन्ध्यासरागः ककुभो विभागः शिवाविवाहे विभुनायमेव। दिग्वाससा पूर्वमवैमि पुष्पसिन्दूरिकापर्वणि पर्यधायि।।" वही, (नै. 22, 10)।

के निमित्त दोनों प्रातः-सायं सन्ध्याओं को लक्ष्य कर क्या अरुणाभा से सुशोभित दो (पूर्व-पश्चिम) दिशारूप दो लाल रंग के वस्त्र धारण किये थे?"[1] पुराणों में प्रसिद्ध है कि शिव का प्रथम विवाह सती (दक्षपुत्री) तथा दूसरा मैनाकपुत्री उमा (पार्वती) के साथ हुआ। अत एव उन्हें 'पुष्पसिन्दूरिका' पर्व के लिए दो बार लाल वस्त्रों की आवश्यकता पड़ी। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने यह उद्भावना की कि प्रातः-सायं (पूर्व-पश्चिम में) फैलने वाली अरुणिमाएं ही वे दो 'पुष्पसिन्दूरिका' से सम्बद्ध वस्त्र हैं।

सूर्यदेव के अस्त हो जाने पर (उसकी किरणों की) जो रक्तिमा पश्चिम दिशा में छाई रहती है, उसके विषय में कवि की कैसी अनुपम उक्ति है कि, "अपने पारिपार्श्विकरूप वेणुदण्ड को धारण कर सूर्यरूपी परिव्राट् समस्त दिशाओं में (चारों ओर) घूमता रहा और अन्त में सन्ध्या के समय (पश्चिम) सागर में गोता लगाते हुए उसने सान्ध्य गगनरूप काषाय (गेरुए) वस्त्र को धारण कर लिया है।"[2] इस पद्य में समस्त दिक्चारी सूर्य को समस्त दिशाओं में विचरण करने वाले संन्यासी के रूप में चित्रित किया है।

जब सूर्यपिण्ड एवं सूर्यरश्मियों की लाली तिरोहित होने लगी तो महाकवि श्रीहर्ष ने स्वर्णिम तथा रक्तिम सूर्यपिण्ड की परिणति का (साहित्य में अन्यत्र अनुपलब्ध) उत्प्रेक्षाओं के माध्यम से रम्य दृश्य उपस्थित करते हुए कहा है कि, "जो (सूर्य) इस कसौटी के पत्थर-सदृश श्यामल अस्ताचल पर सन्ध्या द्वारा कसकर परख लिया गया था (अथवा सन्ध्यारागरूप कसकर उभरे रंग से परख लिया गया था); इस आकाशदेवी ने उस हेलि (सूर्य) रूप स्वर्णपिण्ड को बेचकर (बदले में) तारारूप (श्वेत) कौड़ियां ले लीं।"[3] एवमेव अग्रिम पद्य में, "अनारदाना खाने वाले काल (सायंकाल) ने सूर्यबिम्बरूप पके अनार को (गगनतरु से) तोड़कर इस (सूर्य-दाडिम) के छिलके की भाँति सांझ को (छील कर) फेंक दिया और (दाने चबाकर) तारकों के रूप में इस (सूरज-अनार) के रस-चूसे बीज थूक दिये।"[4] भाव यह है कि काल-विधान से सूर्य अस्त हुआ; लाल सन्ध्या में धीरे-धीरे शुभ्र तारे छिटकने लगे। काल ने पका अनार तोड़ा; ऊपर का लाल छिलका उतार फेंका; दाने चबाकर थूक दिये और वे ही श्वेत तारक बन गये अर्थात् सूर्यास्त हो गया और गगनतल से अन्धेरे के साये अवतरित होने लगे।

---

1. "सतीमुमामुद्वहता च पुष्पसिन्दूरिकार्थं वसने सुनेत्रे। दिशौ द्विसन्धीमसि रागशोभे दिग्वाससोभे किमलम्भिषाताम्॥" वही, (नै. 22, 11)।
2. "आदाय दण्डं सकलासु दिक्षु योऽयं परिभ्राम्यति भानुभिक्षुः। अन्धे निमज्जन्निव तापसोऽयं सन्ध्याभ्रकाषायमधत्त सायम्॥" वही, (नै. 22, 12)।
3. "अस्ताचलेऽस्मिन्निकषोपलाभे सन्ध्याकषोल्लेखपरीक्षितो यः। विक्रीय तं हेलिहिरण्यपिण्डं तारावराटानियमादितः द्यौः॥" वही, (नै. 22, 13)।
4. "पचेलिमं दाडिममर्कबिम्बमुत्तर्य सन्ध्या त्वगिवोज्झितास्य। तारामयं बीजभुजादसीयं कालेन निष्ठ्यूतमिवास्थियूथम्॥" वही, (नै. 22, 14)।

महाकवि श्रीहर्ष ने 'नैषधीयचरित' में जहाँ एक ओर, सूर्योदय, उसके प्रचण्ड स्वरूप तथा अस्ताचल (सन्ध्या) के अद्वितीय चित्रों को चित्रित किया है; वहाँ दूसरी ओर, सूर्यसम्बद्ध पौराणिक विवरणों के अनेक अंशों को भी उपनिबद्ध किया है : सहस्रपाद - सूर्य से उत्पन्न होते हुए भी छायापुत्र शनैश्चर का खञ्जत्व (लंगडापन)[1]; यमोत्पत्ति के प्रति सूर्यप्रिया संज्ञा का हेतुत्व (जननीत्व) तथा छाया का अहेतुत्व (यम-जननी न होना)[2]; सूर्य का यम-पिता होना[3]; यम का अश्विनी कुमार सहोदर होना[4]; कृष्णवर्णी यम-यमुना-शनैश्चर का स्वर्णाभ सूर्य की सन्तान होना[5] तथा लोकत्राणार्थ सूर्य के यम-शनि का सुतरूपेण उत्पन्न करने का उल्लेख किया है।[6] इसी तरह, सूर्य का विश्कर्मा द्वारा कृत शाणोल्लेख[7]; सूर्योपासना में संलग्न नल को कुष्ठरोगग्रस्त जाम्बवती-कृष्णपुत्र साम्ब से उपमित[8] एवं 'मन्देह' नामक राक्षसों पर प्रात्यहिक विजय[9] आदि अनेक सूर्यसम्बद्ध पौराणिक सन्दर्भों ने इस महाकाव्य की गरिमा को बढ़ाने के साथ-साथ श्रीहर्ष के अपूर्व वैदुष्य को भी परिपुष्ट किया है।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि महाकवि श्रीहर्ष ने संस्कृत महाकाव्यों की प्रचलित परम्परा का अनुसरण करते हुए 'नैषधीयचरित' में सूर्य के अनेक मनोहारी स्वरूपों का चित्रण प्रस्तुत किया है। इसके सम्पूर्ण सूर्य-वर्णन को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि मानों कवि ने उषाकाल में उदीयमान सूर्य एवं किरणों की प्रखरता (उन्नीसवां सर्ग); सन्ध्याकालीन अस्तोन्मुख सूर्य (बाईसवां सर्ग) तथा यत्र-तत्र बिखरे हुए सूर्यसम्बन्धी पौराणिक आख्यानों का साक्षात् निरीक्षण कर ही उन्हें उपनिबद्ध किया हो! कवि का प्रात:कालीन सूर्यवर्णन उसकी सूक्ष्मेक्षिका का प्रमाण तो है ही, साथ ही साथ वर्णन में चातुर्यपूर्ण अनेक प्रकार का वैविध्य एवं विभिन्न अलङ्कारों-उत्प्रेक्षाओं का प्रयोग कवि के पाण्डित्य का भी द्योतक है। वस्तुत:, यह वर्णन सामान्य पाठक को भी प्रकृति के सान्निध्य में ले जाने के लिए सहायक कहा जा सकता है। उपमाओं-उत्प्रेक्षाओं में सूर्यसम्बद्ध पौराणिक आख्यानों को समाहित कर देने से यह वर्णन और भी रम्य-ग्राह्य-सराहनीय बन गया है।



---

1. वही, (नै. 4, 136)।
2. वही, (नै. 13, 17)।
3. वही, (नै. 13, 18)।
4. वही, (नै. 13, 19)।
5. वही, (नै. 19, 45)।
6. वही, (नै. 19, 47)।
7. वही, (नै. 19, 54)।
8. वही, (नै. 21, 32)।
9. वही, (नै. 19, 41)।

भाष्यकार पतञ्जलि की दृष्टि से शेषे षष्ठी पर विचार

प्रो. भीमसिंह

संस्कृत व्याकरण में कारकों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वाक्यविज्ञान की दृष्टि से कारकों का ज्ञान अपरिहार्य है। "आख्यातोपयोगे"[1] सूत्रप्रोक्त–'उपाध्यायात् शृणोति' तथा 'नटस्य शृणोति' इत्यादि उदाहरणजनित विभक्ति भेद से वाक्यार्थ में कैसे भेद हो जाता है– यह सभी वैयाकरणों को सुविदित है। यूँ तो इस कारक की अनेक परिभाषाएँ दी जाती हैं किन्तु कारक की सर्वमान्य परिभाषा है–"क्रियानिष्पादकत्वं कारकत्वम्"[2] अर्थात् क्रिया के निष्पादक धर्म का नाम कारक है। दूसरे शब्दों में–संज्ञा, सर्वनाम या विशेषण का जो क्रिया के साथ सम्बन्ध होता है, वह कारक कहलाता है। "करोतीति कारकम्" यह कारक शब्द का भाष्यप्रोक्त अन्वर्थ निर्वचन भी इस विषय में उपोद्-बलक है। वास्तव में कारक और क्रिया में अविनाभाव सम्बन्ध होता है। अतः जैसे कारक की परिभाषा में क्रिया का होना अनिवार्य होता है वैसे ही क्रिया की परिभाषा भी कारक से ही पूरी होती है, तद्–'यथा सर्वकारकान्वयितावच्छेदकधर्मवती क्रिया[3]'। ऐसी स्थिति में जैसे क्रिया अमूर्त होती है वैसे ही फिर यह कारक भी अमूर्त ही होता है। इस कारकरूपी अर्थ को व्यक्त करने के लिए विभक्तियों का प्रयोग होता है। इसलिए कारक और विभक्ति एक न होकर इनमें व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव सम्बन्ध होता है। उदाहरणार्थ जैसे–'रामः पाठं पठति' इस वाक्य में 'रामेण पाठः पठ्यते' इस प्रकार वाच्यपरिवर्तन द्वारा विभक्तिभेद होने पर भी कारकभेद नहीं होता। सम्भवतः इसलिए आचार्य पाणिनि ने भी इन दोनों को एक साथ न पढ़कर अलग-अलग अध्यायों में पढ़ा है। इनमें कारक बुद्धि का विषय है जबकि विभक्ति श्रवणेन्द्रिय का विषय है।

अवधेय है कि व्याकरण शास्त्र में साधन या कारक को द्रव्य या शक्ति न मानकर गुण या शक्ति माना गया है क्योंकि यदि कारक को द्रव्य या शक्तिमान् माना जाएगा तो फिर जो करणकारक है, वह सदा करण ही रहेगा, जो अधिकरण कारक है वह भी सदा अधिकरण ही रहेगा अर्थात् विवक्षा के अनुसार कारकों का अभीष्ट प्रयोग या उनमें अभीष्ट विभक्ति परिवर्तन नहीं हो सकेगा जबकि कारकों का तो प्रयोग ही विवक्षा के अनुसार होता है– "विवक्षातः कारकाणि भवन्ति"। अतः शास्त्र में साधन या कारक को द्रव्य या शक्तिमान् न मानकर गुण या शक्ति ही माना जाता है क्योंकि शक्ति तो अमूर्त होती है। अतः उसको वक्ता की इच्छा के अनुसार किसी भी रूप में

1. पाणिनीयाष्टाध्यायी (पा.) 1.4.29
2. वैयाकरणसिद्धान्तपरमलघुमञ्जूषा (प.ल.म.), कारकनिरूपण, पृ. 315
3. वहीं, धात्वर्थनिर्णय, पृ. 140

परिवर्तित किया जा सकता है।[1]

संस्कृत व्याकरण में इन कारकों की संख्या छह है, तद्यथा–कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण।[2] यहाँ षष्ठ्यर्थरूप सम्बन्ध को कारक नहीं माना जाता है, क्योंकि सम्बन्धवाचक शब्द का क्रिया के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं होता है जबकि कारक होने के लिए इसका क्रिया से सीधा अन्वित होना अपरिहार्य है। वैसे लक्ष्यानुरोधात् कई बार गम्यमाना क्रिया भी कारकविभक्ति की प्रयोजिका होती है।[3] इन कारकों को व्यक्त करने के लिए जिन विभक्तियों का प्रयोग होता है, उन्हें कारक विभक्ति कहा जाता है तथा जहाँ किसी पदविशेष के योग के कारण विभक्ति का प्रयोग होता है, उसे उपपदविभक्ति कहते हैं। इन दोनों के अतिरिक्त जब कभी कारकार्थ या प्रातिपदिकार्थ को विहितविभक्ति के द्वारा अभिहित किया जाना विवक्षित नहीं होता है तो वहाँ षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है। यह षष्ठी विभक्ति शास्त्र में शेषषष्ठी के नाम से जानी जाती है। संस्कृत वाङ्मय के अनेक शिष्टप्रयोग इस शेषषष्ठी को मानने पर सुसंगत हो पाते हैं। प्रस्तुत पत्र में शेषषष्ठीगत इस 'शेष' शब्द के अर्थ पर साङ्गोपाङ्ग विचार किया गया है जो कि "षष्ठी शेषे"[4] सूत्र के भाष्य और उसकी टीकाओं पर आधारित है।

तदनुसार इस सूत्र का अर्थ यह है कि कर्म आदि कारकों से अन्य या भिन्न जो प्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्त स्वस्वामिभावादिरूप सम्बन्ध अर्थ शेष है, अभी तक किसी से अभिहित नहीं हुआ है, उसमें षष्ठी होती है, जैसे–'राज्ञः पुरुषः' यहाँ 'राजा' और 'पुरुष' के स्वस्वाभिभाव सम्बन्ध को कहने में प्रकृत सूत्र से विशेषणभूत 'राजन्' शब्द से षष्ठी विभक्ति हो जाती है तो उक्त इष्ट रूप बन जाता है। सर्वप्रथम इस सूत्र पर भाष्यकार पूछते हैं कि इस सूत्र में जो 'शेषे' कहा गया है, उस 'शेषे' का क्या अर्थ है?

प्रदीपकार के अनुसार भाव यह है कि क्या अप्रधान, विशेषण या गौण को 'शेष' कहते हैं अथवा प्रयोग होने के बाद बचे हुए अन्य अर्थ को 'शेष' कहते हैं? अब इसमें यदि प्रथम पक्ष माना जाए तो सब कारकों के क्रियार्थ होने के कारण वे भी 'शेष' बन जाते हैं। फलतः फिर वहाँ भी इस सूत्र से षष्ठी प्राप्त होगी। इस तरह सर्वत्र कर्म आदि के विद्यमान होने से उत्तर भी शेषार्थ

---

1. महाभाष्य (महा.) भाग (भा.) 2 सूत्र 2.31 पृष्ठ 766-67 किम्पुनर्द्रव्यं साधनमाहोस्विद् गुणः?....गुण इत्याह। कथं ज्ञायते? एवं हि कश्चित् कञ्चित् पृच्छति 'क्व देवदत्त' इति? स तस्मा आचष्टे- 'असौ वृक्षे' इति। 'कतरस्मिन्'? यस्तिष्ठतीति'। स वृक्षोऽधिकरणं भूत्वान्येन शब्देनाभिसम्बध्यमानः कर्ता सम्पद्यते। द्रव्ये पुनः साधने यत्कर्म कर्मैव स्याद्, यत्करणं करणमेव यदधिकरणमधिकरणमेव''।
2. प.ल.म. कारकनिरूपण, पृ. 315
''कर्ता कर्म च करणं सम्प्रदानं तथैव च।
अपादानाधिकरणे इत्याहुः कारकाणि षट्।।''
3. सिद्धान्तकौमुदी, कारकनिरूपण–''गम्यमानाऽपि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका भवति''।
4. पा. 2.3.50

प्रकल्पित नहीं होता यह प्रश्न है।[1] यहाँ यह कहना कि कर्मत्व आदि की अविवक्षा की स्थिति में इसके चरितार्थ हो जाने से और क्रियाकारक भाव के साथ अन्वय हो जाने से वहाँ उस-उस विशेष विधि के द्वारा बाध लिया जाने से फिर यह षष्ठी अनिष्टरूपेण कहाँ प्राप्त होगी।'

इसी तरह किसी के अभिहित हो जाने पर वहाँ भी प्रथमा के द्वारा यह षष्ठी रोक दी जाएगी। फलतः यह अनिष्ट षष्ठी कहाँ प्रसक्त होगी तो यह ठीक नहीं क्योंकि ज्ञोऽविदर्थस्य करणे''[2] ज्ञो इत्यादि सूत्रों में इस 'शेष' ग्रहण की अनुवृत्ति होने से उनके विषय में क्रियाकारकभाव के साथ अन्वय होने पर भी परत्वात् कर्म आदि जनित द्वितीया आदि विभक्तियों को बाधकर वहाँ यह षष्ठी प्राप्त होती ही है।[3]

भाष्यकार अब इसका उत्तर देते हैं कि "कर्तुरीप्सिततमं कर्म[4]" इत्यादि के रूप में कर्म आदि कारकों को कहे जाने के बाद उनसे बाकी बचा हुआ जो स्वस्वामिभाव या सम्बन्धरूप अन्य अर्थ है वह यहाँ 'शेष' शब्द से अभिप्रेत है; क्योंकि कर्म आदि को कहने के बाद उच्चारण किया गया 'शेष' शब्द फिर अन्य अर्थ को ही प्रतिपादित करता है और उसमें प्रकृत सूत्र से परत्वात् षष्ठी विभक्ति होती है। इस षष्ठ्यर्थ-रूप सम्बन्ध के विषय में भर्तृहरि भी कहते हैं-

सम्बन्धः कारकेभ्योऽन्यः क्रियाकारकपूर्वकः।
श्रुतायामश्रुतायां वा क्रियायां सोऽभिधीयते।।[5]

इसका तात्पर्य यह है कि क्रिया के न सुनाई देने पर भी 'राज्ञः पुरुषः' इत्यादि में क्रियाकारक सम्बन्धपूर्वक अन्य ही कोई स्वस्वामिभावादि सम्बन्ध प्रतीत होता है और 'मातुः स्मरति' इत्यादि में जब क्रिया साक्षात् सुनाई दे रही हो तब तो कर्म के विद्यमान होने पर भी उसकी कर्म के रूप में विवक्षा न करके 'मातृसम्बन्धी स्मरणम्' इस अर्थ द्वारा माता का स्मरण के प्रति क्रियाकर्मत्वमूलक विशेष्यविशेषणभाव ही प्रतिपादित किया जाता है।

इस पर भाष्यकार आपत्ति करते हैं – किन्तु आपका यह 'शेष' का पूर्वोक्त लक्षण तो ठीक नहीं बनता; क्योंकि कर्म आदि कारकों को कहने के बाद उनसे बचे हुए अन्य कोई अर्थ ही नहीं हैं जिन्हें 'शेष' कहें या कहा जा सके। दूसरे शब्दों में क्रिया के बिना दान आदि के द्वारा स्वीकरण

1. महाभाष्यप्रदीप (महा.प्र. भा. 2, सू.2.3.50 पृ. 819
''किमप्रधान शेष उतोपयुक्तादन्यः? पूर्वस्मिन् पक्षे सर्वेषां कारकाणां क्रियार्थत्वाच्छेषत्वमिति तत्रापि षष्ठीप्रसंग। सर्वत्र कर्मादीनां सद्भावादुत्तरोऽपि शेषार्थो न प्रकल्पत इति प्रश्नः''।
2. पा. 2.3.5
3. महाभाष्य प्रदीपोद्योत (महा.प्र.उ.) भा. 2 सू. 2.3.50 पृ.819
''न चैतस्य कर्मत्वाद्यविवक्षायां चारितार्थ्येन क्रियाकारकभावेनान्वये तत्तद्विधिभिर्बाधात् क्व षष्ठ्यापत्तिः, अभिहितविषयेऽपि प्रथमया बाधादिति वाच्यम् 'ज्ञोऽविदर्थस्य करणे' इत्यादिषु 'शेष' इत्यनुवृत्तेस्तद्विषये क्रियाकारकभावेनान्वयेऽपि परत्वात् षष्ठीप्रसंग : इति तदर्थान्न दोषः''।
4. पा. 1.4.49
5. वाक्यपदीय (वा.प.) 3.7.156

से अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध नहीं उपपन्न हो सकेगा अर्थात् सर्वत्र क्रिया-और उसके विभिन्न कर्म आदि ही अवश्य रहेंगे। फलतः सम्बन्ध के न बन पाने से फिर उस सम्बन्ध को कहने के लिए सर्वत्र ही क्रिया विद्यमान रहेगी। और यदि क्रिया विद्यमान रहेगी तो फिर क्रियानिमित्तक कारक भी वहाँ अवश्य विद्यमान रहेंगे। उस अवस्था में आपके द्वारा कर्म आदि अर्थों से अन्य अर्थ को 'शेष' कहना उपपन्न नहीं होता। तदनुसार जैसे पहले 'राज्ञः पुरुषः' यही उदाहरण देखिए–यहाँ राजा का पुरुष के साथ क्या सम्बन्ध हो सकता है? यहाँ केवल यही सम्भव है कि राजा पुरुष को कुछ देता होगा। अतः वह कर्ता कारक है और पुरुष उस राजा से कुछ लेता होगा या राजा उस पुरुष को कुछ देता होगा। अतः ऐसा अर्थबोध होने से पुरुष सम्प्रदान कारक बन जाता है। ऐसी स्थिति में फिर वह 'शेष' कहाँ रहा? इसी तरह 'वृक्षस्य शाखा' अर्थात् पेड़ की शाखा-यहाँ शाखा पेड़ भी रहती है–ऐसा अर्थबोध होने से वह भी उस शाखा का अधिकरण कारक हुआ, शेष नहीं है। ध्यान रहे कि भाष्यकार द्वारा अवयविरूप वृक्ष को अवयवरूप शाखा का अधिकरण कहना लोक प्रसिद्धि या लोकव्यवहार की दृष्टि से ही कहा गया जानना चाहिए; अन्यथा वैशेषिक दर्शन की प्रक्रिया के अनुसार तो अवयव ही अवयवी का अधिकरण होता है, अवयवी अवयव का नहीं। इसी प्रकार सब जगह जानना चाहिए।[1]

यहाँ यह कहना कि 'राज्ञ:पुरुषः' इस उदाहरण में तो राजा पुरुष को कुछ देता है। इसलिए भले ही, वह तो कर्ता तथा पुरुष सम्प्रदान हो सकता है परन्तु 'राज्ञो वस्त्रम्', 'विप्रस्य गौः' तथा 'विप्रस्य तिलाः' इत्यादि में यह सम्प्रदानत्व संभव न होने से यहाँ तो निश्चयेन शेषत्व हो जाएगा तो ठीक नहीं; क्योंकि नागेश के अनुसार यह सब तो 'स्व' है।[2] भाष्यकार कहते हैं कि यह जो 'स्व' अर्थात् 'अपना' शब्द है, यह अपनापन चार प्रकार से होता है अर्थात् कोई भी वस्तु निम्न कारणों से अपनी होती है–या तो खरीदने से या चोरी से या माँगने से या परिवर्तन अथवा वस्तुओं की अदला-बदली से। और इन सब कामों में कर्म आदि कारक विद्यमान रहते ही हैं भाव यह है कि 'राज्ञः गौः' इस वाक्य में गाय राजा का स्व है तथा स्वयं राजा गाय का स्वामी। अब इस 'स्व' रूप गाय को स्वामिरूप राजा निम्न चार प्रकारों से प्राप्त कर सकता है, जैसे राजा गाय को खरीदकर अपनी बनाता है। यहाँ गाय क्रयण क्रिया का कर्म है। इसी तरह राजा किसी से गाय को छीनकर अपनी बनाता है, जैसे- क्षत्रिय लोग युद्ध करते हैं। इसी प्रकार राजा किसी से गाय को मांगकर उसे अपनी बनाता है तथा इसी तरह राजा कोई अपनी वस्तु देकर उसके बदले में गाय लेकर उसे अपनी बनाता है। यहाँ सर्वत्र राजा कर्ता है। इस प्रकार 'स्व' में भी कर्म आदि के होने

---

1. प्रकृत सूत्रस्थ महा. प्र.पृ.819-20
''लोकप्रसिद्ध्यै तदुक्तम् वैशेषिकप्रक्रियया त्ववयवोऽवयविनोऽधिकरणम्''।

2. प्रकृत सूत्रस्थ महा. प्र.उ.पृ. 819-20
''ननु राज्ञः पुरुष इत्यत्र राजा पुरुषस्य किञ्चिद्ददातीतिराजा कर्ता, पुरुषः सम्प्रदानं भवतु, 'राज्ञो वस्त्रम्' 'विप्रस्य गौः' 'विप्रस्य तिलाः इत्यादौ तु तदसम्भवाच्छेषत्वं भविष्यतीत्यत आह भाष्ये एतत् स्वं नामेति''।

से यह भी शेष नहीं कहा जा सकता।[1]

भाष्यकार सर्वत्र कर्म आदि को देखकर 'शेष' न बन पाने से अब कर्म आदि की अविवक्षा में शेषत्व को सिद्ध करने के लिए कहते हैं कि अच्छा तो कर्म आदि कारकों को विवक्षा न करना शेष है अर्थात् कर्म आदि को कहने की इच्छा जब न हो तब वह 'शेष' होता है। उस अवस्था में वहाँ प्रकृत सूत्र से षष्ठी हो जाती है। इस पर आपत्ति करते हैं कि परन्तु विद्यमान वस्तु की अविवक्षा अर्थात् उसके न कहने की इच्छा कैसे हो सकती है? इसका उत्तर देते हैं कि नहीं, यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि कई बार विद्यमान वस्तु की भी कहने की इच्छा नहीं होती, जैसे–'अलोमिका एडका' अर्थात् यह भेड़ बिना बालों की है- ऐसा कहा जाता है। अब कोई पूछे कि भला कोई भेड़ बिना बालों की कैसे हो सकती है, भेड़ के तो बाल अवश्य होंगे। फिर भी उस भेड़ के कुछ कम या विरल बालों को देखकर अथवा बालों के कार्य न करने से बालों के विद्यमान होते हुए भी उनको विद्यमान न मानकर लोग यूँ कह देते हैं कि यह भेड़ तो बिना बालों की है। इसी तरह यह भी कह दिया जाता है कि यह कन्या तो बिना पेट की है। अब यही कोई पूछे कि भला कोई कन्या बिना पेट की कैसे हो सकती है। फिर भी उस कन्या का छोटा या हल्का पेट होने के कारण अथवा उदर के विद्यमान होते हुए भी उसके महत्त्वाभाव को प्रतिपादित करने के लिए उसको विद्यमान न मानकर उसे बिना पेट वाली कन्या कह देते हैं। भाव यह है कि जैसे उक्त उदाहरणों में सत् की अविवक्षा देखी जाती है वैसे ही कभी-कभी असत् की विवक्षा भी देखी जाती है। इसलिए उपर्युक्त के विपरीत कई बार जो वस्तु विद्यमान नहीं है, उसको भी कहने की इच्छा होती है, जैसे लोक में कहा जाता है कि यह कुण्डी तो समुद्र है अर्थात् कुण्डी के महदाकार या बड़प्पन को देखकर उसमें बहुत पानी की सम्भावना को प्रतिपादित करने के लिए उसमें समुद्रत्व का आरोप करके उसे समुद्र कह देते हैं। अब कोई पूछे कि भला कोई कुण्डी समुद्र कैसे हो सकती है अथवा समुद्र कुण्डी कैसे हो सकता है परन्तु जल से भरा हुआ जो कुण्ड है, वह जब विशाल होता है तब उसके वास्तव में समुद्र न होते हुए भी 'लक्षणया' लोग उसे समुद्र कह देते हैं। अथवा समुद्र जब बहुत क्षुद्र सा हो तो उसके वास्तव में कुण्डी न होते हुए भी 'लक्षणया' लोग उसे जलकुण्ड कह देते हैं। इसी तरह कहा जाता है कि यह चावलों का ढेर तो विन्ध्य पहाड़ है अर्थात् बहुत ऊँचा है। अब कोई पूछे कि भला 'वर्धितक' विन्ध्यपर्वत कैसे हो सकता है? किन्तु असत् की भी विवक्षा हो जाने से चावलों के ढेर का महत्त्व या ऊँचाई प्रतिपादित करने के लिए उसमें असत् विन्ध्यत्व का आरोप करके उसे विन्ध्य कह दिया जाता है।[2] इसी प्रकार प्रकृत में भी

1. प्रकृत सूत्रस्थ महा.पृ.820
   ''तदेत् स्वं नाम चतुर्भिरेतत्प्रकारैर्भवति कर्मादयः सन्ति''।
2. 'वर्धितक' शब्द के अर्थ को लेकर प्रदीपकार का कहना है कि पके हुए भात या चावलों के ढेर का नाम 'वर्धितक' है जो नीचे से तो स्थूल होता है तथा ऊपर से क्रमशः सूक्ष्म या पतला होता है। इसके इस आकार को देखकर ही सम्भवत: 'वर्धितक' की उपमा विन्ध्यपर्वत से दी गई हैं, क्योंकि पर्वत भी नीचे से तो मोटा तथा ऊपर से पतला होता है-''वर्धितकशब्देन मूले स्थूलमग्रे सूक्ष्मविशिष्टसंस्थानयुक्तं भक्तमुच्यते। तस्य महत्त्वप्रतिपादनाय विन्ध्यत्वमसदारोप्यते''।

कर्म आदि कारकों के विद्यमान होते हुए भी उनकी विवक्षा न होना ही 'शेष' है और उसमें षष्ठी विभक्ति करने के लिए यह सूत्र है।[1]

प्रत्ययनियमपक्ष में 'शेष' ग्रहण के प्रयोजन को लेकर अब आगे भाष्यकार पूछते हैं कि अच्छा तो यह बताइये कि यह 'शेष ग्रहण' किस लिए किया गया है? इसका उत्तर वार्तिक द्वारा दिया जाता है-"प्रत्ययावधारणाच्छेषवचनम्।"[2] इसका अर्थ यह है कि "कर्मणि द्वितीया"[3] इत्यादि सूत्रों से द्वितीया कर्म में ही हो, अन्यत्र न हो-इस प्रकार द्वितीया आदि विभक्तियों के प्रत्ययों का नियम होने से इस सूत्र में 'शेष' ग्रहण किया गया है; क्योंकि इस प्रत्ययनियमपक्ष में द्वितीया आदि विभक्तियों के प्रत्ययों का नियम तो हो गया किन्तु कर्म आदि अर्थों का नियम नहीं हुआ। फलतः उनमें पर्याय या बारी-बारी षष्ठी भी प्राप्त होती है। "परश्च"[4] सूत्र के नियम से दोनों विभक्तियाँ युगपत् तो आ नहीं सकतीं। अतः उसको रोकने के लिए यहाँ 'शेष' ग्रहण किया गया है जिससे यह नियम बन सके कि कर्म आदि से 'शेष' बचे हुए अर्थों में ही षष्ठी हो, अन्यत्र नहीं।

अब अर्थ नियमपक्ष में 'शेष' ग्रहण के प्रयोजन को लेकर अगला वार्तिक है- "अर्थविधारणाद्वा।"[5] इसका अर्थ यह है कि अथवा अर्थ का अवधारण होने से इस सूत्र में 'शेष' ग्रहण करना चाहिए अर्थात् कर्म में द्वितीया ही हो, अन्य कोई विभक्ति नहीं-इस प्रकार कर्म आदि अर्थ तो निश्चित हैं किन्तु इससे प्रत्ययों का नियम नहीं हुआ। ऐसी स्थिति में वे कर्म आदि से शेष बचे हुए अर्थ में भी प्राप्त होंगे। अतः उनको रोकने के लिए यहाँ 'शेष' ग्रहण किया गया है जिससे यह नियम बन सके कि 'शेष' अर्थ में षष्ठी ही हो, अन्य कोई विभक्ति न हो। इस प्रकार प्रत्ययनियम और अर्थनियम इन दोनों द्वारा स्थिर करके इस सूत्र में 'शेष' ग्रहण किया गया है।

इस पर भाष्यकार का कथन है, अब अर्थनियमपक्ष में तो इस 'शेष' ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि इस पक्ष में "कर्मणि द्वितीया" इत्यादि सूत्रों से द्वितीया कर्म में ही हो, अन्यत्र न हो-इस प्रकार कर्म आदि कारकों में तो द्वितीया आदि विभक्तियाँ निश्चित है परन्तु द्वितीया आदि विभक्तियों का कोई नियम नहीं है। परिणामतः द्वितीया आदि विभक्तियाँ कर्म आदि के साथ-साथ अन्य अर्थों में भी हो सकती हैं। ऐसी स्थिति में षष्ठी विभक्ति को वहाँ से रोकने के लिए हम "षष्ठी शेषे" इस प्रकृत सूत्र से 'शेष' ग्रहण को हटाते हुए केवल 'षष्ठी' इतना सूत्र बना देंगे और वह नियमार्थ होगा। तदनुसार इसका अर्थ होगा कि जहाँ षष्ठी या और कोई विभक्ति प्राप्त होती है, वहाँ केवल षष्ठी ही होती है, अन्य कोई विभक्ति नहीं। इस प्रकार कर्म आदि अर्थों

---

1. प्रकृत सूत्रस्थ महा.प्र.पृ. 820
''एवं तर्हि कर्मादीनामविवक्षा शेषः। कथं पुनः सतो नामाविवक्षा स्यात्। सतोऽप्यविवक्षा भवति, तद्यथा- अलोमैडका, अनुदरा कन्येति। असतश्च विवक्षा भवति, तद्यथा-समुदः कुण्डिका। विन्ध्यो वर्धितकमिति''।
2. प्रकृतसूत्रस्थ वार्तिक पृ. 820
3. पा. 2.3.2
4. पा. 3.1.2
5. प्रकृतसूत्रस्थ वार्तिक पृ.821

में षष्ठी विभक्ति नहीं होगी। इस तरह अर्थनियम पक्ष में 'शेष' ग्रहण प्रत्याख्येय बन जाता है।[1] प्रदीपकार के अनुसार भाव यह हे कि जैसे 'समे देशे यजेत' ऐसा कहने से यजन क्रिया के सम तथा विषम दोनों स्थानों पर पर्याय से प्राप्त होने पर फिर समविधि के द्वारा विषम स्थान पर यजन क्रिया का निवारण कर दिया जाता है वैसे ही प्रकृत में भी द्वितीया आदि का निवारण षष्ठीविधान का फल बन जाता है, अर्थात् सूत्र में 'शेष' ग्रहण के बिना भी कर्म आदि अर्थों में षष्ठी नहीं होगी।[2] परन्तु नागेश के मत में अर्थनियम पक्ष में 'शेष' ग्रहण प्रत्याख्येय न होकर उत्तरार्थ आवश्यक है। इसलिए उनके अनुसार 'शक्यमकर्तुम्' इस भाष्यवचन का तात्पर्य "अत्राकर्तुशक्यम्" इस अर्थ में पर्यवसित समझना चाहिए।[3]

अब भाष्यवार्तिककार 'षष्ठी शेषे' इस यथास्थित सूत्रन्यास में भी दोष देते हुए अगला वार्तिक पढ़ते हैं–"षष्ठी शेषे:" इति चेद विशेष्यस्य प्रतिषेध:।[4] इसका अर्थ यह है कि "षष्ठी शेषे" इस व्यवस्थित सूत्रन्यास से शेष में षष्ठी विभक्ति करने पर फिर विशेष्य में भी प्राप्त होने वाली षष्ठी का प्रतिषेध करना चाहिए। तदनुसार 'राज्ञ:पुरुष:' यहाँ जैसे विशेषण रूप राज्ञः में षष्ठी विभक्ति होती है वैसे ही फिर उसका विशेष्य जो पुरुष है, उसमें भी षष्ठी होनी चाहिए; क्योंकि जैसे राजा का पुरुष के साथ सम्बन्ध है वैसा ही पुरुष का भी तो राजा के साथ है। इनमें पुरुष राजा का विशेष्य है अर्थात् पुरुष शब्द का अर्थ यहाँ पुरुषमात्र न होकर राजनिरूपित विशेष्यता से युक्त है और विशेष्यविशेषणभावरूप यह सम्बन्ध प्रातिपदिकार्थ से अतिरिक्त है। फलत: प्रातिपदिकार्थ से व्यतिरिक्त होने के कारण 'पुरुष' रूप इस विशेष्य में "प्रातिपदिकार्थलिंगत्रचनपरिमाणमात्रे प्रथमा"[5] सूत्र से प्रथम विभक्ति नहीं प्राप्त होती अपितु कारक तथा प्रातिपदिकार्थ से व्यतिरिक्त होने के कारण वहाँ अनिष्ट षष्ठी प्राप्त होती है, उसका प्रकृत वचन से निषेध कहना चाहिए। भाव यह है कि 'राज्ञ: पुरुष:' में स्वस्वामिभाव रूप सम्बन्ध है। अत: सम्बन्ध के होने से जैसे विशेषणभूत या अप्रधानभूत 'राजा' शब्द से षष्ठी आती है वैसे ही सम्बन्ध के द्विष्ठ होने के कारण फिर इस प्रधानभूत या विशेष्यभूत 'पुरुष' शब्द से भी प्रथमा न होकर षष्ठी प्राप्त होती है–इसका निषेध कहना चाहिए। इसीलिए दूसरे व्याकरणान्तरों में तो प्रकृत सूत्र के स्थान पर "गुणे षष्ठी" ऐसा कहने से केवल विशेषणरूप राजा शब्द में ही षष्ठी होगी तो उक्त दोष नहीं आता।[6] ध्यान रहे कि नागेश

1. प्रकृत सूत्रस्थ महा. पृ. 821– "अर्थनियमे शेषग्रहणं शक्यमकर्तुम्। कथम्? अर्था: नियता: प्रत्यया: अनियता: ततो वक्ष्यामि–षष्ठी भवतीति। तन्नियमार्थं भविष्यति– 'यत्र षष्ठी चान्या च प्राप्नोति, षष्ठ्येव भवतीति"।
2. प्रकृत सूत्रस्थ महा. प्र.पृ. 821–"यथा– समदेशेयजेतेति समविषमयो: पर्यायेण प्रसंगे विषमस्थाने समविधिर्विषमनिवारणफलत्वान्नियम: सम्पद्यते तथा षष्ठीविधिर्द्वितीयादिनिवारणफल:"।
3. प्रकृत सूत्रस्थ महा.प्र.उ.पृ. 821– "अर्थनियमेऽपि उत्तरार्थ शेषग्रहण–आवश्यकमिति बोध्यम्। शक्यमकर्तुमित्य-स्यात्राकर्तुमित्यर्थ:"।
4. प्रकृत सूत्रस्थ वार्तिक पृ. 821
5. पा. 2.3.46
6. प्रकृत सूत्रस्थ महा.प्र.पृ. 821– "अस्मिन् सूत्रन्यासे दोष:, सम्बन्धस्य द्विष्ठत्वात् प्रधानादपि षष्ठीप्रसंग: व्याकरणान्तरे तु 'गुणे षष्ठी' इति वचनान्नास्ति दोष:"।

के अनुसार प्रदीपकार के द्वारा सम्बन्ध को उभयनिष्ठ मानकर उसके प्रातिपदिकार्थातिरिक्त होने से यहाँ षष्ठी की प्राप्ति दिखाना ठीक नहीं है; क्योंकि स्वयं इसी सूत्र पर भाष्यकार निम्न कथन द्वारा 'पुरुष' शब्द में किसी अन्य कारण से षष्ठी प्राप्ति प्रदर्शित करके फिर उपायान्तर से उसका समाधान करेंगे–"एवं पुरुषेऽपि स्वामिकृतं स्वत्वं तत्र षष्ठी प्राप्नोति। राजशब्दादुत्पद्यमानतया षष्ठ्याभिहितः सोऽर्थः इति कृत्वा पुरुषशब्दात् षष्ठी न भविष्यति।"[1]

इस तरह पूर्वोक्त वार्तिक से 'पुरुषरूप' विशेष्य में षष्ठी के प्रतिषिद्ध हो जाने से विशेषणविशेष्यभावरूप सम्बन्ध अर्थ के अधिक होने के कारण 'पुरुष' शब्द से भी फिर प्रातिपदिकार्थमात्र में विधीयमान प्रथमा की अप्राप्ति को लेकर अग्रिम वार्तिक है–"तत्र प्रथमाविधिः।"[2] इसका अर्थ है कि वहाँ 'राज्ञः पुरुषः' में विशेष्यभूत 'पुरुष' शब्द में पूर्वोक्त वार्तिक से षष्ठी का निषेध करके फिर प्रकृत वार्तिक से उसमें प्रथमा का विधान करना चाहिए; क्योंकि उक्त वार्तिक में 'पुरुष' शब्द से केवल या विशुद्ध प्रातिपदिकार्थ की ही प्रतीति नहीं होती अपितु यहाँ विशेष्यविशेषणभावरूप सम्बन्ध अर्थ भी अधिक प्रतीत होता है। फलतः षष्ठी के रोक देने पर भी "प्रातिपदिकार्थालिंगवचन" सूत्र से यहाँ प्रथमा न प्राप्त होने के कारण इसका प्रकृत वचन से विधान करना चाहिए। भाष्यवार्तिककार इस वार्तिक का उत्तर अब अग्रिम वार्तिक से देते हुए कहते हैं –"न वा वाक्यार्थत्वात्" अर्थात् यह कोई दोष नहीं है क्योंकि 'राज्ञः पुरुषः' में जो विशेष्यविशेषणभाव या सम्बन्धरूप अधिक अर्थ की प्रतीति हो रही है, वह प्रातिपदिकार्थ से अतिरिक्त है, स्वयं प्रातिपदिक का अपना अर्थ नहीं। दूसरे शब्दों में यह विशेषणविशेष्यसम्बन्धरूप अधिक अर्थ तो 'राज्ञः पुरुषः' इन दोनों पदों से मिलकर जो वाक्य बनता है, उस वाक्य का अर्थ है, स्वयं प्रातिपदिक का नहीं, क्योंकि 'राज्ञः' इस पद के साथ प्रयुक्त होने पर ही 'पुरुष' शब्द में राजनिरूपित विशेष्यतासम्बन्ध प्रतीत होता है, स्वतन्त्र या अकेले 'पुरुष' शब्द का प्रयोग होने पर नहीं। इस तरह पदान्तर की निकटता में ही प्रतीयमान होने से यह विशेषणविशेष्यसम्बन्धरूप अधिक अर्थ वाक्य का अर्थ कहलाता है–"पदसमूहो वाक्यमर्थपरिसमाप्तौ", प्रातिपदिक का अपना अर्थ नहीं। इसलिए यहाँ षष्ठी नहीं होगी अपितु 'पुरुष' प्रातिपदिक के तो केवल स्वार्थमात्र में होने से फिर वहाँ प्रथमा ही होगी।

इस पर 'राजपुरुषः' में 'पुरुष' शब्द से प्रथमा को रोकने के लिए विशेषणविशेष्यभावरूप अधिक अर्थ को वाक्यार्थ मानने पर आपत्ति करते हुए भाष्यकार पूछते हैं कि यह क्या कारण है कि 'राज्ञः पुरुषः' यहाँ 'पुरुष' में जो विशेषणभावरूप अधिक अर्थ है, उसे आप वाक्यार्थ नहीं मानते। तात्पर्य यह है कि 'पुरुष' शब्द के साथ प्रयुक्त होने पर ही तो 'राजा' शब्द में सम्बन्धकृत विशेषणत्व की प्रतीति होती है, अकेले या स्वतन्त्र प्रयुक्त होने पर नहीं। इस तरह विशेषणत्व के

1. प्रकृतसूत्रस्थ महा.प्र.उ.पृ. 821- ''यत्तु षष्ठ्यर्थसम्बधस्यांशेनोयनिष्ठतया प्रतीतेस्तेन प्रातिपदिकार्थातिरिक्तेन सहित इत्यर्थ इति तन्न, 'पुरुषे स्वामिकृतं स्वत्वमपि षष्ठ्याभिहितमिति पुरुषशब्दात् षष्ठी नेत्यग्रिमभाष्येण तस्य षष्ठ्यर्थत्वोक्त्या वाक्यार्थत्वकथनानुपपत्तेः''।
2. प्रकृतसूत्रस्थ वार्तिक पृ. 822

वाक्यार्थ बन जाने से फिर उस विशेषणत्व का नियामक सम्बन्ध भी वाक्यार्थ ही बन जाता है। उस अवस्था में फिर 'पुरुष' शब्द के समान 'राजन्' शब्द से भी सम्बन्ध के उभयनिष्ठ होने से प्रथमा प्राप्ति होती है। इसे यूँ भी कहा जा सकता है कि 'राजन्' और 'पुरुष' इन दोनों शब्दों में परस्पर विशेषणविशेष्य सम्बन्ध होने के कारण या तो इनसे एकसमान प्रथमा आनी चाहिए या फिर षष्ठी ही। भाष्यकार अब इस शंका का उत्तर देते हैं कि 'पुरुष' शब्द के प्रयोग के बिना भी केवल 'राज्ञः' पद के उच्चारण से तो वह अनियतविशेष्य-निरूपितविशेषणत्वरूपसम्बन्धित्व अर्थात् विशेषणत्व और सम्बन्ध अर्थ निकलता है परन्तु 'राजन्' शब्द के प्रयोग के बिना केवल 'पुरुष' से वह विशेषणत्वेन निरूपित विशेष्यत्वरूप अर्थ नहीं निकलता। इसमें अवश्य ही कोई हेतु है जिसके कारण यह होता है। पूछते हैं कि इसका क्या कारण है जिससे 'पुरुष' शब्द के प्रयोग के बिना केवल 'राजन्' शब्द में तो सम्बन्धरूप अर्थ प्रतीत होता है तो इसका उत्तर है कि वह कारण यह है कि आप 'राजन्' शब्द के षष्ठी विभक्ति का उच्चारण कर रहे हैं। इसलिए 'राजन्' शब्द का अर्थ गौण हो जाता है। इसी तरह यदि आप 'पुरुष' शब्द से परे भी षष्ठी का उच्चारण कर दें तो उससे भी वह उक्त सत्वरूप विशेष्य अर्थ अर्थात् किसी अन्य पदार्थ से निरूपित विशेष्यत्वरूप अर्थ निकल सकता है।

भाष्यकार इस पर आपत्ति करते हैं कि नहीं, यह बात ऐसी तो नहीं होनी चाहिए, क्योंकि "अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः" इस न्यायानुसार शब्द के पीछे अर्थ को नहीं चलना चाहिए अर्थात् शब्द प्रयोग के होने या न होने से अर्थ का होना या न होना नहीं निश्चित होता अपितु अर्थ के पीछे शब्द को चलना चाहिए अर्थात् अर्थ को प्रतिपादित या बताने की इच्छा से शब्द का उच्चारणानुच्चारणलक्षण भावाभाव होता है। ऐसी स्थिति में यहाँ षष्ठी के प्रयोग को देखकर उसका सम्बन्धरूप अर्थ नहीं जानना चाहिए अपितु सम्बन्धरूप अर्थ को देखकर 'राज्ञः' में षष्ठी का उच्चारण या प्रयोग करना चाहिए। वास्तव में राजा के परोपकारी या विशेषणरूप में विवक्षित होने के कारण उससे तो विशेषणतानियामक सम्बन्धबोधिका और तद्गतविशेषणताबोधिका षष्ठी हो जाती है तथा पुरुष के उपकार्य होने के कारण उसके स्वार्थमात्र निरूपित विशेष्यता के रूप में ही विवक्षित होने से उसमें अन्तरङ्गत्वात् प्रथमा हो जाती है। इस विषय में भर्तृहरि ने भी कहा है–

द्विष्ठोऽप्यसौ परार्थत्वाद् गुणेषु व्यतिरिच्यते।
तत्राभिधीयमानश्च प्रधानेऽप्युपयुज्यते॥[1]

अर्थात् यद्यपि सम्बन्ध विशेष्य तथा विशेषण में उभयनिष्ठ होता है तथापि इसके विशेषणार्थ होने के कारण यह गौण या विशेषण पदों में ही मुख्यतया प्रतीत होता है; क्योंकि सम्बन्ध के बिना विशेषणत्व का ज्ञान असंभव है। अंतः विशेषणपदों में ही षष्ठी होती है, विशेष्यों में नहीं, क्योंकि उनमें तो विशेष्यतानियामक सम्बन्ध की कोई आकाँक्षा नहीं होती। अब वहाँ षष्ठ्यन्त विशेषण शब्द से अभिधीयमान होने वाला यह सम्बन्ध विशेष्य या प्रधान में भी उपयुक्त हो जाता है अर्थात् इस

1. वा. पा. 3.7.157

सम्बन्ध के द्विष्ठ स्वभाव वाला होने से यह 'राजा' आदि पदों की सन्निधि में प्रतीत होने वाली 'राजा' आदि से निरूपित विशेष्यता का भी उपकारक होता है।

इस विषय को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि इस बात को 'राज्ञःपुरुषः' के प्रसंग में विशेषरूप से ऐसे देखिए कि यह पदार्थ का एक विशेष स्वरूप ही हैं जिसमें बिना 'पुरुष' शब्द के प्रयोग के भी केवल 'राजन्' शब्द से वह विशेषण और सम्बन्धरूप अर्थ निकलता है। पूछते हैं कि वह कौन सा अर्थ है तो इसका उत्तर है कि वह अर्थ है- "समासकृत्तद्धितेषु-सम्बन्धाभिधानम्" इस वचनानुसार राजा का पुरुष पर स्वामित्व एवं तत्कृत विशेषणत्व होना और पुरुष के द्वारा राजा का 'स्व' होना। इस तरह यह स्वस्वामिभावरूप सम्बन्ध अर्थ तथा तन्मूलक विशेषणत्व ही है जिसको षष्ठी विभक्ति बिना 'पुरुष' शब्द के प्रयोग के भी सहजरूपेण सूचित कर रही है। पूछते हैं कि यह स्वामित्वरूप अर्थ किस कारण से प्रतीत होता है क्योंकि यहाँ स्वत्ववाचक कोई पद नहीं है तो उसका उत्तर है कि 'स्व' मात्र के कारण से; क्योंकि "स्वामिनैश्वर्ये"[1] इस सूत्रानुसार 'स्व' शब्दमात्र से ही 'ऐश्वर्य' अर्थ में 'आमिनच्' प्रत्यय होने पर स्वामित्व उपपन्न होता है।

भाव यह है कि 'स्व' के नियत न होने से उसकी अपेक्षा करके पहले सम्बन्धाश्रया षष्ठी हो जाती है। पुरुष की सन्निधि में तो 'स्व' की प्रतिपत्ति होने से उसमें प्रथमा होती है। इसके अतिरिक्त प्रातिपदिकार्थों में भी क्रियाओं के कारण या क्रियासामान्य-निरूपितफलापेक्षया कुछ विशेष शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं अर्थात् उनकी विवक्षा कर ली जाती है और उन शक्तियों के कारण ही उन प्रातिपदिकार्थों के नाम भी पड़ जाते हैं, जैसे यह कर्म कारक है, यह करण कारक है यह अपादान कारक है, यह सम्प्रदान है तथा यह अधिकरण है। और ये शक्तियाँ भी विभक्तियों की उत्पत्ति में कभी तो क्रिया के प्रति व्यापारावेश की विवक्षा होने पर निमित्त बन जाती है, जैसे 'दात्रेण लुनाति' और कभी योग्यतामात्र की विवक्षा होने पर विभक्त्युपत्ति में निमित्त नहीं बनतीं, जैसे 'दात्रं लवने करणम्'। भाव यह है कि प्रातिपदिकार्थरूप सब पदार्थ सर्वविधशक्तियों वाले होते हैं और शक्तियों से धर्मी या शक्तिमान् का भेद भी होता है तथा अभेद भी। इनमें विभक्तियों का प्रयोग तो शक्ति और शक्तिमान् में भेद की विवक्षा करने पर होता है। इस दृष्टि से जब क्रिया के साथ कर्ता का ईप्सिततम रूप से सम्बन्ध होता है तो प्रातिपदिकार्थ की इस एक शक्ति का नाम कर्म हो जाता है। इसी तरह क्रिया के साथ कर्ता का साधकतम आदि के रूप में सम्बन्ध होने पर प्रातिपदिकार्थ की इन शक्तियों को करण आदि कह देते हैं। तदनुसार जैसे–"दात्रेण लुनाति" यहाँ लवन क्रिया की अपेक्षा से 'दात्र' शब्द की करणसंज्ञा प्रयुक्त तृतीया होती है वैसे ही 'राज्ञःपुरुषः' यहाँ भी पुरुषरूप स्व की अपेक्षा से 'राजन्' शब्द में षष्ठी हो जाती है और इस तरह जैसे 'दात्रं लवने करणम्' यहाँ स्वार्थनिरूपितविशेष्यता के कारण 'दात्र' शब्द से प्रथमा होती है वैसे ही फिर 'राजा पुरुषस्य स्वामी' यहाँ भी 'राजा' शब्द में स्वार्थनिरूपित विशेष्यता के कारण ही प्रथमा हो

1. पा. 5.2.126

जाती है अर्थात् जैसे–'विद्यालयं गच्छति' तथा 'विद्यालयात् गच्छति' यहाँ यद्यपि विद्यालयरूप प्रातिपदिकार्थ में उक्त दोनों कर्म और अपादान कारकों को व्यक्त, करने की शक्तियाँ है परन्तु 'विवक्षात: कारकाणि भवन्ति' इस न्याय से वक्ता प्रातिपदिकार्थ की जिस शक्ति को कहना चाहता है, वह उसको तो विभक्ति से प्रकट कर देता है; जबकि उस समय अन्य शक्तियाँ प्रसुप्तया निष्क्रिय ही रहती हैं।

भाष्यकार आगे पूछते हैं कि ये कर्म आदि संज्ञाएं विभक्तियों की उत्पत्ति में कब निमित्त बनती हैं तो इसका उत्तर देते हैं कि जब ये विभक्तियाँ प्रातिपदिकार्थ को व्यभिचरित कर देती हैं अर्थात जब प्रातिपदिकार्थ की क्रियावेशविवक्षा में शक्तिलक्षणा–अर्थातिरेक होता है, तब ये शक्तियाँ प्रातिपदिकार्थता या विभक्ति प्रयोग के बिना भी इसके अर्थ को छोड़ देती हैं। फलत: तब ये द्वितीया आदि विभक्तियों की उत्पत्ति का निमित्त बन जाती हैं। परन्तु जब तक तो प्रातिपदिक अपने शुद्ध या स्वार्थ-निरूपित विशेष्यरूप अर्थ में ही स्थित विवक्षित रहता है तब तक तो सिवाय प्रथमा के और कोई विभक्ति नहीं उत्पन्न होती। उस समय वहाँ केवल यही कहा जाता है कि यद्यपि इस प्रातिपदिक में कर्मत्व, करणत्व, सम्प्रदानत्व, अपादानत्व या अधिकरणत्व आदि सभी शक्तियाँ समाहित हैं परन्तु यह प्रातिपदिकार्थ उनसे सर्वथा पृथक रहकर अपने अर्थ में ही स्थित रहता है अर्थात् प्रातिपदिकार्थ को व्यभिचरित न करने की स्थिति में तो ये कर्म आदि केवल कर्मरूप नाम या कर्म आदि संज्ञा रूप में ही होते हैं, विभक्तियों की उत्पत्ति में वह प्रयोजक या निमित्त नहीं बनते। फलत: विभक्तियाँ न आने से फिर वे संज्ञाएं व्यर्थ होती हैं।

तात्पर्य यह है कि जब प्रातिपदिकार्थगत शक्ति क्रियाफलापेक्षया प्रातिपदिकार्थ से अलग रूप में विवक्षित होती है तब तो वह अपने अनुकूल कारक संज्ञा को प्राप्त करके तत्सम्बद्ध विभक्ति को उत्पन्न करती है परन्तु जब यह प्रातिपदिकार्थगत शक्ति प्रातिपदिकार्थ से अलग विवक्षित नहीं होती तब वह कारकविशेष का नाम धारण करके भी उस कारक की विभक्ति को उत्पन्न नहीं करती। इस विषय में भर्तृहरि भी कहते हैं-

स्वशब्दैरभिधाने तु स धर्मो नाऽभिधीयते
विभक्त्यादिभिरेवासावुपकार: प्रतीयते।।[1]

अर्थात् स्वार्थनिरूपित विशेष्यता से प्रातिपदिकार्थ का अभिधान विवक्षित होने पर वह शक्तिरूप धर्म अभिहित नहीं होता या शब्द से विभक्ति नहीं प्रयुक्त होती। परन्तु जब यह प्रातिपदिकार्थ स्वार्थ निरूपित विशेष्यता से अभिहित होना विवक्षित नहीं होता तब इसका अभिहित करने का उपकार विभक्तियों के द्वारा ही किया जाता है। इसी तरह प्रकृत में भी 'पुरुष' शब्द के प्रयोग के बिना ही अकेले 'राजन्' शब्द से तो षष्ठी विभक्ति लगने पर उससे स्वकृत स्वामित्व अर्थ की प्रतीति हो जाती है परन्तु अकेले 'पुरुष' शब्द से वह अन्य पदार्थ निरूपित विशेष्यत्त्व-रूप अर्थ प्रतीत नहीं होता।

---

1. वा. प. 3.7.13

अब भाष्यकार 'पुरुष' शब्द में षष्ठी की अनिष्ट प्राप्ति दिखाते हुए आगे शंका करते हैं कि जिस प्रकार 'राज्ञ:पुरुष:' में पुरुष रूप स्व के कारण राजा में स्वामित्व है और वहाँ षष्ठी होती है उसी प्रकार 'पुरुष' में भी राजा के स्वामित्व के कारण अपना स्वत्व है इसलिए फिर वहाँ भी षष्ठी होनी चाहिए अर्थात् सम्बन्ध के दोनों में स्थित होने से केवल 'राजन्' से ही नहीं अपितु 'पुरुष' इन दोनों शब्दों से षष्ठी प्राप्त होती है। ध्यान रहे कि यहाँ यह शक्ति तो प्रातिपदिकार्थ की ही है, यह क्रिया में स्थित नहीं है। भाष्यकार अब इसका उत्तर देते हैं कि गुणप्रधानभाव या विशेष्यविशेषणभावरूप अर्थद्वय से युक्त 'राजन्' और 'पुरुष' इन दोनों की समन्वित या सांझी 'राजन्' शब्द से उत्पन्न हुई षष्ठी विभक्ति से वह स्वस्वामि-भावरूप सम्बन्ध सम्बन्धअर्थ कहा जा चुका है और वह सम्बन्ध अर्थ एक ही है। इसलिए राजा शब्द से आने वाली षष्ठी से राजनिष्ठ उक्त सम्बन्ध रूप अर्थ के उक्त हो जाने पर फिर पुरुषनिष्ठ सम्बन्धरूप अर्थ भी उक्त हो जाएगा तो फिर उक्तार्थानामप्रयोग:" न्यायानुसार 'पुरुष' शब्द से पृथक् षष्ठी नहीं होगी; क्योंकि अब वहाँ यह सम्बन्ध 'राजन्' रूप गौण पद में स्थित होकर द्विष्ठ होने से फिर 'पुरुषरूप' प्रधाान पद को भी स्पर्श करता है और यह गौण पद प्रधान के उपकार के लिए प्रवृत्त होकर विशेषणतानियामक सम्बन्धवत्त्व रूप रूपान्तर का आश्रयण कर लेता है; जबकि प्रधान तो स्वार्थमात्र में ही स्थित हुआ अन्यनिरूपित विशेष्यतानियामक सम्बन्धरूप रूपान्तर को नहीं प्राप्त करता है। ऐसी स्थिति में "कटं करोति" इत्यादि में प्रकारान्तर से द्वितीया सिद्ध हो जाने से फिर "अनभिहिते"[1] सूत्र पर "तिङ्कृत्तद्धितसमासैरभिधानम्" इस वार्तिक द्वारा परिगणन करना अनावश्यक हो जाता है।

भाष्यकार आगे पूछते हैं कि अच्छा तो फिर क्या 'पुरुषसम्बन्धी राजा' इस अर्थ में 'पुरुषस्य राजा' ऐसा षष्ठ्यन्त 'पुरुष' शब्द का प्रयोग कभी नहीं होता? इसका उत्तर देते हैं कि होता क्यों नहीं, अवश्य होता है। किन्तु यह प्रयोग तब होगा जब 'पुरुष' शब्द से षष्ठी होगी अर्थात् जब 'पुरुष' का गुणभाव या विशेषणत्व विवक्षित होगा तथा राजा का विशेष्यत्व विवक्षित होगा उस समय 'राजन्' शब्द से प्रथमा होगी, षष्ठी नहीं अर्थात् तब 'पुरुषस्य राजा' ऐसा प्रयोग बनता ही है। भाष्यकार पुन: आगे शंका करते हैं कि अच्छा तो फिर क्या 'राज्ञ:पुरुष:' इन दोनों पदों में एक साथ कभी षष्ठी का प्रयोग नहीं होगा? तो इसका उत्तर देते हैं कि होगा क्यों नहीं? परन्तु यह जो 'राज्ञ: पुरुषस्य' यहाँ दोनों जगह षष्ठी होती है वहाँ 'राज्ञ:' में तो पुरुष के कारण स्वस्वामिभावरूप सम्बन्ध अर्थ को बताने के लिए षष्ठी होती है किन्तु 'पुरुष' में जो षष्ठी देखी जाती है, वह उसमें 'राज्ञ: पुरुषस्य गृहम्' यहाँ गृह इत्यादि कुछ अन्य पदार्थों के सम्बन्ध के कारण होती है। इससे एक ही वस्तु के अलग-अलग स्थानों पर गुणप्रधानभाव होने में कोई विरोध उपस्थित नहीं होता अर्थात् 'राज्ञ: पुरुषस्य' में विशेषणभूत 'राजा' का विशेष्य बना हुआ 'पुरुष' 'गृह' इत्यादि किसी अन्य पदार्थ की दृष्टि से स्वयं भी विशेषण बन जाता है। फलत: किसी बाह्य या वाक्यान्तर्गत अर्थ का विशेषण होने से 'राजन्' के साथ-साथ 'पुरुष' से भी एक साथ षष्ठी आ सकती है। इस प्रकार जो "षष्ठी शेषे" यह सूत्र कर्म आदि कारकों की अविवक्षा या शेष अर्थ में षष्ठी का विधान करने के लिए बनाया गया है, वह सर्वथा सार्थक सिद्ध हो जाता है।

---

1. पा. 2.3.1

अन्तर्विश्वानि भेषजा

तन्वे शंकरम्

(जल में सभी औषधियाँ हैं यह शरीर के लिए आरोग्यकारक हो)

प्रो. गणेशदत्त भारद्वाज

अथर्ववेद के आरोग्य सूक्त (प्रथम काण्ड सूक्त-3) में मनुष्यादि प्राणियों तथा वृक्ष वनस्पतियों के आरोग्य के मुख्य साधन पाँच देव बताए गए हैं (1.3)। अथर्व ऋषि ने इस सूक्त में जिन मंत्रों का उपदेश किया है उनका भावार्थ इस प्रकार है—तृणादि मनुष्य पर्यन्त सृष्टि की माता भूमि है और पर्जन्य, मित्र, वरुण, चन्द्र और सूर्य ये पांच पिता हैं। इनमें अनन्त बल है। उनके बलों का योग्य उपयोग करने से मनुष्य के शरीर में आरोग्य स्थिर रह सकता है, मनुष्य का जीवन दीर्घ हो सकता है और उसका शरीर दोष रहित होकर पूर्णतः नीरोग हो सकता है—**विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम्। तेना ते तन्वे ३ शंकरं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति।**[1]

इन मन्त्रों में पञ्च पिता कहे गए हैं। पिता शब्द पाता, रक्षण, संरक्षण करने वाले अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। तृणादि से लेकर मानवसृष्टि पर्यन्त सबके संरक्षण करने का कार्य इनका ही है। ये पाँचों सृष्टि की रक्षा कर रहे हैं—

(1) पर्जन्य वृष्टि द्वारा जल सिंचन करके सबका रक्षण करता है।

(2) मित्र प्राणवायु है और इस वायु से ही सब जीवित रहते हैं।

(3) वरुण जल के देव हैं और जल ही सबका जीवन है।

(4) चन्द्र औषधियों का अधिराजा है और औषधियाँ खाकर ही मनुष्य, पशु, पक्षी जीवित रहते हैं।

(5) सूर्य सबका जीवनदाता प्रसिद्ध है और यह निर्विवाद तथ्य है कि सूर्य की किरणें ही समस्त सृष्टि की मूलाधार हैं।

सृष्टि के संरक्षक इन पञ्च पिताओं में जलाधिष्टातृदेव वरुण का प्रमुख स्थान है अतएव सिन्धुद्वीप वैदिक ऋषि ने इसके उत्तरवर्ती भाग में जलसूक्तों की रचना की है और जलों को-

---

1. अथर्व.1.3.1

अन्तर्विश्वानि भेषजा[1] (जल में सभी औषधियाँ हैं) कहकर पुकारा है। चतुर्थ सूक्त के मन्त्रों का भावार्थ इस प्रकार है-

जल उनके लिए माता और बहन के समान हितकारक होता है जो उनका उत्तम उपयोग करना जानते हैं। जल की नदियां बह रही हैं, मानों वह दूध में शहद मिला रही हैं- **अम्बयो यन्त्यध्वभिःपृञ्चन्तीर्मधुना पयः।**[2]

जो जल सूर्य किरणों से शुद्ध बनता है, वह जल हमारा आरोग्य सिद्ध करे, जिन नदियों में हमारी गउएँ जल पीती हैं और जिनके लिए हवि बनाया जाता है–**अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह। ता नो हिन्वन्त्वध्वरम्,**[3] **अपो देवीरुप ह्वये यत्र गावःपिबन्ति नः।**[4] जल में अमृत है, जल में औषध है, उनका गुणगान किया जाना चाहिए–**अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्। अपामुत प्रशस्तिभिः।**[5]

इसी मण्डल के पञ्चम सूक्त में वैदिक ऋषि अपांनपात् तथा सोम देवता को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि जल सुखकारक है उससे बल बढ़ता है, रमणीयता और पुष्टि भी प्राप्त होती है–**आपो हिष्ठा मयो भुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे।।**[6] जिस प्रकार पुत्र को माता के दूध से पुष्टि का भाग मिलता है उसी प्रकार जल के अन्दर के उत्तम सुखवर्धक रस हमें प्राप्त हो–**यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः।**[7] जिससे प्राणिमात्र की स्थिति होती है वह रस हमें प्राप्त हो और उससे हमारे वृद्धि होती रहे- **आपो जनयथा च नः।**[8] जल से हमें औषधरस प्राप्त होता रहे–**अपो याचामि भेषजम्।**[9]

षष्ठ सूक्त में जलों के विविध रूपों का वर्णन करके उनसे सुखों की कामना की गई है। इस सूक्त के मन्त्रों का भावार्थ प्रस्तुत है–दिव्य जल हमें पीने के लिए मिले और वह हमारा सुख बढ़ावे–**शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।**[10] जल में सब औषध रहते हैं और अग्नि (सबको) सुखदायक है–**अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा। अग्निं च विश्वशंभुवम्।**[11] जल से हमारी चिकित्सा होवे और जल हमें रोगों से बचावे–**आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे ३**

---

1. वही, 1.6.2
2. अथर्व., 1.4.1,
3. वही, 1.4.2,
4. वही, 1.4.3,
5. वही, 1.4.4,
6. वही, 1.5.1,
7. वही, 1.5.2,
8. वही, 1.5.3,
9. वही, 1.5.4,
10. वही, 1.6.1,
11. वही, 1.6.2,

मम।[1] मरुदेश का, जलमय देश का, कुएं का, वृष्टि का और घड़ों में भरा हुआ जल हमारा सुख बढ़ावे–**शं न आपो धन्वन्या ३ शमु सन्त्वनूप्याः। शं न खनित्रिमा आपः शमु याःकुम्भ आभृताः। शिवा नः सन्तु वार्षिकीः।**[2]

इन्हीं तीनों सूक्तों में वर्णित जलों के इन विभिन्न रूपों को सामूहिक रूप में एकत्रित करके इन विभिन्न उपशीर्षकों के अन्तर्गत इन जलों का विवेचन प्रस्तुत है–

जलों की विविधता

इन सूक्तों में जलों के विभिन्न रूपों की चर्चा की गई है। यथा–

1. **देवीः (दिव्याः) आपः (1.4.3)।** आकाश अर्थात् मेघों से प्राप्त होने वाला जल, इसका नाम वार्षिकी भी है।
2. **वार्षिकी आपः (1.6.4)।** वृष्टि से प्राप्त होने वाला जल।
3. **सिन्धुः (1.4.3)** नदी तथा समुद्र से प्राप्त होने वाला जल।
4. **अनूप्याः आपः (1.6.4)** जलमय प्रदेश में प्राप्त होने वाला जल।
5. **धन्वन्याः आपः (1.6.4)** मरुदेश में, रेतीले देश में, अथवा थोड़ी वृष्टि होने वाले देश में मिलने वाला जल।
6. **खनित्रमाः आपः (1.6.4)** खोद कर बनाये हुए कुएं/बावली से प्राप्त होने वाला जल।

विभिन्न गुणधर्मों से युक्त जल

एक ही जल भिन्न-भिन्न स्थानों पर विभिन्न गुणों से युक्त होता है यथा–**अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह।**[3] वह जल जो सूर्य के सम्मुख रहता है, अथवा जिसके साथ सूर्य रहता है। अर्थात् सूर्य किरणों के साथ स्पर्श करने वाला जल अन्धेरे में वर्तमान जल से भिन्न गुण धर्मवाला होता है।

अम्बयो यन्त्यध्वभिः[4] नदियां अपने मार्ग से चलती हैं। यह गतिमान जल और स्थिर जल में विविध गुणधर्मों का अन्तर होता है–**पृञ्चन्तीर्मधुना पयः**[5] मधु अर्थात् पुष्प पराग आदि से जल

---

1. वही, 1.6.3,
2. वही, 1.6.4,
3. अथर्व. 1.4.2,
4. वही, 1.4.1,
5. वही, 1.4.1,

में मिलावट होती है। इससे पानी के गुणधर्म बदलते हैं। **यत्र गावः पिबन्ति**[1] जिस जलाशय में गउएं पानी पीती हैं। वैदिक ऋषि ने जल की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन करके यह स्पष्ट किया है कि जल भी विभिन्न स्थितियों में उत्तम, मध्यम और अधम अवस्था में हो सकता है अतः उत्तमोत्तम जल का ही ग्रहण करना अभीष्ट है।

जल में औषध

जल का नाम ही अमृत है अर्थात् जीवनरूप रस ही जल है–**यथा अप्सु अमृतम्।**[2] **अप्सु भेषजम्।**[3] जल में अमृत है, जल में औषध है। जल अमृतमय और औषधियुक्त है। मरने से बचाने वाला अमृत कहलाता है और शरीर के दोषों को धोकर और शरीर की निर्दोषता सिद्ध करने वाला भेषज कहलाता है। जल इन गुणों से युक्त है। अतएव जल को **शिवतमो रसः**[4] अत्यन्त कल्याण करने वाला रस कहा है। इसके अतिरिक्त आप् **आपः मयोभुवः**[5] अर्थात् हितकारक है।

जल में सभी औषधियाँ हैं–**अप्सु विश्वानि भेषजा।**[6] जल में सभी रोगों की औषधियाँ हैं–**आपः पृणीत भेषजम्।**[7] **अपो याचामि भेषजम्।**[8] जल औषध करता है। जल से औषध माँगता हूँ। जलचिकित्सा के द्वारा सब रोगों की चिकित्सा सम्भव है।

समता और विषमता

शरीर की समता आरोग्य है और विषमता रोग है। इसलिए **शंयोरभि स्रवन्तु नः**[9] में कहा है कि समता की स्थापना और विषमता को दूर करने का कार्य हमारे लिए जलधाराएं करें। **शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु।**[10] दिव्य जल हमारे लिए शांतिकारक हों। समता की स्थापना और विषमता को दूर करना ये दोनों कार्य होने से ही उत्तम रक्षा होती है। अतएव मन्त्र में कहा है–**वरूथं तन्वे मम।**[11] मेरे शरीर का रक्षण जल से हो। –**वरूथं का अर्थ संरक्षक कवच है।**

---

1. वही, 1.4.3,
2. अथर्व. 1.4.4,
3. वही, 1.4.4,
4. वही, 1.5.2,
5. वही, 1.5.1,
6. वही, 1.6.2,
7. वही, 1.6.3,
8. वही, 1.5.4,
9. वही, 1.6.1,
10. वही, 1.6.1,
11. वही, 1.6.3,

बल की वृद्धि

आरोग्य प्राप्ति के पश्चात् शरीर के बल की वृद्धि सम्भव है अतएव कहा है- **नः ऊर्जे दधातन**[1] हमें बल के लिए पुष्ट करें, अर्थात् जल से धारण-पोषण होकर ही उत्तम प्रकार का बल बढ़ाना सम्भव है। शरीर में रमणीयता भी जल के कारण ही बढ़ती है- **महे रणाय चक्षसे**[2] 'महे' बड़ी रणाय रमणीयता के लिए जल का उपयोग होता है। अतएव वैदिक ऋषि ने कहा है-**क्षयाय जिन्वथ,**[3] **क्षयन्तीश्चर्षणीनाम्।**[4] निवास के लिए तृप्ति करते हो। प्राणियों के निवास का कारण है। इसीलिए कहा गया है-**ईशाना वार्याणाम्।**[5] स्वीकारने योग्य गुणों का अधिपति जल है। अर्थात् प्राणियों को जिन बातों की आश्यकता होती है उनका अस्तित्व जल में है। इसी कारण जल निवास का हेतु बनता है।

दीर्घ आयुष्य का साधन

मनुष्य आदि प्राणियों के लिए आयु का साधन जल है। यथा--**ज्योक् च सूर्यं दृशे।**[6] बहुत दिन तक सूर्य का दर्शन करूँ दीर्घकाल तक जीऊँ।

प्रजनन शक्ति

जल का नाम वीर्य है। इसकी सूचना निम्न मन्त्र में है-**आपो जनयथा च नः।**[7] जल हमें उत्पन्न करता है अर्थात् इसके कारण प्राणियों में प्रजनन शक्ति होती है। आरोग्य, बल, दीर्घ आयुष्य, धातुओं की समता आदि का प्रजनन शक्ति के साथ निकट सम्बन्ध है, यह सर्वविदित तथ्य है। प्रजनन शक्ति का नाम वाजीकरण है, यही मन्त्र में वर्णित है-**अपामुत प्रशस्तिभिरश्वा भवथ वाजिनो गावो भवथ वाजिनीः।**[8]

जल के प्रशस्त गुणों से अश्व (पुरुष) वाजी बनते हैं और गउएं (स्त्रियाँ) वाजिनी बनती है। वाजी शब्द प्रजनन शक्ति से युक्त होने का भाव बता रहा है। इस प्रकार इन तीनों सूक्तों में जल विषयक महत्त्वपूर्ण ज्ञान बिन्दुओं की चर्चा की गई है।

संक्षेप में इन जलसूक्तों में सिन्धुद्वीप ऋषि ने जलों के वार्षिकी, अनूप्य आदि विविध रूपों तथा विभिन्न प्राकृतिक तत्त्वों के संयोग से जलों के गुणधर्मों में होने वाले परिवर्तन की ओर संकेत

1. वही, 1.5.1,
2. वही, 1.5.3,
3. अथर्व., 1.5.4,
4. वही, 1.5.4,
5. वही, 1.5.4.,
6. वही, 1.6.3,
7. वही.1.5.3,
8. वही. 1.4.4

किया है। वृक्ष, वनस्पति, पशु, पक्षी, सूर्य, पर्जन्य, मित्र, वरुण आदि ऋषि के पञ्च पिता हैं, इस सिद्धान्त के द्वारा मनुष्य को चेतावनी दी है कि जल जैसे प्राकृतिक तत्त्वों पर वृक्ष, वनस्पति, पशु तथा पक्षी आदि सृष्टि के सभी घटकों का समान अधिकार है यह केवल मनुष्यों की बपौती नहीं (उसे इसके दुरुपयोग), प्रदूषण का अधिकार नहीं है। अन्यथा इसके दुष्परिणाम सम्पूर्ण जगत् को भोगने पड़ेंगे। अतः सृष्टि के सम्पूर्ण घटकों के इस परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को सम्पन्न बनाये रखने से ही प्रकृति के साथ-साथ मानव भी फलेगा फूलेगा। वैदिक ऋषि ने अपनी इस दृष्टि को यहां आलंकारिक भाषा में वैज्ञानिक रीति से प्रतिपादित किया है।



प्राचीन वाङ्मय में विज्ञान के मूल तत्त्व

-प्रो. गंगाधर पण्डा

प्राचीन वाङ्मय में संस्कृत भाषा विश्व की आदर्श भाषाओं में अपनी विशेषता रखती है। यह अद्वितीय साहित्य अपने गाम्भीर्य और वैशिष्ट्य दोनों के द्वारा सार्वभौमत्व को प्राप्त किया है। भारत के दीर्घ अतीत पर यदि दृष्टिपात किया जाय तो यह विदित होता है कि संस्कृत साहित्य, संस्कृत एवं विज्ञान की दृष्टि से समग्र विश्व में शीर्ष स्थान पर है। संस्कृत भाषा सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक धरोहर के लिए अखिल विश्व में मूर्धन्य है एवं विश्व को एक सूत्र में बाँधने के लिए समर्थ है। निःसन्देह यह कह सकते हैं कि साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक समृद्धि के कारण यह भाषा सभी भाषाओं में से श्रेष्ठ है, परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि हमारे यह प्राचीन वाङ्मय में निहित वैज्ञानिक स्वरूप की सम्यग् अनुशीलन एवं चिन्तन नहीं हो पाया है। अतः इस साहित्य के अन्तर्गत वैज्ञानिक लक्ष्यों के विषय में जानकारी प्राप्त करना परमावश्यक है।

वेद एवं गणित शास्त्र

गोवर्धन मठ, पुरी के शंकराचार्य स्वामी भारती तीर्थ जी ने अथर्ववेद के परिशिष्ट में सन्निविष्ट गाणितिक सूत्रों को आधार मानकर ''वैदिक गणित'', के नाम से एक पुस्तक की रचना की है। इस शीर्षक का अर्थ तीन प्रकार से हो सकता है–

1. वेदों में गणित

2. वैदिक काल के अन्तर्गत गणितशास्त्र

3. प्राचीन भारत में वैदिक सभ्यता की परम्पराओं में विकसित गणित शास्त्र. उपर्युक्त विषय वस्तु पर विद्वानों के मतभेद हैं। इस पर सघन शोध की आवश्यकता है। सामान्य रूप से वैदिक गणितशास्त्र के अन्तर्गत निम्नलिखित तथ्य समविष्ट हैं–

- वैदिक गणित युक्तिपूर्ण एवं तर्कसंगत है।
- इसमें उत्तम विचार प्रस्तुत है।
- संगणना (संकलन) की आशु पद्धति को इसमें बताया गया है।
- गाणितिक उपलब्धि चित्रांकित है।
- वैदिक संस्कृति के विपुल परिमाण–जैसे शून्य, दशमलव, मूल्यविधि (नियम), बीजगणित,

समीकरण का सिद्धान्त, परिधि एवं रेखागणित आदि गणित के विषय को सरलता से बताया गया है। इसी दिशा में आजकल अध्ययन अध्यापन विरल होता जा रहा है। अतः समाधान हेतु सामूहिक परियोजनाओं को अधिग्रहण करके प्राचीनतम के अन्धकार गर्भ से वैदिक गणित के सभी आयामों को बाहर लेने हेतु प्रयत्न होना चाहिए। इसमें विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यू.जी.सी.) राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद (एन.सी.इ.आर.टी.) विभिन्न राज्यों में स्थित राज्य शैक्षिक अनुसंधान प्रशिक्षण परिषद (एन.सी.इ.आर.टी.) एवं भारत में स्थित विभिन्न गाणितिक परिषद इस विषय पर उल्लेखनीय कार्य कर रही है।

वैदिक विज्ञान एवं पारमाणिविक संरचना

परमाणु प्रकृति का सम्बद्ध एकात्मक अंश (कण) है। यह मत वैदिक विज्ञान एवं आधुनिक विज्ञान दोनों का है। आधुनिक विज्ञान में विद्युद् अणुओं के द्वारा निर्मित नाभिक (अणु का केन्द्र बिन्दु) और कोश (शुक्तियाँ) दो भागों में विभाजित होकर परमाणु की संरचना होती है, इन दोनों में नाभिक आंतरिक भाग है और विद्युत अणुओं के कोष बाह्य अंश है। बाह्य भाग अर्थात् विद्युत अणुओं के कोश अधिकतम सात अंकों में विद्यमान माने जाते हैं, जैसे के.एल.एम.एन.ओ.पी. इत्यादि। विद्युत अणुओं की सम्मोहनात्मक संख्या इन कोशों में स्थापित है जिनका संपूर्ण योग 108 है। परमाणु के प्रत्येक तत्त्व (सूक्ष्मांश) विद्युद् अणुओं के द्वारा अभिज्ञात होता है। एक परमाणु में विद्यमान समस्त क्षेत्रों में विद्युद् अणुओं की योग को पारमाणविक संख्या कही जाती है। अणु को निश्चित कक्षाओं में यह विद्युद् अणु केन्द्र मण्डल में परिक्रमण करते हैं जब कभी एक विद्युद् अणु अपनी कक्षा को बदलता है या च्युत होता है, यह कुछ शक्ति अर्जित करता है या छोड़ता रहता है। बाह्य कक्षा आठ विशुद्ध अणुओं से अधिक को नहीं रख सकती। ये विद्युद् अणु विभिन्न रासायनिक घेरे में व परमाणु के अन्तर्गत रासायनिक सीमा के निर्माण के कारण या हेतु हैं। परमाणु का आन्तरिक भाग सूक्ष्मांश नाभिक (केन्द्र) है। सूक्ष्मांश के दो भेद हैं 1. घनात्मक रूप से अभियोजित अंश और 2. तटस्थ (निष्क्रिय) अनावेशित अंश। बृहत्तम घनात्मक रूप से अविष्ट अंश को प्रोटॉन कहा जाता है और बृहत्तम निष्क्रिय अंश को न्यूट्रॉन कहा जाता है। प्रोटॉन और न्यूट्रॉन एवं विद्युद् अणु के निर्णायक प्रखण्ड को मसॉन् (उक्त परमाणु द्वय के अन्तर्वर्ती) कहा जाता है। ये मेसॉन् तीन प्रकार के हैं- 1. घनात्मक या सकारात्मक रूप से (एम) के रूप में उल्लिखित होकर न्यूट्रान को बताता है। 2. निषेधात्मक रूप से अभियोजित मेसॉन् (एम-1) विद्युद् अणुओं को बताते हैं। 3. पोजीट्रान (घनाणु) भी घनात्मक रूप से अभियोजित विद्युद् अणुओं की तरह विद्यमान रहते हैं।

जब हम एक परमाणु की संरचना के लिए वैदिक विज्ञान के द्वारा प्रदत्त व्याख्या का अवलोकन करते हैं तब हम आधुनिक विज्ञान द्वारा की गई समीक्षा की अपेक्षा अतिगम्भीर और प्रगतिशील पाते हैं। वैदिक विज्ञान के द्वारा तीन भागों में परमाणु की संरचना विभाजित है- 1. अध्यात्म, 2. अधिभूत और 3. अधिदेव। यह निर्दिष्ट किया जा सकता है भूत की इकाई के

अवयव एक परमाणु है। एक परमाणु के केन्द्र का मुख्य आभ्यंतर भाग (अंश) अध्यात्म भाग अधिभूत भाग से आच्छादित है। प्रत्येक भूत कम्पमान एवं गतिमान स्थिति में केन्द्र के अन्तर्भाग में स्थित है। अतएव इस भाग को हिरण्यमय भाग कहा जाता है। हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् (अध्यात्म भाग परमाणु में सम्पूर्ण धार्मिक क्रियाओं को अधिगृहीत करता है। तृतीय भाग अधिदेव भाग है। यह कतिपय बृहत्तर अंशों से निर्मित है जो ''देव'' कहे जाते हैं। ये बृहत्तर सुदृढ़ अंश परमाणु के रूप और विस्तार को उद्‌घाटित करते हैं। इसलिए यह मुख्य बाह्यभाग को ''अधिदेव''' कहा गया है। अधिदेव भाग समस्त देवों का अधिष्ठातृस्थान है जो परमाणु को सुदृढ़ स्वरूप एवं विस्तार प्रदान करता है।

वैदिक विचार के अनुसार अध्यात्म भाग ब्रह्म से अविर्भूत होता है। विष्णु ही पुरुष माने जाते हैं जो सृजनक्षता को सविता के द्वारा व्यवहृत करते हैं। उनकी सृजन क्षमता सहस्त्र दिशाओं में सविता के सहस्त्र किरणों से बिखरती है। प्रत्येक अक्ष पुनः एक सहस्त्र उप धुरियों से विभक्त होता है, जिसे सहस्त्रपात शब्द से कहा जाता है। प्रत्येक ''पात्'' में दस अंगुलियाँ (शाखाएँ) होती हैं, और आगे जाकर उसका दस उपधुरियों में पुनः विभाजन होता है। इनमें से प्रत्येक अंगुली (शाखा) की लम्बाई सोलह तरंग होती है शोडेशानाम् (प्रत्येक अंगुली) (शाखा) की शिरा संघनित अवस्था में होती है।

बाह्य आवरण या कवच (अधिदैव) अंश है। इस भाग में अपेक्षाकृत बड़े कण हैं, जिन्हें त्रिवत्मी कहते हैं। ये तीन मध्यकेन्द्र, मध्यबिन्दु एवं केन्द्र को प्रकट करते हैं और वैश्वानराग्निका उत्स तैयार होता है। नाचिकेताग्नि में तीन प्रकार के आयन होते हैं, जिसके नाम हैं- न (न्यूट्रॉन) चिक (प्रोट्रॉन) इता (इलेक्ट्रॉन) इता कण इस अणु के राजा है। (इन्द्र...राजा वभूव)। अणु का सर्वाधिक वाह्य आवरण होने के कारण यह अणु के समस्त प्रकार के व्यवहार का नियामक होता है।

इस अणु में चौदह प्रकार के भूतसर्ग होते हैं। सान लोक-भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तयः सत्यम। अणु केन्द्र में होता है तथा अणु के वैकतिक (इलैक्ट्रॉनिक) भाग में सात घूर्णनपथ स्थित होते हैं। प्रथम पाँच-सत्यं, तपः, जनः, महः, स्वः-अध्यात्म अंश में स्थित होते हैं तथा स्वर्गालोक की रचना करते हैं। भूलोकअणु का सर्वाधिक घनीभूत अंश होता है।

अणु एवं अणु के खण्ड आकाश में सहजता से संचरण करते हैं एवं द्रव्य के पाँच प्रकार की सृष्टि करते हैं, जिन्हें वैदिक विज्ञान में पंचम महाभूत कहा जाता है।

अध्यात्म अणु संरचना का सर्वाधिक आन्तरिक और प्रारम्भिक भाग होता है। इसलिए प्रकृति के प्रत्येक अंश में आत्मन् सर्वदा विद्यमान रहता है। 'अतः ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है। प्रत्येक अंश या पदार्थ को प्रकृति में जीवित पदार्थ के रूप में माना जाता है जिसका जीवन चक्र की एक निश्चित कालावधि होती है। इसलिए पदार्थ के विघटनाभिक क्षरण का आधा जीवन वैदिक विज्ञान में स्वतः व्याख्यायित है।

वैदिक वाङ्मय, विशेषतः संहिता, ब्राह्मण और उपनिषद् में सृष्टि का विज्ञान विशेष प्राविधान योग्य है और इसी प्रकार दार्शनिक साहित्य वेदान्त में भी दार्शनिक पक्ष का अध्ययन अपेक्षित है। इस संदर्भ में छान्दोग्योपनिषद् में त्रिवृत्करण का सिद्धान्त और वेदान्तसार एवं अन्य दार्शनिक, ग्रन्थों में वर्णित पंजीकरण प्रक्रिया को उद्धृत किया जा सकता है। प्रख्यात भौतिकविद् डॉ. राजा रमन्ना जैसे विज्ञान के विद्वान वेदान्त और भौतिक में बहुत सी बातें समान रूप में पाते हैं। इतना ही नहीं डॉ. रमन्ना बौद्धदर्शन को भी आधुनिक विज्ञान के अत्यन्त समीप पाते हैं। वे लिखते हैं- यह पाया गया है कि, प्रारम्भिक बौद्धदर्शन आधुनिक समय के वैज्ञानिक दर्शन के बहुत समीप है और अनेक प्रख्यात वैज्ञानिकों ने ब्रह्माण्ड की प्रकृति तथा इसके घटकों की परस्पर अन्तः प्रतिक्रिया के सम्बन्ध में बुद्ध के सुस्पष्ट प्रतिपादन की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। विज्ञान की अधुनातन खोज बौद्धदर्शन की तत्त्व मीमांसा के अध्ययन को आवश्यक बना देती है ताकि ब्रह्माण्ड और उसमें मनुष्य की स्थिति का बोध हो सके।

भारतीय दर्शन एवं आधुनिक विज्ञान

दर्शन के अध्ययन को रेखांकित करते हुए आइंस्टीन ने कहा है- ''भौतिक विदों का प्रमुख दायित्व उन मूलभूत वैश्विक नियमों पर पहुँचना है, जिससे शुद्ध निगमन या निष्कर्षीकरण के आधार पर इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की रचना हो सकती है। इन नियमों के लिए कोई तार्किक पद्धति नहीं है, केवल अन्तर्दृष्टि, जो अनुभूति पर आधारित है।''

दर्शन शास्त्र के कुछ विज्ञानिक पक्ष इस प्रकार हैं। अब सृष्टि तत्त्व पर कुछ विचार करते हैं- पृथ्वी, जल, तेज, वायु से निर्मित जीवधारी प्राणी की उत्पत्ति है। उनमें से पार्थिव शरीर का अनेक उपविभाजन के साथ विस्तार से वर्णन किया गया है। न्याय में सर्वप्रथम योनिज एवं अयोनिज शरीर के रूप में दो विभाजन किये गये हैं। इसके अन्तर्गत मनुष्य आदि के जरायुज एवं सर्ग आदि को अण्डज कहते हैं। अयोनिज शरीर में कृमि देश आदि के लिए स्वेदज तथा तरू, गुल्म आदि के लिए उद्भिज्ज का व्यवहार किया गया है:

मनुस्मृति में इसका स्पष्ट विवेचन प्राप्त होता है।

जरायुज

गर्भाशय से उत्पन्न जीव जरायुज है।

यथा पशवश्च मृगाश्चैव व्यालश्चोभयनोदतः।
रक्षांसि च पिशाचाश्च मनुष्याश्च जरायुजः। मनुस्मृति 1/43

अण्डज

अण्डे से उत्पन्न प्राणी अण्डज है- पक्षी, साँप, मछली, एवं कछुए आदि इसके अन्तर्गत है।

अण्डजाः पक्षिणः सर्प मकर मत्स्याश्च कच्छपाः।
यानि चैवं प्रकाशणि स्थलजान्यौद्कानिच।। मनु. 1/44

स्वेदज

स्वेद के प्रभाव से उत्पन्न प्राणियों को स्वेदज कहते हैं वे इस प्रकार हैं।

स्वदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम्।
ऊष्मणश्चचोपजायन्ते यंचान्यत् किंचिदीदृशम्।। मनु 1/45

दर्शन शास्त्र में यह विवाद का विषय रहा है कि वृक्ष जीवनधारी है या नहीं। वैशेषिक दर्शन में प्रतिपादित लक्षण के अनुसार प्राण, अयान, निमेष-उन्मेष, जीवन मनोगति, सुख, दुःख, इच्छा आदि जीव का कारण है। वे लक्षण वृक्षों में लागू नहीं होता है परन्तु सजीव प्राणी के कुछ लक्षण वृक्षों पर घटित होता है। इस विषय पर अभी भी विवाद बना हुआ है परन्तु विज्ञान के अनुसार वनस्पति प्राणियों के समान श्वास-प्रश्वास लेते हैं, खाते पीते हैं एवं प्रजनन भी करते हैं।

वेदान्त दर्शन के अनुसार सृष्टिक्रम में सर्वप्रथम आकाश उत्पन्न होता है। उससे स्थूल से स्थूलतर क्रमशः वायु, उससे अग्नि, उससे जल तथा उससे भी स्थूल पृथ्वी उत्पन्न होती है। इसमें सर्वप्रथम उत्पन्न आकाश में केवल एक शब्द गुण, वायु में दो- शब्द, स्पर्श, अग्नि में तीन शब्द, स्पर्शरूप, जल में चार- शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा पृथ्वी में पाँच- शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध गुण हैं। न्याय शास्त्र के अनुसार वायु आदि में स्पर्श आदि गुण वेदान्त के अनुसार यथावत है, परन्तु शब्द केवल आकाश में रहता है, अन्य किसी महाभूत में सूर्य को जगत की आत्मा कहा गया है, जैसे आत्मा के बिना शरीर नष्ट हो जाता है वैसे ही सूर्य के तेज के अभाव में यह जगत भी नष्ट हो जाता है यह वैदिक मन्त्र इस बात की पुष्टि करता है-

चित्रं देव नामुद गादनी क्रं चक्षुर्मित्रस्य वरूणस्याग्नेः
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्ष सूर्य आत्मा जगतस्तस्यश्रवः।।

अर्थात् जिस प्रकार आत्मा का चैतन्य प्रत्येक अंगों को भिन्न-भिन्न अर्थों में संजीवित, प्रकाशित और प्रेरित करता है वैसे सूर्य अपनी सहस्त्र किरणों द्वारा प्रकृति को भिन्न रूप से प्रकाशित, प्रभावित और प्रेरित करते रहे।

यद्यपि प्राचीन काल में पर्यावरण की कोई समस्या नहीं थी, उस समय पर्यावरण पूर्णरूप में सन्तुलित था, फिर भी वेद में कही गई पर्यावरण सम्बन्धी बातें अत्यन्त मनमोहक हैं. यथा-

ॐ मधुवाता ऋतामते मधुक्षरन्ति सिन्धवः।
मादवीर्न्नः सन्त्वोषधीः मधुनक्क्तमुतोषसोमधुमत्पार्थिव
ớरजः मधुद्यौरस्तु नः पिता मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमांऽस्तु सूर्य।
माध्वीर्गावो भवन्तु नः। (यजु. 13/27-29)

अर्थात् संसार में वायु मधुर होकर बहे और उनके लिए नदियाँ जल बहाती हमारे लिए औषधियाँ मधुर होवें। रात मधुर हो, दिन मधुर हो, पृथिवी मधुर होवे और हम सबका पालक द्युलोक भी हमारे लिए मधुर होवे, वनस्पति हमारे लिए मधुर होवे। सूर्य हमारे लिए मधुर होवे और हमारी गायें हमारे मधुर दूध, घी प्रदान करने वाली होवें।

वैदिक यज्ञ के महत्व को सभी लोग स्वीकार करते हैं। अग्नि में घृतादि, पवित्र द्रव्यों की आहुतियों से वातावरण शुद्ध होता है। यज्ञ का धुआँ प्राणियों के प्राण कोश से मनोमय कोश तक प्रभाव डालता है। अतः गीता में श्रीकृष्ण यज्ञ के महत्व को इस प्रकार बताते हैं-

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद् भवन्ति पर्जन्यः यज्ञकर्मसमुद्भवः॥ गीता 3/14

अर्थात् यज्ञ से मेघ, मेघ (जल) से अन्नोत्पत्ति, अन्न से प्राणियों की उत्पत्ति होती है इसलिए यज्ञ अवश्य करना है।

अतः समग्र प्रकृति के साथ मनुष्यों का पारस्परिक सम्बन्ध एवं सन्तुलन ही पर्यावरण है। अतः वैदिक ऋषि समस्त प्राकृतिक तत्त्व को देवत्व की भावना से देखता है। मानव और प्रकृति में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

यह निःसन्देह है कि वैदिक वाङ्मय में पर्यावरण विज्ञान और वनस्पति विज्ञान के अध्ययन के लिए व्यापक संभावनायें हैं। वर्तमान पर्यावरण संकट एवं उसके विरुद्ध व्यापक चिन्ता को ध्यान में रखते हुए वेद एवं संस्कृत साहित्य में पर्यावरण विज्ञान का अध्ययन महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा।

ज्योतिष विज्ञान

ज्योतिषशास्त्र का तीन विभाग है- गणित, फलित एवं सिद्धान्त। इसका गणित भाग? विश्व मानव परन्तु वेदान्त के अनुसार शब्द आकाश के अलावा अन्य सभी महाभूतों में उपलब्ध होने से सर्वत्र विद्यमान है। यथा- ''न च शब्दक्याकाशमात्रगुणत्वम्। वाश्वादावपि तदुपलम्भात्। न चासौ भ्रमः बाधकाभावात्। (वेदान्तपरिभाया)

उपर्युक्त कारणों से दर्शनशास्त्र में विज्ञान के महत्त्व पर बल देते हुए डॉ. सुब्रह्मण्यम् अय्यर सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में अपने भाषण में बताये थे कि- ''संस्कृत विश्वविद्यालयों में प्राचीन शास्त्रों के उनके सदृश आधुनिक विज्ञान तथा आधुनिक दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन अन्यत समुचित होगा। जैसे फिज़िक्स, कैमिस्ट्री के साथ वैशेषिक दर्शन का अध्ययन अत्यन्त बुद्धिवर्धक होगा।

वैदिक साहित्य एवं पर्यावरण विज्ञान

प्राचीन काल में हमारे वैदिक ऋषि पर्यावरण के महत्व को समझते थे। प्रकृति के प्रत्येक रूप यानि जल, वायु, अग्नि एवं वृक्षों को देवता मानकर उपासना करते थे । इसीलिए शायद वेद

में सबसे अधिक मन्त्र इन्द्र एवं वरुण के लिए समर्पित हैं जो जल के अधिष्ठातृदेव हैं। इस प्रकार अथर्ववेद में पृथिवी के पर्यावरण अधिक बल दिया गया है। वैदिक ऋषियों ने यदि अपनी भौमिक आवश्यकता के लिए पृथ्वी का उत्खनन किया है तो अपने इस कार्य पर खेद भी व्यक्त किया है और कामना की है कि पृथ्वी का स्वरूप पूर्ववत हो जाये। यथा-

यत्ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु।
ना ते मर्म विमृग्वरी मान्ते हृदयमर्पितम्॥

वैज्ञानिक उन्नति एवं फलित भाग उस उन्नति का परिणाम है। सिद्धान्त ज्योतिष शास्त्रीय महत्त्व को बताता है।

ऋषियों के योगाभ्यास के द्वारा अपनी सूक्ष्म प्रज्ञा से शरीर के भीतर ही सौरमण्डल के दर्शन किये और निरीक्षण कर आकाशीय सौरमण्डल की व्यवस्था की जिसको आज का विज्ञान शतप्रतिशत स्वीकार करता है।

सूर्य के ही कारण ऋतुओं की सत्ता है। वायु के संचरण का? हेतु है। सूर्य के रथ में लगे सात अश्व सात किरणों के प्रतीक हैं। चन्द्रमा की स्थिति वेदों में अन्तरिक्ष लोक में सिद्ध है। चन्द्रमा का प्रकाश सूर्य रश्मियों के कारण ही होता है। उसमें स्वतः प्रकाश नहीं है। वेद भी इस बात को स्वीकार करता है- सूर्यरश्मिश्चन्द्रमागन्धर्वः (तैत्तरीय संहिता)। तिथियों का निर्धारण सूर्य, चन्द्रमा के अन्तर पर आधारित है।

सूर्य एवं चन्द्र ग्रहण ज्योतिर्विज्ञान का प्रमुख विषय है। ज्योतिष सिद्धान्त के अनुसार ग्रहण के समय सूर्य-चन्द्रमा का राहु केतु के साथ रहना अनिवार्य है। सूर्य-चन्द्र जब एक राशि में हैं? दोनों में से किसी के साथ हो तो सूर्यग्रहण होगा तथा सूर्य-चन्द्र परस्पर सातवीं राशियों में होने से चन्द्रग्रहण होगा।

संक्षेप में यह कह सकते हैं कि ज्योतिषशास्त्र विज्ञान है। इस शास्त्र में सघन शोध हेतु शासन द्वारा अनेक पदक्षेप लिए जा रहे हैं।

इसी प्रकार भारत के प्राचीन वाङ्मय का सघन अध्ययन करने से यह ज्ञान? है कि विज्ञान के सभी आयामों पर चिन्तन हुआ है। परन्तु वैज्ञानिक ग्रन्थ के पाँच से दश प्रतिशत प्रकाशित रूप में उपलब्ध हैं। अतः महत्त्वपूर्ण विषय यह है कि विज्ञान के मूलग्रन्थों का प्रकाशन, विभिन्न ग्रन्थालयों में उपलब्ध पाण्डुलिपियों का मुद्रण, संस्कृत भाषा में उपलब्ध विज्ञान सम्बन्धित ग्रन्थों को राष्ट्रभाषा एवं अन्य प्रान्तीय भाषा में अनुवाद एवं विज्ञान के पारिभाषिक शब्दावलियों का निर्माण करना आवश्यक है।



देवनागरी लिपि और हिन्दी वर्तनी

प्रोफेसर सत्यदेव कौशिक

बौद्ध ग्रन्थ ललितविस्तर में 64 लिपियों का उल्लेख है। इनमें ब्राह्मी लिपि का सर्वप्रथम उल्लेख हुआ है और दूसरा खरोष्ठी का। जैनों के 'पण्णवणासूत्र' तथा 'समवायांगसूत्र' में 16 लिपियों के नामों का उल्लेख है जिनमें से प्रथम 'बंभी' (ब्राह्मी) है। 668 ई. में रचित चीनी बौद्ध विश्वकोश 'फा-बान-शु लिन' में भी ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों का उल्लेख मिलता है। जैन ग्रन्थों में उल्लेख है कि प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभनाथ ने अपनी पुत्री के लिए ब्राह्मी लिपि को बनाया। महाभारत के शांतिपर्व में वर्ण धर्म प्रसंग में भी ब्राह्मी शब्द वैदिक भाषा के लिए प्रयुक्त हुआ है। अशोक के शिलालेख ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों में हैं। अतः ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों की प्राचीनता असन्दिग्ध है।

देवनागरी लिपि को नागरी, देवनागरी और नन्दिनागरी नामों से जाना जाता है। एक मत के अनुसार गुजरात के नागर ब्राह्मणों द्वारा सर्वप्रथम प्रयुक्त होने के कारण इसका नाम नागरी पड़ा। एक अन्य मत के अनुसार नगरों में प्रचलित होने के कारण यह नागरी कहलाई। ललितविस्तर में 'नाग'[1] नामक लिपि का भी उल्लेख किया गया है। दक्षिण के विजय नगर के दानपत्रों की लिपियों को 'नंदिनागरी' नाम दिया गया है। कालान्तर में उत्तर भारत में जब इसका प्रचार हुआ, तो 'नंदि' की तरह यहाँ देव शब्द इसके पहले जोड़ दिया होगा। श्री शाम शास्त्री का कथन है कि देवमूर्तियों के सांकेतिक त्रिकोण अथवा चक्र आदि चिह्नको देवनगर कहते हैं। उनके मध्य में लिखे जाने के कारण अक्षरों को देवनागरी कहा गया। आज सम्पूर्ण उत्तरी भारत और सम्पूर्ण महाराष्ट्र में देवनागरी का प्रयोग होता है। नेपाली भाषा की लिपि भी यही है।

विश्व में कहीं भी प्रयुक्त वर्णमाला उतनी वैज्ञानिक एवं वर्गीकृत नहीं है जितनी वैज्ञानिक रूप में नागरी आदि भारतीय लिपियाँ अथवा उनसे सम्बद्ध अथवा विकसित लिपियाँ हैं यद्यपि देवनागरी की वैज्ञानिकता पर विद्वानों ने प्रश्न चिह्न लगाया है क्योंकि इसमें कई त्रुटियाँ है। फिर भी 'इसमें जो बोला जाता है वह लिखा जाता है और इसमें जो लिपि चिह्न जिस ध्वनि का द्योतक है, उसका नाम भी वही है। रोमन आदि लिपियों में ऐसा नहीं है। अपने ऐसे गुणों के कारण यह

---

1. ललितविस्तर (दूसरी शताब्दी ई0) की 'नागलिपि' के आधार पर नागरीलिपि का नामकरण सम्भव नहीं जान पड़ता क्योंकि आठवीं और नौवीं शताब्दी से पूर्व नगरों में लिखे लेखों का प्रमाण नहीं मिलता। उत्तर भारत में सर्वप्रथम कन्नौज के प्रतिहारवंशी राजा महेन्द्रपाल के दानपत्रों में नागरी लिपि का प्रयोग मिलता है। दक्षिण के विजय नगर के राजाओं के दानपत्रों में प्रयुक्त नागरी इससे कुछ पूर्व की है।

अधिकांश लोगों के लिए ग्राह्य है। यहीं नहीं आज संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और मराठी के लिखने में इसका निरन्तर प्रयोग हो रहा है। इस कारण कुछ अपवादों को छोड़ कर इसमें राष्ट्रीय लिपि होने के गुण विद्यमान हैं।

किसी शब्द को लिखने में वर्णों का जो अनुक्रम होता है, उसी क्रम को लिखना वर्तनी कहलाता है। आरम्भ में भाषा अपने मौखिक रूप में थीं चित्रात्मक अथवा संकेतात्मक लिपियों के विकसित होने पर भी कोई वर्तनी की समस्या नहीं थी, वर्तनी की समस्या तभी उपस्थित हुई जब ध्वन्यात्मक लिपि का विकास हुआ। लिपि विचार की द्योतिका है, ध्वनि की नहीं। अतः ध्वन्यात्मक लिपि के विकास के अनन्तर ही मानव के समक्ष वर्तनी की समस्या उठी तब मानव ने उच्चारण को ही वर्तनी का आधार माना अर्थात् उच्चारण के अनुरूप ही शब्द लेखबद्ध हुए। वर्तनी तो प्रायः ज्यों की त्यों परम्परागत रूप से प्रचलन में है किन्तु उच्चारण होता रहा। उच्चारण को वर्तनी का अनुसरण करना पड़ता है, विशेष रूप से तब, जब भाषा का मौखिक से अधिक लिखित रूप ही आधार का काम करे। दूसरे शब्दों में कहें तो लिखित भाषा को वर्तनी की सहायता लेनी पड़ती है। अतः लिखित भाषा की मानकता अशुद्ध वर्तनी से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती, हिन्दी में शुद्ध मानक रूप का प्रयोग जनता के लिए सरल नहीं है। इसके मुख्य रूप से तीन कारण है–

(क) अधिकांश हिन्दी-भाषी जनता अपने घरों में ब्रज भाषा, कौरवी, हरियाणवी, अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि विभिन्न बोलियाँ बोलती है, जो हिन्दी प्रदेश में बोली जाती हैं और हिन्दी की बोलियाँ कही जाती हैं यहाँ यह ध्यातव्य है कि इन सभी बोलियों की अपनी ध्वनियाँ हैं, अपनी ध्वनि-व्यवस्था है, उनका अपना व्याकरण है, शब्द-भण्डार है, उनके अपने मुहावरे और लोकोक्तियाँ है। बचपन से ही इन अलग-अलग बोलियों के बोलने वालों के मन-मस्तिष्क में ये बोलियाँ इतनी रच-पच गई हैं कि लोग जब मानक हिन्दी का प्रयोग करने चलते हैं, तो उनके मन-मस्तिष्क में रची-पची अपनी बोलियों की ध्वनियाँ, व्याकरण, शब्द-भण्डार आदि मानक हिन्दी में व्यवधान बन जाते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि बोलने वाले अपनी बोली से मिश्रित हिन्दी, जो मानक हिन्दी से हटी हुई होती है, बोलने लगता है।[1]

(ख) कुछ हिन्दी भाषी और हिन्दी साहित्यकार ऐसे हैं जिनकी मातृभाषा हिन्दीतर भारतीय भाषाएं हैं, इसमें संदेह की गुञ्जाइश नहीं रह जाती कि इनके द्वारा प्रयुक्त हिन्दी इन भाषाओं से प्रभावित न हो। जब इन साहित्यकारों की पुस्तकों को पाठक पढ़ते हैं तो वह उस हिन्दी का मानक रूप नहीं होता जिसे वास्तविक रूप में मानक कहा जा सके।

---

1. अच्छी हिन्दी कैसे बोलें, कैसे लिखें, डॉ॰ भोलानाथ तिवारी, पृ. 29 लिपि प्रकाशन नई दिल्ली, संशोधित संस्करण, 1992

(ग) परम्परा, और परिवेश भी हिन्दी के मानक और एक रूप निर्धारण में तथा उसके प्रयोग में बाधक बन रहा है। जो संस्कृत परम्परा और आर्य समाज परम्परा के प्रति आस्थावान् हैं, वे शब्दप्रयोग, पारिभाषिक शब्दप्रयोग, उच्चारण (जैसे ज्ञ का ज्यं और वर्ग के पंचम वर्ण) वर्तनी, शब्द रचना, संधि आदि में वे संस्कृत के समीपवर्ती रहना चाहते हैं। संस्कृत के प्रति निष्ठावान् लोग क, ख, ग, ज, फ, ऑ, के प्रयोग को अनावश्यक मानते हैं, दूसरी परम्परा अरबी-फारसी उर्दू के निकट रहने के पक्ष में है। ये लोग इस परम्परा के शब्द तथा क, ख, ग, ज, फ ध्वनियों के समुचित प्रयोग के पक्षधर हैं। तीसरी परम्परा अंग्रेज़ी के प्रति आस्थावान् लोगों की है। ये लोग अधिकाधिक अंग्रेज़ी शब्दों के प्रयोग के पक्षधर हैं। ज, फ, ऑ. के समुचित प्रयोग पर भी इनका बल रहता है। इस तरह इन तीन परम्पराओं के प्रति निष्ठा एवं अंधभक्ति भी हिन्दी के मानक तथा एक रूप के निर्धारण में उसके प्रयोग में बाधक बन रही है।

हिन्दी में वर्तनी सदैव उच्चारण के अनुरूप नहीं होती उच्चारण तो समय और क्षेत्र के साथ परिवर्तित होता रहता है किन्तु वर्तनी को अपरिवर्तित ही रहने दिया जाता है इसलिए परम्परागत, सर्वस्वीकृत अथवा बहुस्वीकृत वर्तनी लेखनी में अपेक्षित है। विद्वानों द्वारा अनेक बार यह प्रश्न उठाया जाता है कि क्यों न हिन्दी में उच्चारण के अनुकूल वर्तनी रखी जाए। यह हिन्दी के सामने एक चुनौती है, इसमें कुछ बाधाएं है, जिनमें से प्रमुख बाधाओं की चर्चा यहाँ इष्ट है-

(क) सर्वप्रथम अक्षर या शब्द के अन्त के 'अ' की समस्या ली जा सकती है। हम लोग बोलते हैं आप्, तुम्, जब्, कल्, किन्तु लिखते हैं आप, तुम, जब, कल आदि। इन उदाहरणों में तो स्पष्ट ही 'अ' उँच्चरित नहीं होता, किन्तु अन्य शब्दों में जिनके अन्त में महाप्राण (भूख, रथ), संघर्षी (रस, साफ, जोश), अर्धस्वर (राम, नाव) या संयुक्त व्यंजन (सुप्त, ब्रह्म) आदि आते हैं, में भी इसका उच्चारण प्रायः नहीं होता (वाक्य, कण्व जैसे अर्धस्वरयुक्त संयुक्त व्यंजन अपवाद है। यहाँ 'अ' शायद उच्चरित होता है), प्रश्न उठता है कि इस अनुच्चरित 'अ' को लिखा जाये या नहीं। इस समय इस दृष्टि से दो प्रकार की वर्तनी मिलती है: (क) संस्कृत के व्यञ्जनान्त शब्दों को जैसे मतुप् प्रत्यय वाले हनुमान्, श्रीमान्, विचारवान्, बुद्धिमान्, ज्ञानवान्, आदि या जगत्, सुहृद्, जैसे अन्य शब्दों को संस्कृतज्ञ हलन्त लिखते हैं; किन्तु हिन्दी के अपने व्यञ्जनान्त के अपने शब्दों (जैसे आप् आदि) को अकारान्त लिखते हैं। (ख) सामान्यतः अन्य लोग हिन्दी के अन्य शब्दों की भाँति ही संस्कृत के व्यञ्जनान्त शब्दों को भी बिना हलन्त चिह्न के लिखते हैं: दोनों में कौन सा ग्राह्य है। इसमें विद्वानों में मतैक्य नहीं है। यह एक बाधा है। दोनों ही ग्राह्य हो सकते है- प्रथम वैज्ञानिक दृष्टि से और दूसरा सुविधा की दृष्टि से। यहाँ मैं यही कहूँगा कि

विद्वानों और लेखकों के बहुमत के आधार पर निश्चित हो कि इनके अन्त में संस्कृत के समान हलन्त का प्रयोग करें अथवा बिना हलन्त के।

(ख) हिन्दी में ष और ऋ का आज का उच्चारण श. रि (शेष. शेश. ऋण-रिंड़) है। 'ण' भी बहुत कुछ 'ड़ँ' (कृष्ण-किश्ड़ँ) हो गया है। 'क्ष' 'क्श' हो गया है। 'ज्ञ' का मूल उच्चारण ज +ञ था; पर आज यह ग्य, ग्यँ, ज्यँ, रूप में उच्चारित होता है। हिन्दी प्रदेश के बाहर ग्नँ, रूप में भी यह सुनाई पड़ता है। आज 'ऋ' और 'र' के भेद को न जानने के कारण गृह (घर) को ग्रह (नक्षत्र) और ग्रह को गृह लिखते हैं। शृङ्गार के स्थान पर श्रृंगार और श्रृंगार लिखते हैं। मूर्धन्य 'ष' का उच्चारण तालव्य 'श' अथवा दन्त्य 'स' में किया जाता है। यहीं बात 'ण' के साथ है। 'ण' भी मूर्धन्य वर्ण है। यही बात 'ण' के साथ है। 'ण' मूर्धन्य वर्ण है। आमजनों को मूर्धन्य वर्णों के उच्चारण में कठिनाई होती है। 'क्ष' और 'ज्ञ' संयुक्त व्यंजन है। आज प्रान्त भेद से इनका उच्चारण भी भिन्न भिन्न है। यहाँ क्या यह उचित होगा कि हिन्दी वर्तनी को इसी रूप में उच्चारण के अनुकूल कर दिया जाए। इस विषय में सभी के लिए यही ग्राह्य होगा कि बिना परिवर्तन के ही संस्कृत परम्परा के अनुसार इन्हें ष, ऋ, ण, क्ष, ज्ञ ही लिखा जाये।

(ग) हिन्दी में कुछ शब्द ऐसे हैं जिनमें ध्वनि विपर्यय हो गया है और लिखने में कुछ लोग मूल शब्द का प्रयोग करते हैं तथा कुछ लोग उच्चारण के अनुकूल तद्भव रूप में लिखते हैं; जैसे चिह्न-चिन्ह, ब्राह्मण-ब्राम्हण, ब्रह्म-ब्रम्ह आदि। इस समस्या का निराकरण यही है कि मेरे विचार में इन्हें उच्चारण के अनुकूल ही लिखा जाना चाहिए, यथा-चिह्न, ब्राह्मण आदि।

(घ) अरबी-फारसी-तुर्की के शब्दों में क, ख, ग, ज, फ, ध्वनियों का प्रयोग कुछ पुस्तकों में ही मिलता है। इन ध्वनियों का प्रयोग आज से पचास साठ साल पूर्व लेखक करते थे, यथा ज़रूरत, वज़ह, वजूद, कानून आदि आज इनका प्रयोग समाप्त प्रायः है। पंडित किशोरीदास का अभिकथन है कि हिन्दी की प्रकृति ने इन्हें स्वीकार नहीं किया। इस प्रकृति को लोग पहले भी पहचानते थे। अपने मत की सम्पुष्टि में बाबू बालमुकुन्दगुप्त के मत को उद्धृत करते हैं–

हिन्दी में 'ज' के नीचे बिन्दी लगा देने से क्या सबका उच्चारण 'शुद्ध ' हो जाएगा? इस से 'जाल' 'ज्वाद' और 'जोय' की क्या पहचान रही? यदि 'जाल' 'ज्वाद' 'जोय' में फर्क करना मंजूर नहीं, तो 'ज' के नीचे बिन्दी लगाने की जरूरत नहीं और यदि उन सब में भेद समझा जाता है, तो फिर 'जाल' 'ज्वाद' 'जय' की भी कुछ पहचान रखनी चाहिए।[1]

---

1. हिन्दी शब्दानुशासन, पं० किशोरीदास वाजपेयी पृ. 60, नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी दिल्ली, पंचम संस्करण, संवत् 2005 वि.

पं॰ प्रतापनारायण मिश्र भी बाबू बालमुकुन्द गुप्त का समर्थन करते हुए कहते हैं कि वर्णों के नीचे इस प्रकार बिन्दी लगाना हिन्दी वालों के लिए बीमारी है और यह इनको दूर तक खराब कर देगी।[1]

(ङ) नासिक्य वर्ण पाँच है: ङ्, ञ्, ण्, न्, म्। प्रयोग में दोनों रूप मिलते हैं, यथा- कलङ्क, कलंक, अञ्चल, अंचल, पण्डित, पंडित, बन्दर, बंदर, परम्परा, परंपरा, मेरे विचार से यहाँ पर संस्कृत नियम का ही पालन करना चाहिए। आज अनुनासिक के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग होता है जो अनुचित है, यथा–हँस (हसना), और हंस (पक्षी) में अन्तर है। गँठ-बधन को लोग गठ-बन्धन लिख देते हैं, जो अशुद्ध है। गँठ-बन्धन के पूर्व पद में गाँठ शब्द है 'गाठ नहीं। गाँठ में अनुनासिकता 'ग्रन्थि' के 'न्' का परिणाम है। अत: गंठ-बन्धन शुद्ध है। इसी प्रकार पँचमेल मिठाई होती है। पंचमेल नहीं। अत: ऐसी प्रयोगों के प्रति लेखक को सचेत रहना चाहिए।

(च) हिन्दी में कारक चिह्नों के विषय में विद्वानों के भिन्न भिन्न विचार है। प्रमुख बाधा यह है कि साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दी में ने, को, से, के, लिए, में, पर: आदि जो चिह्न हैं, उन्हें किस पारिभाषिक नाम से व्यक्त करना चाहिए? कोई इन्हें कारक-चिह्न, कोई विभक्तियाँ और कोई परसर्ग कहता है। यहाँ कुछ विश्रुत विद्वानों के मतों को उद्धृत करना प्रासङ्गिक होगा–

(1) डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा के मतानुसार ने, को, से, आदि कारक चिह्न हैं–

''ने'' कारक-चिह्न की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। बीम्स इसका विचार 'करण' कारक के अन्दर करते हैं और इसे 'कर्मणि' तथा 'भावे' प्रयोग का अर्थ देने वाला बताते हैं।''–(डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी-भाषा का इतिहास, सन् 1940 पृ. 259)।

(2) डॉ॰ उद्यनारायण तिवारी ने 'ने', 'को' आदि को परसर्ग नाम दिया है–

''ने'' परसर्ग का व्यवहार खड़ी-बोली हिन्दी की एक प्रमुख विशेषता है। पूर्वी हिन्दी में इसका व्यवहार नहीं होता।'' –(डॉ॰ उदयनारायण तिवारी, हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, संवत् 2012 वि., पृ0 439)।

(3) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा ने, को, से, आदि को कारक-चिह्न बताया है किंतु खड़ी बोली के कारक-चिह्नों को शुक्ल जी विभक्तियों से पृथक् मानते हैं।

''खड़ी-बोली में कारक चिह्न विभक्ति से पृथक् हैं। विलायती मत कहकर हम इसका तिरस्कार नहीं कर सकते। इसका स्पष्ट प्रमाण खड़ी-बोली के सम्बन्ध-कारक के सर्वनाम में मिलता है: जैसे–किसका = संस्कृत कस्य प्राकृत नपुंसकलिंग किस्स कारक चिह्न 'का'।''

---

1. हिन्दी शब्दानुशासन, पृ. 60

-(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बुद्धचरित, भूमिका-भाग, नागरी प्रचारिणी सभा, संवत् 1995 वि., पृ. 25) आचार्य शुक्ल के मतानुसार 'रामहि' की 'हि' और 'रामस्य' की 'स्य' तो विभक्तियाँ हैं, किन्तु 'राम को' और 'राम का' में 'का' विभक्तियाँ नहीं है, अपितु कारकचिह्न है।

(4) पं॰ किशोरीदास वाजपेयी की 'भाषा-सम्बन्धी नई खोज' विचारणीय है। पं॰ वाजपेयी-ने, को, आदि को विभक्ति कहते हैं। वे इन्हें परसर्ग नहीं मानते। 'राम का लड़का' में 'का' उनके मत से तद्धितीय सम्बन्ध प्रत्यय है। वे 'राम के लड़का हुआ' में 'के' को हिन्दी की सम्बन्धविभक्ति बताते हैं। इस सम्बन्ध में उनका एक तर्क यह है कि विभक्ति कभी लिंग, वचन आदि के परिवर्तन से अपने स्वरूप को परिवर्तित नहीं करती। 'राम का लड़का' और 'राम की लड़की' में लिंग परिवर्तन के कारण 'का' भी 'की' में बदल गया। अतः 'राम का लड़का' में 'का' विभक्ति नहीं है। (देखिए, पं. किशोरीदास वाजपेयी का लेख 'भाषा सम्बन्धी एक नई खोज' (समालोचक, वर्ष 1 अंक 2, पृ. 22-23)।

(5) डॉ॰ श्यामसुन्दरदास रूपसाधक प्रत्यय को 'विभक्ति' नाम देते हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक (भाषा-विज्ञान) में विभक्तियों के दो भेद किये हैं-(1) कारकविभक्ति (2) क्रिया-विभक्ति। ने, को, से, आदि चिह्न डॉ॰ श्यामसुन्दरदास के मतानुसार विभक्तियाँ ही हैं। 'रूप-विचार' प्रकरण में डॉ॰ दास ने लिखा है-

"कभी-कभी विभक्तियाँ शब्द का भाग बन जाती हैं और उनमें नई विभक्तियाँ लगती हैं, जैसे-घर में 'की' चीज़, रास्ते में 'का' पत्थर, पेड़ पर 'का'[1] पत्ता।' (1) -(डॉ॰ श्यामसुन्दरदास, भाषा-विज्ञान, संवत् 2010 वि. पृ. 217)।

इन विश्रुत विद्वानों के उपर्युक्त मत छात्रों और पाठकों में भ्रम की स्थिति उत्पन्न करते हैं। इन कारक चिह्नों को किसके साथ मिलाकर लिखना चाहिए, यह बाधा है। क्या इससे उच्चारण के अनुसार वर्तनी को रखा जा सकेगा इस सम्बन्ध में डॉ॰ भोलानाथ तिवारी की मान्यता है कि इन्हें संज्ञा के साथ अलग तथा सर्वनाम के साथ मिलाकर लिखना चाहिए।[2] डॉ॰ तिवारी का मत स्वीकार करने योग्य है फिर भी इस बाधा का निराकरण तभी सम्भव है जब विद्वानों में सर्वसम्मति बने।

आज अंग्रेज़ी के कुछ शब्द अस्पताल, लालटेन, स्टेशन और सिगनल आदि हिन्दी में प्रचलित है, वे तो ठीक हैं किन्तु ऐसे भी शब्द हैं जो दो रूपों में प्रचलित हैं, यथा-सोसायटी को सोसाइटी, साइकिल को सायकिल आदि। अंग्रेज़ी आदि भाषाओं में लिपि भिन्नता हिन्दी में सोसायटी तथा सोसाइटी आदि शब्दों की एकरूपता में बाधक है। अंग्रेज़ी आदि भाषाओं की वर्तनी

---

1. एक ही पद में दो विभक्तियों का योग प्राकृत में मिलता है। तृतीया के बहुवचन की द्योतक 'हि' विभक्ति है, जैसे-पुत्तेहिं'। किन्तु पंचमी के एक वचन में 'हि' के साथ 'दो' भी लगता है जैसे 'पुत्तेहिंदो'।
2. अच्छी हिन्दी कैसे बोलें, कैसे लिखें, डॉ॰ भोलानाथ तिवारी, पृ. 81, लिपि प्रकाशन नई दिल्ली, संशोधित संस्करण, 1992

के कारण ही 'शुक्ल' को 'शुक्ला', 'मिश्र' को 'मिश्रा' और 'बुद्ध' को 'बुद्धा' जैसे अशुद्ध प्रयोग हिन्दी में प्रचलित हो गए हैं। अंग्रेज़ी के इन शब्दों के प्रयोगों के प्रति लेखकों को सजग रहना चाहिए।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है आज संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और मराठी के लिखने में देवनागरी लिपि का निरन्तर प्रयोग हो रहा है। दूसरे 'इसमें जो बोला जाता है वह लिखा जाता है तथा जो लिखा जाता है वह बोला जाता है' और इसमें जो लिपि चिह्न जिस ध्वनि का द्योतक है, उसका नाम भी वही है। रोमन आदि लिपियों में ऐसा नहीं है। अपने ऐसे गुणों के कारण यह अधिकांश लोगों के लिए ग्राह्य है। ध्वन्यात्मक लिपि के विकास के अनन्तर ही लिखित भाषा को वर्तनी की सहायता लेनी पड़ती है। अत: अशुद्ध वर्तनी का प्रभाव लिखित भाषा की मानकता पर पड़ना स्वाभाविक है। आज विस्तृत भूभाग में निवास करने वाले हिन्दी भाषियों की विशाल संख्या होने के कारण क्षत्रिय बोलियों का भी उन पर प्रभाव पड़ता है, इसलिए एक मानक रूप का बना रहना असम्भव है। उच्चारणके अनुसार वर्तनी को रखने में हिन्दी प्रदेशों में शब्दों का उच्चारण एक जैसा नहीं है। हिन्दी में कारक चिह्नों के विषय में विद्वानों के भिन्न भिन्न मत भी उच्चारण के अनुसार वर्तनी को रखने में बाधक है। इस बाधा का निराकरण भी विद्वानों की सर्वसम्मति से ही संभव हैं। अशुद्ध प्रयोगों से बचने के लिए भी हिन्दी की प्रकृति को समझना होगा। संस्कृत में दीनबन्धु शब्द प्रचलन में है जबकि हिन्दी में दीनानाथ और दीनबन्धु दोनों ही प्रचलित हैं। दीनानाथ को हटाना असंभव नहीं है। संस्कृत में प्रचलित तद्धित शब्द 'राष्ट्रीय' को हिन्दी में कदापि ग्रहण नहीं करना चाहिए। हिन्दी ने इसे ग्रहण भी नहीं किया फिर भी लोग 'केन्द्रीय' जैसे अशुद्ध प्रयोग कर रहे हैं और करते भी रहेंगे। इसी प्रकार हिन्दी में कुछ लोग 'दम्पती' रूप का प्रयोग करते हैं, जो कि अशुद्ध है। यह संस्कृत के द्विवचन का रूप है। हिन्दी में द्विवचन होता ही नहीं। 'दम्पति' शब्द का प्रयोग हिन्दी में शुद्ध है किन्तु लोग 'दम्पती' का प्रयोग कर रहे हैं और करते रहेंगे। हिन्दी में संस्कृत के कुछ शब्द अवश्य स्वीकार किये जा सकते हैं किन्तु सर्वत्र संस्कृत व्याकरण के नियमों के अनुसार नहीं।



राजनीति और वाल्मीकि रामायण

डॉ॰ वीरेन्द्र कुमार मिश्र

समय की गति का प्रवाह अविरल है। समय किसी की प्रतीक्षा नहीं करता। वह अपनी छाप छोड़कर आगे बढ़ता है। संस्कृतियां भी उत्थान और पतन को प्राप्त होती हुई अपना प्रभाव छोड़ जाती हैं। प्रत्येक संस्कृति अपने वैशिष्ट्य से युक्त होती है। जो समाज जितना अधिक सभ्य और सुसंस्कृत होता है उसके विचार भी उतने सुसंस्कृत, उदार, लोक हितकारी और उच्च होते हैं। महर्षि वाल्मीकि रामायण वह रचना है जो भारतीय संस्कृति का प्रतिविम्ब प्रस्तुत करती है। यह रचना करुणरस से उत्पन्न हुई है। रामायण में एक ओर भारतीय पाण्डित्य और सर्वोच्च प्रतिभा, संस्कृति एवं करुणा का प्रतिनिधित्व परिलक्षित होता है तो दूसरी ओर कर्त्तव्यपरायणता, व्यवहारधर्म, त्याग, उदारता एवं सहानुभूति की ओर भी ध्यान आकृष्ट होता है।

रामायण भारतीय जनमानस के समक्ष आदर्श प्रस्तुत करती है। इस जगत् में रहते हुए अपने उद्देश्य की ओर कैसे अग्रसर हो इसकी शिक्षा इसी प्रबन्ध से प्राप्त होती है। रामायण न केवल एक आदि काव्य है अपितु धार्मिकआदर्शों का भी निदर्शन है। रामायण आलङ्कारिक भाषा में प्रकृति वर्णन से आरम्भ कर घरेलू जीवन की चित्रोपमता, ऐतिहासिकता, राजनैतिक पृष्ठभूमि-युक्तता, मनोवैज्ञानिकता, भौगोलिकता एवं दार्शनिकता आदि विषयों की अनुपम निधि है अर्थात् इन सभी के समुचित ज्ञान का स्रोत है।

अनेक विद्वान् रामायण को भारत का ही नहीं अपितु विश्व का आदि काव्य और महाकाव्य स्वीकार करते हैं।[1] रामायण के रचनाकार के सम्बन्ध में कहा गया है कि उन्होंने व्याध के द्वारा मारे जाते हुए एक क्रौञ्चपक्षी युगल को देखा तो उनके हृदय में निलीन शोक उद्भूत हो छन्दोमयी वाणी में अचानक निकल पड़ा। यथा--

मा निषाद! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकामवधीः काममोहितम्।।

राजनीति शब्द राज और नीति शब्दों के योग से निष्पन्न है। इसका आशय है "राजा की नीति" या "राज्य की नीति"। राजनीति का अर्थ है वह नीति जिसका आश्रय ग्रहण कर कोई राजा अपना राज्य चलाता है। राजनीति के अन्तर्गत राजा की योग्यता, गुण, राजा का अभिषेक, राज्य की व्यवस्था, राजा का प्रजा के प्रति व्यवहार, युद्धसञ्चालन, जयपराजय आदि अनेक विषय हैं। आचार्य-शुक्र, चाणक्य और महात्मा विदुर सदृश नीतिवेत्ताओं ने बड़े विस्तार से राजनीति का

1. डॉ॰ जितेन्द्रचन्द्र भारतीय-संस्कृत साहित्य का सरल सुबोध इतिहास-पृष्ठ 58

विवेचन प्रस्तुत किया है।

वाल्मीकि रामायण में राजनीति का सुन्दर वर्णन है। रामराज्य के माध्यम से आदर्श राज्य का स्वरूप बतलाते हुए राजनीति का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। समाज की रक्षा हेतु राज्य की व्यवस्था आवश्यक होती है। सीता सहित राम और लक्ष्मण के वन-गमन के पश्चात् महाराज दशरथ के दिवङ्गत होने पर प्रजाजन, पुरोहित महर्षि वशिष्ठ को सम्बोधित करके राजा की आवश्यकता को स्वीकार करके कहते हैं कि श्रीराम और लक्ष्मण के वन चले जाने पर महाराज दशरथ स्वर्ग चले गये। भरत और शत्रुघ्न ननिहाल में हैं। इक्ष्वाकुवंशीय राजकुमारों में से किसी को यहाँ का राजा बनाया जाये, क्योंकि राजा के अभाव में हमारे इस राज्य का विनाश हो जायेगा। यथा–

> **स्वर्गस्थश्च महाराजो रामश्चारण्यमाश्रितः।**
> **लक्ष्मणश्चापि तेजस्वी रामेणैव गतः सह॥**
>
> **उभौ भरतशत्रुघ्नौ केकयेषु परंतपौ।**
> **पुरे राजगृहे रम्ये मातामहनिवेशने॥**
>
> **इक्ष्वाकूणामिहाद्यैव कश्चिद् राजा विधीयताम्।**
> **अराजकं हि नो राष्ट्रं विनाशं समवाप्नुयात्॥**[1]

राजा के अभाव में मेघ वर्षा नहीं करते।[2] पुत्र पिता और स्त्री पति के वश में नहीं रहती।[3] स्वभावतः यज्ञ करने वाले द्विज और कठोर व्रती जितेन्द्रिय ब्राह्मण उन बड़े-बड़े यज्ञों का अनुष्ठान नहीं करते।[4] यदि यज्ञों का अनुष्ठान भी हो तो धनसम्पन्न ब्राह्मण ऋत्विजों को पर्याप्त दक्षिणा नहीं देते हैं क्योंकि उन्हें भय रहता है कि धन-सम्पन्न समझ कर कोई हमें लूट न ले।[5]

कलाकार अपनी कला का प्रदर्शन नहीं कर पाते।[6] व्यापार करने वाले कुशलतापूर्वक अपना व्यापार नहीं कर पाते।[7] सेना भी युद्ध में शत्रुओं का सामना नहीं कर सकती।[8] विशिष्ट विद्वान् उस

---

1. वाल्मीकिरामायण- 2.67.6-8
2. नाराजके जनपदो विद्युन्माली महास्वनः।
   अभिवर्षति पर्जन्यो महीं दिव्येन वारिणा॥ वा.रामा. 2.67.9
3. नाराजके जनपदे बीजमुष्टिः प्रकीर्यते।
   नाराजके पितुः पुत्रो भार्या वा वर्तते वशे॥ वा.रामा. 2.67.10
4. नाराजके जनपदे यज्ञशीला द्विजातयः।
   सत्राण्यन्वासते दान्ता ब्राह्मणाः संशितव्रताः॥ वा.रामा. 2.67.13
5. वा. रामा. 2.67.14
6. नाराजके जनपदे प्रहृष्टनटनर्तकाः।
   उत्सवाश्च समाजाश्च वर्धन्ते राष्ट्रवर्धनाः॥ वा.रामा. 2.67.15
7. नाराजके जनपदे वणिजो दूरगार्भिनः
   गच्छन्ति क्षेममध्वानं बहुपण्यसमाचिताः॥ वा.रामा.2.67.22
8. नाराजके जनपदे योगक्षेमः प्रवर्तते।
   न चाप्यराजके सेना शत्रून् विषहते युधि॥ वा.रामा. 2.67.24

राज्य में ठहरते नहीं।[1] राजा के न रहने पर राज्य में किसी भी मनुष्य की कोई भी वस्तु अपनी नहीं रह जाती। जैसे मत्स्य एक दूसरे को खा जाते हैं उसी प्रकार अराजक देश के लोग सदा एक दूसरे को लूटते रहते हैं।[2]

महर्षि वाल्मीकि की दृष्टि में राज्य में राजा की अनिवार्यता ही नहीं है अपितु व्यक्ति तथा समाज की सुरक्षा के लिए, सामाजिक उन्नति के लिए समाज के मङ्गल हेतु राजा के अतिरिक्त उसका अन्य कोई समाधान नहीं है।

राजा को स्वेच्छाचारी नहीं होना चाहिए। सर्वगुणसम्पन्न व्यक्ति को राजा के पद पर आसीन किया जाना चाहिए। महाराज दशरथ ने अपनी राजसभा में राम को राजा बनाने का प्रस्ताव रखा तो सभी सभासदों ने राम को राजा होने के योग्य मानकर उनके गुणों को बतालाते हुए कहा"''महाराज! आपके पुत्र श्रीराम में बहुत से कल्याणकारी सद्‌गुण हैं।''[3]

हे देव! देवताओं के तुल्य बुद्धिमान् और गुणवान् श्रीरामचन्द्र जी के सारे गुण सबको प्रिय लगने वाले हैं।[4] सत्य, पराक्रमी श्रीराम देवराज इन्द्र के समान दिव्यगुणों से युक्त हैं। इक्ष्वाकुकुल में भी ये सबसे श्रेष्ठ हैं।[5] श्रीराम संसार में सत्यवादी, सत्यपरायण और सत्पुरुष हैं। साक्षात् श्रीराम ने अर्थ के साथ धर्म को भी प्रतिष्ठित किया है।[6]

ये चन्द्रमा के समान प्रजा को सुख देने वाले पृथ्वी के सदृश क्षमाशील, बुद्धि में बृहस्पति और बल में साक्षात् इन्द्र के सदृश हैं। श्रीराम धर्मज्ञ, सत्यप्रतिज्ञ, शीलवान् अदोषदर्शी, शान्त, दीनदुःखियों को सान्त्वना प्रदान करने वाले, मृदुभाषी, कृतज्ञ, जितेन्द्रिय, कोमल स्वभाव वाले, स्थिरबुद्धि, सदा कल्याणकारी, असूयारहित, समस्त प्राणियों के प्रति प्रियवचन बोलने वाले और सत्यवादी हैं।[7]

नगर के मनुष्यों पर संकट आने पर वे बहुत दुःखी हो जाते हैं और उन सबके घरों में सब प्रकार के उत्सव होने पर उन्हें पिता की भाँति प्रसन्नता होती है। वे सत्यवादी, महान् धनुर्धर, वृद्ध

---

1. नाराजके जनपदे नराः शास्त्रविशारदाः।
   संवदन्तोऽवपतिष्ठन्ते वनेषूपवनेषु वा।। वा.रामा. 2.67.26
2. नाराजके जनपदे स्वकं भवति कस्यचित्।
   मत्स्या इव जनाः नित्यं भयं यान्ति परस्परम्।। वा.रामा. 2.67.31
3. ते तमूचुर्महात्मानः पौरजानपदैः सह।
   बहवोनृकल्याणगुणाः सन्ति सुतस्य ते।। वा.रामा. 2.2.26
4. गुणान् गुणवतो देव देवकल्पस्य धीमतः।
   प्रियानानन्दनान् कृत्स्नान् प्रवक्ष्यामोऽद्य तांश्छृणु।। वा.रामा. 2.2.27
5. दिव्यैर्गुणैः शक्रसमो रामः सत्यपराक्रमः।
   इक्ष्वाकुभ्योऽपि सर्वेभ्यो ह्यतिरिक्तो विशाम्पते।। वा.रामा. 2.2.28
6. रामः सत्पुरुषो लोके सत्यः सत्यपरायणः साक्षाद्रामाद् विनिवृत्तो धर्मश्चापि श्रिया सह।। वा.रामा. 2.2.29
7. वाल्मीकिरामायण- 2.2.30-32

पुरुषों के सेवक और जितेन्द्रिय हैं। श्रीराम पहले मुस्कराकर वार्तालाप आरम्भ करते हैं। उन्होंने सम्पूर्ण हृदय से धर्म का आश्रय ग्रहण कर रखा है। वे कल्याण का भली भाँति आयोजन करने वाले हैं तथा निन्दनीय वार्तालाप में उन्हें कभी अभिरुचि नहीं रहती है।[1]

अनेकानेक गुणों में सम्पन्न श्रीराम हैं। महर्षि वाल्मीकि के श्रीराम के गुणवर्णन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वाल्मीकि रामायण में सर्वगुणसम्पन्न व्यक्ति के राजा बनाने के लिए कहा गया है। इसके अनुसार राजा उसी व्यक्ति को बनाया जा सकता है जो सत्यवादी, संयमी, धार्मिक, जितेन्द्रिय, प्रजाप्रिय, कर्त्तव्यपरायण, दूरदर्शी, क्षमाशील, तेजस्वी और पराक्रमी हो। इसी प्रकार के गुणों से युक्त राजा होने का उल्लेख महर्षि याज्ञवल्क्य भी करते हैं। यथा–

महोत्साहः स्थूललक्षः कृतज्ञो वृद्धसेवकः।
विनीतः सत्त्व सम्पन्नः कुलीनः सत्यवाक्शुचिः।।

अदीर्घसूत्रः स्मृतिमानक्षुद्रोऽपरुषस्तथा।
धार्मिकोऽव्यसनश्चैव प्राज्ञः शूरो रहस्यवित्।।

स्वरन्ध्रगोप्ताऽऽन्वीक्षिक्यां दण्डनीत्यां तथैव च।
विनीतस्त्वथ वार्तायां त्रय्यां चैव नराधिपः।।[2]

अर्थात् राजा को महान् उत्साही, विशाल दृष्टि से देखने वाला कृतज्ञ, (तप और ज्ञान में बढ़े हुए) वृद्धों की सेवा करने वाला, विनीत सत्त्वसम्पन्न (सम्पत्ति और विपत्ति में एक-सा आचरण करने वाला), कुलीन, सत्यवचन बोलने वाला, पवित्र, आलस्यरहित, (जाने हुए कार्यों को) स्मरण रखने वाला, सद्गुणी, दूसरे का दोष न कहने वाला, धार्मिक (मृगया आदि) व्यसन न करने वाला, बुद्धिमान्, वीर, रहस्य को छिपाने में चतुर, अपने राज्य के प्रवेश द्वारों को गुप्त रखने वाला, आन्वीक्षिकी (आत्मविद्या) एवं दण्डनीति (योगक्षेमोपयोगी) विद्या एवं वार्ता (कृषिवाणिज्य) तीनों में प्रवीण होना चाहिए।

महर्षि वाल्मीकि ने सर्वोच्च पद के निमित्त सर्वगुणसम्पन्न व्यक्ति को उचित माना है। शारीरिक और मानसिक दृष्टि से असमर्थ व्यक्ति को राजा के पद के लिए उपयुक्त नहीं मानते। अदूरदर्शी, प्रजारञ्जन में असमर्थ, क्षमाशीलता के अभाव से युक्त, शत्रु को परास्त करने में अक्षम व्यक्ति राजा के रूप में वाल्मीकि को स्वीकार्य नहीं है।

राजा के कर्त्तव्य

राजा राज्य का सर्वोच्च अधिकारसम्पन्न व्यक्ति होता है। इसलिए सभी प्रकार की आपदाओं से राज्य की रक्षा करता हुआ सुख और शान्ति की स्थापना करना राजा का धर्म है। प्रजा का पुत्र के समान संरक्षण करते हुए राज्य के सर्वाङ्गीण विकास के लिए सतत प्रयत्नशील रहना राजा का

1. वाल्मीकिरामायण 2.2.40-42
2. याज्ञवल्क्यस्मृति 1.309-301

प्रमुख कर्त्तव्य है। ऋषियों मुनियों ने राम को उनके कर्त्तव्य की ओर इंगित करते हुए सम्पूर्ण प्रजा की रक्षा का उत्तरदायी बतलाया। वे बोले, हे रघुनन्दन आप इस इक्ष्वाकुवंश के साथ ही, आप इस सम्पूर्ण भूमण्डल के भी स्वामी संरक्षक तथा प्रमुख महारथी वीर हैं।[1] हे स्वामिन् जो राजा से उसकी आय का छठाभाग कर के रूप में ले ले और पुत्रवत् प्रजा की रक्षा न करे उसे महान् अधर्म का भागी होना पड़ता है।[2] हे श्रीराम! जो राजा प्रजा के संरक्षण में संलग्न होकर अपने राज्य में निवास करने वाले सब लोगों को प्राणों के समान अथवा प्राणों से भी अधिक प्रिय पुत्रों के सदृश समझकर सदा सावधानी से उनकी रक्षा करता है, वह बहुत वर्षों तक स्थिर रहने वाली अक्षय कीर्ति प्राप्त करता है तथा अन्त में ब्रह्मलोक में जाकर वहाँ भी विशेष सम्मान का अधिकारी होता है। राजा के राज्य में मुनि फलमूल का आहार करके जिस उत्तम धर्म का अनुष्ठान करता है, उसका चतुर्थांश धर्मानुसार प्रजा की रक्षा करने वाले उस राजा को प्राप्त होता है।[3]

मुनियों का इस प्रकार का कथन-राजा के कर्त्तव्य की ओर स्पष्ट संकेत है। राजा को सम्पूर्ण प्रजा की रक्षा अपनी सन्तान के सदृश करते हुए उनके विकासार्थ सम्यक् अवसर देना चाहिए। इसके साथ ही प्रजा को धार्मिक अनुष्ठानों का समुचित अवसर प्रदान करना चाहिए और सदाचरण एवं धर्माचरण के लिए सतत प्रवृत्त कराना चाहिए। विश्वामित्र ताटकावध के लिए राम को प्रेरित करते हुए कहते हैं कि हे नरश्रेष्ठ! तुम स्त्रीहत्या का विचार करके इसके प्रति दया न दिखाना। एक राजपुत्र के चारों वर्णों के हित के लिए स्त्रीहत्या भी करनी पड़े तो भी उसका निर्वाह संकोच रहित होकर करना चाहिए। प्रजापालक नरेश को प्रजाजनों की रक्षा के लिए क्रूरतापूर्ण या क्रूरतारहित, पातकयुक्त अथवा दोषयुक्त कर्म भी करना पड़े तो कर देना चाहिए। यह बात उसे सदा ध्यान में रखना चाहिए। जिनके ऊपर राज्य के पालन का भार है, उनका तो यह सनातन धर्म है। ककुत्स्थकुलनन्दन! ताटका महापापिनी है। उसमें धर्म का लेशमात्र भी नहीं है, अतः उसका वध कर दो। यथा:-

नह्येनां शापसंसृष्टां कश्चिदुत्सहते पुमान्।
निहन्तुं त्रिषु लोकेषु त्वामृते रघुनन्दन॥

---

1. त्वमिक्ष्वाकुकुलस्यास्य पृथिव्याश्च महारथः।
प्रधानश्चापि नाथश्चपि देवानां मघवानिव॥ वाल्मीकि रामायण 3.6.8
2. अधर्मः सुमहान् नाथ भवेत् तस्य तु भूपतेः।
यो हरेद् बलिषड्भागं न च रक्षति पुत्रवत्॥ वा.रामा. 3.6.11
3. युञ्जानः स्वानिव प्राणान् प्राणैरिष्टान् सुतानिव।
नित्ययुक्तः सदा रक्षन् सर्वान् विषयवासिनः॥
प्राप्नोति शाश्वतीं राम कीर्तिं स बहुवार्षिकीम्।
ब्रह्मणः स्थानमासाद्य तत्र चापि महीयते॥
य:करोति परंधं मुनिर्मूलफलाशनः।
तत्रः राज्ञश्चतुर्भागः प्रजाधर्मेण रक्षतः॥ वा.रामा. 3.6.12-14

नहि ते स्त्रीवधकृते घृणा कार्या नरोत्तम।
चातुर्वर्ण्यहितार्थं हि कर्त्तव्यं राजसूनुना।।

नृशंसमनृशंसं वा प्रजारक्षणकारणात्।
पातकं वा सदोषं वा कर्त्तव्यं रक्षता सदा।।

राज्यभारनियुक्तानामेष धर्मः सनातनः।
अधर्म्यां जहि काकुत्स्थ धर्मो ह्यस्यां न विद्यते।।[1]

उक्त कथन से स्पष्ट है कि राज्य में शान्ति की स्थापना करना राजा का कर्त्तव्य है।

अयोध्या काण्ड में राम ने कुशल-प्रश्न के बहाने भरत से जो वार्तालाप किया उससे भी राजा के कर्त्तव्य की ओर स्पष्ट संकेत मिलते हैं। राम भरत से पूछते हैं, हे तात! क्या तुमने अपने समान शूरवीर, शास्त्रज्ञ, जितेन्द्रिय, कुलीन, और बाह्य चेष्टाओं से ही मन की बात समझ लेने वाले सुयोग्य व्यक्तियों को ही मंत्री बनाया है। यथा–

कच्चिदात्मसमाः शूरा श्रुतवन्तो जितेन्द्रियाः।
कुलीनाश्चेङ्गितज्ञाश्च कृतास्ते तात मन्त्रिणः।।[2]

हे भरत! तुम असमय निद्रा के वशीभूत तो नहीं होते? समय पर जाग जाते हो न? रात्रि के पिछले प्रहर में अर्थसिद्धि के उपाय पर विचार करते हो न?

कच्चिन्निद्रावशं नैषि कच्चित् कालेऽवबुध्यसे।
कच्चिच्चापररात्रेषु चिन्तयस्यर्थनैपुणम्।।[3]

तुम किसी गूढ़ विषय पर अकेले ही तो विचार नहीं करते? अथवा बहुत लोगों के साथ बैठकर मन्त्रणा तो नहीं करते? कहीं ऐसा तो नहीं होता कि तुम्हारी निश्चित की हुई गुप्त मन्त्रणा फूटकर शत्रु के राज्य तक फैल जाती है। यथा–

कच्चिन्मन्त्रयसे नैकः कच्चिन्न बहुभिः सह।
कच्चित् मन्त्रितो मन्त्रो राष्ट्रं परिधावति।।[4]

कोई भी गुप्त मन्त्रणा दो से चार कानों तक ही गुप्त रहती है। छः कानों में जाने पर वह गुप्त नहीं रह पाती कहीं न कहीं वह फैल जाती है। तुम्हारे सब कार्य पूर्ण होने पर अथवा पूरे होने के समीप पहुँचने पर ही दूसरे राजाओं को ज्ञात होते हैं न? कहीं ऐसा तो नहीं होता कि तुम्हारे भावी कार्यों को वे पहले ही जान लेते हैं।

---

1. वाल्मीकि रामायण 1.25.16-19
2. वाल्मीकि रामायण 2.100.15
3. वाल्मीकि रामायण 2.100.17
4. वा. रामा. 2.100.18

राम-भरत को कितनी कुशलता के साथ बतलाते हुए कहते हैं कि क्या तुम हजार मूर्खों के बदले एक पण्डित को ही अपने पास रखने की इच्छा रखते हो? क्योंकि विद्वान् पुरुष ही अर्थसंकट के समय महान् कल्याण कर सकता है। यदि राजा हजार या दस हजार मूर्खों को अपने पास रख ले तो भी उनसे अवसर पर कोई अच्छी सहायता प्राप्त नहीं होती है। यदि एक मन्त्री मेधावी, शूरवीर, चतुर तथा नीतिज्ञ हो तो वह राजा या राजपुत्र को बहुत बड़ी सम्पत्ति की प्राप्ति करवा सकता है।

कच्चिन्नु सुकृतान्येव कृतरूपाणि वा पुनः।
विदुस्ते सर्वकार्याणि न कर्त्तव्यानि पार्थिव।।
कच्चित् सहस्रैर्मूर्खाणामेकमिच्छसि पण्डितम्।
पण्डितो ह्यर्थकृच्छ्रेषु कुर्यान्निःश्रेयसं महत्।।
सहस्राण्यपि मूर्खाणां यद्युपास्ते महीपतिः।
अथवाप्ययुतान्येव नास्ति तेषु सहायता।।
एकोऽप्यमात्यो मेधावी शूरो दक्षो विचक्षणः।
राजानं राजपुत्रं वा प्रापयेन्महतीं श्रियम्।।[1]

जो घूस न लेते हों अथवा निच्छल हों, पिता पितामह के समय से कार्य कर रहे हों और बाहर-भीतर से पवित्र तथा श्रेष्ठ हों, ऐसे अमात्यों को तुम उत्तम कार्यों में नियुक्त करते हो न? यथा-

अमात्यानुपधातीतान् पितृपैतामहाञ्छुचीन्।
श्रेष्ठाञ्छ्रेष्ठेषु कच्चित् त्वं नियोजयसि कर्मसु।।[2]

सदा सन्तुष्ट रहने वाले शूरवीर, धैर्यवान्, बुद्धिमान्, पवित्र, कुलीन तथा अपने में अनुरक्त युद्धकर्म-प्रवीण पुरुष को ही सेनापति बनाना चाहिए। प्रधान योद्धा बलवान्, युद्ध-कुशल और पराक्रमी होने चाहिए। उनके शौर्य की परीक्षा करके ही उन्हें नियुक्त करना चाहिए, इसके साथ ही उनका पूर्ण सम्मान करना चाहिए यह उत्तम राजा का कर्त्तव्य है। यथा-

कच्चिद् धृष्टश्च शूरश्च धृतिमान् मतिमाञ्छुचिः।
कुलीनश्चानुरक्तश्च दक्षः सेनापतिः कृतः।।
बलवन्तश्च कच्चित् ते मुख्या युद्धविशारदाः।
दृष्टापदानां विक्रान्तास्त्वया सत्कृत्य मानिताः।।[3]

---

1. वा.रामा. 2.100.20,22-24
2. वा.रामा. 2.100.26
3. वा.रामा. 2.100.30-31

राजा का कर्त्तव्य है कि सैनिकों को समय पर भत्ता तथा वेतन प्रदान[1] करे ऐसा न होने पर सैनिक अपने स्वामी पर भी कुपित हो जाते हैं और इससे बहुत अधिक अनर्थ घटित जाता है। यथा–

कालातिक्रमणे ह्येव भक्तवेतनयोर्भृताः।
भर्तुरप्यतिकुप्यन्ति सोऽनर्थः सुमहान् कृतः।।[2]

इस प्रकार से अनेकानेक कर्त्तव्यों को वाल्मीकि रामायण में प्रस्तुत किया गया है। राजनीति में युद्ध के सन्दर्भ में भी अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है।[3] वाल्मीकि रामायण में प्राप्त वर्णन के आधार यह स्पष्ट है कि राम ने सदैव उच्च, उदार और आदर्श नीति का आश्रय लिया है। श्रीराम शत्रु पर आक्रमण से पूर्व सद्भावपूर्वक उसे समझाते थे, सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करते थे किन्तु सद्भाव और शान्ति के प्रयास सफल न होने की परिस्थिति में अन्याय और अधर्म को समूल नष्ट करने में विवाह के समय धनुष भंग होने पर जब ललकारते हैं तो राम बड़ी विनम्रता के साथ वार्तालाप करते हैं किन्तु जब परशुराम दशरथ का अपमान करते हैं और अहंकार पूर्वक पराक्रम की घोषणा करते हैं तब राम उनकी सम्पूर्ण वैष्णवी शक्ति को खींच लेते हैं। यथा–

जडीकृते तदालोके रामे वरधनुर्धरे।
निर्वीर्यो जामदग्न्योऽसौ राममुदैक्षत।।[4]

बालि का वध करते समय उसे कारण स्पष्ट करते हुए बतलाया हे बालि! तुमने राजोचित मार्ग का कभी पालन नहीं किया, तुम्हारे जीवन में काम की प्रधानता रही, तुम सदा धर्म की हानि करते रहे। सनातन धर्म का परित्याग कर तुमने अपनी अनुज-वधू के साथ सहवास किया जो मनुष्य अपनी कन्या, बहन एवं अनुज वधू के सन्निकट काम-बुद्धि से जाता है उसके लिए उसका वध करना ही समुचित दण्ड है। यथा–

त्वं तु संक्लिष्टधर्मश्च कर्मणा च विगर्हितः।
कामतन्त्रप्रधानश्च न स्थितो राजवर्त्मनि।।[5]

तदेतत् कारणं पश्य यदर्थं त्वं मयाहतः।
भ्रातुर्वर्तसि भार्यायां त्यक्त्वा धर्मं सनातनम्।।[6]

---

1. कच्चिद्बलस्य भक्तं च वेतनं च यथोचितम्।
   सम्प्राप्तकाले दातव्यं ददासि न विलम्बसे।। वा.रामा. 2.100.32
2. वा.रामा. 2.100.33
3. वा.रामा. 3022.78,10; 3.25.13, 6.4.12, 6.41.39, 41-42
4. वा. रामा. 1.76.11
5. वा. रामायण- 4.18.13
6. वा. रामायण- 4.18.18

अस्य त्वं धरमाणस्य सुग्रीवस्य महात्मनः।
रूपायां वर्तसे कामात् स्नुषायां पापकर्मकृत्।।[1]

वाल्मीकि रामायण की राजनीति अत्यन्त उच्च कोटि की है। युद्धों का नियम था कि वे युद्ध दिन में ही होते थे।[2] सायंकाल के समय युद्ध नहीं होता था।[3] युद्ध में भाग लेने वाले पुरुषों पर ही आक्रमण होता था।[4] युद्ध से भागे और उन्मत्त व्यक्ति पर प्रहार नहीं किया जाता था।[5] शरणागत की रक्षा की जाती थी। चाहे वह शत्रुपक्ष का ही क्यों न हो।[6] कटुभाषी शत्रुपक्ष का दूत वध के योग्य नहीं होता था।[7] भागते हुए शत्रु पर युद्ध में प्रहार नहीं किया जाता था।[8] श्रान्त शत्रु पर भी प्रहार नहीं किया जाता था।[9] महर्षि वाल्मीकि ने मानव आदर्शों पर आधारित रणनीति को प्रस्तुत किया है। युद्ध का उद्देश्य अधर्म, अन्याय एवं अत्याचार को समाप्त करना है। उच्च कोटि की युद्धनीति के कारण राम सर्वत्र विजय प्राप्त करते थे। यद्यपि आज की राजनीति और रामायण की राजनीति में पर्याप्त अन्तर आ गया है। आज मनुष्य इतना अधिक स्वार्थी हो गया है कि उसे केवल अपना स्वार्थ ही दिखाई देता है। किसी भी प्रकार से उसका अपना उद्देश्य पूर्ण हो। जनता की रक्षा हो चाहे न हो। देश की अस्मिता की रक्षा हो या न हो। वाल्मीकि रामायण में बतलाये हुए श्रीराम के आदर्शों का आचरण करते हुए मनुष्य, त्याग, सत्य, प्रियवादिता, धर्म, क्षमाशीलता और कर्त्तव्य-परायणता के मार्ग का अनुसरण कर सेवा-भावना से आज की राजनीति में पदार्पण करे तो वह समाज की, राज्य की, देश की सेवा करता हुआ लोक और परलोक दोनों में अपना स्थान सम्यक् रूप से प्राप्त कर सके। जब तक मनुष्य को लोक और परलोक से भय नहीं होगा तब तक उसकी सोच में परिवर्तन नहीं होगा। उसे अपनी सनातन संस्कृति का ज्ञान ही नहीं है। विवेकपूर्वक विचार करने की शक्ति ही नहीं है। ऐसी परिस्थिति में कार्य करते हुए वह लोक और परलोक दोनों से वंचित रहता है। महर्षि भृर्तहरि का एक श्लोक उदाहरणार्थ प्रस्तुत है यथा-

शिरः शार्वं स्वर्गात्पशुपतिशिरस्तः क्षितिधरं
महीध्रादुत्तुङ्गादवनिमवनेश्चापि जलधिम्।
अधोऽधो गङ्गेयं पदमुपगता स्तोकमथवा
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः।।[10]

1. वा. रामायण- 4.18.19
2. वा. रामायण- 7.32.30
3. वा. रामायण- 3.29.23
4. वा. रामायण- 4.17.16
5. वा. रामायण- 6.18.27-28
6. वा. रामायण- 6.18.30
7. वा. रामायण- 5.52.19
8. वा. रामायण- 6.59.72
9. वा. रामायण- 6.59.142
10. नीतिशतक, श्लोक संख्या 8

अर्थात् गंगा स्वर्ग से शिव जी के सिर पर वहाँ से हिमाचल पर्वत पर फिर वहाँ से अत्यन्त नीचे भूतल पर और इस पृथिवी से भी समुद्र में गिर पड़ी। इस प्रकार उसका क्रमशः पतन ही होता चला गया। यह उचित ही है कि विवेकभ्रष्ट जनों की सैकड़ों प्रकार से अवनति ही हो जाती है। इस प्रकार से स्पष्ट है कि वाल्मीकि रामायण जितनी उस समय महत्त्वपूर्ण और प्रासंगिक थी उतनी ही आज भी महत्त्वपूर्ण और प्रासंगिक है और आगे भी रहेगी। ग्रन्थ ही मनुष्य को सन्मार्ग दिखाकर उस पर चलने की प्रेरणा देते हैं। सत्कर्म करने के लिए श्रीराम का आदर्श जीवन सभी के लिए प्रेरणा का स्रोत है।



पृथिवी सूक्त में राष्ट्रियता की भावना

डॉ॰ (श्रीमती) इन्दु शर्मा

वैदिक वाङ्मय में मनुष्य के समग्र परिष्कार के जो साधन संजोए गए हैं उनका उद्देश्य मानव मन में उत्कृष्ट भावों के उदय के संस्कार उपस्थापित करना है। इसमें राष्ट्रियता की भावना सर्वोपरि है। अथर्ववेद के द्वादशकाण्ड का प्रथम सूक्त सामान्यतया पृथिवीसूक्त के नाम से अभिहित किया जाता है, परन्तु श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी ने अपने अथर्ववेद के सुबोध-भाष्य में इसे मातृभूमि-सूक्त की संज्ञा दी है। वस्तुतः मनुष्य ज्यों-ज्यों अपनी भावना को सार्वभौमिक स्तर तक विस्तृत करने के लिए प्रयासरत होता है त्यों-त्यों उसकी प्राथमिकताएँ विस्तृत होती जाती हैं। परिवारप्रेम, प्रदेशप्रेम में परिणत हो जाता है, प्रदेशप्रेम देशप्रेम में और अन्ततः देशप्रेम विश्वप्रेम में। इस सन्दर्भ में ऋग्वेद के दो मन्त्र उद्धरणीय हैं, जिनके अनुसार सम्पूर्ण मातृभूमि को माता मानने वाले सभी लोग सच्चे कुलीन हैं। उनमें न कोई श्रेष्ठ है, न कोई कनिष्ठ है और न ही कोई मध्यम। वे सभी समान हैं, अपने ऊपर आने वाले सभी दबावों को भेदकर ऊपर उठने वाले हैं। वे सब बन्धु ही हैं, क्योंकि इन सबका उद्देश्य राष्ट्रहित के लिए मिलकर काम करना है।[1] यही बात ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त में निम्न प्रकार कही गई है–

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।

उपर्युक्त शीर्षक की औचित्य-सिद्धि के लिए सातवलेकर जी ने पृथिवी सूक्त के मन्त्रांश को उद्धृत किया है–**'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः'** अर्थात् मेरी माता भूमि है और मैं मातृभूमि का पुत्ररूप सेवक हूँ। इससे अभिप्राय यह सिद्ध करना है कि हम सभी देशवासी एक ही माता के पुत्र हैं। अत एव हम सब देशबन्धु हैं। इस सूक्त के कुछ अन्य मन्त्रांशों में भी **'भूमे मातः'**[2] पदों का प्रयोग हुआ है। इससे मातृभूमि अर्थ का अधिग्रहण उचित ही है।

इसके अतिरिक्त कई अन्य मन्त्रांशों में भी भूमि से विविध पदार्थों की कामना की गई है। कहीं उससे अपूर्व पेय पदार्थ देने का अनुरोध किया गया है तो कहीं गाय और अन्न प्रदान करने की प्रार्थना की गई है। कहीं दूध के लिए याचना की गई है तो कहीं संवर्धन की आकांक्षा। **'सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः'**[3] इस मन्त्रांश में मातृभूमि से पुत्रवत् बहुत दूध देने की आकांक्षा की गई है। यह माता और पुत्र के सम्बन्ध को पूर्णतया स्पष्ट कर देता है। सर्वप्रथम पुत्र

1. ऋग्वेद, 5.59.6; 5.60.5
2. अथर्ववेद, 12.1.63
3. वही, 12.1.10

का पालन-पोषण माता के दूध से ही होता है। आज के वैज्ञानिक युग में भी पुत्र के आरोग्य और स्वास्थ्य के लिए तथा उज्ज्वल भविष्य के लिए मातृस्तन्यपोषण पर ही बल दिया जा रहा है। गाय को गौ माता इसलिए कहा जाता है क्योंकि बालक के उत्तम मानसिक, कायिक और बौद्धिक स्वास्थ्य के लिए माँ के दूध के बाद गोदुग्ध को ही सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया गया है। कुछ लोग इस बात पर सन्देह कर सकते हैं कि 'माता भूमिः' से मातृभूमि का भावार्थ नहीं निकल सकता है। इस शंका के निवारण के लिए इस सूक्त का एक अन्य मन्त्रांश उद्धृत किया जा सकता है। जो इस प्रकार है- **'सा नो भूमिस्त्विषं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे'**[1] इस मन्त्रांश में भूमि से समूचे राष्ट्र की तेज और बलवृद्धि की कामना की गई है। राष्ट्र शब्द से 'हम लोग' और 'हम देशबन्धु' का अभिप्राय ग्रहण करना सामान्य भावना का परिचायक है जबकि 'हमारा राष्ट्र' और 'हमारा देश' अर्थ का अधिग्रहण अधिक उत्कृष्ट है। वस्तुतः इससे राष्ट्रभक्तों की यह महती आकांक्षा परिलक्षित होती है कि हमारा राष्ट्र सब राष्ट्रों से उत्तम हो। तर और तम प्रत्यय तुलनात्मक उच्चता के परिचायक हैं। उत्, उत्तर और उत्तम तीन अवस्थाएँ हैं। इनमें से उत्तम सर्वोत्कृष्ट है जो यह सिद्ध करता है कि राष्ट्रियता की भावना केवल स्वतन्त्रताप्राप्ति तक ही सीमित नहीं होती, अपितु स्वतन्त्रता की रक्षा के साथ-साथ अपने राष्ट्र को उच्चतम शिखर पर ले जाने के लिए सतत प्रयत्नशील रहने तक व्यापक हो जाती है। इसके लिए एक उत्तम राष्ट्रियचरित्र का निर्माण अपेक्षित है। तदनुसार ही इस सूक्त का आरम्भ उन श्रेष्ठ गुणों के उपार्जन के आग्रह से होता है जो राष्ट्र को उत्तम अवस्था तक ले जाने में सक्षम हैं। वे गुण हैं--सत्य, सरलता, उग्रता, दक्षता, तप, ज्ञान तथा यज्ञ। वेदों में यज्ञ शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थों में हुआ है। यह केवल अग्निहोत्र का ही पर्याय नहीं। यदि ऐसा होता तो दान, ज्ञान, सेवा आदि प्रशस्त कर्मों के साथ यज्ञ शब्द का प्रयोग उचित नहीं माना जा सकता था। हम इन्हीं सब प्रशस्त कर्मों में कायिक, वाचिक और मानसिक निष्ठा की अभिव्यक्ति के लिए लोगों में इनके कार्यान्वयन के उत्तम संस्कार जगाने के लिए इन सभी कार्यों को यज्ञ मानकर ही चलते हैं। जैसे, सेवायज्ञ, दानयज्ञ, ज्ञानयज्ञ आदि। यज्ञ का अर्थ दान, संगतिकरण और देवपूजा भी है। वस्तुतः जब तक हममें इन गुणों का विकास नहीं हो जाता तब तक हम राष्ट्रियता की भावना को व्यवहृत करने में समर्थ नहीं हो सकते। इसी मन्त्र के उत्तरार्ध में मातृभूमि को लोगों के भूत, वर्तमान और भविष्य की रक्षिका दर्शाया गया है जिससे राष्ट्रियता की भावना की अपेक्षा स्वयं सिद्ध हो जाती है। वस्तुतः इस मन्त्र का उद्देश्य व्यक्ति और राष्ट्र को परस्पर आश्रित सिद्ध करना है। इसका लक्ष्य व्यक्ति की उच्चता को राष्ट्र की उच्चता में निहित दर्शाना, उसकी उत्तमता को राष्ट्र की उत्तमता पर आश्रित मानना तथा वैयक्तिक तथा राष्ट्र हितों को अन्योन्याश्रित सिद्ध करना है-

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतुः॥[2]

1. अथर्ववेद, 12.1.8
2. वही, 12.1.1

अभिप्राय यह सिद्ध करना है कि जब तक जनमानस में "राष्ट्र मेरा मैं राष्ट्र के लिए" की भावना को व्यवहृत करने के संस्कार नहीं जगाए जाते तब तक राष्ट्र की उत्तमता के लक्ष्य की प्राप्ति एक दिवास्वप्न अथवा मृगतृष्णा तक ही सीमित रहेगी। हमारे वीरों द्वारा स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए किया गया संघर्ष इस तथ्य का जीवन्त प्रमाण है कि मातृभूमि सूक्त के प्रथम मन्त्र में उल्लिखित गुणों के समावेश के बिना कोई भी व्यक्ति न तो स्वतन्त्रता-प्राप्ति में सक्षम हो सकता है न ही इसकी रक्षा और राष्ट्र की उन्नति में समर्थ।

इस सूक्त को राष्ट्र-रक्षा के हित के लिए उपयोगी सिद्ध करने के लिए सातवलेकर जी ने इसके उपयोग के अवसरों की भी चर्चा की है। सायणभाष्य के अनुसार ग्राम, पत्तन, नगर आदि की रक्षा के समय इसका उपयोग सर्वथा यथेष्ट है।[1] नक्षत्रकल्प को उद्धृत करते हुए सातवलेकर जी ने पार्थिवी महाशान्ति करते समय इसका उपयोग यथेष्ट सिद्ध किया है। वास्तव में जिस प्रकार स्तुति का पुनः-पुनः उच्चारण स्तोता में स्तुत्य के प्रति एकात्मभाव का प्रेरक होता है, उसी प्रकार राष्ट्रियता की भावना के कार्यान्वयन की क्षमता-प्राप्ति हेतु इस सूक्त का प्रयोग लाभकारी सिद्ध होता है। यही बात कौशीतकी सूत्र में कही गई है कि प्रदेश और राष्ट्र के आदर के लिए जो भी कर्म करना हो उस कर्म के प्रारम्भ में इस सूक्त का पारायण लाभकारी सिद्ध हो सकता है।[2] जिस प्रकार सभी मंगलकार्यों के समारम्भ के समय मंगलाचरण आवश्यक स्वीकार किया जाता है उसी प्रकार राष्ट्रहित के सभी कर्मों को करते समय इस सूक्त का पाठ लाभकारी सिद्ध हो सकता है। तात्पर्य यह है कि इस सूक्त का गायन उस समय करना चाहिए जब हम किसी भी प्रकार की राष्ट्रिय उन्नति का शुभारम्भ कर रहे हों। [3]ऋग्वेद को स्तुतिवेद कहा जाता है। उसके एक मन्त्र में मातृभूमि मातृसंस्कृति और मातृभाषा को देवत्व से सम्पन्न स्वीकार किया गया है और उनसे आग्रह किया गया है कि वे सदा-सर्वदा पाठक के अन्तःकरण में अवस्थित रहें--

इळा सरस्वती मही तिस्त्रो देवीर्मयोभुवः।
बर्हिः सीदन्त्वमूस्त्रिधा।[4]

स्तुति वह साधन है जो स्तोता में भावनिष्ठा का उदय करती है। भावनिष्ठा का उत्तरोत्तर विकास इसे योगनिष्ठा में परिणत कर देता है। वैदिक वाङ्मय की निम्न उक्ति- **'यन्मनसा ध्यायाति तद्वाचा वदति, यद्वाचा वदति कर्मणा करोति, यत्कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते'**- सार्वभौमिक और सार्वकालिक प्रासंगिकता से पूर्णतया सम्पन्न है। आज भी पाश्चात्य देश face is the mirror of mind की उक्ति में विश्वास रखते हैं। इस लोकोक्ति का उद्भव भी इसी वेदोक्ति से है। वस्तुतः भाव कर्म का जनक है। योगनिष्ठा से अभिप्राय निष्काम कर्म में विश्वास है।

1. ग्रामपत्तनादिरक्षार्थम्, सायणभाष्य 12.1.1
2. पार्थिवीं भूमिकामस्य, नक्षत्रकल्प 17
3. भौमस्य दृकिर्मणि, कौशीतकी सूत्र, 5.2
4. ऋग्वेद 1.13.9

तदनुसार ही यजुर्वेद को वेदचतुष्टय में द्वितीय स्थान प्राप्त है और इसे प्रशस्त-कर्म का वेद कहा जाता है। इस सूक्त के उपयोग के लिए जिन-जिन अवसरों को उचित स्वीकार किया गया है उन सभी का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष सम्बन्ध राष्ट्र से है। वस्तुतः आज हम सब भौगोलिक अखण्डता और भावनात्मक एकता की दुहाई तो देते हैं परन्तु उसकी प्राप्ति के लिए मनसा, वाचा, कर्मणा उद्यत नहीं होते।

यह कहना कदापि अनुचित नहीं होगा कि अध्यात्मज्ञान और राष्ट्रभक्ति परस्पर सम्बद्ध हैं। भारतीय इतिहास से यह बात सर्वथा सिद्ध हो जाती है। इसका प्रथम उदाहरण है- कृष्ण द्वारा दिए गए अध्यात्मज्ञान के उपदेश से अर्जुन का विषादहरण तथा स्वामी रामदास एवं सन्त तुकाराम के उपदेशों से शिवाजी का विषादहरण। इससे अभिप्राय यह सिद्ध करना कि अध्यात्मज्ञान अथवा वेदान्तज्ञान राष्ट्रभक्ति के विरोधी नहीं, अपितु समर्थक हैं। ईश्वर भक्ति का मुख्य उद्देश्य मनुष्य में उन संस्कारों का उदय कराना है जो उसे अनुभव से अपनी आत्मा को अन्य आत्माओं में स्थित और सभी अन्य आत्माओं को अपनी आत्मा में अवस्थित देखने की योग्यता से सम्पन्न करें। मानवमन की यह विकास-यात्रा प्राथमिकताओं के उस विस्तार से आरम्भ होती है जो उसे पारिवारिक मोह को त्यागकर प्रदेशप्रेम के लिए प्रेरित करता है। तदनन्तर उसका प्रदेशप्रेम धीरे-धीरे राष्ट्रप्रेम में परिणत हो जाता है और उसे किञ्चित् मात्र भी क्लेश की अनुभूति नहीं होती। विश्वप्रेम भक्तियोग की अन्तिम अवस्था है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि अध्यात्मज्ञान राष्ट्रभक्ति में बाधक न होकर सहायक होता है।

आज के युग की सबसे बड़ी विषमता जीवन में अध्यात्म पक्ष की अवहेलना है। इसके परिणामस्वरूप हमारी प्राथमिकताएँ विस्तृत होने की अपेक्षा उत्तरोत्तर संकुचित होती जा रही हैं। प्रशस्तकर्मनिष्ठा के अभाव के कारण उदरम्भरिता आज के जनसाधारण का धर्म बन चुकी है। आज हम राजनीति के जिस अपराधीकरण की समस्या से ग्रस्त हैं उसका दोष रोटी की वोट पर प्राथमिकता को जाता है। प्राथमिकताओं में उत्तरोत्तर संकोच के परिणामस्वरूप जिन विकृतियों का उदय हुआ है वे हैं–भाषाविषयक असहिष्णुता, साम्प्रदायिक असहिष्णुता और राष्ट्रहितों को प्रादेशिक हितों पर न्यौछावर करने की दुष्प्रवृत्ति। यही कारण है कि आजकल नई-नई क्षेत्रीय राजनीतिक पार्टियों का उदय हो रहा है जो लोकसभा और राज्यसभा जैसी प्रतिष्ठित सभाओं में सामञ्जस्य की अपेक्षा वैमनस्य का वातावरण उत्पन्न कर रही हैं। विपक्ष की भूमिका राष्ट्र की प्रगति में सहायता की होती है बाधा की नहीं। आज के परिवेश में अथर्ववेद का मातृभूमि सूक्त पूर्णतया प्रासंगिक है। यह भारतवासियों में सुप्त राष्ट्रीय भावनाओं को झकझोर कर जगाने में सर्वथा समर्थ है।

इस सूक्त के पहले मन्त्र में राष्ट्र की रक्षा के लिए राष्ट्रवासियों को जिन सात गुणों के उपार्जन का परामर्श दिया गया है, सत्य उनमें से प्रथम है। इसे सर्वोपरि मान लेना भी अतिशयोक्ति नहीं। जब तक हम सत्यप्रिय नहीं हो जाते, सत्यपालन के लिए सर्वस्व अर्पण करने के लिए तत्पर

नहीं हो जाते तब तक हम राष्ट्रोद्धार नहीं कर सकते। सत्य से अभिप्राय मात्र व्यक्तिगत सत्य नहीं, अपितु सामुदायिक सत्य भी है। भारत की परतन्त्रता के समय स्वतन्त्रताप्राप्ति एक सामुदायिक सत्य था और इसीलिए सत्यव्रती महात्मा गांधी ने सत्याग्रह पर बल दिया था।

दूसरा गुण सरलता है। वस्तुतः इसका महत्त्व सत्य के समान ही है। यह संसार और इसका वैभव उन्हीं लोगों के बल पर स्थित है जो सीधे हैं, सरल स्वभाव के हैं। इसकी चर्चा करते हुए उर्दू के कवि ने कहा है–

उन्हीं के दम पे दुनिया व इसकी हस्तियाँ जिन्दा।
नहीं किरदार में जिनके कोई भी छल या बल ऐ दोस्त।

तीसरा गुण तप है। तप से अभिप्राय द्वन्द्व-सहनशीलता है। राष्ट्र के प्रति भावनिष्ठा को योगनिष्ठा में परिणत करने के लिए सभी बाधाओं को हंसते-हंसते पार कर लेना ही तप है। यम-नियमों में इसकी गणना वैयक्तिक संयमों को अन्तर्गत की जाती है। व्यक्ति जब देश के लिए सब कुछ करने के लिए तत्पर हो जाता है तब यह गुण उसका स्वभाव बन जाता है, क्योंकि राष्ट्रसेवा के लिए द्वन्द्व-सहनशील-स्वभाव का होना परमावश्यक है।

उग्रता से अभिप्राय उत्साह है। उत्साह कर्मयोग का प्राणतत्त्व है। सातवलेकर जी ने वेद में प्रयुक्त मन्यु को क्रोध का नहीं उत्साह का पर्याय माना है। इसका कारण क्रियापदों द्वारा विविधार्थ वहन है। दक्षता यश की जननी है। किसी भी कर्म में कौशल प्राप्ति के बिना उसकी निर्विघ्न सम्पन्नता असम्भव होती है। इसकी प्राप्ति उस कर्म के प्रति मनसा, वाचा, कर्मणा समर्पित होने से ही सुलभ है। भगवान् श्रीकष्ण ने गीता में **'योगः कर्मसु कौशलम्'** की चर्चा योगनिष्ठा के सन्दर्भ में ही की है। अग्रिम गुण ज्ञान है। ज्ञान से अभिप्राय राष्ट्रवासियों को अपने ज्ञान को संसार के ज्ञान के समकक्ष रखने की प्रेरणा देता है। इसे राष्ट्र की स्वतन्त्रता की रक्षा का प्राणतत्त्व कहना सर्वथा यथार्थ है। अन्तिम गुण यज्ञ है। यह क्रम में अन्तिम होते हुए भी महत्त्व में अन्य गुणों से कम नहीं है। इन गुणों की अवहेलना राष्ट्रहित के लिए घातक सिद्ध हो सकती है।

इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में वैविध्य में जिस ऐक्य की अपेक्षा सिद्ध की गई है वह आज के युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है। मन्त्र इस प्रकार है–

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथोकसम्।
सहस्रधारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती।।[1]

अर्थात् अनेक भाषा बोलने वाली और नाना धर्मों से युक्त जो जनता है, उसे एक ही घर के समान धारण करने वाली मातृभूमि मुझे धन के हज़ारों प्रवाह उसी प्रकार दे जिस प्रकार एक उत्तम गाय दूध देती है। इस मन्त्र से जो उपदेश मिलता है उसके अनुसार राष्ट्रियता की भावना के निर्वाह में भाषाभेद, प्रदेशभेद अथवा सम्प्रदायभेद आड़े नहीं आना चाहिए। कोई भी व्यक्ति चाहे

---

1. अथर्ववेद, 12.1.45

वह कोई भी भाषा बोलता हो, किसी भी धर्म का अनुयायी हो, किसी भी प्रान्त का रहने वाला हो अथवा किसी भी जाति से सम्बन्ध रखता हो, उसे समूचे देशवासियों के प्रति परिवारभावना से सम्पन्न होना चाहिए। यही समूचे राष्ट्र में वास्तविक एकता का एकमात्र साधन है। पक्षी का नीड विविध प्रकार के तृणों से बना होता है। कई प्रकार के वृक्षों के पत्ते उसके आसन के लिए संगृहीत किए जाते हैं। नीड की स्थिति उनके ऐक्य पर ही आधारित है। जिस प्रकार तिनकों का बिखराव नीड के अस्तित्व के लिए घातक होता है, उसी प्रकार प्राणियों में परस्पर भेदविषयक वैमनस्य राष्ट्र के लिए घातक सिद्ध हो जाता है। इस मन्त्र में जो बात कही गई है वह केवल भारतवर्ष पर ही लागू नहीं होती अपितु विश्व के सभी देशों पर लागू होती है। हमारे संविधान में राष्ट्रहित में जिस धर्मनिरपेक्षता की अपेक्षा सिद्ध की गई है वह बीजरूप में उपर्युक्त मन्त्र में विद्यमान है। पारस्परिक इस एकता को राष्ट्रहित के लिए अनिवार्य घोषित करते हुए कहा गया है–

असंबाधं मध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु।
नानावीर्या औषधी र्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः॥[1]

इस मन्त्र में प्रयुक्त शब्द 'असंबाध' संबाध शब्द का विपरीतार्थक है। संबाध परस्पर बाधा उत्पन्न करने का सूचक है। यह वह अवस्था है जो राष्ट्र की शक्ति के लिए घातक है। जब हम पारस्परिक वैमनस्य में अन्धे होकर एक दूसरे को मिटाने का दुस्साहस करने लगते हैं तो राष्ट्र की भौगोलिक अखण्डता और भावनात्मक एकता की आशंका स्वाभाविक उच्चता, नीचता और समता के सम्बन्ध में असंबाध बनाए रखें। जिस राष्ट्र के प्राणियों में पारस्परिक निर्वैरभाव बना रहता है, उनका सम्पन्न होना स्वाभाविक है। वस्तुतः इसके माध्यम से देशवासियों में सभी अवस्थाओं में एकता बनाए रखने का संदेश दिया गया है। एक अन्य मन्त्र के अनुसार सभी देशवासी उसी भूमि पर उत्पन्न हुए हैं और उसी पर घूमते-फिरते हैं। यह भूमि द्विपाद और चतुष्पाद सभी का पोषण करती है तथा सभी प्रतिदिन उदय होने वाले सूर्य से तेज और अमृत प्राप्त करते हैं।[2] इस सूक्त में यही तथ्य स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है कि राष्ट्रहित सर्वोपरि है। वस्तुतः यह सूक्त मात्र भारतवासियों में ही राष्ट्रप्रेम का संचार नहीं करता अपितु सभी देशों के राष्ट्रवासियों में देशभक्ति के संस्कारों का संचार करता है। इस सूक्त में विविध देवताओं को राष्ट्रसेवा में रत दर्शाकर प्राणियों में इसकी रक्षा और उन्नति के लिए सर्वस्व तक लुटा देने के साहस का प्रादुर्भाव कराने की सफल चेष्टा की है। एक मन्त्र इस प्रकार है–

यामश्विनावभिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः।

---

1. अथर्ववेद, 12.1.2
2. त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः। तवेमे पृथिवी पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति। अथर्ववेद, 12.1.15

सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः।[1]

अर्थात् जिस भूमि का नाप अश्विनीकुमारों ने किया, जिस भूमि में भगवान् विष्णु ने पराक्रम किया, शक्तिशाली इन्द्र ने जिसे शत्रुविहीन किया वही हमारी मातृभूमि हमें उपभोग के पदार्थ उसी प्रकार दे जैसे माता अपने बालक को दूध देती है। वस्तुतः इस मन्त्र से स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है कि जिस भूमि की रक्षा के लिए देवों ने पुरुषार्थ किया हो उसकी रक्षा, उन्नति और समृद्धि उसके वासियों का परमधर्म है। एक अन्य मन्त्र में दर्शाया गया है कि देवों द्वारा इस धरती की रक्षा आलस्यरहित होकर और त्रुटिरहित ढंग से की गई थी। इसी प्रकार यहाँ बसने वाले प्राणियों का यह कर्त्तव्य बनता है कि इसकी रक्षा के प्रति अपने दायित्व से कभी विमुख न हों और न ही उसके प्रति उदासीन हों। आज हम हठपूर्वक पग-पग पर जो भूलें कर रहे हैं वे राष्ट्र के लिए हितकारी नहीं हैं। इस सूक्त के सभी मन्त्र पाठकों में राष्ट्रियता की भावना का प्रादुर्भाव कराने में सक्षम हैं। मन्त्रसंख्या 16 से 18 तक में राष्ट्रहित समर्थक कामनाओं की चर्चा है जिसमें देशवासी मातृभूमि से सत्य और मधुर बोलने की शक्ति प्राप्त करने का अनुरोध करते हैं और कामना करते हैं कि वे विद्या, शूरता, सत्य, स्नेह, सदाचार और सद्गुण युक्त होकर मातृभूमि की रक्षा करें और समस्त सुख साधन प्रदायिनी मातृभूमि की सेवा में रत रहें। यह भी कहा गया है कि प्राणियों में परस्पर द्वेष न हो और सब एकमत से व्यवहार करें।[2]

निष्कर्षतः यह सूक्त उस भ्रान्ति को सर्वथा निर्मूल सिद्ध कर देता है कि वेदाध्ययन का लक्ष्य कोरे अध्यात्मज्ञान का प्रचार और प्रसार है। वास्तव में वेदों का प्रतिपाद्य विषय मनुष्य के आचार और व्यवहार का परिष्कार है। राष्ट्रियता की भावना लोकव्यवहार के अन्तर्गत आती है। समस्त वेद मानवजीवन के जिस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए समर्पित हैं वह है–

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्।।

इस श्लोक में सर्वे से अभिप्राय समूची मानव जाति है। समूची मानव जाति की सुख-समृद्धि के लिए प्राणिमात्र का मनसा, वाचा, कर्मणा समर्पण ही इस स्वप्न को साकार कर सकता है। और इसका मूल समस्त दुरितों के त्याग और भद्रताओं के अधिग्रहण में निहित है। परिवार को विश्व की सबसे छोटी इकाई स्वीकार किया जाता है। इसके प्रति प्रत्येक मनुष्य के मन में आत्मीयता की उपस्थिति प्राणिमात्र का स्वभाव है। यह आत्मीयता जब विस्तार को प्राप्त होती है तो उसकी परिधि उत्तरोत्तर विस्तृत होती चली जाती है, परिवार से नगर, नगर से प्रदेश, प्रदेश से राष्ट्र और राष्ट्र से विश्व तक। राष्ट्र के प्रति परिवार-भावना का निर्वाह मनुष्य के समग्र परिष्कार का चतुर्थ चरण है। अतः हम सभी का कर्त्तव्य बनता है कि हम सब इस सूक्त में निर्दिष्ट निर्देशों का

1. अथर्ववेद, 12.1.10
2. वही, 12.1.16-18

अनुकरण करते हुए अपने राष्ट्र की स्वतन्त्रता की रक्षा और उसे उत्तम अवस्था तक ले जाने के लिए कृतसंकल्प हों। जहाँ तक राष्ट्रियता की भावना के प्रादुर्भाव का सम्बन्ध है उसके निर्वाह के लिए इस सूक्त में निर्दिष्ट जिन गुणों के उपार्जन को अपेक्षित दर्शाया गया है वर्तमानकाल में उनकी उपादेयता मात्र भारतवर्ष के लोगों तक ही सीमित नहीं अपितु समूचे विश्व के सभी राष्ट्रों के सभी वासियों तक व्यापक है–

विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम्।
शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा।



उत्तररामचरितगत राजनीतिक आदर्शों की प्रासङ्गिकता

डॉ. अरुणा शर्मा

किसी भी युग और भाषा का साहित्य आदर्श और यथार्थ का मञ्जुल मिश्रण प्रस्तुत करता है। तत्कालीन राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण करते हुए समाज को आदर्शोन्मुख करना साहित्य का प्रयोजन होता है। 'रामादि के समान कार्य करना चाहिए, रावण आदि के समान नहीं इस प्रकार कृत्य में प्रवृत्त होने और अकृत्य से विमुख होने का आदर्श साहित्य अनायास ही प्रस्तुत करता है।

आज की विकृत सामाजिक, आर्थिक, पारिवारिक और राजनीतिक परिस्थितियों में त्रस्त हुआ जनमानस अकस्मात् रामराज्य की कल्पना में विचरण करने लगता है। भारत में तो रामराज्य को सदा से ही एक सामाजिक एवं राजनीतिक आदर्श माना गया है। रामराज्य आज भी मानव समाज के लिए एक ऐसी विचारव्यवस्था है, जिसका प्रयोग अन्य व्यवस्थाओं और विचारों का मूल्यांकन करते समय एक आधार के रूप में किया जाता है। यही कारण है कि महात्मा गाँधी ने भी अपने आदर्श राज्य को रामराज्य की संज्ञा से व्यपदिष्ट किया है।[1]

रामराज्य और रामकथा के इसी राजनीतिक महत्त्व को देखते हुए महाकवि भवभूति प्रणीत उत्तररामचरितनाटकगत राजनीतिक आदर्शों की प्रासङ्गिकता को रेखाङ्कित करने का प्रयास प्रस्तुत शोधपत्र में किया जा रहा है।

प्रथमदृष्ट्या अध्ययन करने पर तो ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तररामचरित नाटक में राम के उत्तरवर्ती जीवन का वर्णन है, जिसमें सीता निर्वासन की कथा तथा उसके परिणामस्वरूप राम और सीता की करुणामयी दशा का चित्रण किया गया है। इस परिवेश में राजनीतिक आदर्शों का अवकाश कहाँ? किन्तु सूक्ष्म विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सीता निर्वासन के मूल में राम का राजधर्मपालन का भाव ही निहित था। राम ने व्यक्तिगत असन्तोष अथवा अप्रसन्नता के कारण सीता को निष्कासित नहीं किया था।

---

1. Once asked to clarify his concept of Ram Rajya, he said, the day when the beautiful woman decked in precious ornaments is able to walk alone in the dead of night through a forest from one village to another, he would consider that RamRajya had been ushered in." K.Sheshadri, Relevance of Gandhian Thoughts to the Contemporary Situations, Gandhian Centenary Papers, Vol. III, P.122

प्रजा का अनुरञ्जन करना ही राजा का धर्म है। नाटक के प्रारम्भ में ही ऋष्यशृंग के आश्रम में गए हुए कुलगुरु वशिष्ठ राम को यह सन्देश[1] भेजते हैं कि तुम अभी नए-नए राजा बने हो। प्रजा का अनुरञ्जन करना ही तुम्हारा धर्म है तुम प्राणपण से प्रजानुरञ्जन में सावधान हो जाओ। इसी से तुम्हें यश की प्राप्ति होगी। यही यश तुम रघुवंशियों का परम धन है। इस कथन से स्पष्ट है कि प्रजारञ्जन में थोड़ा सा प्रमाद भी सह्य नहीं है। प्रजारक्षण करना ही राजा का परम कर्त्तव्य है।[2] राम भी गुरु की इस आज्ञा को ससम्मान शिरोधार्य कर लेते हैं तथा उसी समय यह उद्घोषणा कर देते हैं कि वे प्रजानुरञ्जन के लिए अपने सम्पूर्ण भौतिक सुख, सभी भावनाएँ और यहाँ तक कि अपने जीवन की सबसे बहुमूल्य वस्तु अपनी प्राणप्रिया सीता को भी त्यागने में हिचकिचाएंगे नहीं-

स्नेहं दयां च सौख्यञ्च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा।।[3]

राम का यह कथन आज के राजनेताओं के लिए नितान्त अनुकरणीय है। सत्ताप्राप्ति के लिए प्रजा से बड़े बड़े वायदे करने वाले नेतागण सत्ता प्राप्त करते ही प्रजानुरञ्जन और लोककल्याण को भूल जाते हैं। वे तो लोकाराधन के स्थान पर आत्माराधन में तत्पर हो जाते हैं और प्रजा के प्रति स्नेह, दया और सौख्य का परित्याग कर देते हैं। राम के कथन में 'लोकस्य' इस एकवचन का प्रयोग भी ध्यातव्य है। वे एक व्यक्ति के कल्याण के लिए भी सर्वस्व न्यौछावर कर सकते हैं। भाव यह है कि एक व्यक्ति का आराधन करना भी राजा का कर्त्तव्य, सभी जनों की तो कथा ही क्या? और राम ने यह वचन केवल कहने के लिए नहीं कहा अपितु इसका परिपालन भी किया। सीताविषयक लोकापवाद का पता चलते ही उन्होंने अविलम्ब लोकाराधन की भावना से सीतापरित्याग का निर्णय ले लिया। आज के राजनेताओं को भी यह व्रत लेना चाहिए कि वे लोककल्याण की जो घोषणाएँ और वायदे करके सत्तासीन होते हैं, उन्हें परिपूर्ण भी करें और लोक को प्रसन्न करके यश की प्राप्ति करें।

वस्तुतः राजा जिस आसन पर बैठता है, वह सिंहासन ही नहीं, अपितु धर्मासन होता है। नाटक के प्रारम्भ में ही सूचना मिलती है कि राजा (राम) धर्मासन से उठकर अन्तःपुर में गए हैं।[4] यहाँ 'धर्मासन' पद तथा 'नरेन्द्र' पद का प्रयोग उल्लेखनीय है। राजा जिस आसन पर बैठता है, वह 'धर्मासन' होता है। राजधर्म का दृढ़ता से पालन करने वाला ही धर्मासन पर बैठने का अधिकारी होता है। राम राजधर्म का दृढ़ता से पालन करते हैं। वे नरेन्द्र पहले हैं और पति बाद में।

1. जामातृयज्ञेन वयं निरुद्धास्त्वं बालेवासि नवं च राज्यम्।
   युक्तः प्रजानामनुरञ्जने स्या तस्माद्यशो यत्परमं धनं वः।। -उ०रा०च, 1.11
2. नृपस्य परमो धर्मः प्रजानां परिपालनम्।
   दुष्टनिग्रहणं नित्यं न नीत्या ते विना ह्युमे।। शुक्रनीतिसार, 1.14
3. उ०रा०च० 1.12
4. देव्यास्ततो विमनसः परिसान्त्वनाय,
   धर्मासनाद्विशति वासगृहं नरेन्द्रः।। उ०रा०च० 1.7

राजा को व्यक्तिगत शोकसंवेदना से घिरा होने पर भी लोकरक्षण का कर्त्तव्य नहीं भूलना चाहिए। सीतापरित्याग का निर्णय ले लेने पर राम अत्यन्त शोकसन्तप्त हैं और स्वयं को धिक्कारते हुए आत्मग्लानि का अनुभव करते हैं। तभी नेपथ्य से लवणासुर द्वारा सताए गए ऋषियों का समूह आत्मरक्षा के लिए राम से प्रार्थना करता है।[1] और राम अपने व्यक्तिगत दुःख को भूल कर प्रजारक्षण के कर्त्तव्य का पालन करने के लिए तुरन्त वहाँ से चले जाते हैं और लवणासुर का विनाश करने के लिए शत्रुघ्न को भेजते हैं।[2] यहाँ भी प्रजारक्षण का राजधर्म का आदर्श परिलक्षित होता है।

राजा को चाटुकारिता से बचना चाहिए और अपने नीतिगत दोषों का पता लगाकर उनके परिष्कार का उपाय करना चाहिए। राम अपने गुप्तचर दुर्मुख को प्रजाजनों के मध्य उनके मनोभावों को जानने के लिए भेजते हैं। लौटकर दुर्मुख बताता है कि लोग राम की स्तुति कर रहे हैं कि रामचन्द्र ने अपने सद्गुणों के कारण महाराज दशरथ को हमारे मन से भुला दिया।[3] किन्तु राम इस आत्मप्रशंसा से फूलते नहीं हैं, अपितु कहते हैं कि यह तो अर्थवाद है, मेरा कोई दोष हो तो बताइए, जिससे कि उसका प्रतिकार किया जा सके।[4] राम का यह आचरण आज के युग में राजनेताओं के लिए अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत करता है। प्रायः चाटुकार लोग राजाओं को घेरे रहते हैं और उनका मिथ्या महिमामण्डन करने में लगे रहते हैं। राजाओं को ऐसे लोगों से सावधान रहना चाहिए और यह जानने का प्रयास करना चाहिए कि उनकी नीतियों और परियोजनाओं से प्रजा किस सीमा तक सन्तुष्ट है? कहीं उनकी व्यवस्था में कोई दोष तो नहीं है? इस प्रकार अपनी शासनव्यवस्था की त्रुटियों को जानकर जनमत के अनुरूप उनका प्रतिविधान करना चाहिए। यही एक शासक की सफलता और प्रसिद्धि का सोपान है।

राजा को जनमत का सदा सम्मान करना चाहिए। इस जनमत के भय से राजा कभी निरंकुश नहीं हो पाता। जनमत का सम्मान करते हुए ही दुर्मुख से सीताविषयक लोकापवाद को जानकर राम ने तत्काल लोकाराधन के लिए सीतापरित्याग का निर्णय ले लिया। राम एक क्षण को तो किंकर्त्तव्यविमूढ़ हुए, परन्तु तत्काल उन्हें स्मरण हो आया कि एक आदर्श राजा का क्या कर्त्तव्य है–

सतां केनापि कायेण लोकस्याराधनं व्रतम्।
तत्प्रतीतं हि तातेन, मां च प्राणांश्च मुञ्चता।।[5]

1. ऋषीणामुग्रतपसां, यमुनातीरवासिनाम्।
   लवणत्रासितः स्तोमस्त्रातारं त्वामुपस्थितः।। वही, 1.50
2. रामः–कथमप्यापि राक्षसत्रासः? तद्यावस्य दुरात्मनो माधुरस्य कुम्भीनसी कुमारस्योन्मूलनाय शत्रुघ्नं प्रेषयामि। उ०रा०च०, 1.53 से पूर्व गद्यभाग।
3. दुर्मुखः– उपस्तुवन्ति देवं पौरजानपदाः, यथा विस्मारिता वयं महाराजदशरथस्य रामदेवेनेति। वही, 1.39 के बाद गद्यभाग।
4. रामः– अर्थवाद एवैषः। दोषं तु में कथंचित्कथय, येन प्रतिविधीयते। वही
5. उ०रा०च० 1.41

राम के समक्ष अपने पिता दशरथ का निदर्शन है। साथ ही उन्हें गुरु वशिष्ठ के सन्देश का भी ध्यान आ जाता है। राम अपने कर्त्तव्य का निर्धारण कर लेते हैं कि लोकराधन करना ही उनका धर्म है। इसके लिए उन्हें चाहे कोई भी बलिदान क्यों न देना पड़े। राम जनमत का सम्मान करते हुए सीता का परित्याग कर देते हैं और नाटक के अन्तिम अङ्क में (गर्भाङ्क के अन्तर्गत) सीता को तभी स्वीकार करते हैं, जब लोक उन्हें इसकी अनुमति दे देता है। स्वयं अरुन्धती राम के पक्ष से लोकमत को ग्रहण करती है-

भो भोः पौरजानपदाः। इयमधुना वसुन्धराजाह्नवीभ्यामेवं प्रशस्यमाना, मया चारुन्धत्या च समर्पिता, पूर्वं भगवता वैश्वानरेण निर्णीतपुण्यचारित्रा, सब्रह्मकैश्च देवैः स्तुता, सावित्रकुल-वधूर्देवयजनसम्भवा जानकी परिगृह्यताम्। कथमिह भगवतो मन्यन्ते?[1]

और जब लक्ष्मण जनमत के प्रतिनिधि के रूप में यह बता देते हैं कि सभी नागरिक, जनपदवासी और प्रणीसमूह आर्या को प्रणाम कर रहे हैं, लोकपाल और सप्तर्षि भी पुष्पवर्षा के द्वारा सीता की उपासना कर रहे हैं, तभी जनभावना का आदर करते हुए राम सीता को स्वीकार करते हैं। इससे आधुनिक शासकों के समक्ष यह आदर्श उपस्थापित होता है कि उन्हें जनमत का सदा सम्मान करना चाहिए और तदनुरूप ही अपनी नीतियों और योजनाओं को सञ्चालित करना चाहिए।

इस प्रसङ्ग में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि पुनः पुनः लोकाराधन पर इतना बल क्यों किया जा रहा है। मनुस्मृति और शुक्रनीतिसार में यह वर्णित है कि धर्म में तत्पर रहने वाला राजा देवांश कहलाता है।[2] ईश्वर ने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और कुबेर का सारभूत नित्य अंश लेकर राजा की सृष्टि की।[3] शुक्राचार्य ने आगे यह भी कहा है कि सात देवों के अंश और गुणों से युक्त होने पर भी यदि राजा में चन्द्रमा का अंश अह्लादकत्व (प्रजारञ्जन) गुण न हो तो केवल अन्य देवों के अंशों से राजा की शोभा नहीं हो सकती, राजा की सार्थकता तो प्रजारञ्जन में ही है-

चन्द्रांशेन विना सर्वैरंशैर्नो भाति भूपतिः।[4]

कविवर कालिदास का भी यही मन्तव्य है कि राजा की सार्थकता तो प्रजारञ्जन में ही है-

यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा।
तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात्॥[5]

---

1. उ॰रा॰च॰ 7.20 से पूर्व गद्य।
2. या हि धर्मपरो राजा देवांशो....। शुक्र॰, 1.7
3. दन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
   चन्द्रवित्तेशयोश्चापि मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः।। मनु॰ 7.4 तथा शुक्र॰ 1.71
4. शुक्रनीतिसार, 1.76
5. रघुवंश, 4.12

स्पष्ट है कि इसी कारण भवभूति ने भी लोकाराधन किं वा प्रजानुरञ्जन को ही राजा का परम व्रत कहा है।

राजधर्म का एक आदर्श नाटक के द्वितीय अङ्क में भी परिलक्षित होता है। जब राम अश्वमेध यज्ञ कर रहे थे, उसी समय एक ब्राह्मण अपने मृत पुत्र को लेकर राजदरबार में पहुँचता है और 'अब्रह्मण्यम्' का उद्घोष करता है। तभी राम विचार करते हैं कि **'न राजापचारमन्तरेण प्रजानामकालमृत्युः सञ्चरति'**,[1] अतः वे अपने दोषों की विवेचना करते हैं कि कहीं मुझसे कोई अपराध तो नहीं हो गया क्योंकि राजा के अपचार के बिना प्रजा की अकाल मृत्यु नहीं हुआ करती। यह है रामराज्य का आदर्श, राजधर्म का आदर्श। वर्तमान समय में रेलदुर्घटना, भूकम्प, बाढ़ आदि न जाने कितनी प्राकृतिक एवं मानवकृत आपदाओं से प्रजाओं की अकाल मृत्यु होती है। मगर कितने ऐसे राजनेता हैं जो इस विषय में आत्मदोषों का चिन्तन करें। शासकों को यह विचार करना चाहिए कि व्यवस्था में क्या कमी है, जो रेल दुर्घटनाएँ होती हैं? अतिवृष्टि और अनावृष्टि से प्रजा को बचाने के लिए किए जाने वाले इन्तजामों में क्या कमी रह जाती है, जो प्रजा अकालमृत्यु के मुख में जाती है। इन सबके लिए स्वयं को उत्तरदायी मानकर कितने नेता नैतिकता के आधार पर अपने पद से त्यागपत्र देते हैं? अतः उक्त परिस्थितियों में शासक यदि आत्मदोषों की अपनी व्यवस्था की खामियों की विवेचना करें तो भविष्य में होने वाली ऐसी दुर्घटनाओं को पर्याप्त सीमा तक रोका जा सकता है और प्राकृतिक आपदाओं से होने वाली जनहानि और धनहानि को भी नियन्त्रित किया जा सकता है।



---

1. उत्तररामचरित, 2.8 से पूर्व गद्य।

राजस्व संग्रहण में कौटिल्यसम्मत दिशा-निर्देशों की उपादेयता

डॉ॰ श्रीकृष्ण शर्मा

कौटिल्य प्रणीत अर्थशास्त्र में राष्ट्रोन्नयन और समाज कल्याण की विभिन्न योजनाओं पर सूक्ष्म चिन्तन प्राप्त होता है। अर्थशास्त्र के नाम से आपाततः ऐसा प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ में चाणक्य ने केवल आर्थिक मुद्दों का ही विश्लेषण किया होगा, किन्तु इसमें वर्णित मन्त्रिमण्डल के गठन, सैन्ययोजना, दुर्गनिर्माण, शास्त्रागार, संवर्धन, राजकीय कर्मचारियों की नियुक्ति, समाजविरोधी तत्त्वों के नियन्त्रण, न्यायप्राधिकरणों के गठन, सम्पत्तिविभाजन के नियम, शासन व्यवस्था के सम्यक् संचालन आदि विवरण इस तथ्य का परिचायक हैं कि इस ग्रन्थ में आधुनिक राजनीतिशास्त्र, लोकप्रशासन, सैन्यविज्ञान, न्याय एवं विधि, रसायनशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, वाणिज्य, कृषि एवं पशुपालन, समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र की पुष्कल सामग्री अनुस्यूत है। वास्तव में सारी व्यवस्थाएं अर्थमूलक हैं[1] और ये सभी विषय अर्थव्यवस्था में गतार्थ हो जाते हैं, अतः इस ग्रन्थ को अर्थशास्त्र कहना उपयुक्त ही है। प्रस्तुत शोधपत्र में राजस्व की उगाही के लिये कौटिल्यनिर्दिष्ट ऐसे दिशा-निर्देशों पर विचार करना अभीष्ट है, जो आधुनिक समय में भी उतने ही उपादेय हैं, जो 2300 वर्ष पूर्व कौटिल्य के समय में उपयोगी थे और कानून के रूप में प्रतिष्ठित थे। कौटिल्य ने सामान्य उगाही के साथ-साथ जोत की कृषियोग्य भूमि पर अतिक्रमण करने वाले पुरुषों को दण्डित करके राजस्व बढ़ाने पर बल दिया है।

कृषियोग्य भूमि से राजस्व प्राप्ति

कृषियोग्य भूमि से प्राप्त राजस्व राजकोश के लिये महत्त्वपूर्ण आय का साधन होता है। इसलिये समीपवर्ती दो गाँवों अथवा दो किसानों के मध्य उत्पन्न हुए सीमा विषयक विवाद को निबटाना राजानुशासन के लिये परम आवश्यक तो है ही, जटिल भी हो जाता है। ऐसी समस्या के समाधान के विषय में चाणक्य का निर्देश है कि दो गाँवों के मध्य उपस्थित सीमाविवाद को दोनों गाँवों के मुखिया आपस में मिल-बैठकर निबटा लेवें। यदि उन दोनों में सहमति न बन पाये तो पाँच गाँवों के मुखिया अथवा दस गाँवों के मुखिया पंचायत के रूप में बैठकर वृक्ष आदि स्थायी मेंढ आदि उपलब्ध कृत्रिम चिह्नों से सीमा का निर्धारण करने का प्रयास करें।[2]

---

1. अर्थमूलौ हि धर्मकामौ। अर्थशास्त्र 1.7.11 पृ॰ 20
2. सीमाविवादं ग्रामयोरूभयो: सामन्ताः पञ्चग्रामी दशग्रामी वा सेतुभिः स्थावरेः कृत्रिमैर्वा कुर्यात्।। अर्थशास्त्र 3.9.11।

मनुस्मृति के अनुसार दो गाँवों में सीमाविवाद उपस्थित हो जाने पर ज्येष्ठ मास में, जब हदबंदियाँ स्पष्ट दीखने लगें तो उस समय विवाद को निर्णीत करना चाहिए।[1] सीमाविवाद सुलझाकर सीमा पर बड़, पीपल, पलाश, सेम्बल, साल, ताड़ और खिरणी के पेड़ लगवा देने चाहिएं, जिससे सदा-सदा के लिये विवाद समाप्त हो जाये।[2] मनुस्मृति में अन्य उपायों के साथ-साथ सीमा की बुर्जियों को सुरक्षित रखने के लिये खाई खोद कर उसमें पत्थर, हड्डियाँ, पशुओं के बाल, भूसा, राख, खोपड़ियां, सूखा गोबर, ईंट, कोयला, कंकड़, रेत आदि भर देने चाहिएं।[3] जिससे पुनर्विवाद हो जाने पर इन्हें खोद कर सीमा को प्रमाणित किया जा सके।

चाणक्य सीमाविवाद को सुलझाने के लिये दूसरा विकल्प प्रस्तुत करते हैं कि गाँवों में ऐसे किसान, गोपालक और बुजुर्ग, जिन्होंने पहले सीमा के परिचायक निशान देखें हों–वे भी इस विवाद में निर्णायक हो सकते हैं अथवा विवादी गाँवों से बाहर के अनुभवी लोग भी, भले ही वे सीमासूचक चिह्नों को न जानते हों, वे भी अनुभव के आधार पर वास्तविक सीमा का निर्धारण कर सकते हैं।[4]

मनुस्मृति का कथन है कि पुरानी हदबंदियों को पहचानने के लिये शिकारियों, चिड़ीमारों, ग्वालों, मधुओं, कन्दमूल खोदने वालों, सपेरों, उञ्छवृत्ति करने वाले और अन्य वनेचरों की भी सहायता ली जा सकती है। इन लोगों से यदि हदबंदियों के विषय में पूछा जाये तो वे सही-सही बता सकते हैं और तदनुसार सही स्थिति तक पहुँचा जा सकता है।[5] याज्ञवल्क्यस्मृति में भी यही कहा गया है कि सीमा का विवाद उपस्थित हो जाने पर गाँवों के मुखिया और बुजुर्गों के साथ-साथ ग्वाले, सीमावर्ती किसान और वनेचर लोग निर्णय करने में सहायक हो सकते हैं।[6]

---

1. सीमां प्रति समुत्पन्ने विवादे ग्रामयोर्द्वयोः।
   ज्येष्ठे मासे नयेत् सीमां सुप्रकाशेषु सेतुषु।। मनुस्मृति 8.245
2. सीमावृक्षाँश्च कुर्वीत न्यग्रोधाश्वत्थ किंशुकान्।
   शाल्मलीन् सालतालाँश्च क्षीरिणश्चैव पादपान्।। मनुस्मृति 8.246
3. अश्मनोऽस्थीनि गोवालान तुषान् भस्म कपालिकाः।
   करीषमिष्टकाङ्गारान् छर्करा बालुकस्तथा।।
   यानि चैवंप्रकाराणि कालाद् भूमिर्न भक्षयेत्।
   तानि सन्धिषु सीमायामप्रकाशानि कारयेत्।। मनुस्मृति 8.250-51
4. कर्णक गोपालवृद्रकाः पूर्वमुक्तिका वा वाह्याः सेतूनामनभिज्ञा बहव एको वा निर्दिश्य सीमसेतून विपरीतवेषाः सीमानं नयेयुः।।3 अर्थशास्त्र 3.9.12
5. व्याधाञ्छाकुनिकान् गोपान केवर्तान् मूलखानकान्।
   व्यातग्राहनुञ्छवृत्तीनन्यांश्च वनचारिणः।। मनुस्मृति 8.260
6. सीम्नो विवादे क्षेत्रस्य सामन्ताः स्थविरादयः।
   गोपाः सीमाकर्षाणा ये सर्वे च वनगोचरा।।
   नयेयुरेते सीमानं स्थलाङ्गारतुषद्रुमैः। सेतुवल्मीकनिम्नास्थिचैत्याद्यैरूपलक्षिताम।। याज्ञवल्क्यस्मृति 2.150-151

चाणक्य कहते हैं कि निर्णय करने के उपरान्त जो पक्ष दोषी पाया जाये, उसे दण्ड दिया जाये, जिससे राजस्व की प्राप्ति हो। यदि किसी ने स्थापित सीमा बिन्दुओं के साथ जान-बूझकर छेड़खानी करके अधिक खेत में खेती कर ली है तो उसे एक हज़ार पण दण्ड दिया जाये। इतना ही दण्ड उन लोगों को भी दिया जाना चाहिये, जिन्होंने सीमा का अतिक्रमण किया है और सीमाबिन्दुओं को काटा है। तत्पश्चात् राजा सभी के हितों को ध्यान में रखकर वहाँ सीमा पर हदबंदी करवा दे[1] और दोषियों से दण्ड वसूल करके राजस्ववृद्धि करे।

एक ही गाँव के दो किसानों के मध्य खेत की सीमा का झगड़ा हो जाने पर गाँव का मुखिया और बुजुर्ग लोग उसका निर्णय करें। यदि उनमें भी फूट पड़ जाये तो शुचि चरित्र वाले और लोगों द्वारा सर्वमान्य बहुत से लोग मिलकर सही निर्णय दे सकते हैं अथवा किसी को मध्यस्थ बनाकर निर्णय किया जा सकता है।[2]

मनुस्मृति का भी यही निर्देश है कि यदि हदबंदियों के विषय में साक्षी प्राप्त न हों तो समीपवर्ती चार गाँवों के ग्रामीण शुद्धचित्त होकर राजा की उपस्थिति में निर्णय कर सकते हैं[3] अथवा किसी को मध्यस्थ बनाकर निर्णय किया जा सकता है।

चाणक्य कहते हैं कि यदि किसी भी स्थिति में निर्णय न हो सके तो राजा उस विवादित खेत का अधिग्रहण कर ले और उससे प्राप्त फसल आदि को राजस्व में संग्रहीत कर ले। यदि किसी खेत का कोई स्वामी न हो तो उसे राजा इस प्रकार लोगों में बाँट दे, जिससे जनता का अधिकाधिक उपकार हो। जो मनुष्य किसी खेत, मकान, दुकान आदि पर बलपूर्वक कब्जा कर ले, उसे चोरी का दण्ड दिया जाये।[4] खेत की सीमा सरकाने पर प्रथम साहस दण्ड दिया जाये। सीमा के चिह्नों को हानि पहुँचाने पर 24 पण दण्ड दिया जाये।[5] याज्ञवल्क्यस्मृति के अनुसार हदबंदी को तोड़ने, सीमा को बाँध कर खेत को जोतने और खेत का हरण कर लेने पर क्रमशः अधम, उत्तम और मध्यम दण्ड की व्यवस्था होनी चाहिए।[6]

चाणक्य इस विषय को और व्यापक करते हुए कहते हैं कि तपोवन, चरागाह, चौड़ी सड़कों, श्मशान भूमि, मन्दिर, यज्ञशाला और अन्य पवित्र स्थानों आदि के विवादों को भी उपर्युक्त रीति

1. उद्दिष्टानां सेतूनामदर्शने सहस्रं दण्ड। तदेव नीते सीमापहारिणां सेतुच्छिदां य कुर्यात्। प्रनष्टसेतुभोगं वा सीमानं राजा यथोपकारं विभजेत्।। अर्थशास्त्र 3.9.13-15
2. क्षेत्रविवादं सामन्तग्रामवृद्धाः कुर्युः। तेपां द्वैधीभावे यतो बहवः शुचयोऽनुमता वा ततो नियच्छेयुः। मध्यं वा गृह्णीयुः।। अर्थशास्त्र 3.9.16-18
3. ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयः सीमासन्धिपु लक्षणम्। तत्तथा स्थापयेद् राजा धर्मेण ग्रामयोर्द्वयोः।। मनुस्मृति 8.261
4. तदुभयं परोक्तं वास्तु राजा हरेत। प्रनष्टसवामिकं च यथोपकारं वा विभजेत्। प्रसह्यादाने वास्तुनि स्तेयदण्डः।। अर्थशास्त्र3.9.19-21
5. मर्यादापहरणे पूर्णः साहसदण्डः। मर्यादाभेदे चतुर्विंशतिपणः।। वही 3.9.23-24
6. मर्यादायाः प्रभेदे च सीमातिक्रमणे तथा।
क्षेत्रस्य हरणे दण्डा अधमोत्तममध्यमा।। याज्ञवल्क्यस्मृति 2.155

से ही सुलझा लेना चाहिए।[1] मनुस्मृति में भी यही व्यवस्था निद्रिष्ट है।[2]

सिंचाई के साधनों से राजस्वप्राप्ति

चाणक्य की मान्यता है कि जो लोग सीमा की हदबंदियों और जलस्रोतों के रखरखाव के प्रति सावधान हैं, उन्हें प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। चाणक्य कहते हैं कि यदि कोई मनुष्य सिंचाई के लिये नए तालाब बनवाए और सीमा निर्धारक हदबंदियों को बिल्कुल नया बनवाए तो उसे पाँच वर्षों तक कर से मुक्त रखा जाना चाहिए। टूटे-फूटों की मरम्मत करवाए तो चार वर्ष तक कर में छूट मिलनी चाहिए। बने हुए को आगे बढ़ाए तो तीन वर्ष की छूट दी जानी चाहिए।[3] इस प्रकार की छूट देकर चाणक्य ने किसानों को जलस्रोतों के रखरखाव और सीमा की हदबंदियों की सुरक्षा के लिये प्रेरित किया है, जिसमें कृषि योग्य भूमि से अधिक राजस्व की प्राप्ति हो सके। सिंचाई के साधनों से राजस्व संग्रहण के विषय में चाणक्य का निर्देश है कि नदी की बजाय वर्षा के जल से भरने वाले तालाबों पर वायु से चलने वाले रहटों के द्वारा अपने खेतों, बगीचों और फुलवारियों में सिंचाई करने वाले किसानों से उनकी फसल पर उतना ही कर लेना चाहिए, जिससे उनके हितों को ठेस न पहुँचे।[4] लेकिन यह ध्यान रखना चाहिए कि नदी आदि जलस्रोतों से बिना अपनी वारी के ही जल चुराने वाले आदमी को 6 पण दण्ड दिया जाये और दूसरों की बारी में प्रमादवश जल को रोक कर हानि पहुँचाने वाले को भी इतना ही दण्ड दिया जाना चाहिए।[5] इससे सिंचाई व्यवस्था ठीक रहेगी और अधिक फसल से अधिक राजस्व प्राप्त होगा।

अतिक्रमणकारियों से दण्ड के रूप में राजस्वप्राप्ति

समाज में आज अतिक्रमण की समस्या विकराल रूप धारण करती जा रही है। सार्वजनिक भूमि, राजमार्गों और रास्तों पर अतिक्रमण करने की प्रवृत्ति, निरन्तर बढ़ती जा रही है। इस दुष्प्रवृत्ति को रोकने के लिये उच्चतम न्यायालय तक को हस्तक्षेप करना पड़ रहा है।

चाणक्य ने इस कुत्सित प्रवृत्ति को रोकने के लिये कठोर नियम अपनाने का परामर्श दिया है। सबसे पहले सिंचाई के लिये बनाए गए नालों और नालियों के विषय में कहा है कि यदि कोई

---

1. तेन तपोवन विवीतमहापथ श्मशान देवकुलयजनपुण्यस्थानविवादा व्याख्याता:।।
2. क्षेत्रकूपतडागानामारामस्य गृहस्य च। अर्थशास्त्र 3.9.25
   सामन्तप्रत्ययो ज्ञेय: सीमासेतु विनिर्णय:।। मनुस्मृति: 8.262
3. तटाकसेतुबन्धानां नव प्रवर्तने पाञ्चवार्षिक परिहार:। भग्नोत्सृष्टानां चातुर्वाषिक:। समुपारूढानां त्रैवार्षिक:।। अर्थशास्त्र 3.9.37-39
4. वातप्रावृत्तिमनदीनिवन्धायतनतटाक केदारारामपण्डवपानां सस्य पर्णभागोत्तरिकमन्येभ्यो वा यथोपकारं दद्यु:।। अर्थशास्त्र 3.9.41
5. सेतुभ्यो मुञ्चतस्तोयमपारे षट्पणो दम:।
   पारे वा तोयमन्येषां प्रामदेनोपरुन्धत:।। अर्थशास्त्र 3.9.44

मनुष्य सामान्य कामकाज के लिये बने हुये उचित रास्तों को अथवा जल के रास्तों को रोके अथवा उन रास्तों को बिगाड़ दे तो दोषी को प्रथम साहस दण्ड दिया जाना चाहिए।[1]

यदि कोई पुरुष दूसरे की भूमि में बेईमानी से हदबंदी के अनुचित निशान गाड़ दे, धर्मशाला आदि बनवा दे, श्मशान आदि बनवा दे, देवमन्दिर बनवा दे या फिर पहले से बने हुए धर्मस्थान को बेच दे अथवा किसी और से बिकवा दे तो ऐसे पुरुष को मध्यम साहस दण्ड दिया जाये। इस क्रयविक्रय में जो आदमी सहायक और गवाह हों–उनको उत्तम दण्ड दिया जाये। यदि ऐसा धर्मस्थान उजाड़ पड़ा है और मालिक ने उसे छोड़ दिया है तो उसे बेचा जा सकता है।[2]

मार्गों पर अतिक्रमण करने वालों को दण्डित किया जाना चाहिए। भेड़, बकरी, आदि छोटे पशुओं और मनुष्यों के योग्य बने रास्ते को रोकने वाले मनुष्य को 12 पण और गाय, भैंस जैसे बड़े पशुओं के मार्ग को रोकने वाले को 24 पण से दण्डित किया जाये। हाथी जैसे विशाल पशु के रास्ते को रोकने पर 54 पण दण्ड दिया जाये। पुल से निकलने वाले और जंगल के रास्ते को रोके जाने पर 600 पण, श्मशान और गाँव में पहुँचने वाले रास्ते को रोके जाने पर 200 पण तथा राजकीय चौकी के रास्ते को रोकने पर 500 पण दण्ड वसूलना चाहिए। स्थानीय राजमार्ग को चरागाह के रास्तों को घेरने पर 1000 पण दण्ड दिया जाना चाहिए।[3] चाणक्य ने यह दण्डनिर्धारण स्थान की उपयोगिता और संवेदनशीलता के आधार पर किया है।

फसल से राजस्वप्राप्ति

कृषियोग्य जोत की भूमि से राजस्व संग्रह में किसी भी प्रकार की कमी न आये- इस उद्देश्य के लिये चाणक्य का निर्देश है कि सभी खेतीहरों को समय पर खेत तैयार करना चाहिए और सही समय पर उसमें बीज बोना चाहिए। जो किसान समय पर खेत तैयार न करे और तैयार करके भी उसमें समय पर बीज न बोए अथवा उस खेत को छोड़ ही दे तो उसे 12 पण दण्ड देना चाहिए, जिससे उस खेत में पैदा होने वाली फसल से प्राप्त होने वाले राजस्व की प्रतिपूर्ति हो सके।[4] हाँ, यदि खेत में कोई कमी आ जाए, कोई प्राकृतिक आपदा आ पड़े अथवा किसान स्वयं ही असमर्थ हो जाये तो उसे दण्डित न किया जाये।[5]

---

1. कर्मोदकमार्गमुचितं रुन्धतः कुर्वतोऽनुचितं वा पूर्णः साहसदण्डः। अर्थशास्त्र 3.10.1
2. सेतुकूपपुण्यस्थानचैत्यदेवायतनानि च परभूमौ निवेशयतः पूर्वानुवृत्तं धर्म-सेतुमाधानं विक्रयं वा नयतो नाययतो वा मध्यमः साहसदण्डः श्रोतृणाम् उत्तमः। अन्यत्र भग्नोत्सृष्टात्।। अर्थशास्त्र 3.10.2-3
3. क्षुद्रपशुमनुष्यपथं रुन्धतो द्वादशपणो दण्डः। महापशुपथं चतुर्विंशतिपणः।
सेतुवनपथं षट्छतः। श्मशानग्रामपथं द्विशतः। द्रोणमुखपथं पञ्चशतः।
स्थानीयराष्ट्रविवीतपथं साहस।। अर्थशास्त्र 3.10.6-12
4. क्षेत्रिकस्याक्षिपतः क्षेत्रमुपवासस्य वा त्यजतो वीजकाले द्वादशपणो दण्डः।। अर्थशास्त्र 3.10.15
5. अन्यत्र दोषोपनिपाताविषह्येभ्यः।। अर्थशास्त्र 3.10.16

कृषियोग्य भूमि पर लगान देने वाला किसान अपने खेत का लगान देने वाले किसान के पास ही गिरवी रख सकता है अथवा बेच सकता है, सामान्य किसान के पास नहीं, जिससे राजस्व की प्राप्ति यथावत् बनी रहे। यदि किसी किसान को थोड़ी बहुत भूमि दान में मिली है और वह लगानमुक्त है तो वह आवश्यकता पड़ने पर अपनी भूमि बेच सकता है। यदि कोई उस व्यवस्था का उल्लंघन करता है तो उसे प्रथम साहस दण्ड दिया जाये और इस दण्ड से राजस्व की प्रतिपूर्ति की जाये।[1]

यदि कोई किसान लगान देने वाले गाँव के निवास को छोड़कर लगान बचाने के उद्देश्य से लगानमुक्त गाँव में अपना ठिकाना बना ले तो उसे भी प्रथम साहस दण्ड दिया जाना चाहिए। यदि वह लगान देने वाले गाँव से लगान देने वाले गाँव में ही प्रवेश करता है तो उसे भूमि आदि चीज़ें यथावत् मिलेंगी, किन्तु मकान की व्यवस्था उसे स्वयं करनी पड़ेगी। उपलब्धि के आधार पर उसे मकान भी दिया जा सकता है।[2]

चरागाहों से राजस्वप्राप्ति

चाणक्य ने निर्देश दिया है कि राजा राजस्व की वृद्धि के लिये गाँवों में पशुओं के बैठने के लिये एक बाड़ा बनवाएं।[3] पशुओं के घूमने और चरने के लिये चरागाह (चराँद) बनवाए। चरागाह में चर कर चले जाने वाले ऊँट, घोड़े, भैंस आदि बड़े-बड़े पशुओं के लिये उनके मालिक से प्रतिपशु 1/4 पण के हिसाब से राजस्व संगृहीत किया जाये। मध्यम श्रेणी के गाय, घोड़े, गधे के लिये 1/8 पण कर लिया जाना चाहिए। भेड़, बकरी आदि छोटे पशुओं के लिये 1/10 पण प्रतिपशु के हिसाब से कर संगृहीत किया जाये।[4] इस व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिये चाणक्य नियम बनाते हैं कि जो पशु घास चरकर वहीं बैठे रहें तो उनके स्वामी से दुगुना कर वसूला जाये। यदि पशु दिनरात वहीं जमे रहें तो यह कर चार गुणा हो जाएगा। किन्तु ग्रामदेवता के नाम पर छोड़े गए साँड, दस दिन से कम की प्रसूता धेनु और गोसमूह में विचरण करने वाले युवा बच्छड़े इस प्रकार के कर से मुक्त रखे जाएं।[5]

अन्त में चाणक्य कहते हैं कि अतिक्रमण की प्रवृत्ति को रोकने वाले उपकारी लोगों को समय-समय पर प्रोत्साहित किया जाना चाहिए, जिससे सामाजिक व्यवस्था बनी रहे, लोग गाँव की

---

1. करदाः करदेष्वाधानं विक्रयं वा कुर्युः। ब्रह्मदेयिका ब्रह्मदेयिकेषु। अन्यथा पूर्वः साहसदण्डः।। अर्थशास्त्र 3.10.19
2. करदस्य वाकरदग्रामं प्रविशतः। करदं तु प्रविशतः सर्वद्रव्येषु प्राकाम्यं स्यात्। अन्यत्रागारात्।। तदप्यस्मै दद्यात्।। अर्थशास्त्र 3.10.20-23
3. स्तम्भैः समन्ततो ग्रामाद् धनुःशतापकृष्टमुपशालं कारयेत्।। अर्थशास्त्र 3.10.30
4. पशुप्रचारार्थं विवीतमालवनेनोपजीवेयुः। विवीतं भक्षयित्वावसृतानाम् उष्ट्रमहिषाणां पादिकं रूपं गृह्णीयुः। गवाश्वखराणां चार्धपादिकम्। क्षुद्रपशूनां षोडशभागविकम्।। अर्थशास्त्र 3.10.31-34
5. भक्षयित्वा निषण्णानामेत एव द्विगुणा दण्डाः। परिवसतां चतुर्गुणाः। ग्रामदेववृषा वा अनिर्दशाहा वा धेनुः उक्षाणो गोवृषाश्चादण्ड्याः।। अर्थशास्त्र 3.10.37

शोभा और सुरक्षा के प्रति जागरूक रहें और राजकीय कोष में यथाविधि धन की प्राप्ति होती रहे।[1] राजस्ववृद्धि के लिये चाणक्य जहाँ सीमाविवादों को समाप्त करके उससे स्थायी राजस्व की प्राप्ति सुनिश्चित करने का निर्देश देते हैं, वहीं अतिक्रमण की प्रवृत्ति को रोकने के लिये अतिक्रमण के दोषियों से दण्ड वसूल करके राजकोष को समृद्ध करने की व्यवस्था का समर्थन करते हैं। इसके अतिरिक्त चाणक्य सिंचाई के साधनों को भी राजस्वप्राप्ति का स्रोत मानते हैं और उनके रख-रखाव को और भी अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं। चाणक्य का यह परामर्श भी उल्लेखनीय है कि गाँवों के आसपास की भूमि पर चरागाहों का निर्माण करके पशुपालकों से तर्कसंगत कर वसूला जाए, जिससे राजस्व संग्रहण में वृद्धि हो सकेगी और पशुओं का भी समुचित भरणपोषण होगा। चाणक्य द्वारा वर्णित ऊपरलिखित व्यवस्थाएं आज भी राजस्वसंग्रहण और राजकीय कोष की वृद्धि के लिये परम उपादेय प्रतीत होती है।

विशेष टिप्पणी

पण : एक विशेष प्रकार का सिक्का, जिसमें 11 मासे चाँदी, 4 मासे ताँबा तथा एक मासा लोहा, शीशा और अंजन का मिश्रण होता था। ङ् अर्थशास्त्र 2.28.12 मोनियर विलियम्स के अनुसार पण 20 मासे का सिक्का है।

साहस यह तीन प्रकार का कहा गया है–प्रथम, मध्यम, उत्तम।

		अर्थशास्त्र	मनुस्मृति
प्रथम साहस दण्ड	=	48-96 पण	250 पण
मध्यम साहस दण्ड	=	200-500 पण	500 पण
उत्तम साहस दण्ड	=	500-1000 पण	1000 पण

पणानां शते सार्धे प्रथमः साहसः स्मृतः।
मध्यमः पञ्च विज्ञेयः त्वेव चोन्तमः॥ मनुः 8.138

अर्थशास्त्र के तृतीय अधिकरण, चतुर्थ प्रकरण के 74 वें अध्याय में साहसदण्ड का विवरण उपलब्ध है।



---

1 राजा देशहितान् सेतून् कुर्वतां पथि संक्रमात्।
ग्रामशोभाश्च रक्षाश्च तेषां प्रियहितं चरेत्॥ अर्थशास्त्र 3.10.61

महाभारत में कर्मविपाक

वीरेन्द्र कुमार अलंकार

कर्म तथा उसका विस्तार

कर्म का सिद्धान्त सभी युगों में प्रासङ्गिक रहा है। वैदिक काल में जहाँ कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविशेच्छतं समाः[1] के रूप में कर्म का निर्देश है, वहीं दर्शनों का भी यह प्रिय विषय है। कर्म के बिना तो लोकयात्र ही सम्भव नहीं है, क्योंकि-न ही कश्चिक्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्[2] महाभारत में 'कर्मदर्शन' के प्रसंग स्थाने स्थाने उपलब्ध हैं किन्तु उसका सम्पूर्ण विवरण इस पत्र में सम्भव नहीं था। अतः प्रकृत विवेचन का प्रमुख आधार अनुशासन पर्व ही है। इस पर्व में बहुत ही मनोरम चर्चा हुई है। कर्म का विस्तार किन स्तरों पर है– इसका सर्वस्वीकार्य समाधान कथञ्चित् सम्भव न हो, पर ये दो स्तर वा प्रकार प्रायः विवाद से परे हैं--सत्कर्म और दुष्कर्म। महाभारत अनुशासन पर्व में प्रायः इसी रूप में कर्म की विवेचना हुई है--सुकृतं दुष्कृतं चेति द्विविधं कर्मविस्तरम्।[3] निष्काम कर्म की चर्चा इस शोधपत्र का विषय नहीं है।

अब प्रश्न यह है कि सत्कर्म और असत्कर्म की व्याख्या कैसे हो। आस्तिक परम्परा में इसका सीधा स्पष्ट उत्तर यही है कि वेदविहित सत्कर्म तथा वेदनिषिद्ध असत्मर्क हैं। किन्तु प्रत्येक अपने कर्म की पुष्टि वेद से कैसे करे? इस समस्या का निदान कुछ आचार्यों ने लोक की दृष्टि से किया है कि जिस कर्म के करने में उत्साह, हर्ष उल्लास और गौरव होवे वह सत्कर्म तथा जिसे करने में ग्लानि, लज्जा, सन्देह, भय और संकोच होवे, वह विचारणीय है। महाभारतकार ने इसी लोक पक्ष को प्रस्तुत करते हुए कहा कि आत्मा स्वयं जानता है कि क्या शुभ है और क्या अशुभ-आत्मा मनोव्यवस्थानात् सर्वं वेत्ति शुभाशुभम्।[4]

कर्म और कर्मविपाक की व्यवस्था के लिए महाभारतकार ने आत्मा की सत्ता भी स्वीकारी है–

> **प्राणिनां हि शरीरेषु अन्तरात्मा व्यवस्थितः।**
> **आत्मानं परमं देवमिति विद्धि शुभेक्षणे।।**[5]

1. यजुर्वेद--40.2.
2. श्रीमद्भगवद्गीता–3.4.
3. महाभारत (अनुशासन पर्व)–128.5. (दक्षिण संस्करण)
4. वही, 128.332.
5. वही, 128.331.

कर्म के भेद

सामान्यतः यह प्रश्न प्रत्येक को मथता है कि मेरे किस कर्म का क्या फल होगा। कर्म के भेद और फल पर कुछ विचार महाभारतकार ने किया है, किन्तु सम्पूर्ण रूप में इसका निरूपण कठिन ही नहीं, असम्भव भी है। स्वयं वासुदेव कहते हैं कि तत्त्वतः कर्मों की गति नहीं जानी जा सकती-न गतिः कर्मणां शक्या वेत्तुमीशस्य तत्त्वतः।[1] भीष्म का भी यही कथन है कि–सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य दुर्ज्ञेया ह्यकृतात्मभिः।[2] फिर भी महाभारतकार ने कर्म की व्याख्या के लिए तीन भेदों का उल्लेख किया है। इनका फल भी इसी रूप में मिलता है–

तस्माद् वाक्कायमनसा नाचरेदशुभं नरः।
शुभाशुभान्याचरन् हि तस्य तस्याश्नुते फलम्॥[3]

कर्म के जो दो विस्तार सुकृत और दुष्कृत किए गए हैं। इनमें दुष्कृत कर्म के ये तीन विभेद वाचिक, मानसिक और कायिक हैं–

तयोर्यद्दुष्कृतं कर्म तच्च सञ्जायते त्रिधा।
मनसा कर्मणा वाचा बुद्धिमोहसमुद्भवात्॥[4]

जो मनपूर्वक कर्म है, वही वाङ्मय होकर फिर क्रियारूप हो जाता है। धर्म कार्य में अश्रद्धा और पापकर्म में हर्ष होना मानस पापकर्म है। अनृत, असत्य परिवाद, पुरुष तथा असम्बद्ध प्रवाद वाक्कर्म है। अगम्यागमन, वध, चोरी, अभक्ष्य-भक्षण, व्यसनप्रवृत्ति, दर्प आदि से दूसरे को सताना, अशौचसेवन, अकार्यकरण, पापकर्म में सहायक बनना, अधर्म्य का सेवन आदि शरीर पाप है। इनमें भी मानस पाप से वाचिक और वाचिक पाप से शरीर पाप विशिष्ट है। ये त्रिविधा पापकर्म मनुष्य को पतित करते हैं, किन्तु कौन पापलिप्त नहीं होता इसका भी संकेत वहीं पर है। जो अपने प्राणों की रक्षा के लिए प्रतिहनन करे, चौर को प्रतिकार के निमित मारे या दीन दुःखियों के लिए इस प्रकार के कर्म करे, दुर्भिक्ष में अभक्ष्यसेचन वा अकार्य करे, देशकालवश पापकर्म करे, तब वह कर्मकर्त्ता पापलिप्त नहीं माना जाना चाहिए, किन्तु यह विधि गृहस्थों के लिए है। बुद्धिपूर्वक प्रयोजनवश जब से कर्म किऐ जाते हैं, तो कुछ ही पाप होगा, अथवा होगा ही नहीं।[5]

वस्तुतः इस सृष्टि में सकल द्रव्य यज्ञार्थ ही हैं-यज्ञार्थ विद्धि तत् सृष्टम्।[6] इस यज्ञकार्य में

1. अनुशासन पर्व–14.6 (पूना संस्करण)
2. वही, 10.64.
3. वही, 13.6.
4. अनुशासन पर्व–128.6. (दक्षिणी संस्करण)
5. द्र. वही, 128.7–26.
6. वही, 128.312.

विघ्नकर्त्ता का हनन पाप नहीं हो सकता। स्वयं श्रीकृष्ण कहते हैं–यज्ञविघ्नकरं हन्याम्,[1] यही कृष्णनीति है।

कर्मनाश सम्भव नहीं

कर्मनाश अर्थात् कृत कर्म के फल से छुटकारा सम्भव नहीं है। आत्मा के सुख दुःख का जिस प्रकार से वर्णन हुआ है, उससे यह विचार दृढ़ होता है कि महाभारतकार कर्म का कर्त्ता जीवात्मा को स्वीकार करता है। इसलिए कर्मभोक्ता आत्मा ही है। उमा प्रश्न करती है कि कुछ लोग आत्मा को कर्मभोक्ता नहीं मानते, उनका मानना है कि सब कुछ स्वभावतः होता है। जैसे वृक्षों पर फल आता ही है, नदियों में ऊर्मियाँ होतीं ही है, वैसे ही यह जगत् है। इसलिए क्या तप, दान आदि सब अपार्थ ही हैं? इसके उत्तर में महेश्वर कहते हैं कि इसी प्रकार के निश्क्रिय और श्रुतविद्वेषी मूर्ख नास्तिक अधर्मगति को प्राप्त होते हैं।[2] कर्म का फल अवश्यंभावी है। जैसा कर्म वैसा फल, यही है सत्यनियम और स्वकृत का ही फल मिलता है, किसी अन्य के कर्म का फल कभी संभव नहीं–

यादृशं कुरुते कर्म तादृशं फलमश्नुते।
स्वकृतस्य फलं भुङ्क्ते नान्यस्तद् भोक्तुमर्हति।।[3]

कृत कर्म कभी नष्ट नहीं होता–न नश्यति कृतं कर्म।[4] अतः महाभारतकार का सिद्धान्त पक्ष यह है कि न तो किसी को अकृत कर्म का भोग ही प्राप्त होता है और न ही कृत कर्म का फल नष्ट होता है–नाकृतं भुज्यते कर्म न कृतं नश्यते फलम्।[5] प्रायश्चित या याग आदि से कर्मफलमुक्ति सम्भव नहीं है। यह मनुष्य का बस सन्देह ही है–संशयो हि महानेव।[6] इसमें मूल बात यह है कि पापकर्म जानबूझ कर किया गया है, अथवा यदृच्छया। जानबूझ कर किए असत् कर्म का नाश सम्भव नहीं है, चाहे कोई हजारों अश्वमेध करे या प्रायचित–

केवलं चाभिसन्धाय संरम्भाच्च करोति यत्।
कर्मणस्तस्य नाशस्तु न कथञ्चन विद्यते।।
अभिसन्धिकृतस्यैव नैव नाशोऽस्ति कर्मणः।
अश्वमेधसहस्रैश्च प्रायश्चित्तशतैरपि।।[7]

---

1. महाभारत (सभापर्व) 26.10.
   (महाभारत के श्रीकृष्ण-देवदत्त विद्याभास्कर) से उद्धृत।
2. द्र. अनुशासन पर्व- 126.90-106 (दक्षिणी संस्करण)
3. वही, 123.37
4. अनुशासन पर्व-7.5 (पूना संस्करण)
5. अनुशासन पर्व- 84.220 (दक्षिणी संस्करण)
6. वही, 125.100.
7. 125.102-103.

हाँ, जो प्रमादवश अथवा यदृच्छया विहित पाप कर्म है, उसका प्रायश्चित और अश्वमेध से नाश सम्भव है–

अन्यथा यत्कृतं पापं प्रमादाद् वा यदृच्छया।
प्रायश्चित्ताश्वमेधाभ्यां श्रेयसा तत् प्रणश्यति।।[1]

वस्तुतः लोकव्यवहार के लिए ही प्रायश्चित्तादि स्वीकार्य हैं-लोक-व्यवहारार्थ प्रायश्चित्तादिरिष्यते।[2] ऐसा लगता है कि केवल व्यवहारपक्ष की दृष्टि से ही यह विधान है, ताकि प्रायश्चित करके वह पापकर्म पुनः न किया जाए। वैयाकरण पतञ्जलि यहाँ बड़े स्पष्ट दिखाई देते हैं। उनका मानना है कि भले ही कोई अनजाने में, अज्ञानवश ब्राह्मण की हत्या कर देवे या सुरापान करे, वह पतित ही है–यो हि अजानन् वै ब्राह्म हन्यात् सुरां वा पिबेत् सोऽपि मन्ये पतितः स्यात्।[3] महाभारतकार इसी प्रसंग में बड़ा स्पष्ट कहते हैं कि कृत कर्म का भोग प्राप्त न हो, यह कभी सम्भव नहीं है–नाऽस्ति कर्मफलच्छेता कश्चिल्लोकत्रयेऽपि च।[4] अतः कर्म करने वाला और फल भोगने वाला जीवात्मा ही है। यद्यपि एक स्थान पर सांख्य की भाषा भी दिखाई देती है, त्रिगुणात्मक प्रकृति की क्रियाशीलता का यहाँ संकेत हुआ है, पर पुरुष की निश्क्रियता का प्रतिपादन नहीं है–

शृणु भामिनि कर्त्तारमात्मा हि न च कर्मकृत्।
प्रकृत्या गुणयुक्तेन क्रियते कर्म नित्यशः।।[5]

जैसे बछड़ा अपनी माँ की ओर तथा जल नीचे ही दौड़ते हैं, बिल्कुल इसी प्रकार कर्म अपने कर्त्ता की ओर ही दौड़ते हैं–

गोवत्सवच्च जननीं निम्नं सलिलवत्तथा।
कर्त्तारं स्वकृतं कर्म नित्यं तदनुधावति।।[6]

समाजनिर्मित का आधार कर्म

महाभारत मूलतः काव्य है और काव्य में लोकदृष्टि साक्षाद्रूपेण रहती है। कर्म की मीमांसा में भी यही दृष्टि है। जिस प्रकार की समाजनिर्मिति का शास्त्रीय विवेचन ऋग्वेद[7] और धर्मशास्त्र[8] में हुआ है, उसी आधार का आश्रयण महाभारतकार ने किया है, बल्कि यह विवेचन लोकग्राह्य

1. वही, 125.104.
2. वही, 125.105.
3. द्र-व्याकरणमहाभाष्य (पस्पशाह्निक)-गुरुप्रसाद शास्त्री, पृ.27.
4. अनुशासन पर्व- 125.96 (दक्षिणी संस्करण)
5. वही, 125.179.
6. वही, 125.121.
7. द्र. ऋग्वेद- 10.90.
8. द्र. मनुस्मृति- 1.87-91, 10.1-131, 12.3-116.

अधिक भावनामय भी है। राष्ट्रपुरुष के चार अवयवों-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का जो निरूपण वेद में हुआ है, उसकी स्थिति महाभारतकाल में कैसी थी- यह उस युग की घटनाओं से अनुमेय है। वस्तुतः कर्म के आधार पर सामाजिक अधिकारों का बँटवारा ही स्वस्थ समाज की आधारभूमि है। यही है वर्णव्यवस्था। इन वर्णों के जिन कर्त्तव्यों का निरूपण महाभारत में हुआ है, उसका आधार निश्चयेन धर्मशास्त्र ही है। उस कर्मविभाग की चर्चा यहाँ पुनरुक्तिमात्र होगी। महाभारतकार ने इस विवेचन में इतना और जोड़ा है कि कोई वर्ण उत्तम या अधम नहीं है। जो अपने कर्म को ठीक करता है, वही उत्तम है। यही है श्रीकृष्ण का योग-योगः कर्मसु कौशलम्[1]। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है कि-'मनुष्य की सच्ची, पहचान तो अपने कर्त्तव्यों को करने की उसकी शक्ति और शैली में होती है। एक मोची जो कि कम से कम समय में बढ़िया और मजबूत जूतों की जोड़ी तैयार कर सकता है, अपने व्यवसाय में उस प्राध्यापक की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ है, जो जीवनभर थोथी बकवास ही किया करता है।[2] स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी समाज और परिवार की सुस्थिति का आधार 'कर्म' ही स्वीकार किया है।[3] महात्मा बुद्ध भी इसी कर्मसिद्धान्त का प्रतिपादन करते दीखते हैं।[4]

आपस्तम्बकार का भी मानना है कि धर्माचरण से उत्तम वर्ण अधर्माचरण से निम्न गति होती है-

धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ।
अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ।।[5]

महाभारत में एक बड़ी रोचक कथा है। एक परम सेवावान् जितेन्द्रिय शूद्र था। उसकी धार्मपरायण वृत्ति की चर्चा सर्वत्र थी। अतः दर्शन के लिए एक ऋषि की यथायोग्य अभ्यर्चना की। वह शूद्र धर्मपरायणता के कारण अगले जन्म में राजकुल में उत्पन्न हुआ और राजा बना। वह ऋषि उसका पुरोहित बना और उस राजा ने धर्मपूर्वक कुशलता से शासन किया।[6] कथा का अभिप्रायार्थ यह है कि कर्म ही मुख्य चीज है। महाभारत के ये निष्कर्षभूत सिद्धान्त धर्मशास्त्रसम्मत हैं। वस्तुतः प्राणियों की भाँति सम्पूर्ण मानव जाति के भी तीन ही भेद किए जाने चाहिए-उत्तम, मध्यम और अधम-कर्मणा प्राणिनो लोके उत्तमाधममध्यमाः।[7]

---

1. श्रीमद्भगवद्गीता-2.50.
2. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड-3, पृ. 183.84.
3. द्र. ऋग्वेदिभाष्यभूमिका (सृष्टिविद्याविषयः, वर्णाश्रमविषयः), सत्यार्थप्रकाश-4
4. द्र. सुत्तनिपात-3.9. (वासेट्ठ सुत्त)
5. आपस्तम्ब धर्मसूत्र- 2.5,11.10-11
6. द्र. अनुशासन पर्व, अध्याय-10 (पूना संस्करण)
7. अनुशासन पर्व- 127.10. (दक्षिण संस्करण)

जन्म और स्वर्ग-नरक में कर्म की हेतुता

महाभारत में कर्म के आधार पर पुनर्जन्म की व्यवस्था अथवा अवधारणा सिद्धान्ततः स्वीकृत है-तच्च कर्मविशेषेण पुनर्जन्मनि जायते।[1] कर्म से ही विविध लोकों की प्राप्ति होती है-कर्मभिः पार्थ नानात्वं लोकानां यान्ति मानवाः।[2] कर्मों का फल इसी जन्म में मिले यह आवश्यक नहीं, दूसरे जन्म में भी फलभोग होता है।[3] महेश्वर ने पुनर्जन्म की स्मृति को एक समर्थ आधार माना है, क्योंकि जिसकी मृत्यु सहसा हो जाती है, उसे अगले मानुष जन्म से पूर्व जन्म का स्मरण या अभ्यास कुछ काल तक रहता है। वयः के साथ-साथ उनका यह पूर्वसंज्ञान स्वप्नवत् नष्ट हो जाता है। परलोक के अस्तित्व में मूर्खों के लिए यह प्रबल हेतु है।[4] पुनर्जन्म की यह माया दुर्विज्ञेय है। श्रद्धा करके देखिए, पुनर्जन्म सिद्ध है।[5] कर्म के कारण ही पुनर्जन्म में स्त्री का पुरुष और पुरुष का स्त्री होना भी सम्भव है-

कृत्वा तु पौरुषं कर्म स्त्री पुमानपि जायते।
स्त्रीभावयुक् पुमान्ः कृत्वा प्रमदा भवेत्।।[6]

सुखरूप स्वर्ग तथा दुःखरूप नरक की प्राप्ति में कर्म ही कारणभूत हैं। किस प्रकार के धर्मकार्य करने वाले को स्वर्ग तथा किस प्रकार के अधर्म कार्य करने वाले को नरक प्राप्त होता है, इसका बड़ा हृदयग्राही वर्णन महाभारत में हुआ है।[7] नरक के पाँच प्रकारों की स्वरूप चर्चा भी महाभारत में हुई है। इनके नाम हैं-

1. रौरव, 2. महारौरव, 3. कण्टकावन, 4. अग्निकुण्ड और 5. पञ्चकष्ट।[8]

उपसंहार

महाभारत के इस कर्मवाद का मूल उत्स वेद में खोजा जा सकता है। पुनर्जन्म भी वैदिक स्थापना है-पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु[9] पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन्[10] आदि। निरुक्ताकार ने भी स्पष्टतः पुनर्जन्म का प्रतिपादन किया है-

1. वही, 123.4.
2. वही, 92.2. (दक्षिण संस्करण)
3. द्र. वही, 125.140-45.
4. द्र. वही, 126.33-35.
5. द्र. वही, 126.103-05.
6. वही, 125.177.
7. द्र. स्वर्ग तथा नरक के लिए-अनुशासन पर्व, अध्याय-130 (दक्षिण संस्करण) तथा अध्याय-113.133 (पूना संस्करण)
8. द्र. अनुशासन पर्व-127.46-66 (दक्षिण संस्करण)
9. ऋग्वेद- 10.59.7.
10. यजुर्वेद- 4.15.

मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः।
नानायोनिसहस्त्राणि मयोषितानि यानि वै।।[1]

आत्मा के कर्मस्वातन्त्र्य अथवा अधिकार तथा कर्मफलभोग में पारतन्त्र्य का प्रतिपादन धर्मशास्त्र[2] में भी दिखाई देता है। वस्तुतः महाभारतकार ने जो कर्मफल का प्रदर्शन किया है, उसमें 'लोक-संस्थिति' पर प्रधान दृष्टि रही है। इसका संकेत कई स्थलों पर हुआ है। बौद्ध और जैन दर्शन भी आत्मा को ही कर्त्ता मानते हैं। बौद्ध मत में यह लोकवैचित्र्य कर्मज है।[3] जीव की इस संसारगति में कर्म ही साधानभूत हैं। जैन दर्शन के अनुसार भी आत्मा स्वकृत कर्मों से अनुबद्ध होकर परलोकगमन करता है।[4]

वैदिक, बौद्ध एवं जैन दर्शन तथा महाभारत (अनुशासन पर्व) में जिस कर्मवाद की स्थापना हुई है, वह पारलौकिक ही नहीं, बल्कि व्यावहारिक धरातल पर भी खरी हैं। मनुष्य को अपना संस्कार स्वयं करना पड़ेगा। कर्मवाद का यह सिद्धान्त कि अपने अपने कर्म के फल को भोगना ही पड़ेगा, वस्तुतः मनुष्य को अन्तराभिमुख बनाता है। जो कुछ बनता बिगड़ता है, उसके उत्तरदायी हम स्वयं हैं। दूसरे पर रोष और दोष क्यों धारें। अपने उत्थान--पतन के लिए स्वयं ही जिम्मेवार होना पड़ेगा, दूसरा तो निमित्तमात्र है। कर्मवाद का रहस्य इसी में है कि--हे मनुष्य, सब कुछ तेरे हाथ में है। भाग्यवाद का निर्बल सहारा लेकर व्यक्ति सदा ही पलायन करता रहेगा। अतः यहाँ जो कर्मरूप बीज का वपन है, सचमुच यही पारलौकिक कृषि है-यत्तत्र बीज वपति सा कृषिः पारलौकिक।[5] महाभारत का यह कर्मवाद वस्तुतः जीवन जीने की कला है।



1. निरुक्त- 14.6.
2. द्र. मनुस्मृति अध्याय-12.
3. द्र. विशेष विवरण के लिए-बौद्ध धर्म-दर्शन (अध्याय-13)-आचार्य नरेन्द्र देव
4. द्र. इसिभासिताइं सुत्ताइं-2.1,3,8.
5. अनुशासन पर्व-132.53. (पूना संस्करण)

हिन्दू संस्कारों में कश्मीरी शैक्षणिक-संस्कारों का स्थान

प्रो० रमणिका जलाली

संस्कार प्राचीनकाल से लेकर आज तक भारतीय समाज में अपना विशेष स्थान बनाए हुए हैं। संस्कार प्रत्येक धर्म के महत्वपूर्ण अंग हैं इनका अभिप्राय धार्मिक क्रियाओं की शुद्धि एवं व्यक्ति के दैहिक, मानसिक और बौद्धिक परिष्कार के लिए किए जाने वाले अनुष्ठान हैं। इनका उद्देश्य केवल दैहिक संस्कार न होकर प्रत्येक संस्कार्य व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का परिष्कार करना है। सविधि संस्कारों के अनुष्ठान से संस्कृत व्यक्ति में विलक्षण तथा अवर्णनीय गुणों का प्रदुर्भाव हो जाता है।[1]

वैदिक कर्मकाण्डीय मन्त्रों से यह विदित होता है कि संस्कारों का उदय वैदिक काल या उससे पूर्व हो चुका था।[2] किन्तु वैदिक साहित्य एवं ब्राह्मण साहित्य में इस शब्द का कहीं उल्लेख नहीं हुआ है। यद्यपि ब्राह्मण साहित्य में विशेष प्रकरणों में उपनयन, अन्त्येष्टि आदि कतिपय संस्कारों में अंगों का वर्णन किया जाता है।[3]

संस्कार दो प्रकार के होते हैं–'मलापनयन' और 'अतिशयाधान'। किसी दर्पण पर कोई चूर्ण घिसकर उसका मल साफ करना 'मलापनयन' है। तेल रंगद्वारा हस्ती के मस्तक या काष्ठ की किसी वस्तु को चमकीला और सुन्दर बनाना 'अतिशयाधान' है। संस्कारों से आत्मा या अन्तःकरण शुद्ध होता है। षोड्श एवं अष्टचत्वारिंशत् संस्कारों द्वारा आत्मा अथवा अन्तःकरण को संस्कृत करना चाहिए--यह भी शास्त्र का आदेश है-

''यस्यैते अष्टचत्वारिंशत् संस्कारा भवन्ति
स ब्रह्मणः सामुज्यं सलोकतां प्राप्नोति''।[4]

संस्कार का प्रयोग शुद्धि क्रिया एवं धार्मिक विधि विधान आदि अर्थों में हुआ है।[5]

संस्कारों की संख्या के विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं। गृह्य सूत्रों में वर्णित संख्या बारह से लेकर अठारह तक जाती है। संस्कारों के नामों में थोड़ी बहुत विभिन्नता पाई जाती है। धर्म सूत्रों

1. आत्माशरीरान्यतरनिष्ठो विहितक्रियाजन्योऽतिशय विशेषः संस्कारः। (वीर मित्रोदय संस्कार प्रकाश भाग-1 पृ. 132)
2. वही–पृ.2
3. शतपय ब्राह्मण-(11-14)
4. कल्याण-(हिन्दू संस्कृति अंक) पृ. 35
5. मनु स्मृ. (II 26)

में संस्कारों की संख्या चालीस तक भी मानी गई है।[1] अधिकांशतः स्मृतियों ने सोलह संस्कारों को माना है।[2]

शोधकर्ताओं ने संस्कार को दो वर्गों में विभाजित किया है:-

1. वह संस्कार जो मनुष्य को उच्च विचार प्रदान करें।
2. उच्चविचार को प्राप्त करके बुरे विचार त्याग दें।

अनेक भारतीय शोधकर्ता षोड़श संस्कारों को महत्व प्रदान करते हैं और कुछ अड़तालीस संस्कारों को बताते हैं। किन्तु आमतौर पर समस्त प्रायद्वीपों में षोड़श संस्कार की प्रधानता है।[3]

इन संस्कारों का मुख्य उद्देश्य यह है कि व्यक्ति के शरीर एवं आत्मा को 'मलापनयन' एवं 'अतिशयाधान' के द्वारा पवित्र किया जाता है इनको पवित्र करने की दो परते हैं प्रथम यह है कि मनुष्य को पापों से मुक्त करवाना एवं द्वितीय परत यह है कि मनुष्य को पापमुक्त करवाकर उनमें विवेक एवं ज्ञान के द्वारा प्रकाशित करना। प्रत्येक मनुष्य अच्छा एवं बुरा अपने मन के द्वारा ही बनता है। सभी मनुष्य यह मानते हैं हर एक मनुष्य दिव्य शक्ति से ही पैदा होता है और कोई भी अच्छा या बुरा पैदा होने पर नहीं होता, हमारे संस्कार ही मनुष्य के भविष्य को बनाने में सुसज्जित करते हैं।[4]

प्रत्येक समाज के अपने रीति-रिवाज होते हैं। इसी प्रकार हिन्दू-समाज के रीति-रिवाजों में संस्कारों की प्रधानता है। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि हिन्दू समाज में रहने वाले प्रत्येक जाति के लोगों में इन संस्कारों की एक जैसी सत्ता हो। वर्तमान कालीन भारतीय हिन्दू समाज में अधिक मात्रा में संस्कारों का लुप्त होना प्रायः पाया जाता है। कुछ संस्कार तो केवल प्रतीक रूप में उपलब्ध होते हैं। काश्मीरी-समाज एक ऐसा समाज है जहाँ वर्णित संस्कारों का अभी भी महत्वपूर्ण स्थान है। विशेष रूप से शैक्षणिक संस्कार अपना प्रभुत्व अभी भी सुरक्षित रखते हैं।

शैक्षणिक संस्कार-

मुख्य संस्कारों में शैक्षणिक अर्थात् ब्रह्मचर्य-संस्कार के अन्तर्गत विद्यारम्भ, उपनयन, वेदारम्भ, केशान्त अथवा गोदान, समावर्तन अथवा स्नान संस्कार हैं किन्तु कश्मीरी संस्कारों में ब्रह्मचर्य संस्कार के अन्तर्गत-यज्ञोपवीत, उपनयन, मेखला संस्कार है।

कश्मीरी संस्कार के अनुसार तीन प्रकार के संस्कार यज्ञोपवीत के अन्तर्गत आते हैं-यज्ञोपवीत, उपनयन एवं मेखला किन्तु मुख्य संस्कारों के अनुसार उपनयन संस्कार के विधि-विधान के अन्तर्गत मेखला एवं यज्ञोपवीत संस्कार आते हैं।

1. गौ. स्मृ. (VIII 2)
2. संस्कार दीपक (भाग-II, पृ.-1)
3. हिन्दू संस्कार, राजबली पाण्डेय, पृ. 26
4. Kashmir Hindu Sanskar's, Pandit, P.4

1. विद्यारम्भ-

विद्यारम्भ संस्कार का उद्भव वर्णमाला के विकास के साथ-साथ ही हो चुका था। उपनयन संस्कार के पूर्व ही इसका किया जाना आवश्यक माना जाता था। विभिन्न मतों के अनुसार इस संस्कार हेतु निश्चित आयु भी विभिन्न थी। किन्तु उपनयन संस्कार से पूर्व होना निश्चित था। सूर्य की स्थिति उत्तरायण में होने पर किसी शुभ दिन इस संस्कार को कर लिया जाता था। स्नान-विधि के पश्चात् होम करके गुरु बालक को अक्षरारम्भ कराता था।

हिन्दू-संस्कारों के अन्तर्गत विद्यारम्भ संस्कार शैक्षणिक संस्कार के प्रथम चरण में आता है, किन्तु कश्मीरी संस्कारों के अनुसार मेखला संस्कार के सम्पन्न होने के तुरन्त बाद में विद्यारम्भ करवाया जाता है। विद्यारम्भ का उपर्युक्त समय मार्गशीर्ष से ज्येष्ठ मास पर्यन्त था। आषाढ़ से कार्तिक तक विष्णु के शयन का समय माना जाता था, अतः इस समय विद्यारम्भ का अनुष्ठान निषिद्ध था। विद्यारम्भ संस्कार बालक की आयु के पाँचवे वर्ष में किया जाता था।[1]

हिन्दू-संस्कारों के अनुसार विद्यारम्भ इस प्रकार से करवाया जाता था-गुरु पर्व दिशा की ओर मुख करके बैठता था, पश्चिम की ओर मुँह करके बैठे हुए बालक को अक्षरारम्भ कराता था। इस अवसर पर इसके रूप से बनवायी गई लेखनी से चावल पर अक्षर लिखे जाते थे। इसके अतिरिक्त श्रीगणेशाय नमः, सरस्वती नमः, गृहदेवताभ्यो नमः, लक्ष्मीनारायणाभ्यो नमः, ये वाक्य भी लिखे जाते थे।[2]

कश्मीरी संस्कारों के अनुसार जब विद्यारम्भ करवाई जाती थी तो सर्वप्रथम अक्षर ज्ञान करवाया जाता था और लिखने के लिए लकड़ी की पट्टी, नीली स्याही (एक प्रकार की नीली मिट्टी) एवं कलम (नरकानी) का प्रयोग किया जाता था। विद्यारम्भ में गुरु शिष्य को तीन शब्द-ओम, स्वस्ति, सिद्धम् उच्चारण करके लिखवाता था।[3]

2. उपनयन

हिन्दु संस्कारों के अनुसार उपनयन संस्कार में शिष्य को आचार्य के निकट भेजा जाता था और तभी से उस बालक का ब्रह्मचार्य जीवन में प्रवेश द्वार माना जाता था इसके अतिरिक्त इस संस्कार में केवल शिक्षा ही नहीं अपितु वह सभी कृत्य, जिसके द्वारा व्यक्ति गुरु, वेद, यम, नियम का व्रत और देवता के सामीप्य के लिए योग्य बनाया जाता था।[4]

1. आषाढ़शुक्लद्वादश्यां शयनं कुरुते हरिः।
   निद्रां त्यजति कार्तिक्यां तयोः सम्पूज्यते हरिः।। (वीरमित्रोदय संस्कार भाग-1, पृ. 321)
2. हिन्दू-संस्कार, राजबली पाण्डेय, पृ. 141-142
3. Kashmir Hindu Sanskars, Pandit, P-133
4. (क) उपसमीपे आचार्यादीनां बटोर्नयनं प्रापणमुपनयनम्। (भारूचि)
   (ख) गुरोर्व्रतानां वेदस्य यमस्य नियमस्य च।
   देवतानां समीपं वा येनासौ नीयते द्विजः। (अभियुक्त) (वीरमित्रोदय संस्कार भाग-1, पृ. 334)

उपनयन संस्कार केवल छात्र के गुरु के निकट जाने पर नहीं सम्पन्न होता था, अपितु वेद की किसी भी शाखा का अध्ययन आरम्भ करते समय इसका अनुष्ठान किया जाता था।[1] एवं दर्शन की किसी नवीन शाखा के अध्ययन के लिए गुरु के समीप जाने पर उपनयन किए जाने का वर्णन किया गया है।[1] याज्ञवल्क्य के अनुसार उपनयन का सर्वोच्च प्रयोजन वेदों का अध्ययन करना है। 'महाव्याहृतियों से शिष्य का उपनयन कर गुरु को उसे वेद, आचार और शील शिक्षा देनी चाहिए।[3] अथर्ववेद के समय उपनयन द्वितीय जन्म माना जाता था।[4] और समाज के सभी द्विजों को अपना उपर्युक्त स्थान उपनयन द्वारा ही प्राप्त होता था। किन्तु द्वितीय जन्म की धारणा केवल उपनयन के सम्बन्ध में ही नहीं थी, यज्ञीय दीक्षा के साथ ही द्वितीय जन्म का सम्बन्ध स्थापित हो गया था।[5]

उपनयन संस्कार में विद्यार्थी को पवित्रतम सावित्री/गायत्री मन्त्र का उपदेश दिया जाता था।[6] यदि बालक में उसे उस दिन समझने की योग्यता न होती, तो इसका उपदेश एक वर्ष, छह मास, चौबीस दिन, बारह दिन अथवा तीन दिन के पश्चात् दिया जा सकता था।[7] बालक के मुख की ओर देखता हुआ आचार्य सावित्री/गायत्री मन्त्र का उच्चारण करता था, जो इस प्रकार है:–'हम सविता के वरेण्य (वरण करने योग्य! उत्तम) भर्ग अथवा तेज को धारण करते हैं। वह हमारी बुद्धि को प्रेरित करे।[8]

गायत्री मन्त्र के उपदेश के पश्चात् विद्यार्थी भिक्षा माँगता था।[9] यह सम्पूर्ण विद्यार्थी जीवनपर्यन्त उसके निर्वाह के प्रमुख साधन भिक्षा का विविधवत् आरम्भ था। उपनयन के दिन वह माता तथा अन्य सम्बन्धियों से भिक्षा माँगता था।[10]

वैदिककालीन युग में ब्रह्मचारी की भिक्षावृत्ति का उल्लेख इस प्रकार है। 'यह विशाल पृथिवी और आकाश ब्रह्मचारी को भिक्षा में प्राप्त हुए हैं।[11]

---

1. यच्छाखीयैस्तु संस्कारैः संस्कृतो ब्राह्मणो भवेत्।
   तच्छाखाध्ययनं कार्यमेवं न पतितो भवेत्।। वसिष्ठ (वीर मित्रोदय संस्कार, भाग-1, पृ. 415)
2. छान्दोग्य उपनिषद् 5.2.7
3. उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम्।
   वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत्।। (याज्ञवल्क्य स्मृति, 1.15)
4. आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
   तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः।। (अथर्ववेद 11.5.3)
5. अजातो ह वै तावत्पुरुषो यावन्न यजते। (शतपथ ब्राह्मण, 2.3.4)
6. (क) पास्कर गृह सूत्र-2.3.3 (ख) शांख्यायन गृहसूत्र-1.21.5
7. वही
8. तत्सवितुर्वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।।
9. पास्कर गृहसूत्र 2.4.6.
10. हिन्दू-संस्कार, राजबली पाण्डेय, पृ. 178
11. अथर्ववेद 11.5.9

कश्मीरी संस्कारों के अनुसार उपनयन शब्द का अर्थ पवित्र आग के पास बैठकर इस संस्कार को सम्पन्न करना है। इसके अतिरिक्त कण्ठ पर पवित्र धागा बाँधा जाता है। इस संस्कार से ही गुरु शिष्य परम्परा की महत्ता आरम्भ होती है। एवं गुरु शब्द का अर्थ इस प्रकार से किया जाता है जो किसी अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर करें।[1]

कश्मीरी संस्कारों के अनुसार कुलगुरु शिष्य को उसका जीवन सफलतापूर्वक व्यापन होने का आशीर्वाद देता है, एवं गुरु शिष्य के दाहिने कान में गायत्री मन्त्र का उच्चारण करता है।[2]

कश्मीरी संस्कारों में भी भिक्षावृति का उल्लेख हुआ है। 'भिक्षा को कश्मीरी में 'बिखया' कहते हैं एवं भिक्षा द्वारा ही उस बालक को पाठशाला भेजा जाता था, ताकि वह अपनी पढ़ाई अच्छे प्रकार से सम्पन्न करें।[3]

3. मेखला

हिन्दू-संस्कारों के अनुसार मेखला संस्कार इस प्रकार से किया जाता है-बालक की कटि के चारों ओर मेखला बाँध कर मन्त्र का उच्चारण किया जाता है–पाप को दूर रखती हुई, शोधक की भाँति मनुष्य को शुद्ध करती हुई श्वास तथा प्रश्वास की शक्ति से स्वयं को आवृत करती हुई, शक्ति के साथ, भगिनी मेखला मेरे निकट आई है।[4]

यदा-यदा बिना किसी मन्त्र का उच्चारण किये भी मेखला पहना दी जाती थी।[5] मेखला तिहरे सूत्र से बनाई जाती थी इसका अर्थ यह है कि ब्रह्मचारी सर्वदा तीन वेदों से आवृत है[6] मेखला ब्रह्मचारी को यह भी सूचित करती है कि 'वह श्रद्धा की तप से उत्पन्न दुहिता, ऋषियों की भगिनी तथा भूतकृता (जीवों का कल्याण करने वाली) है। वह उसके ऋत (व्रत) के गोपन में समर्थ हैं दुष्प्रभावों से वह उसकी रक्षा करेगी।[7] उपनयन के तत्काल पश्चात् कपास की मेखला धारण करने का विधान है।[8]

कश्मीरी संस्कारों में मेखला शब्द का अर्थ है–एक विशेष प्रकार की वेशभूषा धारण करना, कुशा घास की रस्सी बनाकर कमर में बाँधी जाती है, हिरण की खाल, पलाश वृक्ष की लकड़ी

1. Kashmir Hindu Sanskars, Pandit, P-65
2. वही पृ. 161. 162
3. वही पृ. 158
4. पास्कर गृह सूत्र 2.2.11
5. पास्कर गृह सूत्र 2.2.13
6. वेदत्रयेणावृतोऽहमिति मन्येत स द्विजः। आश्वलायन (वीर मित्रोदय संस्कार भाग 1. पृ.4-32)
7. क. श्रद्धाया दुहिता तपसोऽधिजाता स्वसा ऋषीणां भूतकृता बभूव। (अथर्ववेद 6.133.4)
   ख. ऋतस्य गोप्त्री तपसश्चरित्री ध्नती रक्षः सहमाना अरातीः।
   सा मा समन्तमभिपर्येहि भद्रे धर्तारस्ते सुभगे मेखले मारिषामे।। (वाराहा गृह-सूत्र.5)
8. हिन्दू संस्कार राजबली पाण्डेय-पृ. 169

एवं कपास से बना हुआ धागा कमर में बाँधा जाता है। यह सभी कार्य संस्कारित बालक की रक्षा के निमित्त किये जाते हैं, कश्मीरी संस्कारों के अनुसार कपास की मेखला कटि पर धारण करनी चाहिए।[1]

कश्मीरी संस्कारों के अनुसार जब बालक का मेखला संस्कार किया जाता है वो सर्वप्रथम बहुत सारे कार्य किये जाते हैं, इन कार्यों को शुभ समय पर करने के लिए पुजारी शुभ मूहुर्त निकालता है। वे कार्य निम्नलिखित हैं:-[2]

1. ज्युन् चट्टुनः-किसी शुभ दिन पर भोजन तैयार करने के लिए लकड़ियों को काटना।
2. खरीदारीः–किसी शुभ दिन पर ही खाद्य-सामग्री आदि वस्तुओं का संकलन करना।
3. दपुन्ः–शुभदिन पर सगे-सम्बन्धियों को निमन्त्रण पत्र भेजना।
4. गऽर नावयः–शुभ दिन पर घर की सफाई करना।
5. मऽन्ज राथः–शुभ दिन पर मेंहदी की रस्म करना। मेंहदी वाली रात के दिन एक विशेष प्रकार का खाद्य-पदार्थ बनाया जाता है, जिसका नाम 'वर' है। इस दिन मुख्यद्वार को रंगों, फूल-पत्तियों बेलों आदि से सजाया जाता है। इसे कश्मीरी में क्रु-खरुन कहते हैं। मेंहदी रात में मेंहदी को सुबह ही बालक की बुआ भिगोती है और उसमें पानी के साथ चाय पत्ती, चीनी और कुछ तेल की बूँदें डाली जाती हैं, ताकि मेंहदी का रंग गहरा हो। शाम को बालक की मासी उसके हाथ-पाँव धोकर उसको मेंहदी लगाती है।
6. दिव गोऽनः–शुभ मुहूर्त में धार्मिक रीति-रिवाजों से देवता की स्तुति करके आशीर्वाद प्राप्त करना।
7. दुरइ बऽतअः–शुभ मुहूर्त पर बालक के मामा सपरिवार खाने-पीने की वस्तुएं एवं वस्त्र आदि उपहार लेकर आते हैं।
8. मेखलाः–शुभ मुहूर्त पर बालक के शरीर पर धागा डाला जाता है।
9. कौशल होमः–कौशल होम में पवित्र अग्नि प्रज्जवलित की जाती है। यह एक प्रकार का धन्यवाद देवी-देवताओं के प्रति किया जाता है, जिन्होंने इस कार्य को सम्पन्न करने में सम्पूर्ण सहयोग दिया है।

4. यज्ञोपवीत

हिन्दू संस्कारों के अनुसार उपवीत सूत्र का नाम 'यज्ञोपवीत' स्वयं ही अपने मौलिक स्वरूप की ओर संकेत करता है।[3]

---

1. Kashmir Hindu Sankar's Pandit P-65
2. वही पृ. 17, 80, 94, 95, 170
3. हिन्दू संस्कार-राजबली पाण्डेय पृ. 170

यज्ञोपवीत के समय जो सूत्र बालक को धारण करवाया जाता है, उसमें तीन धागे लगे होते हैं, जो मानव के तीन आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ) तीन ऋण (देवताओं, ऋषि, गुरु एवं पितरों के प्रति धार्मिक कर्त्तव्य) तीन वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) तीन लोक (भु, भुवः, स्वः) तीन देव (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) को दर्शाते हैं।[1]

धर्मशास्त्रों के नियमानुसार ब्राह्मण की कपास, क्षत्रिय को सन का तथा वैश्य को भेड़ के ऊन का उपवीत धारण करना चाहिए।[2] कश्मीरी संस्कारों के समान ही मुख्य संस्कारों में भी यज्ञोपवीत संस्कार में समस्त वर्ण के बालक को कपास का यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए।[3]

कश्मीरी संस्कृति में यह एक महत्वपूर्ण संस्कार है, ब्राह्मण सम्बन्धी नियम इस संस्कार में पाए जाते हैं कश्मीरी भाषा में इसको 'योनि त्रवुन' कहते हैं। यह एक बहुत महत्वपूर्ण उत्सव होता है, जिसमें न केवल एक परिवार के लोग अपितु समस्त राजकुल एवं सगे-सम्बन्धियों सहित यह उत्सव बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता है। कुछ लोग यज्ञोपवीत को ही उपनयन या मेखला कहते हैं एवं इस उत्सव का आयोजन दो कारणों से मानते हैं–एक 'परम्परागत युक्त' और दूसरा 'धार्मिक'। संस्कृत भाषा में 'यज्ञोपवीत' शब्द की उत्पत्ति इस प्रकार से हुई है–जिसका अर्थ है–'पवित्र अग्नि' और इस संस्कार को सम्पन्न करने के लिए पवित्र अग्नि के पास बैठना।[4]

कश्मीरी संस्कारों के अनुसार बालक का यज्ञोपवीत कुल गुरु के द्वारा पवित्र आगे के सामने बैठकर किया जाता है। कुल गुरु उस बालक के माथे पर केसर का तिलक लगाकर इस संस्कार को करता है।[5]

कश्मीरी संस्कारों के अनुसार बालक का यज्ञोपवीत माता-पिता के द्वारा भी किया जाता है। भिक्षा माँगने के पश्चात् बालक के माता-पिता इसे पवित्र अग्नि के सम्मुख बैठाकर पवित्र धागा बाँधते हैं।[6]

5. समावर्तन अथवा स्नान

हिन्दू संस्कारों के अनुसार यह संस्कार ब्रह्मचर्य के समाप्त होने पर सम्पन्न किया जाता था तथा विद्यार्थी जीवन के अन्त का सूचक था। समावर्तन शब्द का अर्थ है 'वेदाध्ययन के अनन्तर गुरुकुल से घर की ओर प्रत्यावर्तन'।[7]

1. Kashmir Hindu Sanskar's Pandit-P-74
2. कार्पासमुपवीत स्याद विप्रस्योर्ध्व वृतं त्रिवृत्।
शाणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसूत्रजम्।। (मनुस्मृति 2.44)
3. कार्पासञ्चोपवीतं सर्वेषाम्। पैठीनसि (वीर मित्रोदय संस्कार भाग-1, पृ.415)
4. Kashmir Hindu Sanskar's Pandit P-67
5. Kashmir Hindu Sankari's Pandit P-134
6. वही–पृ.136
7. तत्र समावर्तनं नाम वेदाध्ययनान्तरं गुरुकुलात् स्वगृहागमनम्। (वीरमित्रोदय संस्कार भाग-1 पृ.564)

समावर्तन के विधि विधान में गौरवमय स्नान के पश्चात् ब्रह्माचारी मेखला, मृगचर्म तथा दण्ड आदि ब्रह्माचारी के समस्त बाह्य चिन्हों को जल में फेंक देता तथा एक नवीन कौपीन धारण करता था। कुछ दधि और तिल का भोजन कर वह अपनी दाढ़ी, केश तथा नखों को कटवाता एवं उदुम्बर वृक्ष की टहनी से दन्तधावन करता था।[1]

समावर्तन के साथ ही विद्यार्थी का तस्यापूर्ण जीवन समाप्त हो जाता था तथा जीवन के अनेक सुख और विलास जो ब्रह्माचर्य जीवन में उसके लिए वर्जित थे, गुरु द्वारा उसे दिये जाते थे। सर्वप्रथम वह उसे सुगन्धित जल से स्नान कराता था।[2]

कश्मीरी संस्कारों में समावर्तन अथवा स्नान प्रतीक रूप में रह चुका था। अतः बालक के विद्यारम्भ, उपनयन, मेखला एवं यज्ञोपवीत संस्कारों के पश्चात् अन्त में स्नान विधि करवाई जाती है। यह स्नान विधि किसी नदी के किनारे या ऐसी जगह पर होती है जहाँ पर पानी प्राप्त हो। उस बालक के पुराने वस्त्र, धारण की हुई मेखला, मृगचर्म एवं दण्ड त्यागकर नए वस्त्र पहनाए जाते हैं तत्पश्चात् उसे एक गोले के बीच पूर्व दिशा की ओर खड़ा रखके चीनी खिलाई जाती है। यह रीति समाप्त होने के बाद उसे मंदिर में दैवी-देवताओं के दर्शन एवं आशीर्वाद के लिए लिया जाता है।[3]



1. पास्कर गृहसूत्र-2.6.12
2. क. गौतम गृहसूत्र-3.4.11

   ख. खदिर गृहसूत्र-3.1.9
3. Kashmir Hindu Sankaris, Pandit- P-167-168

काश्मीर-शैवदर्शन और आचार्य क्षेमराज

प्रो॰ शारदा गुप्ता

अपनी सर्वातिशायिनी एवं सर्वतोमुखी प्रतिभा के कारण आचार्य क्षेमराज की गणना काश्मीर शैवदर्शन के प्रसिद्ध आचार्यों में की जाती है। इनके ग्रन्थों की पुष्पिका में दिया गया वाक्य 'अभिनवगुप्तपादपद्मोपजीविन:' इनका स्थितिकाल निर्धारण करने में सशक्त प्रमाण है। दशम शतक के उत्तरार्ध से एकादश शतक के पूर्वार्ध के स्थितिकाल वाले अभिनवगुप्त के शिष्य क्षेमराज का समय भी यही माना जाता है तथा क्षेमराज का साहित्य-सृजन-काल 1015 ई॰ से 1040 ई॰ तक स्वीकार किया जाता है।[1] स्पन्द सिद्धान्त की व्यवस्थित स्थापना के महान् संस्थापक आचार्य क्षेमराज हैं। परम शिव के सायुज्य के प्रगाढ़ राग के अतिरेक के स्फुरण वाली नवीन अवस्था के आवेश से क्षेमराज युक्त रहे हैं।[2] यह एक अभेदवादी आचार्य हुए हैं। तन्त्रों की द्वैतपरक व्याख्या के तिमिर के विध्वंस में क्षेमराज तत्पर रहे हैं और अद्वैत के अमृत के महान् विस्तारक रहे हैं।[3] आचार्य क्षेमराज एक उच्चकोटि के साधक रहे हैं।[4] मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण प्रस्तुत करने एवं व्याख्याग्रन्थ तथा स्वतन्त्रग्रन्थ-रचना में यह आचार्य विशेष निपुण रहे हैं।[5] गुरु अभिनवगुप्त के समान इनके द्वारा रचा गया साहित्य विशाल रहा है। तन्त्रशास्त्र तथा दर्शन-शास्त्र पर तो इनका विशेष अधिकार रहा ही है, लेकिन अलंकारशास्त्र के क्षेत्र में भी यह निष्णात रहे हैं। ध्वन्यालोकलोचनोद्योत इसका उदाहरण है। इसके अतिरिक्त इनको पच्चीस ग्रन्थों की रचना का श्रेय दिया जाता है।[6] शिवसूत्रविमर्शिनी, प्रत्याभिज्ञाहृदयम्, स्पन्दसन्दोह, स्पंदनिर्णय, स्तवचिंतामणिटीका, षट्त्रिंशततत्त्वसंदोह, साम्बपञ्चाशिकाविवरण, नेत्रोद्योत, विज्ञानभैरवविवृति, उत्पलस्तोत्रावलीटीका, पराप्रावेशिका, परमार्थसंग्रहविवृत्ति, भैरवानुकरणस्तोत्र, वामोदय, शिवस्तोत्र, स्पन्दनिलय, स्वच्छन्दनय, परमार्थसंग्रह, क्रमसूत्रवृत्तिस्तोत्र, उत्पलपरमेशस्तोत्रावलीविवरण और बोधविलास।

1. Contribution of Kashmir by K.S. Nagarajana, P. 404, 405
   Krama Tantricism of Kashmir-Sources and Literature by Dr. Navjeevan Rastogi, P. 166
   काश्मीरशैवदर्शन और कामायनी, पृ॰ 24।
2. Abhinavgupta - An historical and Philosophical study by Dr. K.C. Pandey, p. 253
3. साम्बपंचाशिकाविवरण, क्षेमराज, पृ॰ 38
4. स्वच्छन्दोद्द्योत, क्षेमराज, भाग-6, पृ॰ 146 भेदव्याख्यातमोऽपनुत ... तेनाद्वैतामृतस्फीत।
5. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, का॰ 18-19, पृ॰ - 119-135।
6. वही, का॰ 16, पृ॰ - 124-126।
   Contribution of Kashmir by K.S. Nagrajan, P. 405-412
   Abhinavgupta - An historical and Philosophical study by Dr. K.C. Pandey, p. 255-257

1. 'शिवसूत्रविमर्शिनी'

अपने नाम के अनुरूप शिवसूत्रों के सम्यग् विमर्श में तत्पर है तथा पूर्ववर्ती वृत्तियों के असामञ्जस्य की निवृत्ति करती है। यह एक गद्यबद्ध रचना है। इसके प्रारम्भ में शिव की कारणता, जगत् की शिवमयता, स्पन्दतत्त्व की स्वातन्त्र्यरूपता एवं आनन्दरूपता, शिव की चैतन्यात्मकता तथा अद्वैत का प्रकर्ष दिखलाया गया है।[1] इसमें शिवसूत्रों के रहस्यार्थ की विशद विवेचना हुई है।[2] इसमें पूर्व एवं अपर सूत्रों पर परस्पर अन्वय स्पष्ट है। विविध शास्त्रों के वचनों से प्रत्येक विषय का विशद विवेचन इसमें हुआ है। आगम एवं स्पंदशास्त्र की उक्तियों का इसमें समावेश मिलता है। सांसारिक बंधन के उच्छेद के लिए इसका रसास्वादन वाञ्छित है। इस कृति के अध्ययन से प्रज्ञा उर्वर होती है तथा भवभय की निवृत्ति होती है।[3] इस ग्रन्थ का विमर्श मंगलदायी है तथा शिव एवं स्वात्म के ऐक्य का बोध कराने वाला है।[4]

2. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

काश्मीर शैवदर्शन के प्रत्यभिज्ञासिद्धान्त की यह वृत्ति सहित कृति निधिविशेष है। धर्म एवं दर्शन के अद्भुत सामरस्य की स्थापना इस ग्रन्थ में हुई है। प्रत्यभिज्ञाहृदयम् की बीस कारिकाओं में स्वातन्त्र्य तथा विश्व के नानात्व की चर्चा हुई है। प्रत्यभिज्ञादर्शन का सार इस ग्रंथ में परिपुष्ट हुआ है। प्रत्यभिज्ञारूपी महासमुद्र का साररूप यह ग्रन्थ भवरूपी विष को शान्त करने वाला है।[5] इस ग्रन्थ में उन लोगों के लिए तत्त्व का उपदेश समाविष्ट है, जिन्हें शक्तिपात तो प्राप्त हो गया, लेकिन अभ्यास के अभाव के कारण ईश्वर का प्रत्यभिज्ञान नहीं हो पाता।[6] ग्रन्थ के प्रारम्भ में नमस्कारोक्ति के रूप में शिव को पंचकृत्यकारी एवं चिदानंदस्वरूप बताया गया है।[7] इस ग्रन्थ के अनुसार चिति का स्वातन्त्र्य ही विश्व की सिद्धि में हेतु है, चिति व्यापक, नित्य, परिपूर्ण एवं चिद्रूप हैं। इसी में विश्व का उन्मीलन दर्पण में नगर के समान होता है। चिति का संकोच ही विश्वात्मक चेतन के संकोच में हेतु है। खेचरी, गोचरी, दिग्चरी तथा भूचरी, आदि के रूप में चिति का स्फुरण होता है।[8] विश्व का ग्रसन करने से चिति वह्नि के सदृश है।[9] चिति-लाभ होने पर चिति विश्व को आत्मसात् कर लेती है।[10] तुरीया चिति-शक्ति की अवस्था में स्वाधिष्ठित वस्तुएँ आत्मसात् हो जाती

---

1. शि॰सू॰वि॰, श्लोक - 1, मंगलाचरण श्लोक।
2. वही, मंगलाचरण श्लो॰ - 1-2।
3. वही श्लो॰ - 2, 'नवामृत....रसयन्तु भवच्छिदे ... इमाम्।
4. वही श्लो॰ 3, पृ॰ - 142, 'क्षेमायास्तु विमर्शिनाम्। 'शिवस्यात्मैक्यबोधार्था शिवसूत्रविमर्शिनी।
5. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, श्लो॰ - 2, शांकरोपनिषत्सारप्रत्यभिज्ञामहोदधेः। क्षेमेण ध्रियते सारः संसार विषशान्तये'।
6. वही, अंतिम श्लो॰, पृ॰ - 143।
7. वही, अंतिम श्लोक, पृ॰ - 63।
8. प्र॰हृ॰ पृ॰ - 116, का॰ - 12, व्याख्या।
9. वही, का॰ - 14, चितिरेव विश्वग्रसनशीलत्वात् वह्नि।
10. वही, का॰ - 15, बललाभे विश्वमात्मसात्करोति।

हैं।[1] ग्राह्यग्राहक में भेद नहीं है तथा परमशिव ही अभिन्नरूप में विश्व के रूप में स्फुरित होता है।[2] शिवभट्टारक कभी द्विरूप, कभी त्रि-रूप, कभी चतु:रूप तथा कभी सप्तपंचक के रूप वाला हो जाता है।[3] दार्शनिक सिद्धान्त आत्मा की ही विविध भूमिकाएँ हैं।[4] भेददर्शन से मल से आवृत होने के कारण संसरण होता है।[5] शक्ति के संकोच से तात्पर्य संसरण तथा शक्ति के विकास का शिवात्मक होना द्योतित करता है।[6] शिवकृत्यों के ज्ञान के अभाव में शक्तिव्यामोह एवं संसरण होता है।[7] पशु दशा भेदात्मक है तथा पति दशा अभेदात्मक है।[8] स्वरूपज्ञान से बंधनमुक्त होकर देहधारणकाल में ही साधक को जीवन्मुक्ति प्राप्त हो जाती है।[9] मध्यनाड़ी के विकास के बाद चिदानन्द की प्राप्ति होती है तथा तदनन्तर जीवन्मुक्ति होती है।[10] विवेकावलम्बी समाधि द्वारा चित्ततादात्म्य करता हुआ आनन्दानुभूति करता है।[11] शक्तिचक्र की प्रभुता समाधि का फल है।[12] समस्त प्रतीयमान जगत् शिवरूप ही है।[13] शिवोपलब्धि ही लक्ष्य है एवं सब कुछ शिवमय है।[14] यह जगत् फेनपिण्ड तुल्य है तथा ज्ञान-अमृत का सागर है—इस विवेक के प्राप्तकर्त्ता साक्षात् शिव ही हैं।[15]

3. स्पन्दसन्दोह

यह ग्रन्थ स्पंदकारिका की प्रथम कारिका की व्याख्या प्रस्तुत करता है।[16] ग्रन्थ के प्रारम्भ में शिवतत्त्व को सर्वतोत्कृष्ट, अद्वितीय, स्पन्दववान्, अनिर्वचनीय, समस्त प्रपञ्च का आधार एवं सृष्टि तथा लय का कर्त्ता कहा गया है।[17]

1. वही, का॰ – 19, स्वाधिष्ठितं आत्मसात्करोति येयं तुरीया चितिशक्ति:।
2. वही, का॰ – 3 श्री मत्परमशिवस्य ... शिवादिधरण्यन्तमखिलं अभेदेनैव स्फुरति।
3. प्र॰ ह॰ , का॰ – 7, स चैको द्विरूपस्त्रिमयश्चतुरात्मा सप्तपंचक स्वभाव:।
4. वही, का॰ – 8, तद् भूमिका: सर्वदर्शनस्थितय: ।
5. वही, का॰ – 9।
6. वही, का॰ – 9, शक्तिदरिद्र संसारी उच्यते। स्वशक्ति विकासे तु शिव एव:।
7. वही, का॰ – 12 पृ॰ 110।
8. वही, का॰ – 12 पृ॰ 118।
9. वही, का॰ – 12, पतिदशायां तु भेदे संहार अभेदे च।
10. वही, का॰ – 12, पृ॰ 120 देहाद्यवस्थायामपि पतिदशात्मा जीवन्मुक्तिर्भवति।
11. वही, का॰ – 17, पृ॰ 126–128।
12. वही, का॰ – 19 पृ॰ 135।
13. वही, का॰ – 20, पृ॰ 137।
14. वही, का॰ – 20, पृ॰ 143।
15. वही, का॰ – 20, पृ॰ 140 शिवात् प्रसृतत्वात् शिवस्वरूपाभिन्नत्वाच्च शिवमयमेव।
16. वही, का॰ – 19, पृ॰ 143
17. स्पन्दसन्दोह, क्षेमराज, पृ॰ – 3, 'तत्र आद्यमेव सूत्रं विमृश्यते
18. वही, मंगलाचरण, श्लो॰ – 1

4. स्पंदनिर्णय

स्पंदकारिका की सम्पूर्ण व्याख्या इसमें उपलब्ध होती है। स्पंदसंदोह जहाँ स्पंदसुधा का अल्प आस्वादन कराने में समर्थ है, वहाँ स्पंदनिर्णय स्पंदरूप अमृत के पूर्ण आस्वादन के लिए प्रणीत हुआ ग्रन्थ है।[1] स्पंदतत्त्व तथा काश्मीरशैवदर्शन के ज्ञान के लिए यह कृति विशेष ग्राह्य है।[2] स्पन्दशास्त्र पर लिखी गई विभिन्न कृतियों में से यह एक उत्तम कृति है, जो कि सारग्रहण में विदग्ध एवं विद्वदग्रगण्यों द्वारा स्पृहणीय बन गई है।[3] इस ग्रन्थ में इस बात की स्पष्ट उद्घोषणा की गई है कि स्पन्दामृत का आस्वादन सर्वसाधारण का विषय नहीं है, अपितु सद्गुरू से उपादिष्ट एवं आरूढ़ प्रमिति वाला अधिकारी ही प्रत्यभिज्ञारूपी सुधा का चर्वण कर सकता है।[4] इस ग्रन्थ के स्वरूपस्पन्द नाम प्रथम निष्यंद में स्पन्दकारिका की प्रथम पच्चीस कारिकाओं की व्याख्या हुई है। 'सहजविद्योदयस्पंद' नामक द्वितीयनिष्यंद में सात कारिकाओं की व्याख्या हुई है। विभूतिस्पन्द नामक तृतीय निष्यन्द में उन्नीस कारिकाओं की व्याख्या है तथा चतुर्थ निष्यंद में गुरु की भारती से सम्बंधित मंगलाचरण के श्लोकों की व्याख्या हुई है। स्पन्दशास्त्र के अर्थ के सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति में स्पन्दनिर्णय की उपादेयता स्वीकार्य है।

5. षट्त्रिंशततत्त्वसंदोह[5]

यह कृति 'तत्त्वसंदोह' नाम से भी जानी जाती है। यह इक्कीस आर्याओं में निबद्ध ग्रन्थ है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इसमें क्रमशः काश्मीर शैवदर्शन के प्रसिद्ध 36 तत्त्वों का विवेचन है। जगत् की रचना के परिस्पंद में अनुत्तरतत्त्व का प्रथम स्पंद 'शिव' तत्त्व है। इच्छा शक्ति ही समस्त विश्व का बीज है। जगत् का आच्छादक अनुग्राही 'सदाशिव' है। जगत् की परमेशरूपता अथवा अभेदबुद्धि ही 'शुद्धविद्या' है। भेदप्रथनात्मक एवं जीवव्यापक तत्त्व 'माया' है। संकुचित कर्तृत्व 'कला' है। परिमित रागात्मक एवं परिच्छेदात्मक शक्ति 'कालतत्त्व' है। 'स्वतंत्रशक्ति' संकोचशालिनी एवं नियामक है। गुणों की साम्यावस्था एवं स्वरूपचित्तात्मक शक्ति 'प्रकृति' है। संकुचित देहधारी देव पंचविध है।

6. स्तवचिंतामणिविवृति

भट्टनारायण की कृति स्तवचिंतामणि के एक सौ बीस श्लोकों पर की गई यह विवृति काश्मीर शैवदर्शन की अत्यन्त उपयोगी कृति मानी जाती है। स्तवचिंतामणि की रूपक द्वारा विशेषता उपपादित करने वाली क्षेमराज की यह कृति उनके आलङ्कारिक चमत्कार का एक सुन्दर निदर्शन है। इस ग्रन्थ के आद्य श्लोक में ही यह तथ्य उपपादित कर दिया गया है कि परमात्म-ज्ञान द्वारा

1. स्पन्दनिर्णय, श्लो॰ - 2, पृ॰ - 1
2. वही, श्लो॰ - 3, पृ॰ - 1
3. वही, श्लो॰ - 1, पृ॰ - 77
4. वही, श्लो॰ - 5, पृ॰ - 77, 78
5. षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह, अन्तिम श्लोक, 'षट्त्रिंशप्तत्त्वमयं बन्दे कौलं कुलातिगं शुम्भम्।

अविद्या का नाश होता है तथा ज्ञानी के लिए भवप्रपञ्च लुप्तप्राय हो जाता है।[1] शिवपंचकृत्यकारी है एवं उनका स्वरूप चिदानंदघन है। यह सिद्धान्त द्वितीय एवं तृतीय श्लोक में प्रतिपादित कर दिया गया है।[2]

7. साम्बपञ्चाशिकाविवरण

यह भी एक व्याख्या ग्रन्थ है। वासुदेव के पुत्र साम्ब द्वारा रचित साम्बपञ्चाशिका नामक स्तुति अर्थात् सत्स्तोत्र पर लिखी गई यह एक विवृति है। पचास श्लोकों में चिद्भानु की स्तुति की सौ श्लोकों में व्याख्या की गई है। सत्-जनों द्वारा इस व्याख्या-ग्रन्थ की स्पृहणीयता ग्राह्य है।[3]

8. नेत्रोद्योत

नेत्रतन्त्र पर क्षेमराज की व्याख्या 'नेत्रोद्योत' है। यह ग्रन्थ बाईस अधिकारों में विभाजित है। यह दो खण्डों में प्रकाशित हुआ है। प्रथम खण्ड में 15 अधिकार तथा द्वितीय खण्ड में सप्त अधिकार हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भिक पांच श्लोकों में नेत्रनाथ की स्तुति है। शिव मंत्रेश्वर है, वीर्यवान् हैं, त्राणवान् हैं, विभूतिवानरक्षक हैं, अमृत हैं, अभय हैं, तुर्य हैं, त्रिनेत्रवान् हैं, अद्वय हैं। गुरु विश्व की संरचना में समर्थ हैं, स्वात्मरूप ज्ञान के उदय में दक्ष हैं। जगत् के अनुग्रह के लिए शिव नेत्र का उद्योतन करते हैं।[4] विश्व और वैश्व में सामञ्जस्य है।[5] नेत्रलोहित-शंकर का नेत्र क्लेश का नाशक है।[6] सिद्धि, सूक्ष्म ध्यान, आधार आदि चक्र, परध्यान, भैरव, तुम्बरु तथा कुलाम्नाय रूप शिव, मन्त्रराड् के रक्षणार्थ मृत्युजिन्नाथ का सर्वदेवात्मक स्वरूप, मृत्युजिन्नाथ की प्राप्ति के उपाय, चक्रराड् का महाबल, योगिनी की मात्राएँ एवं प्रयोजन, योगिनी मंत्र का स्वरूप, तत्सामर्थ्य तथा मन्त्रनाथ का उत्कर्ष दिखलाते हुए शंकर के नेत्रयुगल के साथ तृतीयनेत्र को ज्योतिरूप बतलाया गया है।[7] क्षेमराज का 'नेत्रोद्योत्' भेदात्मक अंधकार की निवृत्ति में समर्थ है तथा अद्वैत के अमृत का विस्तारक है।[8]

9. स्वच्छन्दोद्योत

यह स्वच्छन्दतन्त्र पर लिखी गई व्याख्यापरक बृहदाकार कृति है। इस विवृति में ग्रन्थ की ग्रन्थियों का भेदन हुआ है। इसमें तात्विक युक्तियों के द्वारा तत्त्व के ऐक्य का निरूपण हुआ है

---

1. स्तवचिंतामणिविवृति, श्लो॰ प्रकाशमाने पारमार्थभानौ नश्यत्यविद्यातिमिरे ... भवप्रपञ्चे।
2. वही, श्लो॰ - 2, 3 'नमः शिवाय .... पंचकृत्यविधायिने ... चिदानंदघनस्वात्मपरमार्थविभासिने ... ।
3. साम्बपंचाशिकाविवरण, श्लो॰ - 51, श्लो॰ - 52, पृ॰ - 38.
4. नेत्रोद्योत्, श्लो॰ - 4, 'शैवं नेत्रमनुग्रहाय जगतोऽमुत्रैतदुद्योतते'।
5. वही, प्रथम अधिकार, 1-47।
6. वही, तृतीय अधिकार, 1-82।
7. नेत्रोद्योत, अंतिम श्लोक, 'तच्चिदात्मज्योतिर्नेत्रं जयतिपरमानंदपूर्ण तृतीयम्।
8. वही, वही, भेदव्याख्यातमोऽपनुत पराद्वैतामृतस्फीतौ नेत्रोद्योतो।

तथा अद्वयचिन्तन का प्रतिपादन हुआ है। इस ग्रन्थ के 15 पटलों का छः खण्डों में विभाजन हुआ है। प्रत्येक पटल के प्रारम्भ में स्वच्छन्द तत्त्व की स्तुति की गई है। विश्वैकरूप, विश्वात्म, कारणभूत, प्रकाशरूप, सर्वसम्पन्न स्वच्छन्दभैरव है।[1] ज्ञानरूपी सागर में शुक्तिरूप शक्ति है तथा उसमें सम्पूर्ण जगत् मुक्तामय है।[2] भेदपरक व्याख्या निकृष्ट है, गुरु द्वारा आत्मतत्त्व प्राप्त किया जा सकता है।[3] क्षेमराज का 'स्वच्छन्दोद्योत' अद्वैतरूपी अमृत का विस्तारक ग्रंथ है।[4] मलत्रय का नाश होने पर परम स्थिति प्राप्त होती है। भैरवस्तुति के रसास्वाद से स्वच्छचिदाकाश में नियंत्रण हो जाता है।[5]

10. विज्ञानभैरवविवृति

विज्ञानभैरवतन्त्र पर लिखी गई यह एक व्याख्या है। विज्ञानभैरव के प्रथम तेईस श्लोकों पर ही यह विवृति मिलती है। भैरव विज्ञानस्वरूप है। शिवा शांभव-आवेश की प्रदर्शिका है। प्रथम चार श्लोक मंलाचरण श्लोक हैं जिनमें क्रमशः विज्ञानभैरव, शिव, गुरुभारती तथा जीवनमुक्ति से सम्बन्धित उल्लेख मिलते हैं। इसके पश्चात् विज्ञानभैरव के श्लोकों की संक्षिप्तरूपेण व्याख्या उपलब्ध होती है।

11. शिवस्तोत्रवलीविवृति

उत्पल की 'शिवस्तोत्रावली' के बीस श्लोकों की यह व्याख्या है। चित्त चकोर है एवं चिति चन्द्रमरीचि है। चितिरूपी चंद्रकिरणसमूह का आस्वादन क्लेश का नाशक है, आनन्द का दायक है तथा जगत् की अमरता में सहायक होता है।[6]

12. भैरवानुकरणस्तोत्र

यह एक स्तोत्र ग्रन्थ है। शारदा लिपि में यह निबद्ध है। इसके अडतालीस पद्य हैं। इसमें चिद्भैरव की स्तुति की गई है।[7] इसमें कपालमुद्रा, स्फारमुद्रा, अंकुशमुद्रा, वज्रमुद्रा, पाशुमुद्रा, पिनाकमुद्रा, घण्टादिमुद्रा, त्रिशूलमुद्रा, दण्डमुद्रा एवं परशुमुद्रादि का सविस्तार वर्णन हुआ है। ग्रन्थ की समाप्ति में वैराग्यशतक के उद्धरण प्रस्तुत किए गए हैं।

---

1. स्वच्छन्दोद्योत, प्र० प०, श्लो० - 1, 2 ''विश्वैकरूपविश्वात्मविश्वसर्गादिकारणम्। परप्रकाशवपुषं स्तुमः स्वच्छन्दभैरवम्।
2. वही, श्लो० - 3, ''एकैवबोधजलधेः शक्तिशुक्तिर्जयन्यसौ। यदन्तर्निखिलं भाति मुक्तामयमिदं जगत्
3. वही, पटल - 15, अंतिम श्लो०, भेदव्याख्यातमोऽपनुत - श्री भैरवीयपरमाद्वय
4. वही, पृ० - 15, 3, 'तेनाद्वैतामृतस्फीतः स्वच्छन्दोद्योत
5. वही, अंतिम श्लो०, 'विगलिताः कर्णाणुमायामलाः प्राप्तानंदस्थितिः श्रीमत्चेतनभैरवस्तुतिरसास्वादेन लब्धैरस्माभिः नियंत्रणं स्थीयते।
6. शिवस्तोत्रावली विवृति स्तोत्र - 20, श्लो० - 21 चैतश्चकोरचितिचन्द्रमरीचिवक्रम्
वही, श्लो० - 10, कलेशन्विनाशाय विकासाय हृत्सरोज - आचम्यसम्यगमृतीकुरुविश्वमेतत्।
7. भैरवानुकरणस्तोत्र, जगदखिलं मच्छकत्या दमितं सर्वा व्यवस्थितिर्धत्ते।

12. बोधविलास

तीन पत्रों की संक्षिप्त रचना शारदा लिपि में निबद्ध है। इसमें बयालीस पद्य हैं। चिति से सम्बन्धित विवेचन इसमें उपलब्ध होता है। पञ्चकृत्यकारी शिव के प्रति नमस्कारोक्ति के साथ इसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि चिति स्वतंत्र है, वह विश्व की हेतु है तथा चिति के स्वातन्त्र्य के ज्ञान से सिद्धिलाभ होता है।[1]

13. पराप्रावेशिका

इस संक्षिप्त कृति में छत्तीस तत्त्वों का स्वरूप विवेचित है। इसमें बताया गया है कि परमेश्वर प्रकाशस्वरूप है, पूर्व सिद्ध हैं, जगत् से परमेश्वर अभिन्न है। देहधारी जीवन्मुक्त हो जाता है तथा विदेही परम शिव भट्टारक होता है। परमेश्वर विश्वमय होने के साथ-साथ विश्व से अतीत है। पराशक्ति परमेश्वर की हृदयभूत है।[2] इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय परमेश्वर के प्रकाशात्मक स्वरूप के प्रकाशन से आरम्भ होकर जीवन्मुक्त के स्वरूप की अभिव्यक्ति पर्यन्त है। परमेश्वर प्रकाशस्वरूप है, प्रकाश विमर्शरूप है, विमर्श सृष्टि-स्थिति-लय स्वरूप है। आत्मस्फुरण स्वाभाविक है। विमर्श न होने पर अनीश्वरता तथा जड़ता का भाव उत्पन्न होता है। चित्, चैतन्य, परावाक्, स्वातन्त्र्य ईश्वरीय वैभव, कर्तृत्व, स्फुरण, अतुच्छ हृदय, स्पंद आदि विमर्श के पर्याय हैं। शक्ति के द्वारा प्रकाशरूप परमेश्वर जगद्रूप में स्फुरित एवं प्रकाशित है।[3] प्रकाशरूपपरमेश्वर से उत्पन्न होने वाला जगत् प्रकाशात्मक है। परमेश्वर एवं जगत् अभिन्न है। ज्ञेय से भिन्न प्रकाशित नहीं हो सकता है। परमेश्वर का प्रकाशरूप तिरोहित नहीं होता है तथा जगत् भी प्रकाशरूप है। महेश्वर पूर्वसिद्ध, स्वयं प्रकाशात्मक, प्रमाण का आधार तथा स्वयं संवेद्य है। परमशिव पूर्णाहंता के प्रकाश के सार वाला है तथा छत्तीस तत्त्वों से युक्त प्रपञ्च रूप है। शिवतत्त्व इच्छाज्ञानक्रिया से पूर्ण है। परमशिव आनंदरूप है। सृजन की इच्छा से युक्त परमेश्वर का प्रथम इच्छा रूप स्पंद शक्ति तत्त्व है। सदाशिवतत्त्व अंकुरित होने वाले जगत् का आत्मा द्वारा अहंताभाव आच्छादन करता है। अंकुरित विश्व को अहंताभाव से 'ईश्वर' आवृत्त करता है। अहंता और इदन्ता का ऐक्य ज्ञान शुद्धविद्या है भेदप्रथनात्मक 'माया' है। माया से उपहित स्वरूप वाला संकुचित ग्राहक 'पुरूष' है। यही पुरुष माया से व्यामोहित होने वाला कर्मबंधन से युक्त संसारी है। परमार्थतः परमेश्वर से अभिन्न होते हुए भी मोहवशात् संसारी पुरुष परमेश्वर से युक्त नहीं होता। विद्या द्वारा आत्म ऐश्वर्य का ज्ञाता चिद्घनमुक्त एवं परमशिव है। सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व तथा विभुत्व का संकुचितरूप कला, विद्या, राग, काल एवं नियति स्वरूप का आवरण करने वाले पांच कंचुक हैं। कला किंचित् कर्तृत्व के रूप वाली है, किंचित् ज्ञत्व रूप 'विद्या' है। विषयों में आसक्ति 'राग' है। भावों के क्रम का अवच्छेदक काल है। कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का नियमन करने वाला 'नियति' तत्त्व है। तत्त्वों

---

1. बोधविलास, पत्र- 3, मुख्य पृ० - 1, ॐ नमः शिवाय पंचकृत्यविधायिने ....चिति स्वातन्त्र्यविश्वस्य....।
2. पराप्रवेशिका, पृ० - 1, ''विश्वात्मिकां उत्तीर्णा संविदः नुमः।
3. वही पृ० - 3, 'स्वयं प्रकाशरूपः परमेश्वरः ...शक्त्या ... जगदात्मना स्फुरति प्रकाशते च।

का मूलकारण गुणत्रय की साम्यावस्था 'प्रकृति' है। निश्चयकारिणी 'बुद्धि' है। अभिमान का साधन 'अहंकार' है। संकल्प का साधन 'मन' है। इन तीनों की सामूहिक अभिधा 'अन्तःकरण' है। श्रोत्रादि पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं। वाकादि पंच कर्मेन्द्रियाँ है। शब्दादि पांच तन्मात्राएँ हैं। अवकाश देने वाला आकाश है। जीवनप्रदाता वायु है। दाहक एवं पाचक 'अग्नि' है। द्रवरूप 'सलिल' है। धारण करने वाली 'भूमि' है। शुद्धविद्या ईश्वर तथा सदाशिव अनुत्तर शक्ति है। परमशिव महामंत्रात्मक, विश्वमय एवं विश्वोत्तीर्ण है, उदय एवं विश्रांति स्थानक है, चराचर समस्त विश्व परमेश्वर का है।[1] विश्व को परमशिव का हृदयबीज रूप में जानने वाला ही वस्तुतः समावेश का अधिकारी है। प्राणधारण से लौकिक जीव के समान स्थिति में रहता हुआ जीवन्मुक्त होता है तथा देहपात के अनन्तर परमशिवभट्टारक हो जाता है।[2]

काश्मीरशैवदर्शन के साहित्य को सुसमृद्ध करने का तथा दार्शनिक स्वरूप को सुस्पष्ट करने का महनीय योगदान आचार्य क्षेमराज एवं उनके ग्रन्थों का रहा है—इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं है।



1. पराप्रवेशिका, पृ० - 11, 12 हृदयबीजस्य परमशिव एवं उदयविश्रांतिस्थानक।
2. वही, पृ० - 12, 'हृदयबीजं तत्त्वतो यो वेद समाविशति ... जीवन्मुक्तं ....देहपाते परमशिवभट्टारक एवं भवति।

महाभारत में वास्तुचिन्तन

प्रो॰ केदार नाथ शर्मा
डॉ॰ विद्याधर सिंह

'महाभारत' संस्कृतभाषा में लिखा गया महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। एक लाख श्लोकों वाला यह ग्रन्थ तत्कालीन भारतवर्ष के इतिहास, सभ्यता, दार्शनिक विचार, सामाजिक और भौतिक दशा आदि की झलक प्रस्तुत करता है। भारतीय अर्थनीति, राजनीति तथा अध्यात्मशास्त्र के सिद्धान्तों का सारांश बड़ी सुन्दरता से इसमें वर्णित है। मानवजीवन से सम्बद्ध सभी विषयों का समावेश इस ग्रन्थ में दृष्टिगोचर होता है।[1] रामायण और महाभारत जिस प्रकार परवर्ती काव्यों के उपजीव्य रहे हैं, उसी प्रकार वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों के भी ये उपजीव्य ग्रन्थ रहे हैं।

इस विशाल ग्रन्थ में भारतीय वास्तुकला की उन्नत अवस्था का निदर्शन हुआ है। इसमें नगरों, दुर्गों, आदि का जो विस्तृत वर्णन हुआ है, उससे प्रेरणा लेकर परवर्ती वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थकारों ने अपने-अपने ग्रन्थों की रचना की है।

प्रस्तुत पत्र में महाभारत में वर्णित कतिपय नगरों, दुर्गों, भवनों आदि के आलोक में प्रमुख वास्तुलक्षणग्रन्थों – 'मानसार', 'मयमत', 'समराङ्गणसूत्रधार' आदि का परीक्षण करने का प्रयास किया गया है।

1. नगर वर्णन

महाभारत के इन्द्रप्रस्थ और हस्तिनापुर के वर्णन में वास्तुकला सम्बन्धी जो सामग्री उपलब्ध होती है, वह परवर्ती वास्तु-लक्षण ग्रन्थकारों का उपजीव्य रही है। महाभारत में भवनों, नगरों, दुर्गों आदि की सुविधा, दृढ़ता, सुरक्षा आदि की दृष्टि से जो उपाय अथवा साधन बताये गये हैं, उन्हीं विचारों को व्यवस्थित एवं विस्तृत रूप देकर मानसर, मयमत, समराङ्गणसूत्रधार आदि वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना हुई है।

1.1 इन्द्रप्रस्थ वर्णन

यह कुरुजनपद की राजधानी थी। इस नगर का निर्माण पाण्डवों ने खाण्डववन को जलाकर किया। महाभारत काल में यह एक भव्य, सुव्यवस्थित एवं वैभव सम्पन्न नगर था। इन्द्रप्रस्थ का क्षेत्रफल **इक्कीस** मील था।[1] महाभारत के आदि पर्व में इस नगर का वर्णन करते हुए नगर की इन विशेषताओं का उल्लेख हुआ है। यह नगर विस्तृत परिखाओं से घिरा हुआ था।[2]

1. यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्। –महाभारत

इसके चारों ओर उच्च **प्राकार** विद्यमान थे।[3] प्राकार में **अट्टालक** तथा द्वार (गोपुर) बने हुए थे। प्राकार विध्वंसकारी शस्त्रों से सुसज्जित थे।[4]

धवल और उत्तुंग भवनों के कारण इस नगरी की शोभा दर्शनीय थी।[5] इस नगरी में सभी भाषाओं के बोलने वाले लोग रहते थे।[1] यहाँ सभी प्रकार के कारीगर भी रहते थे।[2] नगर के विभिन्न भागों में यथास्थान मनोहर चित्रशालाएं बनी हुई थीं।[3] यहां कई वाटिकाएं थीं. जिन में विविध प्रकार

---

1. जातक 537 तथा बोधिसत्त्वावदान कल्पलता, पल्लव 3 तथा 64
2. "सागरप्रतिरूपाभिः परिखाभिरलङ्कृतम्।। –महाभारत. आदिपर्व, अ0 199,29
   तुलनीय – (क) "परितः परिखा बाह्ये ....।
   "परितः परिखोपेतम् ....। –मयमत, 10.22,45
   (ख) "व्यासखातान्तरैः सार्धं विधेयं परिखात्रयम्।
   "एवं संशोध्य परिखात्रितयं परितोऽश्मभिः।"
   –समराङ्गणसूत्रधार (द्वि.ना. शुक्लसम्पादित), 23.17,21
   (ग) पुर-परिखा-विस्तार –
   प्राकारोदयतो द्विधा च परिखाविस्तार उक्तो बुधैः। – राजवल्लभमण्डन, 4.15
3. प्राकारेण च सम्पन्नम्। –महाभारत, आदिपर्व, अ. 199, पृ0 - 790
   तुलनीय –
   (क) मानसार (प्राकारविधान), अध्याय 31
   (ख) "........... परितः साला बहिः सपांसुचया।"
   प्राकारश्चेष्टकया द्वादशहस्तोच्छ्रिताहीनाः।
   उत्सेधार्धविशाला मूले भित्तिः ससञ्चरा।। – मयमत, 10.21, 44
   (ग) वप्रोर्ध्वभागगं मध्यं स्थूलोपलशिलाचितम्।
   कुर्यात् प्राकामुद्दामं यद्वा पक्वेष्टद्रकामयम्।।–समराङ्गणसूत्रधार (शुक्लसम्पादित), 23.25
   अन्यच्च, वही, 23.26–28
4. महाभारत, आदिपर्व, अ0 - 199
   तुलनीय –
   (क) "चतुर्दिक्षु चतुर्द्वारं गोपुरैश्च समन्वितम्।।"
   "रक्षागृहैः समाकीर्णं विष्वक्सेनालयान्वितम्।" – मानसार, 10.24-25
   (ग) "दिक्षु चतुर्द्वारयुतं गोपुरयुक्तं तु सालाढ्याम्।"
   "उन्नतगोपुरयुक्ता नानाविधमालिकोपेता।।" – मयमत, 10.20,23
   "हस्त्यश्वरथपदातिबहुमुख्या............।" - वही, 10.24
   "पूर्वायां दक्षिणतश्चाभिमुखा राजबलयुक्ता।।"
   सालस्याभ्यन्तरतः पाँसुचयोपर्यनेकयन्त्रयुतम्।
   ....पांसुचये संहताट्टालम्।। - वही, 10.22,45
5. "पाण्डुरै र्भवनोत्तमैः ...."। –महाभारत, आदिपर्व, अ0 119, पृ0 790
   (सम्पादक, विष्णु एस. सुकर्थ्कर, भण्डारकर ओ.रि.इ., पूना, 1933)

के वृक्ष आरोपित थे।[4] यहाँ स्थित सरोवरों का जल खिले हुए कमलों से सुगन्धित हो गया था। हंस, कारण्डव तथा चक्रवाक आदि पक्षियों के कारण उनकी शोभा द्विगुणित हो रही थी।[5] नगर के नागरिक सुशिक्षित, सभ्य तथा धार्मिक प्रवृत्ति के थे।[6] नाना प्रकार के वृक्षों, फूलों तथा पक्षियों आदि के द्वारा यह नगरी अमरावती की शोभा का स्मरण करा रही थी।[7]

---

1. "सर्वभाषाविदस्तथा...........।" –महाभारत, आदिपर्व, अ0 199, पृ0 - 791
2. "सर्वशिल्पविदस्तत्र वासायाभ्यागमंस्तदा।" -वही, आदिपर्व,अ0 199,38
   तुलनीय – पादटिप्पणी क्र.सं. 7-8
   (क) "वणिग्भिश्च समाकीर्णमापणैश्च समावृतम्।।"
   "अन्तर्बहिर्जनैः पूर्णा (र्ण).......... ।" – मानसार, 10.25-26
   "............... नानाजनगृहान्वितम्।"
   क्रयविक्रयविद्भिश्च वैश्यरवेणसंमि (सं यु) तम्।। – वही, 10.27
   (ख) "............ सर्वजनयुक्ता।"
   .... अनेकजनवासा।" – मयमत, 10.24
   "........... नानाजनवाससङ्कीर्णम्।" – वही, 10.46
   (ग) समराङ्गणसूत्रधार (शुक्लसम्पादित), अध्याय 23, 89-93
   (घ) अपराजितपृच्छा, अध्याय 72, 41-48
   (ङ) राजवल्लभमण्डन, अध्याय 4, 18-19
3. "मनोहरैः चित्रगृहैः ....।" महाभारत, आदिपर्व, अ0 199, पृ0 792
4. "उद्यानानि च रम्याणि नगरस्य समन्ततः।" वही, आदिपर्व, अ0 199, 38
   तुलनीय –
   (क) "काननोद्यानसंयुक्तम् ....।" –मानसार, 10.27
   (ख) सर्वपार्श्वेष्वथैतस्य गन्धान्धमधुपाङ्गनान्।
   सुमनोविटपारामान् कुर्याद् वासान् समुत्सुकान्।।
   समराङ्गणसूत्रधार (शुक्लसम्पादित), अध्याय 23.23
5. "सरोभिरतिरम्यैश्च पद्मोत्पलसुगन्धिभिः।
   हंसकारण्डव युतैश्चक्रवाकोपशोभितः।। - महाभारत, आदिपर्व, अ0 199, 45
   तुलनीय –
   विचित्राब्जमनोहारि ससंग्राहाम्बुनिर्गमम्। –समराङ्गणसूत्रधार (शुक्लसम्पादित), अध्याय 23.22
6. "नित्यमार्यजनोपेतं नरनारीगणैर्युतम्।।" - महाभारत, आदिपर्व, अ0 199
   तुलनीय –
   (क) "........... बहुपुण्यजनावृतम्।" – मानसार, 10.22
   (ख) "........... सज्जनबहुले।" – मयमत, 10.19
7. "शुशुभे तत्पुरश्रेष्ठं नागैर्भोगवती यथा।।" - महाभारत, आदिपर्व, अ0 199,49

1.2 हस्तिनापुर

हस्तिनापुर की स्थापना महाभारत युद्ध से पूर्व की गई थी। यह पाण्डवों की राजधानी थी। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में इसका नाम हास्तिनपुर कहा है।[1] पतञ्जलि के अनुसार यह नगर गङ्गा के तट पर बसा हुआ था।[2]

हस्तिन् नामक व्यक्ति द्वारा प्रथमतः इसकी नींव डाली गई थी।[3] यह नगर अनेक प्रकार के शस्त्रों से युक्त था, अतः इसके भीतर शत्रुओं का प्रवेश अत्यन्त कठिन था।[4] इसके प्राकार में गोपुर बने हुए थे, जो बहुत ऊँचे थे।[5] नगर का भीतरी भाग राजमार्गों द्वारा विभक्त था।[6] मार्गों के

---

1. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ0 -86
2. "आनुगङ्गं हास्तिनपुरम्।" महाभाष्य, 2.1.16, पृ0 273
   तुलनीय –
   (क) "........... नदीतीरे।" – मानसार, 10.22
   (ख) "........... नदीसमीपे च।" – मयमत, 10.19
3. जज्ञे हस्ती। य इदं पुरं हास्तिनपुरं मापयामास। एतदस्य हास्तिनपुरत्वम्।।
   -महाभारत, आदिपर्व, अ0 90, 36
4. "शतघ्नीचक्रयन्त्रैश्च गुप्तामन्यैर्दुसदाम्।।" –वही, आदिपर्व, अ0 96
5. "कैलासशिखिराकारै र्गोपुरैः समलंकृताम्।। " –वही, आदिपर्व, अ0 96
6. "राजमार्गेण सुविभक्तेन शोभिताम्।" –वही, आदिपर्व, अ0 96
   तुलनीय –
   (क) दृष्टव्य : विश्वकर्मवास्तुशास्त्र, अध्याय 9
   (ख) प्राक् प्रत्यग्गतमायामं दक्षिणोत्तरसमन्वि (सं यु) तम्।
   एकरथ्यासमारभ्य ए (चै) कैकं (क) वीथिवर्धनात्।।
   "वीथिद्वादशपर्यन्तं युग्मायुग्मं प्रकल्पयेत्।" – मानसार, 10.56-57
   (ग) प्राक्प्रत्यग्गतमार्गा द्वादश दश वाऽष्टषट्चतुर्युगलम्।
   तावदुदीचीनास्ते तत्रैवायुग्मसंख्या वा।।
   एकादशनवसप्तकपञ्चगुणा वैकमार्गा वा।
   युग्मायुग्मपदेषु द्वयेकत्रिभिरंशकैरजांशाः स्युः।। –मयमत, 10.52-53
   अन्यच्च – द्रष्टव्य : वही, 10 (नगरविधान) .54-72
   (घ) "राजमार्गः शुभः कार्यो मध्यमं वंशमाश्रितः।।"
   कार्यो ज्यायसि (च) न्यायांश्चतुर्विंशतिकः करैः।
   विंशत्या मध्यमे मध्योऽधमे षोडशकोऽधमः।।
   बलस्य चतुरङ्गस्य पौराणां पार्थिवस्य च।
   असम्बाधसमश्चैष कार्योऽयं काश्मशर्करः।।
   – समराङ्गणसूत्रधार (शुक्लसम्पादित), अध्याय 23. 6-8
   अन्यच्च – द्रष्टव्य : वही, 23 (पुरनिवेश).9-15

दोनों ओर हर्म्य, प्रासाद तथा दुकानें सुशोभित थीं।[1] नगर के मध्यभाग में राजमहल का निर्माण किया गया था।[2] यहाँ पर अनेक सरोवर तथा उद्यान भी थे।[3] यहाँ के विद्वान् नागरिक होमपरायण तथा

---

1. "हर्म्यप्रासादसम्बधां नानापण्यभूषिताम्।" –महाभारत, आदिपर्व, अ0 96
   तुलनीय –
   (क) तस्या द्विपार्श्वयोः स्यात्सैश्वर्याणां तु मालिकापंक्तिः।
   तत्पार्श्वयोर्निवासो वणिजां स्यात्तस्य दक्षिणतः।।
   स्यात्तन्तुवायवासं ह्युत्तरतश्चक्रिणां वासम्।
   तत्तज्जात्यन्तरगृहमथ तत्सामीप्यतः कुर्यात्।। – मयमत, 10.73-74
   परितो रथपथयुक्तं मध्ये वणिजां गृहश्रेणी।
   तद्दक्षिणतः पार्श्वे गेहं स्यात्तन्तुवायानाम्।। -वही, 10.78
   अन्यच्च – द्रष्टव्यः वही, 10 (नगरविधान-अन्तरापण).79-87
   (ख) द्रष्टव्य : अपराजितपृच्छा, 72.32-40
2. "एतस्मिन् नगरमध्ये तु राजवेश्मप्रतिष्ठिम्।" –महाभारत, आदिपर्व, अ0 96
   प्राचीन भारतीय पुरनिवेश-पद्धति में चक्रवर्ती सम्राट् के राजहर्म्य का सन्निवेश सामान्यतः पुर के मध्य-भाग में विहित था परन्तु अन्य राजाओं के राजहर्म्य के निवेश की वैकल्पिक व्यवस्था थी।
   तुलनीय –
   (क) शुभदा चतुरश्रा भूर्भूमिपानां विशेषतः।
   पुरस्य मध्यभागे वा निर्दिष्टे वा स्थलोत्तमे।। -विश्वकर्मवास्तुशास्त्र, 12.1
   (ख) द्रष्टव्य : मानसार, 40 (राजहर्म्यविधान) .37-43
   (ग) "त्रिचतुर्भागे नगरे प्राच्यां वाप्युक्तशालायाम्।।"
   नरपतिगृहमधिराज्ञो दक्षिणतः पश्चिमांशे तु।
   पार्ष्णीयादिकभवनं स्यात् सप्तनवांशे प्रतीच्यां तु।।
   अङ्कुरादीनां भवनं सेनेशानां हि तत्रैव।
   विश्वनृपैश्वरभवनं मध्ये वासं त्रिभागभागेषु।। – मयमत, 29.1-3
   (घ) प्रागुदक्प्रवणे देशे प्राग्द्वाराभ्युन्नतेरऽथवा।
   यशः श्रीविजयाधायि मैत्रं पदमधिष्ठितम्।।
   यथावर्णक्रमायातं चतुरश्रं समं शुभम्।
   पुरमध्यादपरतो दिक्स्थं कुर्यान्नृपालयम्।।
   – समराङ्गणसूत्रधार (पुष्पेन्द्रसम्पादित), 15.3-4
3. सर्वपुष्पकरणीभिश्च उद्यानैश्च समावृताम्।" –महाभारत, आदिपर्व, अ0 96
   तुलनीय –
   (क) "तटाकमण्टपाराम ....।।" – विश्वकर्मवास्तुशास्त्र, 9.94
   (ख) "............ बहूद्याना।।" – मयमत, 10.23

यज्ञादि में श्रद्धा रखते थे।[1] धन-धान्य से सम्पन्न तथा धर्मनिरत लोगों से युक्त इस नगर की शोभा इन्द्र लोक के समान थी।[2]

उपर्युक्त महाभारत के इन्द्रप्रस्थ तथा हस्तिनापुर वर्णन परवर्ती वास्तुलक्षणकारों को नगरादि के लक्षण निश्चित करने में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध कराते हैं।[3]

2.1 नगर-योजना

प्राचीन भारत में पुरनिवेश का सम्पूर्ण कार्य पूर्वनियोजित योजना के अनुरूप होता था। महाभारत के अध्ययन से यह विदित होता है कि **इन्द्रप्रस्थ** नगर की योजना उसके निर्माण कार्य से पूर्व ही बना ली गई थी। जिस समय युधिष्ठिर ने इन्द्रप्रस्थ नगर को बसाया उस समय उन्होंने व्यास तथा कृष्ण आदि प्रतिष्ठित जनों को आमन्त्रित करके आरम्भिक उत्सव किया और नगर के लिए नियत भूमि पर सूत्र-मापन से इस बात का निश्चय किया कि परिखा-प्राकार-राजप्रासाद-गोपुर एवं चत्वर तथा वीथी आदि कहाँ-कहाँ रहेंगे। इस कार्य को नगर मापन कहा जाता था।[4] इस ग्रन्थ में नगर-मापन सम्बन्धी प्रधान शिल्पी को 'विश्वकर्मा' कहा गया है। द्वारका के वर्णन-प्रसङ्ग में यह स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है कि इस नगर का निर्माण विश्वकर्मा ने किया था।[5]

---

1. "कृतयज्ञैश्च विद्वद्भिरग्निहोमपरैः सदा।।" –वही, आदिपर्व, अ0 96
   तुलनीय –
   प्रतीत होता है कि वास्तुविद्याचार्यों ने तत्कालीन (ग्रन्थ रचनाकाल में) प्रचलित पूजा-पद्धति के आधार पर उपासना के प्रतीक-स्वरूप तथा हृदयान्तः श्रद्धा की अभिव्यक्ति-हेतु नगरों में लक्ष्मी, कुबेर, विष्णु, सूर्य तथा इन्द्र आदि के देवागारों के निर्माण का विधान किया है।
   (क) "मध्ये लक्ष्म्यादिदेवीनां मन्दिरं कारयेद्बुधः।" -विश्वकर्मवास्तुशास्त्र, 9.94
   (ख) "तत्रगते नगर्यन्तं यदि विष्ण्वालयं भवेत्।" – मानसार, 10.23
   (ग) समराङ्गणसूत्रधार (शुक्लसम्पादित), अध्याय 23.110-147
   (घ) अपराजितपृच्छा, 72.13-31
   (ङ) शिल्परत्न, 9.1-16
2. एवं विधजनोपेतं इन्द्रलोकमिवापरम्।। –महाभारत, आदिपर्व, अ0 96
3. रामायण-महाभारतादि में वर्णित प्राचीन नगर-निवेश-पद्धति में नगर का सन्निवेश दुर्ग के रूप में ही संयुक्त रूप से किया जाता था परन्तु कालान्तर में बाह्याक्रमणों से नगर को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से उसे प्राकार-परिखादि सुरक्षा-संविधान से संयुक्त करने के साथ-साथ पृथक् रूप से भी दुर्गों के सन्निवेश की परम्परा का सूत्रपात हुआ। दुर्ग-रचना-हेतु द्रष्टव्य :
   (क) विश्वकर्मवास्तुशास्त्र, 10.1-46
   (ख) मानसार, 10.44-55
   (ग) मयमत, 10.37-49
   (घ) शिल्परत्न, 5.8-24
4. ततस्ते पाण्डवास्तत्र गत्वा कृष्णपुरोगमाः।
   ....।
   गुप्तमत्र्युच्चय प्रख्यैर्गोपुरैर्मन्दरोपमैः।। –महाभारत, आदिपर्व, अ0 199, 27-29, 31
5. द्वारकामावृतां रम्यां सुकृतां विश्वकर्मणा।" –वही, सभापर्व, अ0 57

3.1 राजधानी वर्णन

महाभारत के शान्तिपर्व में राजधानी के लिए अपेक्षित विशेषताओं का वर्णन करते हुए लिखा गया है–राजा को ऐसे नगर में अपनी राजधानी बनानी चाहिए, जिस नगर में किला हो, पर्याप्त हथियारों से सुसज्जित हो, ज़मीन उपजाऊ हो, चारों ओर कोट और खाई हों, जहाँ हाथी घोड़े रथादि खूब हों, जहाँ विद्वान् कारीगर और विश्वस्त प्रजा रहती हो, जहाँ कई वीर और लड़ाकू जातियों का वास हो, जिसका व्यापार खूब उन्नत हो, जो सब ओर से सुरक्षित और सुन्दर हो, जिसके निवासी वीर और धनी हों, जिसमें वेद-पाठ, उत्सव और सभायें होती हों, जहाँ देवताओं की सदा पूजा होती हो। इन विशेषताओं से युक्त नगर में ही राजा को अपनी सेना तथा मन्त्रियों सहित रहना चाहिए। इस प्रकार के नगर में रहते हुए राजा को अपनी सेना, कोष और व्यापार को बढ़ाना चाहिए। उसे प्रजा और नगर के सब दोषों का निवारण करना चाहिए।[1]

राजधानी के लिए उपयुक्त नगर की जिन विशेषताओं का यहाँ चित्रण हुआ है, परवर्ती वास्तुग्रन्थों में उनका यथावत् ग्रहण किया गया है।[2]

4.1 सभा-गृह-निर्माण

महाभारत में हमें गृह-निर्माण कला की उन्नत अवस्था के दर्शन होते हैं। **खाण्डव वन** के दाह के पश्चात् जो दुर्ग बनवाया गया था, उसके भग्नावशेष आज भी उपलब्ध होते हैं। इस दुर्ग में **मय** नामक असुर जाति के स्थापत्यविद् ने जिस गौरवपूर्ण राजसभा का निर्माण किया था, उसका वर्णन ऋषिवर व्यास ने इन शब्दों में किया है–"उस राजसभा के वृक्षों को सोने द्वारा सजाया गया था। उसकी लम्बाई दस हजार हाथ थी। उसके भवन अग्नि, चाँद, और सूर्य के समान चमकते

1. तत्पुरं दुर्गसम्पन्नं धान्यायुधसमन्वितम्।
दृढ़प्राकार परिखं हस्त्यश्वरथसङ्कुलम्।।
विद्वांसः शिल्पिनो यत्र निचयाश्च सुसञ्चिताः।
धार्मिकश्च जनो यत्र दाक्ष्यमुत्तममास्थितः।।
ऊर्ज्जस्विनरनागाश्वं चत्वरापणशोभितम्।
प्रसिद्ध व्यवहारञ्च प्रशान्तमकुतोभयम्।
सप्रभं सानुनादं च सुप्रशस्तनिर्वशनम्।
शूराढ्यजनसम्पन्नं ब्रह्मघोषामुनादितम्।।
समाजोत्सवसम्पन्नं सदा पूजित देवतम्।
वश्यामात्यबलो राजा तत्पुरं स्वमाविशेत्।।
तत्र कोशं बलं मित्रं व्यवहारञ्च वर्धयेत्।
पुरे जनपदे चेवं सर्वदोषान्निवर्तयेत्।। – वही, शान्तिपर्व, अ० 86, 6-11
2. राजधानी-नगर-वर्णन-हेतु द्रष्टव्य :
(क) मानसार (नगर-विधान), 10.22-26
(ख) मयमत (नगर-विधान), 10.13-15 एवं मार्गविन्यास-हेतु द्रष्टव्य : वही, 10.52-59
(ग) समराङ्गणसूत्रधार (शुक्लसम्पादित), अध्याय 23. 1-52,88-146

थे। उसकी ऊँची अट्टालिकाओं ने बादल की भांति आकाश को घेर रखा था। उसमें लगाया हुआ सम्पूर्ण सामान अत्यधिक उत्तम था, उसके कोट में, सुन्दर पत्थर लगे थे। विश्वकर्मा ने उसके लिए नाना प्रकार के चित्र तैयार किए। इस सभा-भवन की तुलना में संसार में कोई अन्य भवन नहीं था। उसकी रक्षा के लिए बड़े-बड़े बलवान् योद्धा नियुक्त किये गये थे। इसके आँगन में एक तालाब बनाया गया, इसमें कृत्रिम लतायें बनाई गईं, इन लताओं के पत्ते वैदूर्यमणि निर्मित थे, इनकी तन्तुएं अन्य मणियों से और फूल सोने से बनाये गये थे। इस तालाब में सुगन्धित पानी भरा रहता था। इस तालाब में नकली मछलियाँ और कछुए भी थे। इस तालाब की सीढ़ियां बिल्लौरी पत्थर की थीं। विचित्र बात यह थी कि यह तालाब पानी से पूर्णतः भरे होने पर भी यह एक जलरहित सुन्दर वाटिका के समान प्रतीत होता था। इस तालाब के चारों ओर सुन्दर चबूतरे बने हुए थे। इस सुनदर तालाब को देखकर सभी राजा लोग धोखा खा जाते थे। इस विशाल सभा भवन के चारों ओर सुगन्धित फूलों से लदे हुए सुन्दर वृक्ष थे। इस सभा भवन को चौदह (14) मासों में तैयार कर इसकी सूचना **मय** ने राजा युधिष्ठिर को दी।"[1]

इसी सभाभवन में विश्वकर्मा ने एक विचित्र चमत्कार दिखाया था। उसने स्फटिकों द्वारा एक ऐसा फर्श बनवाया था, जो पानी से भरा हुआ तालाब प्रतीत होता था। और ऐसे तालाब बनवाये थे, जो जलपूर्ण होने पर भी सूखे फर्श के समान जान पड़ते थे। एक ऐसे ही तालाब में दुर्योधन गिर पड़ा था, एक सूखे फर्श पर वह कपड़े उठाकर चला था।"[2]

इसी प्रकार ऐसे दरवाजे बनवाये थे, जो खुले होने पर दीवार के समान प्रतीत होते थे, वहीं दूसरी ओर दीवारों के कुछ भाग इस प्रकार बनाए गये थे जो खुले हुए फाटकों के समान प्रतीत होते थे। दुर्योधन ने इससे भी धोखा खाया था। महाभारत के समय में सब शिल्प के अदभुत चमत्कार उपलब्ध होते हैं।[3]

1. महाभारत, सभापर्व, 3.22-38
2. वही, सभापर्व, 47. 3,4,6,7,10
3. वही, सभापर्व, 47. 11, 12, 14

तुलनीय :–

(क) सभा-भवन की अनिवार्यता, उपयोगिता एवं रचना-विधि; द्रष्टव्य : विश्वकर्मवास्तुशास्त्र, 16.1.3-22
पौरा एवं देश्या-सभा (न्यायवित्परिषत्स्थान), द्रष्टव्य : वही, 17.1-14
अमोद-प्राप्ति-हेतु-मधुसेवन की आवश्यकता तथा मधुसेवन के निमित्त वसन्तगृह-रचना, द्रष्टव्य : वही, 24.1-10

(ख) अष्टविध-सभाभवन –
नन्दा भद्रा जया पूर्णा सभा स्याद् भाविता तथा।
दक्षा च प्रवरा तद्वद् विदुरा चाष्टमी मता।।
– समराङ्गणसूत्रधार (पुष्पेन्दसम्पादित), 31.3- 221

(ग) सभागार-विधान एवं भेद –
आद्यं मल्लवसन्तं तत्परं पञ्चवसन्तकम्।
पार्वतं कूर्मकं चैव माहेन्द्रं सोमवृत्तकम्।।

इस संक्षिप्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि महाभारत में स्थापत्यकला से सम्बद्ध जितनी सामग्री मिलती है, वह परवर्ती वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना में उपजीव्यता प्रदान करती है। विशेषकर नगर, प्रासाद आदि एवं उनकी सुरक्षा के उपाय जैसे प्राकार, परिखा, अट्टालक, दुर्ग आदि की रचना एवं नगरादि के देवतुल्यीकरण एवं सौन्दर्यीकरण जैसे विषयों के लक्षण-निर्धारण में महाभारत के तत्तत् वर्णनों का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इतना ही नहीं मयमत, मानसार, समराङ्गणसूत्रधारादि के कई अध्याय (जैसे मयमत का अ0 10, 15, 29, 30, 69, 70) महाभारत एवं वाल्मीकि रामायण की सामग्री से पूर्णतः अनुप्रेरित एवं प्रभावित हैं।



शुकविमानकं चैवश्रीप्रतिष्ठितमेव च।
नवैताः सायताः पञ्चसभा शेषाः युगास्रकाः।। – मयमत, 25.198-200

निर्माण-विधि, द्रष्टव्यः, वही, 25.201-237

राजवेश्मविधान, द्रष्टव्यः, वही, 29.1-228

(घ) देवों एवं राजाओं की भवनभूषा (सज्जा), द्रष्टव्यः मानसार (भूषण-लक्षण), 50.1-250

राजनिवेश-हेतु द्रष्टव्य : समराङ्गणसूत्रधार (पुष्पेन्द्र-सम्पादित) 15.1-50, तथा भवन-भूषा हेतु द्रष्टव्य (शुक्लसम्पादित), अप्रयोज्य-प्रयोज्य, 34.1-45

राजभवनसज्जा के अन्तर्गत यन्त्रबीज, यन्त्रकोटि, यन्त्रों-द्वारा सम्पन्न होने वाले कार्य तथा शय्या-प्रसर्पण, रसयन्त्र, द्वारपालयन्त्र, वारियन्त्र, धारागृहयन्त्र आदि विविध यन्त्रों के लिए द्रष्टव्य : समराङ्गणसूत्रधार (पुष्पेन्दसम्पादित), 31.3 – 221

परमार्थस्वरूपानुभूति

(Real-Self Realisation)

प्रो॰ (डॉ॰) जागीर सिंह

मानव जीवन अमूल्य एवं सभी जीवों से उत्कृष्ट माना जाता है। देवयोनि एवं तिर्यग् योनि भोगभूमियाँ मानी जाती हैं, जबकि मानव योनि कर्मक्षेत्र मानी जाती है। सन्तशिरोमणि तुलसीदास भी अन्य महापुरुषों की तरह कहते हैं–'बड़े भाग मानुष तन पावा, सुर दुर्लभ सब ग्रन्थन गावा।'[1] इसीलिये ईशादि श्रुति कहती हैं कि मानव को निष्कामभाव से सदा शुभकर्म करते हुये दीर्घजीवन की इच्छा करनी चाहिये।[2] जीव को परमात्मा की ही प्रतिकृति (Replica of the God) माना जाता है, जैसा कि भगवान् श्रीकृष्ण गीता[3] में और आद्य गुरु शङ्कराचार्य ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य[4] में इस रहस्य की पुष्टि करते हैं, जो कठादि श्रुति के प्रतिपाद्य सिद्धान्त के अनुकूल हैं।[5] परन्तु ब्रह्मरूप होते हुये भी जीव दुःखत्रय से क्यों प्रताड़ित है?[6] आवागमन चक्र के भँवर में क्यों फँसा रहता है?[7] परमात्मा परमानन्दस्वरूप है, सर्वथा परिपूर्ण है, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त निर्विकार चैतन्यरूप है, फिर उसी का प्रतिरूप जीव क्यों अज्ञानतम से कलुषित रहता है? इत्यादि अनेक जिज्ञासाओं का समाधान करते हुये शास्त्र कहते हैं कि इसका मूल कारण अज्ञान है, जैसे सिंह शावक भेड़ों की संगति के स्वरूप अनभिज्ञता से कष्ट पाता है।

शैव शास्त्रों में यह अज्ञान दो प्रकार का बतलाया गया है–बौद्ध अज्ञान और पौरुष अज्ञान। बुद्धि के स्तर पर होने वाले अज्ञान को बौद्ध अज्ञान तथा पुरुष के स्तर पर होने वाले अज्ञान को पौरुष अज्ञान कहते हैं।[8] वास्तव में आत्मपरमेश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, अपरिमित, अक्षर, परिपूर्ण, शुद्ध प्रकाशरूप है, परन्तु स्वेच्छा से अपनी स्वस्वरूपगोपनात्मा माया शक्ति द्वारा अपने स्वरूप एवं

---

1. द्रष्टव्य, श्रीरामचरितमानस।
2. "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः"–ईशा. उप. मं. 2।
3. (क) "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः"–भ.गी., 15/7।
   (ख) "उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः। परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः।।" –तदेव, 13/22।
4. "आत्मा च ब्रह्म"–ब्र.सू., शां.भा., 1/1/1।
5. "एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च"–कठ.उप., 2/5/9-11।
6. "दुःखत्रय विघातात्"–सां.का.।
7. "पुनरपि जनमं पुनरपि मरणम्"–नी.वा.अ.
8. "ज्ञानाज्ञानस्वरूपं यदुक्तं प्रत्येकमप्यदः। द्विधा पौरुषबौद्धत्वभिदोक्तं शिवशासने।। तत्र पुंसो यदज्ञानं मलाख्यं तज्जमप्यथा स्वपूर्णचिकित्क्रियारूपशिवतारणात्मकम्।।"–तं.आ., 1/36-37।

शक्तियों में संकोच आभासित कर देता है। यह संकोच अथवा प्रकाश (बोध) की परिमतता ही मल कहा जाता है, जिसे जड़ता का पर्याय माना जाता है।[1] इस मलरूपी अज्ञान (परिमित ज्ञान) को ही संसारी (बद्ध, पशु) भाव का कारण माना जाता है।[2] इस प्रकार आत्मपरमेश्वर की असीमित ज्ञान और क्रिया आदि शक्तियाँ मायावश अभिव्यक्त हुये जीवभाव में उसके अल्पज्ञ और अल्प शक्तियुक्त समझने का कारण बनती हैं। अप्रतिहत स्वातन्त्र्यरूपा इच्छाशक्ति संकुचित-सी हुई अपूर्णमन्यतारूप आणव मल[3], ज्ञान शक्ति क्रम से संकोच के कारण भेद (द्वैतभाव) में सर्वज्ञत्व से किञ्चिज्ज्ञत्व को प्राप्त होने से अन्तःकरण- बुद्धीन्द्रियता से सम्पन्न होकर अत्यन्त संकोच ग्रहण करने के कारण भिन्नवेद्यप्रभारूप मायीय मल[4] तथा क्रियाशक्ति सर्वकर्तृत्व से किञ्चित् कर्तृत्व को प्राप्त होने से कर्मेन्द्रियरूप संकोच ग्रहण से अत्यन्त परिमितता को प्राप्त हुई शुभाशुभ अनुष्ठानमय कार्म मल रूप को धारण कर लेती है।[5] इसी प्रकार सर्वकर्तृत्व-सर्वज्ञत्व-पूर्णत्व-नित्यत्व-व्यापकत्व आदि शक्तियाँ संकोच ग्रहण करने में यथाक्रम कला-विद्या-राग-काल-नियतिरूप से भासित होने लगती हैं।[6]

शिव (पति) की अवस्था की ज्ञान, क्रिया और माया शक्ति जीव (पशु) की दशा में क्रमशः सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों में परिच्छिन्न हो जाती हैं।[7] इस प्रकार चित्स्वरूप आत्म- परमेश्वर स्वरूप एवं निज शक्तियों में संकोच के कारण मल (अज्ञान) से ढक कर संसारी बन जाता है।[8] ये अज्ञान (मल) बौद्ध एवं पौरुष-दोनों रूपों से बन्धन का कारण बनता है। स्वच्छन्दतन्त्र अनुसार मल (अज्ञान) से चैतन्य (आत्मा का सब कुछ जानने एवं करने का स्वातन्त्र्य) दब जाता है एवं कला (किञ्चित् करने की सामर्थ्य और विद्या (किञ्चित् जानने की सामर्थ्य) से युक्त हो जाता है, राग से रञ्जित तथा भूत, वर्तमान, भविष्य की काल कलना से ग्रस्त हो जाता है। नियति (विशेष कारण से विशेष कार्य उत्पन्न करने की क्षमता) से नियन्त्रित हो जाता है; जिससे पुरुष विशेष के दृढ़ संस्कार तथा प्रकृति की वासना व गुणत्रय (सत्त्व, रज, तम) से समन्वित होकर बुद्धि, अहंकार, मन, बुद्धीन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय, तन्मात्र और स्थूल भूतों के आवरण से युक्त होने से मलावृत कहलाता

---

1. "बोधपरिछिन्नत्वं जडस्य किल लक्षणम्।"–बो.पं.द., 8।
2. "मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम्"–मा.वि.तं., 1-23।
3. "अप्रतिहतस्वातन्त्र्यरूपा इच्छाशक्तिः संकुचिता सती अपूर्णमन्यतारूपम् आणवं मलम्"–प्र.हृ.टी., सू. 1।
4. "ज्ञानशक्तिः क्रमेण संकोचात् भेदे सर्वज्ञत्वस्य किञ्चिज्ज्ञत्वाप्तेः अन्तःकरणबुद्धीन्द्रियतापत्तिपूर्वम् अत्यन्तं संकोचग्रहणेन भिन्नवेद्यप्रथारूपं मायीयं मलम्"–तदेव।
5. "क्रियाशक्तिः क्रमेण भेदे सर्वकर्तृत्वस्य किञ्चित्कर्तृत्वाप्तेः कर्मेन्द्रियरूप-संकोचग्रहणपूर्वम् अत्यन्तं परिमिततां प्राप्ता शुभाशुभानुष्ठानमयं कार्मं मलम्।"–तदेव।
6. "तथा सर्वकर्तृत्व-सर्वज्ञत्व-पूर्णत्व-नित्यत्व-व्यापकत्वशक्त्याः संकोचं गृहणाता यथाक्रमं कला-विद्या-राग-काल-नियतिरूपतया भान्ति।"–तदेव।
7. "स्वाङ्गरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या। मायातृतीये ते एव पशोः सत्त्वं रजस्तमः॥"–ई.प्र.का., 4/4।
8. "चिद्वत्तच्छक्तिसंकोचात् मलावृतः संसारी"–प्र.हृ., सू. 9।

है।[1] वसुगुप्त भी स्पन्दकारिका में यही भाव अभिव्यक्त करते हुये कहते हैं कि जीव अपने वास्तविक स्वरूप की अनभिज्ञता के कारण मल (आणव, मायीय, कार्म मल) आवरण युक्त हुआ असमर्थता अनुभव करता है।[2] अतएव यह मल (अज्ञान) ही बन्धन का कारण होता है। इसलिये इस द्विविध आवरण (बौद्ध-पौरुष) को अनावृत किये बिना स्वरूपानुभूति उसी प्रकार दुष्कर है, जैसे दर्पण के ऊपर से मैल हटाये बिना मुख स्पष्ट नहीं दिखाई देता है। गुरु के उपदेश से और शास्त्रों के अभ्यास से जीव की बुद्धि का मल (अज्ञान) दूर जाता है। वह बुद्धि के स्तर पर समझ लेता है कि मैं असीम, परिपूर्ण शुद्ध संवित् हूँ। स्वभाव से ही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर हूँ। इस प्रकार के बौद्ध ज्ञान से बौद्ध अज्ञान दूर हो जाता है, परन्तु मूल (पौरुष) अज्ञान के निवृत्त हुये बिना अकेले बौद्ध ज्ञान से स्वरूपानुभूति नहीं होती।[3] मानव का समस्त आचार-व्यवहार पौरुष अज्ञान से हो सकता है। अतएव पौरुष एवं बौद्ध दोनों प्रकार का ज्ञान यथार्थ स्वरूपानुभूति (शिवत्व प्राप्ति) के लिये अतीव आवश्यक होता है। जीव की आत्मा एवं बुद्धि दोनों निर्मल बन जानी चाहिये। अतः सच्छास्त्रों के सिद्धान्तों को बुद्धि से समझने द्वारा बुद्धि के स्तर की मल तथा गुरु के उपदेशपूर्वक शाम्भव आदि उपायों के अभ्यास से आत्मिक स्तर के आवरण को दूर करने से ही अपने वास्तविक, परमानन्द एवं शुद्ध आत्मदेव की स्वरूपानुभूति लाभान्वित हो सकती है। यह केवल समझने तक ही पर्याप्त नहीं है, अपितु क्रियात्मक रूप में अनुभूति आवश्यक है। जब कोई साधक क्रियात्मक रूप से अपने शिवभाव का साक्षात् अनुभव करता है, तभी उसे अपनी शिवता का पक्का विश्वास हो सकता है। गीतार्थसंग्रह[4] और विंशतिशास्त्र टीका में इसी को विज्ञान कहा गया है।[5]

अब जिज्ञासा हो सकती है कि जो साधक शास्त्राभ्यास एवं गुरुसपर्या के राहित्य से बौद्ध एवं पौरुष ज्ञानलाभ नहीं कर सकता, क्या उसको यथार्थ आत्मस्वरूप की अनुभूति कभी नहीं हो सकती? जबकि जीव शिव का ही रूप माना जाता है,[6] तो ऐसी दशा में सीमित रूप से ही भले क्यों न हो, आत्मप्रकाश तो रहता ही होगा। जब यह रहता है तो सीमित रूप में ही क्यों न हो, अज्ञान (मल) का नाश करता ही होगा? राजानक क्षेमराज कहते हैं कि पशु (बद्ध, जीव, संसारी)

---

1. "मलप्रध्वस्तचैतन्यं कलाविद्यासमाश्रितम्। रागेण रञ्जितात्मानं कालेन कलितं तथा।। नियत्यायमितं भूयः पुंभावेनोपबृंहितम्। प्रधानाशयसंपन्नं गुणत्रयसमन्वितम्।। बुद्धितत्त्वसमासीनमहङ्कारसमावृतम्। मनसा बुद्धिकर्माक्षैस्तन्मात्रैः स्थूलभूतकैः।।"–स्वच्छ.तं., 2/39–41।
2. "निजाशुद्ध्यासमर्थस्य . . . ."–स्प.का., 1/9।
3. "न चाप्रध्वस्तपौरुषाज्ञानस्यानेन (बौद्धेन ज्ञानेन) किञ्चिद्भवतीत्युक्तप्रायम्। अन्यथा ही प्रेक्षावतां दीक्षायां प्रवृत्तिरेव न स्यात्।"–तं.आ.वि., 1/44।
4. "ज्ञानं ब्रह्म, विज्ञानं च भगवन्मयीं क्रियाम्"–गी.अ.सं., पृ. 43।
5. "ज्ञानं तदुच्यते येन सदसद्वस्तुनिश्चयः। यथेष्टं भावनिर्माणशक्तिर्विज्ञानमुच्यते।।"–विं.शा.टी., पृ. 21।
6. (क) "आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्विभुः। अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरदृक्क्रिया शिवः।।"–शि.दृ., 1/2।
(ख) "सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि"–भ.गी., 6/29।

दशा में भी माया से आच्छादित रहने पर भी चितिरूपी अग्नि आंशिक रूप से ज्ञेय पदार्थ को ज्ञान का विषय बनाकर आत्मसात् कर लेती है,[1] तभी उसका ज्ञान होता है अर्थात् पूर्णरूप से ज्ञान (अभेद) में परिणत नहीं करती। वह उसको संस्कार द्वारा पुनः ज्ञेय (भेदरूप) में उत्थापित कर देती है। सभी प्रमाताओं में ज्ञेय को ज्ञान बना लेने की शक्ति है–ऐसा प्रत्येक को अपने अनुभव से ही सिद्ध है।[2] प्रतिबिम्ब का अभिनिवेश रहते हुये जैसे दर्पण का स्पष्ट भान नहीं होता है, उसी प्रकार जब तक चित्त दृश्य (ज्ञेय) और दर्शन में अभिनिविष्ट रहता है, तब तक उसे उनकी आधारभूता चिति (परमार्थ आत्मास्वरूप) की अनुभूति नहीं होती है। इसीलिये अभिनवगुप्त अनुत्तराष्टिका में कहते हैं कि स्वरूपानुभूति का सरल उपाय यह है कि निर्विकल्पभाव से न कुछ त्याग अथवा ग्रहण करने से अपने स्वरूप में यथावस्थित रहकर आत्म-विश्रान्ति से स्वरूप अभिव्यक्त हो जाता है।[3] त्रिपुरारहस्य ज्ञानखण्ड[4] एवं स्पन्दकारिका में भी[5] तथा ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में भी[6] इसी निर्विचार (Thoughtless) दशा में सहजतया सभी जीवों को स्वात्म स्वरूप की अनुभूति होने का मत अभिव्यक्त किया गया है।



1. "चितिवह्निरवरोहपदे छन्नोऽपि मात्रया मेयेन्धनं प्लुष्यति"–प्र.हृ., सू. 14।
2. "ग्रासकत्वं च सर्वप्रमातृणां स्वानुभवत एव सिद्धम्"–तदेव, टीका।
3. "मा किञ्चित् त्यज, या गृहाण, विरम स्वस्थो यथावस्थितः"–अनु.अ., 2।
4. "त्यक्त्वा पश्यामीति भावमन्धवन्निश्चलात्मना। दर्शनादर्शने त्यक्त्वा योऽसि सोऽसि द्रुतं भज।।"–त्रि.रह., ज्ञा.खं, 9/99।
5. "एकचिन्ताप्रसक्तस्य यतः स्यादपरोदयः। उन्मेषः स तु विज्ञेयः स्वयं तमुपलक्षयेत्।।"–स्प.का., 3/9।
6. "विकल्पहानेनैकाग्र्यात् क्रमेणेश्वरतापदम्"–ई.प्र.का., 4/11।

ऋग्वेदकालीन आभूषण

प्रो॰ पुरुषोत्तम शर्मा

ऋग्वेद के 1028 सूक्तों में, हमारी सांस्कृतिक सामग्री भरी पड़ी है। अन्य प्रकार की सामग्री के साथ-साथ आभूषण सम्बन्धी सामग्री भी उपलब्ध होती है। ऋग्वेदकाल से लेकर सूत्रकाल तक भारतीय स्त्री पुरुष दोनों आभूषण धारण करते थे। ये आभूषण प्रायः स्वर्ण तथा मूल्यवान् रत्नों के बनते थे। ऋग्वेद के काल में आभूषण सुन्दरता की अभिवृद्धि की दृष्टि से धारण किये जाते थे।[1]

ऋग्वेद में "अरंकृत"[2] शब्द उपलब्ध होता है जो "अलंकृत" का प्राचीन रूप है। आचार्य पाणिनि के मतानुसार भी प्राचीन "र" के स्थान पर कालान्तर में "ल" हो जाता है। यह "आभूषित" करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अतः ऋग्वेदकाल में आभूषण धारण किये जाते थे और आभूषणों से सुशोभित या सजे हुए को "अरंकृत" कहते थे। जैसे प्रस्तुत मंत्र में सोम को अरंकृत कहा गया है। ऋग्वेद में आभरः"[3] शब्द उपलब्ध होता है जिससे "आभरण" शब्द बना है। यह शब्द भी अलंकार के अर्थ में प्रयुक्त होता था। ऋग्वेद में "हिरण्यैः'' शब्द का व्यवहार साधारण रूप से स्वर्ण के अलङ्कारों के हेतु हुआ है।

"पत्नीव पूर्वहूतिं वावृधध्या उषासानक्तापुरूधा विदाने।
स्तरीनत्किं व्युतं वसाना सूर्यस्य श्रिया सुदृशी हिरण्यैः॥[4]

(यथा पतिदेव के प्रथम आवाहन करने पर पत्नी शीघ्र चली आती है, ठीक वैसे ही अहोरात्र देवता हमारे प्रथम आवाहन पर शीघ्र आवें। शत्रुमर्दन सूर्य की तरह उषा देवी हिरण्य के आभूषणों से युक्त होकर सूर्य के समान शोभा धारण करे।)

इस मन्त्र से यह भी संकेत उपलब्ध होता है कि विवाह के अवसर पर वधू विविध प्रकार के आभूषणों को धारण करती थी। विवाह के अवसर पर वर को धारण कराये जाने वाले आभूषणों को भी हिरण्यैः कहा जाता था।[5] प्रस्तुत मन्त्र में अश्व के सुवर्ण निर्मित आभूषणों का वर्णन इस प्रकार से है-

---

1. ऋग्वेद 10/77/2,
2. वायवा याहि दर्शते ये सोमा अरंकृताः। तेषां पाहिश्रुधीहवम्॥ ऋक् 1/2/1
3. या इन्द्र भुज आभरः स्वर्वा असुरेभ्यः। स्तोतारमिन्मघवन्नस्य वर्धय ये च त्वे वृक्तबर्हिषः ॥-ऋक् -8/97/1
4. ऋक् 1/22/2
5. वरा इवेद्रैवतासो हिरण्यैरभि स्वधाभिस्तन्वः पिपिश्रे।
श्रिये श्रेयांसस्तवसो रथेषु सत्रा महांसि चक्रिरे तनूषु॥ -ऋक् 5/60/4

"यदश्वाय वास उपस्तृणन्त्यधीवासं या हिरण्यान्यस्मै।
संदानमर्वन्तं षड्वीशं प्रिया देवेष्व यामयन्ति।।[1]

जिस वस्त्र से अश्व को आच्छादित किया जाता है उसको जो सुवर्णनिर्मित आभूषण धारण कराये जाते हैं, जिन साधनों के माध्यम से उसके पाद और मस्तक बाँधे जाते हैं, वे सब देवों को प्रिय हों, ऋत्विक् देवों को यह सब वस्तुएँ प्रदान करते हैं।

इस तरह यह सुस्पष्ट हो जाता है कि पुरुष और स्त्रियाँ दोनों ही वैदिक युग में आभूषणों के शौकीन थे, अलङ्कार धारण करते थे और ये आभूषण प्रायः सुवर्णनिर्मित होते थे।

आभूषण केवल धातु के ही नहीं बनते थे अपितु ये रत्नों के भी बनाये जाते थे। रत्न शब्द ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र से ही प्राप्त होने लगता है।[2] कुछ एक स्थलों में यह [3]आभूषणों के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। जैसे- **"प्रजापतिः कविरग्निर्हव्यान्यक्रमीत्। दधद्रत्नानि दाशुषे।**[4]

मणि शब्द ऋग्वेद में उपलब्ध होता है। अधोलिखित मंत्र में अन्य आभूषणों के साथ ग्रीवा में धारण करने के हेतु मणि प्रदान करने की विश्वदेव से याचना की गयी है-

"हिरण्यकर्णं मणिग्रीवमर्णस्तन्नो विश्वे वरिस्यन्तु देवाः।
आर्योगिरः सद्य आ जग्मुषी रोस्नाश्चाकन्तभयेष्वस्मे।।[5]

हे विश्वेदेव! हमें हिरण्य का कर्ण का आभूषण और ग्रीवा के हेतु मणि की माला और रूपवान् पुत्र दो। हे विश्वेदेव! हम आपकी स्तुति करते हैं और आपको हव्य प्रदान करते हैं।

ऋग्वेद में मोती के लिए "कृशन्" शब्द हमें उपलब्ध होता है। मोती सावित्री के रथ में लगा हुआ कहा गया है। अश्व को भी सजाने के लिए मोती का व्यवहार किया जाता था।[6]

ऋग्वेद में सिर के आभूषणों का वर्णन–ऋग्वेद में हमें सिर के आभूषणों में स्तुका, "स्तूप, शिप्र, शृङ्ग, कुरीर, ओपश और स्रज् शब्द मिलते हैं। स्तुका का वैदिक इण्डेक्स में शिखा या केश की चोटी अर्थ है। स्तूप शब्द का अर्थ वैदिक इण्डेक्स में शिखा की गाँठ या मस्तक पर का जूड़ा किया गया है। इससे यह धारणा बनती है कि सिर पर जब स्तूप का वर्णन मिलता है तो वह कोण के आकार का (नुकीली टोपी) आभूषण समझना चाहिये। ऋग्वेद में मन्त्र इस प्रकार है-

1. ऋक् 1/162/16
2. ऋक् 1/1/1
3. ए॰ए॰ मैकडानल एण्ड कीथ- सं॰-2, पृ॰-199
4. अन्न के पालक, मेधावी अग्निहवि देने वाले यजमान को रमणीय धन अर्थात् को देकर हवि को चारों और से व्याप्त करें। ऋक् 4/15/3
5. ऋक् 1/122/14
6. अभिवृतं कृशनैर्विश्वरूपं हिरण्यशम्यं यजतो बृहन्तम्।
आस्थाद्रथं सविता चित्रभानुः कृष्णा रजांसि तविषीं दधानः।। ऋक् 1/15/4

**"जुषस्व नः समिधमग्ने अद्य शोचा बृहद्यजतं धूममृण्वन्।
उपस्पृश दिव्यं सानु स्तूपैः संरश्मिभिस्ततनः सूर्यस्य।।**[1]

हे अग्निदेवता! काष्ठ को प्राप्त करके तेजस्वी बन, इस बृहत् यज्ञ को उज्ज्वल कर तथा अपने धूम से शत्रु को कम्पित करने वाली शक्ति प्रदान कर सूर्य के स्तूप नामक आभूषण से निकली हुई रश्मियों के समान अपने तेज का विस्तार कर।

इस मन्त्र से यह अनुमान होता है कि "स्तूप" मस्तक के एक आभूषण का नाम था और इसे पुरुष धारण करते थे और प्रायः यह सुवर्ण का होता था। यदि यह सुवर्ण का न होता तो इसमें से निकलने वाली चमक को सूर्य की स्वर्ण रूपी किरणों से उपमा न दी होती। ऋग्वेद में एक दूसरा शब्द शिप्र मिलता है। निम्नलिखित मन्त्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सिर का आभूषण था और धातु का बना हुआ होता था तथा टोपी के समान आकार का था-

**अंसेषु व कृष्टयः पत्सु खादयो वक्षः सू रुक्मा मरुतो रथे शुभः।
अग्निभ्राजसो विद्युतो गभत्योः शिप्राः शीर्षसु वितता हिरण्ययीः।।**[2]

यहाँ शिप्र सिर पर है, बड़ा है और हिरण्य का है इसे मुकुट भी कहा जा सकता है। ऐसा विदित होता है कि पुरुष कभी-कभी अपने मस्तक पर शृङ्ग भी धारण करते थे।[3] इनको धारण करने के लिये मुकुट में ही स्थान बनाया जाता रहा होगा। ऋग्वेद में इन्द्र को शृङ्गवृषो कहा गया है-

**"यस्ते शृङ्गवृषो नपात्प्रणपातित्कुण्डपाय्यः।
न्यस्यिन्दध्र आ मनः।।**[4]

हे शृङ्गवृष इन्द्र। तुम्हारी रक्षा करने वाला जो कुण्डपायी यज्ञ है। उसको मुनियों ने प्रारम्भ कर दिया है। उपर्युक्त मन्त्र में टीकाकारों ने इन्द्र को शङ्गवृष नामक ऋषि का पुत्र मानकर अर्थ किया है। अतः हिरण्यशृङ्ग इन्द्र ही प्रतीत होते हैं और शृंग पुरुषों के मस्तक का ही आभूषण है जो कदाचित् लड़ाई के समय धारण किया जाता था। ऋग्वेद में "स्त्रज्" एक दूसरा आभूषण परक शब्द उपलब्ध होता है। यह कदाचित् माला का द्योतक था। स्त्रक् की रचना प्रायः फूलों से होती थी।

"स्त्रजं कृण्वानो जन्यो न शुम्बा ...। - ऋक् 4/38/6

ऋग्वेदकालीन पुरूष-स्त्री आभूषण प्रायः स्वर्ण, मुक्ता, मणि, रत्न तथा फूलों आदि से बनाते थे। मूल्यवान् आभूषण धनी लोग ही पहन सकते थे। ऋग्वेद में हमें "कुरीर" 'ओपश' तथा "स्त्रज्"

1. ऋक् 7/2/1
2. ऋक् 5/54/11 तथा ऋक् 4/37/4, ऋक् 2/34/3
3. शृङ्ग शब्द कदाचित् उन सींगों का द्योतक था जो टोपी में लगाई जाती थी।
4. ऋक् 8/17/31 तथा 1/163/9

शब्द स्त्रियों के मस्तक के आभूषणों के रूप में उपलब्ध होते हैं। "कुरीर" शब्द की व्याख्या गेल्डनर ने शृंग की है।[1] अथर्ववेद में भी यह शब्द उपलब्ध होता है।[2] ऋग्वेद में यह शब्द विवाह के समय वधू के शृंगार के प्रकरण में प्राप्त होता है-स्तोमा आसत प्रतिधयः कुरीरं छन्द ओपशः।[3]

उषा के समान अनुराग वाली नववधू अपने पति के साथ जाने को हो तो उसको सुन्दर उपदेश दिये जायें और उसे कुरीर तथा ओपश नाम के आभूषणों से सजाया जाये जिससे उसकी अभिलाषा पूर्ण हो। वर आगे चले और स्त्री उसका अनुसरण करे।

मोनियर विलियम्स ने इसे एक प्रकार का स्त्रियों का मुकुट कहा है। ऋग्वेद में दूसरा आभूषणपरक शब्द ओपश मिलता है। यह आभूषण कदाचित् मस्तक के चारों और लपेट कर पहिना जाता था। मोतियर विलियम्स ने इसे सिर का आभूषण कहा है। ओपश शब्द निम्न मन्त्र में वेष्टन का काम करते हुए दिखाया गया है-

"यज्ञ इन्द्रमवर्धयद्यद्भूमिं व्यवर्तयत्। चक्राण ओपशं दिवि॥[4]

यथा चक्र ओपश द्वारा बांधी जाने पर रथ की रक्षा करता है ठीक वैसे ही इन्द्र यज्ञ द्वारा बांधा जाने पर पृथ्वी की रक्षा करता है। मन्त्र से ज्ञात होता है कि "ओपश इस युग में कदाचित् स्त्रियों के सिर का आभूषण था।

ऋग्वेद में कान के आभूषण का वर्णनः- कान के आभूषणों के लिए हमें "कर्णशोभना" शब्द प्राप्त होता है। यह आभूषण किस प्रकार का था यह कहना कठिन है। कदाचित् यह आभूषण पाणिनि के कर्णिका के समान रहा होगा।[5] वैदिक इण्डैक्स के अनुसार यह पुरुषों का आभूषण था।[6]

उत नः कर्णशोभना पुरूणि पृष्णवाभर।
त्वं हि शृण्विषेणिवषे वसो॥[7]

रिपुओं को पीस देने वाले और त्रास देने वाले इन्द्र, तुम्हारा ही यश सुना जाता है, तुम हमें बहुसंख्या में कर्णभरण दो। एक अन्य शब्द "चक्र" भी हमें आभूषण परक उपलब्ध होता है। कदाचित् पहिये के आकार का यह कर्णाभरणं होता था। ऋग्वेद में हमें एक स्थान पर "हिरण्यकर्ण" शब्द प्राप्त होता है -

"हिरण्यकर्ण" मणि ग्रीवमर्णस्तन्नो विश्वे वरिस्यन्तु देवाः।

---

1. गेल्डनर - वैदिक स्टूडियेन 1, 131
2. अथर्ववेद-6/138/3
3. ऋक् 10/85/8
4. ऋक् - 8/14/5, 10/85/9 तथा 1/173/6
5. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० - 138, पार्णिनि 4/3/65
6. ए० ए० मेकडानल एण्ड कीथ - खण्ड 1, पृ० - 140
7. ऋक् 8/78/3

अर्यो गिरः सद्य आ जग्मुषीरोस्राश्चाकन्तू भयेष्वस्मे।[1]

इन मन्त्रों से यह विदित होता है कि "कर्णशोभना और हिरण्यकर्ण नाम के कुण्डल पुरुष धारण करते थे तथा चक्र नाम की कर्णफूल स्त्रियाँ धारण करती थीं।

ऋग्वेद में ग्रीवा के आभूषणों का वर्णनः- ऋग्वेद में ग्रीवा के आभूषणों के नामों में हमें "माला", "निष्क" तथा "अतका" मिलते हैं। "हिरण्यकर्ण इत्यादि मन्त्र से मणि को ग्रीवा पर धारण करने का संकेत प्राप्त होता है। इस मन्त्र से यह भी सिद्ध होता है कि ग्रीवा पर मणियों की माला पुरुष भी धारण करते थे। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर निष्क नामक आभूषण की चर्चा प्राप्त होती है जो ग्रीवा में धारण किया जाता था। मोनियर विलियम्स और वैदिक इण्डैक्स में इसे ग्रीवा का आभूषण माना गया है। एक मन्त्र में 100 निष्क का विवरण मिलता है। प्रस्तुत मन्त्र से विदित होता है कि 100 निष्कों की बनी माला कक्षिवान् ने असुर राजा से प्राप्त की–

"शतं राज्ञो नाधमानस्य निष्काञ्छतमश्वान्प्रयतान्सद्य आदम्।
शतं कक्षीवाँ असुरस्य गोनां दिविश्रवोऽजरमा ततान।।[2]

असुर राजा से (कक्षीवान्) ने 100 निष्क् 100 अश्व तथा 100 बैल प्राप्त किये। इस कारण की कीर्ति स्वर्ग में होगी। एक मन्त्र में यह भी संकेत प्राप्त होता है कि रूद्र निष्क धारण करते थे।[3] उपर्युक्त मन्त्रों से विदित होता है कि निष्क की माला पुरुष धारण करते थे और यह सिक्कों को छेद करके और उन्हें डोरे में डालकर बनाया जाता था। इस तरह की मालाएँ आज भी भारतवर्ष के गांवों में स्त्रियाँ धारण करती हैं। ग्रीवा में धारण करने वाले एक और आभूषण का नाम ऋग्वेद में "हिरण्य उर्वशी" उपलब्ध होता है। जिसे इन्द्र ने धारण किया था–

"त्वं न इन्द्र वाजयुस्त्वं गव्युः शतक्रतो। त्वं हिरण्ययुर्वसो।।[4]

हे इन्द्र। तू हमको अन्न, ज्ञान भूमि आदि प्रदान करने वाला है। हे शतक्रतो। तू हिरण्य उर्वशी को धारण करने वाला है।

ऋग्वेद में वक्षस्थल के आभूषणों का वर्णन-वक्षस्थल पर धारण के लिए एक आभूषण का नाम "रुक्म" भी ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है। शतपथ के अनुसार यह सुवर्ण का बनता था। यह गोल होता था तथा इसमें 21 घुण्डियाँ लगी रहती थीं।[5] "रुक्म" मरूत् धारण करते थे मरुतों को रुक्मवक्षसो कहा गया है।[6] सेनानायक को रूक्म धारण करने का आदेश है–

---

1. ऋक् 1/122/14
2. ऋक् 1/126/2, 5/19/3
3. ऋक् 2/33/10
4. ऋक् 7/31/3
5. शतपथ ब्राह्मण–3,5,10,20,52
6. ऋक् 2/34/8, 10/78/2

"चित्रैरञ्जिभिर्वपुषो व्यञ्जते वक्षः .....।[1]

सेनानायक अपने शरीर पर अनेक रंग के आभूषण वक्ष-स्थल पर रूक्म धारण करे। जिस कारण उन्हें लोग नायक समझें तथा ये अपने कन्धों पर शत्रु नाशक हथियार रखें। इस तरह वे भूमि की विजय और पालन के लिये प्रस्थान करें।। ऋग्वेद में कलाई, बाहु और मणिबन्धों आदि के आभूषणों का वर्णन–आर्य भुजा पर भी आभरण धारण करते थे–

"या इन्द्र भुज आभरः स्ववर्वा असुरेभ्यः।
स्तोतारमिन्ममधवन्नस्य वर्धय ये चत्वे वृक्त बर्हिषः।।[2]

हे इन्द्र! तुम जो असुरों को जीतकर उनका "भुज आभर" (भुजा का आभूषण) लाये हो, वह अपने उपासकों को दो। ऋग्वेद में एक मन्त्र में "भुजी" शब्द प्राप्त होता है। यहाँ यह भुजी हिरण्य पेशस कहा गया है। यथा–

"आ नूनं यातमश्विना रथेन सूर्यत्वचा।
भुजो हिरण्यपेशसा कवी गम्भीर चेतसा।।[3]

हे अश्विनों तुम्हारी कान्ति सूर्य सदृश है। आप अपने तीव्रगामी रथ पर अवश्य आयें। आप स्वर्ण के तारों से बना भुज धारण करते हैं। खादी शब्द ऋग्वेद में हाथ तथा बाहू दोनों स्थानों में धारण करने वाले कड़े के अर्थ में आया है। "खादिहस्त" (हाथ का कड़ा) पत्सुखादयोः[4] (पैर का कड़ा) शांखायन श्रौतसूत्र में हिरण्य खादि का वर्णन मिलता है।[5] अतः ऋग्वेदकालीन स्त्री-पुरुष दोनों खादि नाम कङ्कण पहनते थे। यह हाथ की कलाई में चूड़ियों के समान पहना जाता था।[6]

ऋग्वेद में अँगुली के आभूषण का वर्णनः- ऋग्वेद कालीन आर्य हाथ में अँगूठी धारण करते थे।[7] अँगूठी के लिए एक विशेष शब्द "आनूक" प्राप्त होता है।[8]

ऋग्वेद में कटि के आभूषणों का वर्णनः- कटि पर वरुणवाश, न्योचनी तथा हिरण्य वर्तनी धारण की जाती थी। मेखला और रशना शब्द भी ऋग्वेद में मिलते हैं किन्तु "रशना" रस्सी के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ मालूम पड़ता है। "न्योचनी" शब्द विवाह मन्त्रों में उपलब्ध होता है। इसका पर्यायवाची शब्द "नीवीबन्ध" प्राप्त होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह शब्द करधनी का द्योतक था–

---

1. ऋक् 1/64/4
2. ऋक् 8/97/1
3. ऋक् 8/8/2
4. ऋक् 5/54/11
5. शांखायन श्रौतसूत्र - 3, 5, 12, 8, 23, 6
6. ऋक् 1/168/3 तथा 5/58/2
7. हिरण्यपाणिभूतये सवितारमुपह्वये। स चेता देवतापदम्।-ऋक् 1/22/5 तथा ऋक् 1/35/9
8. ऋक् 5/33/9

"रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी।
सूर्याया भद्रमिद्वासो गाथयैति परिष्कृतम्।।[1]

विद्वानों की शिक्षा, विवाह के पश्चात् देने योग्य हो, मनुष्यों की स्तुति वधू के लिये नारी को सुमार्ग पर रखने की करधनी हो।

एक मन्त्र में रुद्रा को "हिरण्यवर्तनी" कहा गया है जिससे विदित होता है कि यह शब्द हिरण्य की करधनी हेतु प्रयुक्त हुआ है।[2] वरुणपाश सम्भवतः मूँज की करधनी होती थी।[3] जैसे आजकल भी श्रौत यज्ञों में यजमान पत्नी को धारण करवाई जाती है। ऋग्वेद के कई स्थलों पर "रशना" शब्द मिलता है किन्तु इसका प्रयोग केवल रस्सी के अर्थ में मालूम पड़ता है।[4]

ऋग्वेद में पैरों के आभूषणों का वर्णनः- पैरों के आभूषणों के लिए खादि शब्द का प्रयोग पुनः हुआ है। इसका आकार सम्भवतः कड़े का रहा होगा। एक अन्य शब्द "हिरण्यपावा" हमें ऋग्वेद में प्राप्त होता है कदाचित् यह पायजेब का कोई प्राचीन रूप हो सकता है-

"हिरण्यपावाः पशुमासु गृभ्णते।। ऋक् 9/86/43

जैसे पशु को लोग जल में स्नान करवाने ले जाते हैं उसी प्रकार स्वर्ण का आभूषण पैर में धारण किये हुए ऋत्विक् सोम को जल में ले जाते हैं।

आभूषणों के सम्बन्ध में ऋग्वेद के प्रथम मण्डल सूक्त 43 के पांचवें मन्त्र में आभूषणों का संकेत मिलता है-

"यः शुक्र इव सूर्यो हिरण्यमिव रोचते।[5]
श्रेष्ठो देवानां वसुः ।। ऋक् 1/43/5

इसका अर्थ यह है कि सूर्य के समान चमकते हुए और सोने की तरह जगमगाते हुए वे रूद्र देवताओं में श्रेष्ठ और ऐश्वर्य के स्वामी है। यहाँ पर सोने की तरह चमकते हुए रूद्र हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि सोने के आभूषण धारण करने से ही रुद्र जगमगा रहे थे। यहाँ हिरण्य का अर्थ है सोने के आभूषण। अतः ऋग्वेद के समय सोने के आभूषणों का धारण करना एक साधारण सी बात थी।

ऋग्वेद 1/116/13 में, हिरण्यहस्त[6] शब्द का प्रयोग हुआ है "हिरण्यहस्तं" का अर्थ है- "सोने का हाथ"। इसका अभिप्राय यह है कि सोने के आभूषणों से अलङ्कृत हाथ। इससे भी

---

1. ऋक् 10/85/6
2. ऋक् 5/75/3
3. ऋक् 10/85/24
4. ऋक् 1/162/8
5. ऋक् 5/54/11 तथा 1/64/10
6. हिरण्यहस्तमश्विनावदत्तम् - ऋक् 1/116/13

ऋग्वेद काल में सोने के आभूषणों का प्रचार प्रकट होता है।

ऋग्वेद 7/56/13 में भी आभूषणों का वर्णन मिलता है।[1] मन्त्रार्थ है - हे मरुतो! तुम्हारे कन्धों में आभूषण हैं, वक्षस्थलों में सोने के आभूषण हैं, तुम बिजली की भाँति शोभायमान हो और शास्त्रों से सुसज्जित हो। प्रस्तुत मन्त्र में कन्धों पर, हृदय पर जो आभूषणों का वर्णन किया गया है इससे विदित होता है कि ऋग्वेद काल में छाती में हार डाले जाते थे और कन्धों पर भी अलङ्कार धारण किये जाते थे जो अपनी चमक में बिजली की समता धारण करते थे।

यह सोचना कि मनुष्य अपने ऐश्वर्य को प्रदर्शित करने के हेतु ही आभूषण धारण करता है जिससे उसे लोग वैभवशाली और धनवान् समझें, यह भूल है। राजा यदि आभूषण धारण करता था तो केवल अपनी सुन्दरता बढ़ाने के लिये।

प्राचीन काल में यह विचारधारा भी मिलती है कि विशेष प्रकार के रत्नों के धारण करने से और आभूषण धारण करने से मनुष्य की भूत-प्रेत से रक्षा होती है। वेदों में भी हम पाते हैं कि आर्यों की यह धारणा थी कि स्वर्ण धारण करने से आयु की वृद्धि होती है। विविध रत्नों और धातुओं में प्राचीन देशों के चिकित्सकों ने रोगों के नाश करने की शक्ति बताई है। अथर्ववेद के अनुसार सुवर्ण से यक्ष्मा का रोग नष्ट होता है। इस प्रकार की धारणाओं से भी प्रेरित होकर मनुष्य आभूषण धारण करता था।

यदि प्राचीन मनुष्य हड्डी के टुकड़ों को, दाँत को, चमकते हुए पत्थर को, पुष्प को, पेड़ की टहनी को अपने शृंगार के हेतु आभूषण के रूप में व्यवहार करता था तो आज का मनुष्य मोती, मूँगा और चमकते हुए पत्थर जैसे हीरा - माणिक, पन्ना, नीलम, पुखराज आदि को आभूषण के रूप में प्रयुक्त करता है।



1. अंसेष्वा मरुतः खादयो वो वक्षः सुरुक्मा उपशिश्रियाणा।
विविधुतो न वृष्टिभी रूचाना अनु स्वधामायुधैर्यच्छमानाः।। ऋक् 7/56/13

प्रो. वेदकुमारी घई एवं संस्कृत साहित्य
भाग 'अ'
जीवन परिचय एवं शैक्षणिक संस्थानकार्य

डॉ. सुषमा देवी गुप्ता

जीवन परिचयः—अन्तर्राष्ट्रिय स्तर पर ख्याति प्राप्त संस्कृत की प्रख्यात विदुषी, लेखिका, सुप्रसिद्ध शिक्षाविद् तथा समाज सेविका प्रो. वेदकुमारी घई का जन्म 16 नवम्बर, 1932 को जम्मू नगर के प्रसिद्ध अलिफ शाह मुहल्ला (अब प्रतापगढ़) में हुआ। जन्म लेते ही इनकी माता जी का देहावसान हो गया तो पिता श्री मूलशंकर घई जी से इन्हें इनके निःसन्तान ताया-तायी जी ने गोद ले लिया। इस प्रकार इनकी माताजी श्रीमती विद्यावती घई तथा पिता जी श्री बरकत राम घई हुए। अपने इन माता-पिता की इकलौती सन्तान होने के कारण इनका लालन-पालन बड़े लाड़-प्यार से हुआ। जन्मदाता पिता से उनके चार भाई तथा तीन बहनें हुईं।

शिक्षा शोध एवं अध्यापनः—अत्यन्त मेधाविनी एवं प्रखरबुद्धि प्रो. घई की प्रारम्भिक शिक्षा दीक्षा जम्मू नगर की ही आर्यकन्या पाठशाला में सम्पन्न हुई। 1950 ई. में महारानी महिला कॉलेज जिसे वर्तमान में राजकीय महिला कॉलेज परेड के नाम से जाना जाता है, से प्रथम श्रेणी में स्नातक की परीक्षा उत्तीर्ण कर 1952 में पंजाब विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी में (प्रथम स्थान) संस्कृत एम. ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की। 1953 में इनकी जम्मू के महारानी महिला महाविद्यालय में संस्कृत के प्रवक्ता पद पर नियुक्ति हो गई। प्राईवेट तौर पर अध्ययन कर इन्होंने 1958 में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति में प्रथम श्रेणी लेकर एम.ए. परीक्षा उत्तीर्ण की। वहीं से प्रथम श्रेणी में जर्मन भाषा में डिप्लोमा तथा बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में ही प्रो. सूर्यकान्त के निर्देशन में 1960 में पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। 1962 के प्रारम्भ तक जम्मू के उपरोक्त कॉलेज में कार्यरत रहीं। 1962 में कश्मीर के गवर्नमैंट महिला महाविद्यालय में स्थानांतरित हुईं।

विवाहः—सन् 1963 में जम्मू विश्वविद्यालय के अन्तर्गत संस्कृत विभाग खुलने पर प्रो. घई की इसी संस्कृत विभाग में प्रवक्ता एवं अध्यक्षा के पद पर नियुक्ति हुईं। इस प्रकार 1963 में कश्मीर से सीधे जम्मू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में इनका आगमन हुआ। 1963 में ही प्रो.

वेदकुमारी घई का विवाह दादरी, गौतमबुद्धनगर, उत्तर प्रदेश के निवासी प्रो. राम प्रताप वेदालंकार से हुआ। वह भी संस्कृत के मूर्धन्य विद्वान एवं कवि हैं। विश्वेश्वरानन्द विश्वबन्धु पोस्ट ग्रेजुएट इंस्टिट्यूट, पंजाब युनिवर्सिटी, होशियारपुर में शिक्षण का कार्य करने के पश्चात् 1964 में जम्मू विश्वविद्यालय के ही संस्कृत विभाग में इनकी भी नियुक्ति हुई।

परिवार:–प्रो. घई एवं प्रो. रामप्रताप जी को दो सन्तान रत्न प्राप्त हुए, बेटा वीरभानु एवं बेटी ऋचा। बेटा अमेरिका से प्रिंटिंग टेक्नॉलॉजी में बी. टैक (ठण् ज्मबीण्) एवं एम. बी. ए. करने के बाद कुछ समय अमेरिका में ही नौकरी करते रहे लेकिन बाद में भारत लौट आये तथा बैंगलौर शहर में साईबर कम्पनी में उपप्रधान (टपबम.च्तमेपकमदज) के पद पर कार्यरत हैं। उनकी पत्नी जम्मू नगर की ही निवासी भावना हैं तथा बेटी निकिता एवं बेटा निखिल है। प्रो. घई एवं प्रो. राम प्रताप जी की बेटी ऋचा एम. बी. बी. एस. रेडियोलॉजी में पी.जी. डिप्लोमा करके अनाटमी में एम. डी. कर रही हैं। इनका विवाह भी अरनिया जम्मू (आर. एस. पुरा) में ही हुआ है। इनके पति डॉ. पवन अरोड़ा ने सर्जरी (शल्य चिकित्सा) के क्षेत्र में मास्टर्स डिग्री की हुई है। इनके दो बेटे हैं बड़ा ओजस एवं छोटा मानस। वर्तमान समय में प्रो. घई एवं प्रो. राम प्रताप जी का निवास स्थल जम्मू के दक्षिण में त्रिकूटा नगर में है।

शैक्षणिक संस्थान कार्य:–सन् 1963 में जम्मू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में प्रवक्ता के पद पर नियुक्ति के साथ ही इन्होंने इस विभाग की विभागाध्यक्षा का पदभार भी संभाला। प्रवाचिका की यात्रा तय करने के पश्चात् 1973 में आचार्या पद पर उन्नति पा 1985 तक तथा फिर 1989 से 1991 तक इस विभाग की 24 वर्षों तक लगातार विभागाध्यक्षा बनी रहने वाली प्रो. घई जनवरी 1992 में 30 वर्ष के दीर्घ कार्यकाल के बाद संस्कृत विभाग से सेवानिवृत्त हुईं। इनके कार्यकाल में इनके सुदृढ़ शासन एवं सुव्यवस्थित मार्गदर्शन में संस्कृत विभाग ने दिन दुगुनी रात चौगुनी उन्नति की तथा इस अवधि में प्रो. घई ने सैकड़ों छात्रों को संस्कृत शिक्षण रूपी प्रसाद वितरित किया।

डॉ. घई ने विभागाध्यक्षा के पद को अलंकृत करते हुए विभिन्न शैक्षणिक संस्थानों के विभिन्न पदों को भी अलंकृत करते हुए कई महत्त्वपूर्ण कार्यों को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने में प्रशासन की भी सहायता की यथा:-

1. अध्यक्षा, प्राच्य विद्या संकाय एवं कला संकाय, जम्मू विश्वविद्यालय, 6 वर्ष एवं 5 वर्ष।
2. सदस्य, केन्द्रिय परिषद एवं विद्वत् परिषद् जम्मू विश्वविद्यालय, 7 वर्ष एवं 5 वर्ष।
3. सदस्या, विद्वत् परिषद, कश्मीर विश्वविद्यालय, 3 वर्ष।
4. सदस्या, अनुसन्धान समिति, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला, 9 वर्ष, पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला एवं कुरुक्षेत्र, विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र–6/6 वर्ष तथा बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-3 वर्ष।

5. भारतीय विश्वविद्यालयों हेतु संस्कृत विषय में आदर्श पाठ्यक्रम तैयार करने हेतु सदस्य, पाठ्यक्रम विकास समिति, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग दिल्ली-2 वर्ष।

6. सदस्य, संस्कृत विश्वविद्यालयों हेतु निरीक्षण समिति, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग-2 वर्ष।

7. विविध शैक्षणिक केन्द्र चलाने वाली आर्य प्रतिनिधि सभा जम्मू एवं कश्मीर की प्रधाना-4 वर्ष।

8. उपाध्यक्षा, भारतीय विद्या भवन, जम्मू-कई वर्षों से।

9. अध्यक्षा, संस्कृत विश्व परिषद, जम्मू शाखा-2 वर्ष।

10. अध्यक्षा, डोगरी अनुसंधान संस्था, जम्मू-9 वर्ष।

11. उपाध्यक्षा, डोगरी संस्था जम्मू-6 वर्ष।

12. संयोजक, संस्कृत विश्व शताब्दी ग्रन्थ समिति, अखिल भारतीय संस्कृत सम्मेलन देहली।

13. सदस्य, 1. कार्य समिति (विभिन्न साहित्यिक समितियों में) जैसे अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन, देहली-4 वर्ष।

2. हिन्दी परामर्श समिति, जम्मू एवं कश्मीर की कला, संस्कृति एवं भाषा अकादमी जे. एण्ड. के.-3 वर्ष।

3. डोगरी परामर्श समिति साहित्य अकादमी, देहली-6 वर्ष,

केन्द्रीय परिषद कला, संस्कृति एवं भाषा अकादमी, जम्मू-कश्मीर-3 वर्ष।

14. उपाध्यक्षा, श्रमिक विद्यापीठ, जम्मू-3 वर्ष।

15. सदस्य, जम्मू नगर विकास संस्था, जम्मू कश्मीर सरकार-2 वर्ष

16. प्रधान सम्पादक-महाविद्यालय पत्रिका 'द्विगर्त'-2 वर्ष।

17. प्रधान सम्पादक-विश्वविद्यालयीय अनुसंधान पत्रिका, भाषा खंड-15 वर्ष।

इसके अतिरिक्त गांधी सेवा सदन की 1993 तक उपाध्यक्षा एवं 1993 ई. से अध्यक्षा पद पर कार्य कर रही हैं। प्रो. घई 3 वर्ष तक परामर्श समिति कस्तूरबा गांधी राष्ट्रिय न्यास जे. एण्ड. के. की अध्यक्षा भी रही हैं।

शोध निर्देशन:–जम्मू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में 30 वर्ष के अपने दीर्घ कार्यकाल में प्रो. वेद कुमारी घई ने जहाँ सैंकड़ों छात्र-छात्राओं को संस्कृत साहित्य, भाषा विज्ञान, प्राचीन भारतीय इतिहास, धर्म, दर्शन, काव्यशास्त्र, वेद, व्याकरण इत्यादि का ज्ञान उपलब्ध करवाया वहीं बीस से अधिक एम. फिल एवं अट्ठारह पी. एच. डी. के शोधार्थियों का प्राच्य विद्या एवं

संस्कृत के विभिन्न क्षेत्रों में शोध निर्देशन भी किया। इनके निर्देशन में पी. एच. डी. की उपाधियां प्राप्त करने वाले लगभग सभी शोधार्थियों ने संस्कृत शिक्षण एवं अन्य विभिन्न क्षेत्रों में उच्च पदों पर नियुक्त होकर अपनी योग्यता का परिचय दिया है। इनके नाम इस प्रकार हैं:–डॉ. गंगादत शास्त्री 'विनोद', डॉ. चम्पा शर्मा, डॉ. उषा किरण, डॉ. प्रभात कुमार, डॉ. सुषमा प्रशान्त, डॉ. योगेन्द्र कुमार शास्त्री डॉ. देव रतन शास्त्री, डॉ. रमणीका जलाली, डॉ. पुरुषोत्त्म शर्मा, डॉ. सुषमा देवी गुप्ता, डॉ. विद्या कुमारी शर्मा, डॉ. अनीता सूदन, डॉ. सत्यभामा राजदान, डॉ. कुसुम गुप्ता, डॉ. बचनो गुप्ता, डॉ. वेद कुमारी शर्मा, डॉ. पीताम्बर दत्त शास्त्री, डॉ. सुनीता सूदन एवं डॉ. सुधा गुप्ता जिन्होंने संस्कृत वाङ्मय के कई क्षेत्रों यथा वेद, व्याकरण, भाषा-विज्ञान, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, आयुर्वेदशास्त्र, पुराण साहित्य, राजनीति, प्राचीन भारतीय इतिहास, नाट्यशास्त्र, गद्य काव्यों, महाकाव्यों, नाटकों इत्यादि विभिन्न विषयों पर शोध कार्य सम्पन्न किया।

उपरोक्त शोधर्थियों में से डॉ. चम्पा शर्मा ''डोगरी भाषा में प्रयुक्त संस्कृत शब्दों का अर्थ विषयक अध्ययन'' विषय पर पी. एच. डी. की उपाधि प्राप्त कर पहले संस्कृत विभाग में ही प्रवक्ता के पद पर, तत्पश्चात् डोगरी विभाग में प्रवक्ता से प्रवाचिका, प्रवाचिका से प्रोफेसर पदों को सुशोभित करते हुए विभागाध्यक्षा के पद को भी अलंकृत कर डोगरी विभाग को महत्त्वपूर्ण स्थान पर पहुँचाकर कुछ वर्ष पूर्व ही सेवानिवृत्त हुई। प्रो. चम्पा शर्मा वर्तमान समय में डोगरी साहित्य एवं भाषा की साधना में लगी हुई हैं।

''स्मृतियों में नारियों के लिए विधिनियम'' विषय पर पी. एच. डी. उपाधि प्राप्त प्रो. रमणीका जलाली, ''आचार्य भीम विरचित परमार्थ मञ्जरी का आलोचनात्मक सम्पादन तथा अध्ययन'' विषय पर पी. एच. डी. उपाधि प्राप्त पुरुषोत्तम शर्मा एवं ''नाट्यशास्त्र में उपलब्ध नृत्य परक सामग्री का आलोचनात्मक अध्ययन'' विषय पर पी. एच. डी. उपाधि प्राप्त डॉ. सुषमा देवी गुप्ता-तीनों ही वर्तमान समय में जम्मू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में संस्कृत शिक्षण एवं अनुसंधान के क्षेत्र में संलग्न हैं। प्रो. रमणीका जलाली विभागाध्यक्षा भी रह चुकी हैं जिनके नेतृत्व में विभाग ने काफी उन्नति की है। ''कश्मीरी भाषा की संस्कृति मूलक शब्दावली'' विषय पर पी. एच. डी. उपाधि प्राप्त डॉ. सत्यभामा राज़दान, कश्मीर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष के पदभार को बड़े ही सुचारु रूप से वहन कर रही हैं। ''महाकवि नव्य चण्डीदास रचित रघुनाथ गुणोदय महाकाव्य-एक आलोचनात्क अध्ययन'' विषय पर पी. एच. डी. उपाधि प्राप्त डॉ. गंगादत्त शास्त्री विनोद, ''विष्णुधर्मोत्तर पुराण में राजनीति विज्ञान'' विषय पर पी. एच. डी. उपाधि प्राप्त डॉ. देवरतन शास्त्री, ''विष्णुधर्मोत्तर पुराण का सामाजिक एवं धार्मिक अध्ययन'', विषय पर पी. एच. डी. उपाधि प्राप्त डॉ. कुसुम गुप्ता, ''महाकवि मङ्ख-व्यक्तित्व एवं कृतित्व'' विषय पर पी. एच. डी. उपाधि प्राप्त डॉ. बचनो गुप्ता, ''बीसवीं शती का डुग्गर का संस्कृत को योगदान'' विषय पर पी. एच. डी. उपाधि प्राप्त डॉ. पीताम्बर दत्त शास्त्री, जम्मू क्षेत्र के विभिन्न महाविद्यालयों में संस्कृत शिक्षण क्षेत्र में अपनी-अपनी सेवाएं देकर सेवानिवृत्त हो चुके

हैं तो ''राजपूताना के चाहमान अभिलेखों का अध्ययन'' विषय पर पी. एच. डी. उपाधि प्राप्त डॉ. अनीता सूदन राजकीय महाविद्यालय रियासी में प्रिंसीपल हैं। परमार वंशीय अभिलेखों का साहित्यिक अध्ययन'' विषय पर पी. एच. डी. उपाधि प्राप्त डॉ. सुनीता सूदन वर्तमान समय में उधमपुर के महाविद्यालय में संस्कृत शिक्षण में लगी हुई हैं। ''भेलसंहिता-समीक्षात्मक अध्ययन' विषय पर पी. एच. डी. उपाधि ग्रहण करने वाले डॉ. प्रभात कुमार आयुर्वेदिक कॉलेज जम्मू के प्रधानाचार्य के पद से सेवानिवृत्त होकर आयुर्वेद चिकित्सा के क्षेत्र में कार्यरत हैं। ''त्रैतावाद का उद्भव और विकास विषय पर पी. एच. डी. उपाधि प्राप्त डॉ. योगेन्द्र कुमार शास्त्री भी ओरियण्टल कॉलेज में प्रधानाचार्य के पद पर रहे। ''क्षेमेन्द्र का सौन्दर्य सिद्धान्त'' विषय पर पी. एच. डी. उपाधि प्राप्त करने वाली डॉ. वेद कुमारी आयुर्वेदिक कॉलेज जम्मू में कार्यरत थीं, अब सेवानिवृत्त हो चुकी हैं। ''कश्मीर के संस्कृत महाकाव्यों में राजनीति'' विषय पर पी. एच. डी. उपाधि प्राप्त डॉ. ऊषा किरण आर्मी स्कूल में कार्यरत रहीं, ''रामकथा पर आधारित संस्कृत नाटकों में नायिका निरूपरण'' विषय पर पी. एच. डी. उपाधि प्राप्त कर डॉ. सुषमा प्रशान्त अपने डॉ. पतिदेव के साथ विदेश में हैं। ''स्तुति कुसमाञ्जलि का आलोचनात्मक अध्ययन'' विषय पर पी. एच. डी. उपाधि प्राप्त डॉ. विद्याकुमारी भी सुखी गृहस्थ जीवन के धर्मों का पालन कर रही हैं एवं ''संस्कृत साहित्य में सेवा की अवधारणा'' विषय पर पी. एच. डी. उपाधि प्राप्त डॉ. सुधा गुप्ता चण्डीगढ़ में हैं।

प्रो. घई स्वयं भी शोधकार्यों में संलग्न रहीं तथा सौ के लगभग संस्कृत, हिन्दी, डोगरी एवं अंग्रेज़ी भाषा में शोधपत्र लिखे तथा विभिन्न स्थानों पर आयोजित होने वाले अन्तर्राष्ट्रिय, राष्ट्रिय एवं प्रान्तीय स्तर की संगोष्ठियों एवं सम्मेलनों में भाग लेकर उन शोधपत्रों को प्रस्तुत किया जिनकी सूची इस प्रकार से है:-

विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित हिन्दी/डोगरी शोध-लेख

1. कन्यायों का उपनयन संस्कार - वेदवाणी पत्रिका
2. नीलमत में धार्मिक समन्वय-शीराज़ा हिन्दी
3. संस्कृत साहित्य में डुग्गर-निबन्धावली
4. ऋग्वेदिक काल की वीर नारियाँ-ब्रह्मवाणी
5. धेनुमार्ग में व्यवहारधर्म-धर्ममार्ग
6. नीलमत में बुद्धपूर्णिमा-विश्वज्योति
7. भारत में ध्वनिविज्ञान के अध्ययन की आवश्यकता-शीराज़ा हिन्दी
8. डोगरी लोक साहित्य में रामकथा-निबन्धावली
9. डेनमार्ग के लोक साहित्य में कोकिल-शीराज़ा हिन्दी
10. कविताओं में झाँकता नरेन्द्र-शीराज़ा हिन्दी

11. डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी-निबन्धावली
12. उपनिषदों में भोगौलिक सामग्री-
13. अरविन्द का संस्कृत साहित्य को योगदान-शीराज़ा हिन्दी
14. राजतरङ्गिणी में डुग्गर-शीराज़ा हिन्दी
15. डोगरी च शिशुगीत ते लोरियाँ-शीराज़ा हिन्दी
16. डोगरी च ध्वन्यात्मक शब्दचित्र-शीराज़ा हिन्दी
17. कालिदास का प्रेम संकल्प-विश्वज्योति
18. आधुनिक संस्कृत साहित्य में सामाजिकी चेतना -सागरिका
19. डोगरी लोक साहित्य पर - नाथपन्थ का प्रभाव
20. संस्कृति दी परिभाषा ते - डुग्गर संस्कृति
21. डोगरी के स्वर ध्वनिग्राम-डोगरी शोध
22. हमारी साँझी विरासत संस्कृत शब्दावली - स्मारिका, पब्लिशड बाय डायरेक्टोरेट, कालेज पंजाब
23. क्षेमेन्द्र एवं उसका औचित्य सम्प्रदाय - पत्रिका
24. अभिलेखों का महत्त्व-पाण्डुलिपि विज्ञान, 1984
25. ब्राह्मी लिपि का इतिहास एवं विकास-पाण्डुलिपि विज्ञान, 1984
26. पुस्तक समीक्षा-बीसवीं शताब्दी का अन्त एवं आधुनिक युग का अन्त - दैनिक कश्मीर टाइम्ज़ - 23 मई, 1993
27. ऋग्वेद में भाषाविज्ञान-विश्वज्योति
28. वैदिक हड़प्पा संस्कृति-धार्मिक वृक्ष अश्वत्थ
29. प्राचीन संस्कृत साहित्य में संघर्षो का समाधान-संस्कृत विभाग स्मारिका, 2006
30. कालिदासस्य कृतिषु प्रतिकर्मसामग्री-University Review 1973.
31. तुलसी के नारीपात्र-मानसदर्पण, श्रीनगर, 1976.
32. अऊं खड़ोता बिच बजारै-डोगरी ललित निबन्ध, साहित्य अकादमी, दिल्ली
33. डुग्गर दी कला-संरक्षण ते भविक्रव-डोगरी शीराज़ा, 2002
34. संस्कृतानुरागी कश्मीरी सुल्तान-जैनुलाब्दीन शीराज़ा हिन्दी, 1147

LIST OF ARTICLES PUBLSHED IN ENGLISH IN VARIOUS JOURNALS

1. Female Education in Ancient India -Dvigarta Magazine of Govt. Magazine Women College
2. Position of Women as depicted in the Nilmata- Research Biannual] published by Research &Publication Department, J&K Govt.
3. Kashmir's Contribution to Classical Sanskrit Literature- Published by Department of Information &Publicity Govt. of India.
4. Ward-Tones in Dogri- Annual Report of Phonetic Institute of Copenhagen University.
5. Some Experiments on tones in Dogri- Summaries of Papers of Magazines All India Oriental Conference, 1968.
6. Tones in Dogri and Punjabi- Annual Report of Linguistic Circle of Copenhagen
7. Problems of stress and vowel Quantity in Dogri- Proceedings of All India Conference of Linguistics, 1970
8. Women in Dogri Proverbs- The Jammu University Review, 1972
9. Conception of Motherland in Atharvaveda- The Jammu University Review, 1970
10. Ancient India Women Custodians of Indian Culture- The Jammu University Review, 1971
11. A Vestan Haoma- A comparison with Vedic Soma- The Jammu University Review, 1972
12. Relationship of Sanskrit &Dogri- Summaries of papers International Sanskrit Conference.
13. Buddha in the Puranas- Summaries of Paper All India Oriental Conference.
14. Debates &Discussions in Ancient Kashmir- Recent studies in Sanskrit &Indology, Delhi
15. Kalidas in Denmark- The Jammu University Review, 1994
16. Decorative genius of Kashmiri Rhetorician Ruyyaka- The Jammu Univerisity Review, 1973
17. Unknown Kashmiri poet Rajanaka Ratnakantha- The Jammu University Review, 1983
18. Ritsh variation Lexical identification(With reference to Dogri)- The University Review, 1996
19. Dissent in Indian Literature- The Jammu University Review, March,1995

20. Some Educational principals &postulates in Kashmir of 10th &11th Cont. A.D.- The University review, 1984
21. Relationship of Dogri with Sanskrit- Pandulipi Vignana, 1984
22. Dogri Language- EIL Sahitya Akademi Delhi
23. The Dogri Language- Jammu Kashmir &Ladakh, Delhi
24. Academic debates in a Sanskrit play Agamadambara of Kashmir-
25. Contribution of Kashmir to Sanskrit Literature- Indian Horizons Pub. by I.C.C.R. Vol. 44. No.4, 1995
26. Dogri grammatical Literature- E.I.L. Sahitya Akademi
27. International Phonetics Conference- KOPENHEGH Heagar Denmark 1979
28. Ksemandra's grudge against indisciplined Students- University Review
29. Ksemandra as an Educationist- University Review
30. Bhallata Sataka- A Muktaka Kavya of Kashmir- Journal of Ganganatha Kendriya Sanskrit Vidyapeeth, Allahabad Year 1987.
31. Anyoktimuktalata of Shambhu- The University Review- 1978
32. Religious Harmony as depicted in some anicent Indian inscriptions- The University Review 1985
33. Sanskrit and National Integration- Rtambhara, Jammu University, 1989
34. Ksemendra's views about Educaton- V.V. Indological Journal 1975

भाग-'ब'

संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में योगदान

(अ) सम्पादन, अनुवाद एवं समालोचनात्मक अध्ययन

1. नीलमतपुराण-पूर्वोक्त विस्तृत स्तर पर शोध निर्देशन के साथ-साथ प्रो. घई व्यक्तिगत स्तर पर भी अति तत्परता से संस्कृत शोध एवं लेखन कार्यों में संलग्न रहीं जिसके परिणामस्वरूप सर्वप्रथम नीलमतपुराण का हस्तलिखित ग्रंथों के आधार पर आलोचनात्मक सम्पादन, अंग्रेज़ी भाषा में अनुवाद एवं अध्ययन कर, दो भागों में प्रकाशित किया। प्रथम संस्करण 1968 में एवं द्वितीय संस्करण 1988 में। नीलमतपुराण एक प्राचीन संस्कृत ग्रंथ है जो कश्मीर के विधि-विधानों, धार्मिक क्रिया-पद्धतियों तथा तीर्थ स्थलों से सम्बन्ध रखता है। प्रसंगवश यह कश्मीर की उत्पत्ति से सम्बद्ध आख्यानों एवं इसके मूल निवासियों से सम्बन्धित पौराणिक कथाओं से भी सम्बद्ध है। नीलमत पुराण कश्मीर की सामाजिक परिस्थितियों पर विस्तृत प्रकाश डालता है।

प्रो. घई द्वारा सम्पादित इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में नीलमतपुराण का परिचय, द्वितीय

अध्याय में नीलमत पुराण में वर्णित कश्मीर का भौगोलिक एवं भूगर्भ सम्बन्धी विवरण (ज्ञान की जानकारी), तृतीय अध्याय में नीलमत में वर्णित जातियों का वर्णन, चतुर्थ अध्याय में सामाजिक एवं आर्थिक संगठन, पञ्चम अध्याय में सामाजिक एवं आर्थिक जीवन, षष्ठ अध्याय में राजनैतिक विचार एवं संगठन, सप्तम अध्याय में धार्मिक सम्प्रदाय, अष्टम अध्याय में त्यौहार एवं अन्य धार्मिक साधनाएं तथा नवम अध्याय में दर्शन सम्बन्धी विषयों पर विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया गया है जिस कारण यह कश्मीर के सांस्कृतिक इतिहास पर प्रकाश डालने वाला एक अति महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ बन पड़ा है।

2. सांस्कृतिक एवं साहित्यिक निबन्ध–''सांस्कृतिक एवं साहित्यिक निबन्ध'' नामक पुस्तक में संस्कृत साहित्य, भाषा एवं डोगरी साहित्य तथा भाषा से सम्बद्ध अट्ठारह निबन्ध संग्रहीत हैं जिनमें से ''ऋग्वेद में भाषा तत्त्व तथा काव्य तत्त्व'', कालिदास के साहित्य में श्रृंगार और सज्जा'' एवं ''काव्यबिम्ब के परिप्रेक्ष्य में कालिदास की कविता'' नामक निबन्ध उनके संस्कृत साहित्य के ज्ञान गाम्भीर्य के द्योतक हैं। ''नीलमतपुराण में धर्मों का समन्वय'' नामक निबन्ध पाठकों को इस पुराण सम्बन्धी विशिष्ट जानकारी उपलब्ध करवाने में सहायक सिद्ध हुआ है। ''रुय्यक की सहृदय लीला में नारी सौन्दर्य'' नामक निबन्ध सौन्दर्य के विभिन्न तत्त्वों के विषय में रोचक सामग्री उपलब्ध करवाता है। ''संस्कृत का महत्त्व'' नामक निबन्ध में भारतीय जन-जीवन में संस्कृत भाषा के अभिन्न महत्त्व को उजागर किया है।

डोगरी भाषा विषयक निबन्ध डुग्गर प्रदेश की भाषा पर प्रामाणिक सामग्री से संवलित होने से विशेष महत्त्वपूर्ण बन पड़े हैं क्योंकि इनमें डोगरी के भाषा शास्त्रीय अध्ययन के साथ ही उसकी साहित्यिक विशेषता भी वर्णित है। ''प्राचीन संस्कृत साहित्य में डुग्गर भूमि'', ''डोगरी लोकगीतों में रामकथा'', डोगरी लोकगीतों में नारी'', ''डोगरी और संस्कृत का सम्बन्ध'' विषयक निबन्ध डोगरी भाषा के संस्कृत भाषा के साथ अभिन्न सम्बन्ध को प्रकट करने के साथ ही डुग्गर की सभ्यता, संस्कृत इत्यादि पर यथोचित प्रकाश डालने में सक्षम हैं।

''डोगरी शब्दसुरः - प्रयोगशाला में कुछ प्रयोग'' एवं ''डोगरी भाषा का उच्चारण और लिखित रूप'' नामक दोनों निबन्ध डोगरी भाषा के भाषा वैज्ञानिक पक्ष पर यथोचित प्रकाश डालने में पर्याप्त सहायक सिद्ध हुए हैं।

3. राजेन्द्रकर्णपूरः–कश्मीर के शम्भुकवि विरचित ''राजेन्द्र कर्णपूर'' नामक पुस्तक कवि के अपने आश्रयदाता काश्मीर नरेश हर्षदेव की लघु प्रशस्ति काव्य में संस्कृत पद्यों का हिन्दी में अनुवाद किया गया है जिसमें राजा हर्षदेव के शारीरिक सौन्दर्य, गुण ग्राह्यकता, प्रजापालन आदि गुणों का वर्णन काव्यात्मक शैली में ही हुआ है। राजेन्द्र कर्णपूर का प्रस्तुत संस्करण-1973, काव्यमाला प्रथम गुच्छक में प्रकाशित संस्करण (क) श्री रणवीर अनुसंधान संस्थान, रघुनाथ मन्दिर, जम्मू में सुरक्षित हस्तलिखित प्रति सं. 831 (ज) तथा वल्लभदेव की सुभाषितावली (बम्बई संस्कृत प्राकृत सीरिज़-1961) में उद्धृत पद्यों (सु) के आधार पर तैयार किया गया है।

4. ''पाण्डुलिपि विज्ञान'':–''पाण्डुलिपि विज्ञान'' नामक ग्रन्थ पाठालोचन सम्बन्धी निबन्धों का संग्रह है जिसमें किसी भी पाण्डुलिपि (Manuscript) में भ्रष्ट हुए पाठ को कैसे सुधारा जाए एवं पाण्डुलिपियों की संरक्षण विधि सम्बन्धी जानकारी दी गई है।

5. ध्वनिविज्ञान एवं ध्वनिग्रामः–''ध्वनिविज्ञान एवं ध्वनिग्राम विज्ञान'' शीर्षक से प्रकाशित ग्रन्थ, कोपेनहेगन विश्वविद्यालय डेनमार्क में इनके द्वारा किए गए अनुसंधानों पर आधारित डोगरी की ध्वनि संरचना पर अंग्रेज़ी भाषा में लिखा गया ग्रंथ है।

6. कश्मीर का संस्कृत साहित्य को योगदानः–''कश्मीर का संस्कृत साहित्य को योगदान'' नामक ग्रंथ कश्मीर के संस्कृत विद्वानों द्वारा संस्कृत साहित्य एवं भाषा को दिए गए अनुपम योगदान का क्रमिक विवरण प्रस्तुत करता है यथा जम्मू-कश्मीर में रचे गए संस्कृत पुराणोंः–विष्णुधर्मोत्तर, नीलमत एवं वासुकिपुराण का, संस्कृत नाटकोंः–पादताडितक आगमाडम्बर तथा कर्णसुन्दरी, संस्कृत महाकाव्योंः–कप्फिनाभ्युदय, रावणार्जुनीय, हरविजय, कादम्बरी कथासार, श्री कण्ठचरित एवं कथाकौतक, मंजरीकाव्यः–भारतमञ्जरी, रामायणमञ्जरी, बृहत्कथामञ्जरी एवं बोधिसत्त्वावदानकल्पलता, ऐतिहासिककाव्यः–लुप्त ऐतिहासिक काव्य, विक्रमाङ्कदेवचरित, पृथ्वीराजविजय, कल्हणकृत राजतरङ्गिणी, जोनराजकृत राजतरङ्गिणी, श्रीवरकृतराजतरङ्गिणी एवं शुककृतराजतरङ्गिणी, लोककथाः–कथासरित्सागर, मुक्तककाव्यः भल्लटशतक, अन्योक्ति मुक्तालता, राजेन्द्रकर्णपूर, शान्तिशतक, चतुर्वर्गसंग्रह एवं चारुचर्या, लघुकाव्यः–चौरपंचाशिका, दर्पदलन, सेव्यसेवकोपदेश, कलाविलास, नर्ममाला, देशोपदेश, समयमातृका, कुट्टनीमत, मुग्धोपदेश, स्तुतिकाव्यः–स्तुतिकुसुमाञ्जलि, ईश्वरशतक, दीना क्रन्दन स्तोत्र, शिवस्तोत्रावली, देवीशतक, स्रग्धरा स्तोत्र एवं काव्यशास्त्रः–विष्णुधर्मोत्तरपुराण, काव्यलङ्कार (भामह) अलङ्कारसारसंग्रह, काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, काव्यालङ्कार(रूद्रट) ध्वन्यालोक, भरतनाट्यशास्त्र की टीकाएं, अभिधावृत्ति मातृका, काव्यकौतुक, वक्रोक्ति जीवित, व्यक्तिविवेक, औचित्यविचार चर्चा, कविकण्ठाभरण, अलङ्कार सर्वस्व और साहित्यमीमांसा एवं अलङ्कार रत्नाकर आदि ग्रन्थों का आलोचनात्मक विवरण है।

7. भल्लट शतकः–कश्मीर के भल्लट कवि द्वारा रचित भल्लटशतक मुक्तक काव्य में 103 संस्कृत पद्यों का हिन्दी एवं अंगेज़ी में अनुवाद किया गया है। भल्लट ने तत्कालीन कश्मीरी समाज में व्याप्त सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक कुरीतियों पर व्यङ्ग्योक्तियों का आश्रय लेकर लता, पुष्प, आकाश, सूर्य, चन्दन, सर्प, सागर, पर्वत इत्यादि के माध्यम से व्यङ्ग्य किया है। भल्लटशतक का प्रस्तुत संस्करण 'ह' प्रतिलिपि (विश्वेश्वरानन्द विश्वबन्धु, वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर) को आधार बनाकर तैयार किया गया है। संस्कृत विभाग जम्मू विश्वविद्यालय में डॉ. सुषमा देवी गुप्ता के निर्देशन में ''भल्लटशतक का सामाजिक एवं साहित्यिक अध्ययन'' विषय पर एम. फिल. स्तर का शोध कार्य भी हो चुका है।

8. सूर्यशतकः–महाकवि राजानकरत्न कण्ठ विरचित 'सूर्यशतक' नामक ग्रंथ कवि द्वारा भगवान सूर्यदेव की स्तुति में लिखे शतक काव्य में 102 संस्कृत पद्यों का प्रो. घई द्वारा हिन्दी में

अनुवाद किया गया है। शतक काव्य का प्रस्तुत संस्करण-2008 बॉडलियन पुस्तकालय ऑक्सफोर्ड में सुरक्षित, शारदालिपि में लिखित पाण्डुलिपि पर आधारित है जिसमें भक्ति रस की प्रधानता है। सौ पद्यों में सूर्यदेव की स्तुति करते हुए उनके समक्ष दुःखों के निवारणार्थ तथा सुखों की प्राप्ति हेतु नाना प्रकार की प्रार्थनायें की गई हैं।

(आ) संस्कृत रचनाएं:-

1. कविता:-प्रो. वेद कुमारी द्वारा संस्कृत भाषा में रचित कविताओं का संग्रह है-''उर्मिका''। जिसमें छोटी-बड़ी उन्तीस संस्कृत कविताएं संग्रहीत हैं। विभिन्न विषयों पर आधारित यह कविताएं अत्यन्त सरल एवं प्राञ्जल भाषा में लिखी गई हैं जो सहज ही पाठक के हृदय को आकृष्ट कर लेती हैं। कृति में कवयित्री द्वारा सर्वप्रथम मङ्गलाचरण को निबद्ध करके भारतीय संस्कृत साहित्य की प्राचीन परम्परा का निर्वाह किया गया है।

प्रथम कविता ''पथिकं प्रति'' अपनी जीवनयात्रा में यात्री को निरन्तर अपने पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा देती कविता है तो सहयात्री, दुकूलम, स्मरणम, प्रतीक्षा, विचित्रमेतत् एवं निशां कथं नयेयम् कविताएं विभिन्न मनोभावों को व्यक्त करती हैं यथा:-''सहयात्री'' कविता में जीवन साथी को पा लेने की प्रसन्नता को व्यक्त किया गया है तो 'दुकूलम' कविता में प्रिय की स्मृतियों रूपी दुकूल अर्थात् दुपट्टे के सहारे विषम परिस्थितियों से निपटने की क्षमता की अभिव्यक्ति है। ''स्मरणम'' प्रिय की यादों में खोई प्रेयसी की व्यथा कथा है तो ''प्रतीक्षा'' प्रिय के विरह में झुलसती प्रेयसी की मनोव्यथा का वर्णन करती कविता है। ''विचित्रमेतत''-निशां कथं नयेयम विरहजाधि: धन्याऽस्मि एवं प्रतीक्षे तद्दिनं मधुरम् सम्भवत्: कवयित्री के डेन्मार्क प्रवास की अवधि में लिखी गई कविताएं हैं क्योंकि इनमें अपने घर-परिवार, प्रिय एवं देश से दूरी की विरह व्यथा को प्रबलता से उजागर किया गया है।

सीतासन्देशः, सीताभिलाषा तथा सीतापरिदेवनम्-इन तीन लम्बी कविताओं में भारतीय आदर्श नारी सीता की विभिन्न मनोदशाओं का अतीव मार्मिक चित्रण हुआ है। ''सीतासन्देश: में लोकापवाद के भय से राम द्वारा वन में परित्यक्ता सीता द्वारा लक्ष्मण के हाथों राम को सन्देश भेजा गया है। अयोध्या वासी रजक द्वारा लगाए गए लाञ्छन तथा राम द्वारा प्रदर्शित कठोरता से आहत होकर सीता महाराजा राम को उलाहना देती है। प्रजा को न्याय देने वाले राजा द्वारा अपनी ही पत्नी के साथ किए गए अन्याय से व्याकुल सीता का चीत्कार किसके हृदय के मर्मस्थल को बींध नहीं देता?'' सीताभिलाषा'' में राम द्वारा परित्यक्त सीता के हृदय में छिपी पति संग सुखी गृहस्थ जीवन जीने की अभिलाषा का प्रस्फुटन हुआ है जिसे वह बार-बार के वनवास के कारण भोग नहीं पाई। काल की चाहे कितनी भी मोटी परत चढ़ जाए परन्तु मानव हृदय में छिपी इच्छाएं समय पाकर प्रस्फुटित हो ही जाती हैं चाहे वह पूर्ण हो पाएं या फिर अपूर्ण ही क्यों न रह जाएं। ''सीतापरिदेवनम्'' में रावण द्वारा छल से हरण की गई सीता की हनुमान द्वारा लंका में उसकी खोज कर लेने के बाद उसकी कुशल मंगल पूछने पर सीता द्वारा मरुत्पुत्र हनुमान के समक्ष अपनी

दीनहीन दशा का वर्णन किया गया है। अपनों से एवं अपनी मातृभूमि से बिछुड़कर किसी की कितनी कुशल-मंगल हो सकती है—यही इस कविता का विषय है।

कस्त्रायेत माम्, न में चिन्ता, देवभक्तं प्रति, प्रियंवदां प्रति तथा मा रुदिहिबाले आदि कविताएं विभिन्न विषयों पर आधारित कविताएं हैं यथा 'कस्त्रायेत माम्' देवभाषा संस्कृत पर हुए अंग्रेज़ी भाषा के प्रहार से व्याकुल भारत माता के करुणक्रन्दन से ओतप्रोत कविता है तो 'न में चिन्ता' कविता में कर्त्तव्य भ्रष्ट अध्यापकों पर व्यंग्य है। 'प्रियंवदां प्रति' में शकुन्तला के ससुराल चले जाने पर उदास हुई प्रियंवदा की उदासी को दूर करने के ब्याज से ''कन्या पराया धन होती है ''समझाया गया है तो 'मा रुदिहि बाले' में करुण क्रन्दन करती बालिका को किसी भी विषम परिस्थिति में सदैव धैर्य धारण करने हेतु प्रोत्साहित किया गया है। 'शकुन्तला' कविता 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के नाट्य प्रयोग को देखकर डेन्मार्क के प्रसिद्ध महाकवि द्राखमान् द्वारा विरचित डैनिश कविता का संस्कृत भाषा में किया गया भावानुवाद है कवि लिखता है कि दुष्यन्त को शकुन्तला पुनः प्राप्त हो गई थी परन्तु उसकी प्रेमिका उसे पुनः नहीं मिल सकेगी।

शकुन्तलापरिदेवनम्, मेनका वात्सल्यम् में से 'शकुन्तलापरिदेवनम्' कविता में दुष्यन्त द्वारा राजसभा में अपमानित शकुन्तला के द्वारा भोगे गए असंख्य दु:खों का खुलासा किया गया है तो 'मेनकावात्सल्यम्' में दुष्यन्त की स्मृति वापिस लौट आने पर दुष्यन्त द्वारा स्वीकृत, गृहिणीपद पर अभिषिक्त एवं सफल मातृत्व प्राप्त शकुन्तला के प्रति उसकी माता, इन्द्र के दरबार की अप्सरा मेनका के वात्सल्य भाव को बड़ी ही सुन्दर शब्दावली में पिरोया गया है।

प्रो. वेद कुमारी घई विरचित दो संस्कृत कविताएं दिल्ली संस्कृत अकादमी दिल्ली से प्रकाशित, त्रैमासिक पत्रिका ''संस्कृत मञ्जरी'' में भी प्रकाशित हुई हैं। प्रथम कविता है ''सद्भावमार्गे'' एवं द्वितीय ''गान्धिवर्यस्य स्वप्नस्तु पूर्णो भवेत्''। प्रथम कविता 'सद्भावमार्गे'' में सेवाव्रती, पित्रवचनपालक, मातृसेवापरायण, भ्रातृप्रेम की साक्षात मूर्ति, ऋषियों के दु:खों के निवारक तथा सदैव प्रजारञ्जक, त्रैतायुग में भारतभूमि पर सुशोभित होने वाले अमृतपुत्र राम, लक्ष्मण, भरत एवं शत्रुघ्न के वंशजों द्वारा वर्तमान समय में उत्पन्न की गई परिस्थितियों से उभरने एवं सद्भावमार्ग पर चलने की कामना बड़ी ही सरस साहित्यिक शैली में की गई है।

''गान्धिवर्यस्य स्वप्नस्तु पूर्णो भवेत्'' कविता में पिछले 62 वर्षों से स्वाधीनता प्राप्त भारतवर्ष में कई कारणों से राष्ट्रपिता महात्मा गांधी द्वारा भावी भारत राष्ट्र को लेकर देखे गए स्वप्न की भ्रष्टाचार, रिश्वत इत्यादि कई कारणों से पूर्ति न हो पाने का सजीव चित्र सरल संस्कृत भाषा में निबद्ध किया गया है। साथ ही यह आशा भी व्यक्त की गई है कि स्वाधीनता प्राप्त भारत राष्ट्र में यदि वह सारी सुविधाएं उपलब्ध हो जाएं जिनसे एक स्वाधीन राष्ट्र का आत्म गौरव अक्षुण्ण बना रहता है तभी महात्मा गांधी के स्वप्न की पूर्ति हो पाएगी।

2. नाटकः—''पुरन्ध्रीपञ्चकम्'' प्रो. वेद कुमारी घई द्वारा संस्कृत भाषा में प्रणीत द्वितीय रचना है। इसमें पाँच रूपक संग्रहीत किए गए हैं यथा:—मेनका वात्सल्यम्, अपूर्व प्रतिशोधः,

मदालसा, सुगन्धा एवं द्राक्षामत: शकुन्तला। जैसा कि भवभूति ने उत्तररामचरितम् में कहा है:–''पुरन्ध्रीणां चित्तं कुसुम सुकुमारं हि भवति'' अर्थात् नारियों का हृदय फूलों की भाँति सुकोमल होता है परन्तु प्रस्तुत रूपक संग्रह का सूक्ष्म अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि नारी में केवल हृदय की कोमलता ही नहीं, वरन् बुद्धि की तीक्ष्णता, भावना से ऊपर उठकर कर्त्तव्य-पालन की क्षमता एवं संकल्प की दृढ़ता भी होती है। बेटी, बहन, माँ, नानी, दादी, पत्नी, बहू, सखी इत्यादि अनेक रूपों में नारी का समाज निर्माण में अभूतपूर्वक योगदान रहा है परन्तु फिर भी समाज में उसे समुचित स्थान नहीं मिल पाया है।

''पुरन्ध्रीपञ्चकम्'' नामक रूपक संग्रह के नारी पात्र प्राचीन भारतीय नारी के इन्हीं कुछ गुणों को अभिव्यक्त करते हैं। प्राचीन प्रसंगों को आधुनिक संदर्भ में रखकर कुछ समसामयिक समस्याओं पर प्रकाश डालने का प्रयास भी इनमें किया गया है। भारतीय नारी ने अपने जीवन की कठिन परिस्थितियों में भी अपने जिस साहस एवं शौर्य का परिचय समय-समय पर दिया है उसे भारत का इतिहास कभी नहीं भुला सकता। ऐसे ही कुछ प्रसंगों को आधुनिक संदर्भ में रखकर उन्हें उभारने का प्रयास प्रस्तुत रूपक संग्रह में किया गया है।

नाटक मूलत: सामाजिक जीवन का व्यापक एवं गहराई से चित्रण करने वाली विधा है। नाट्य में मानव जीवन की सफल सम्पूर्ण अभिव्यक्ति तभी सम्भव हो सकती है, जब पुरुष पात्रों के साथ ही नारी पात्रों का भी समुचित समावेश किया जाए।

वैदिक युग से लेकर आधुनिक काल तक के भारतीय संस्कृत साहित्य पर विहंगम दृष्टि डालने से ऐसा प्रतीत होता है कि नारी वर्ग के प्रति समाज का सदा से दो प्रकार का दृष्टिकोण रहा है। एक दृष्टिकोण उन लोगों का है जो नारी को समाज की विभूति मानते हैं तथा दूसरे नारी जाति के प्रति हीन भावना से ग्रसित हैं। संघर्ष एवं तनाव की अनेक स्थितियां हमारे दैनिक जीवन में आती हैं तथा हमें झकझोर देती हैं। उन परिस्थितियों का नारी किस प्रकार से सामना करती है इसी का चित्रण इस नवीन रूपक/नाटक संग्रह ''पुरन्ध्रीपञ्चकम्'' में किया गया है। प्रस्तुत रूपक संग्रह में उस नारी की कहानी कही गई है जो सत्ययुग में नारायणी थी, उसे उसका नारायण अकेला छोड़ गया था, त्रेतायुग में वह सीता थी जिसे राम ने वनवास दे दिया। द्वापर में वह गोपी थी जिसे कृष्ण छोड़कर दूर चले गए। आज कलयुग में वह साधारण स्त्री है जिसे असाधारण बनना है, एक अबला है जिसे सबला बनना है। पुरानी उक्तियों को सत्य सिद्ध करने के लिए कि 'नारी शक्ति है', इस ग्रन्थ रत्न में नारी के प्राचीन तथा आधुनिक दोनों ही रूपों को देखा जा सकता है।

''पुरन्ध्रीपञ्चकम्'' रूपक संग्रह का प्रथम रूपक ''मेनका वात्सल्यम्'' एक नायिका प्रधान रूपक है। इसमें निर्मम प्रेमी द्वारा छोड़ दी गई नारी के दृढ़ संकल्प का चित्रण है। इस रूपक की नायिका ''अभिज्ञानशाकुन्तलम्'' की नायिका शकुन्तला की माँ मेनका है। उसी उपेक्षित पात्र मेनका के व्यक्तित्व की झलक इस रूपक में दी गई है जिसमें उसकी वात्सल्यमयी माता के रूप में अवतारणा की गई है। वर्तमान समय में भी हम देखते हैं कि नारियां पति के न रहने पर या पति

द्वारा छोड़ दी जाने पर अपने बच्चों का लालन व पालन करने के कार्य को परिश्रम, निष्ठा एवं कर्त्तव्य भावना से करती हैं।

द्वितीय रूपक ''अपूर्व: प्रतिशोध:'' है जिसमें द्रौपदी एकमात्र स्त्री पात्र है। इस रूपक में महाभारत युद्ध के अन्तिम चरण की एक मर्मस्पर्शिनी घटना अंकित है। पाण्डवों की विजय लगभग सुनिश्चित हो चुकी है। द्रौपदी के अपमान का बदला दुर्योधन के ऊरूभडङ्ग तथा दु:शासन वध द्वारा लिया गया है। अभिमन्यु के वध के प्रतिशोध में जयद्रथ, वृषसेन और कर्ण मारे गए हैं। तभी अश्वत्थामा अपने पिता द्रोण के वध का प्रतिशोध द्रौपदी के दोनों भाईयों तथा पाँचों पुत्रों को मारकर लेता है। द्रौपदी के क्रोध की ज्वाला भड़क उठी है। उसके उद्‌बोधन पर भीम, अर्जुन एवं नकुल, अश्वत्थामा को जीवित पकड़ कर लाते हैं ताकि द्रौपदी के समक्ष उसका वध किया जा सके। द्रौपदी धोखे से मारे गए पाँचों पुत्रों तथा दोनों भाईयों का बदला ब्राह्मण पुत्र अश्वत्थामा को मारकर लेना चाहती है। द्रौपदी की सोच के अनुसार पापी का कोई धर्म, जाति या वर्ण नहीं होता है वह तो केवल पापी होता है तथा उसे दण्डित किया ही जाना चाहिए। अश्वत्थामा को देखते ही द्रौपदी को कुलगुरु द्रोणाचार्य की पत्नी कृपी (जो अश्वत्थामा की मां है) का ध्यान आता है। अश्वत्थामा की मृत्यु के बाद अपनी ही तरह उसकी सूनी गोद के भय से वह सिहर उठती है तथा अश्वत्थामा को क्षमा कर देती है। इतना उदार निर्णय एक माँ ही ले सकती है। वह कहती है कि प्रतिहिंसा से हिंसा कभी नहीं मिटती अपितु हिंसा का क्रम कभी रुकेगा ही नहीं।

''मदालसा'' इस रूपक संग्रह का तृतीय रूपक है। मार्कण्डेय पुराण में वर्णित मदालसा आख्यान के आधार पर लिखित यह रूपक भारतीय नारी का एक भव्य रूप उपस्थित करता है। धर्म, दर्शन, राजनीति आदि सभी विषयों में निष्णात मदालसा गन्धर्वराज विश्वावसु की पुत्री है। नारी को उचित सम्मान देने वाले राजकुमार ऋतध्वज से विवाह करके वह अपने पुत्रों को अपनी इच्छानुसार योगी, आयुर्वेदविशारद, दार्शनिक तथा राजनीतिज्ञ बनाती है। प्रसंगवश वनवासियों के बीच रहती हुई वह उन लोगों की संगीतशिक्षा आदि से सेवा करती है। इस प्रकार प्रस्तुत रूपक के माध्यम से मदालसा के रूप में एक आदर्श भारतीय नारी का चित्रण हुआ है जो पुरुष की दासी बनकर नहीं अपितु परम सहयोगिनी बनकर जीना चाहती है। प्रस्तुत रूपक से हमें सर्वप्रथम महिला सशक्तिकरण का सन्देश मिलता है कि एक माता का शिशु के लालन-पालन के विषय में सर्वोपरी अधिकार होना चाहिए ताकि देश एवं समाज की आवश्यकताओं के अनुसार सन्तान का निर्माण करे।

इस रूपक से द्वितीय सन्देश मिलता है पर्यावरण संरक्षण का। वृक्षारोपण करके मदालसा ने जनकल्याण की अपनी भावना को उजागर किया है। जब उसे वनवासियों के मध्य रहने का अवसर प्राप्त होता है तो वहाँ वह पेड़-पौधों के प्रति स्नेहपूर्ण व्यवहार करती है एवं वृक्षारोपण पर बल देती हुई सभी को वृक्षों को लगाने की सीख देती है क्योंकि एक वृक्ष लगाने से वह वृक्ष, फल, फूल तथा छाया देता हुआ अतिथियों, देवताओं तथा पथिकों को ही सन्तुष्ट नहीं करता अपितु एक

पुत्र के समान जीवन में सारे बोझ अपने ऊपर उठा लेता है। वर्तमान काल में इस सन्देश से विशेष प्रेरणा ली जा सकती है ताकि पर्यावरण असंतुलन से मुक्ति मिल सके।

'सुगन्धा' पुरन्ध्रीपञ्चकम् का चतुर्थ रूपक है जो कल्हण कृत राजतरंगिणी एवं जयन्तकृत आगमाडम्बर से सामग्री लेकर लिखा गया है। यह रूपक कश्मीर के महाराजा शंकरवर्मा की पत्नी 'सुगन्धा' के जीवन वृत्त आधारित है। पति के जीवन काल में सुगन्धा ने धार्मिक क्षेत्र में विशेष रुचि ली तथा विभिन्न मतमतान्तरों के विवाद को शान्त करवाया था। पति की मृत्यु के बाद उसने अपने पुत्र गोपालवर्मा की संरक्षिका एवं पुत्रों की मृत्यु के बाद स्वतन्त्र शासिका के रूप में कश्मीर पर राज्य किया। साधना से लेकर साहित्य तक अनेक क्षेत्रों में पुरुषों के साथ-साथ कश्मीरी महिलाओं की उल्लेखनीय भूमिका रही है जिसमें महारानी सुगन्धा भी अग्रगण्य हैं।

प्रस्तुत रूपक के अनुसार महारानी सुगन्धा ने शासिका होने के नाते उस समय छोटे-छोटे समुदायों में बँटे धर्म के नाम पर लड़ने वाले लोगों को बड़ी ही दक्षता से शान्त कर सभी धर्मों में आपसी समभाव को स्थापित कर तत्कालीन शासन व्यवस्था को सुव्यवस्थित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इसके साथ ही महारानी सुगन्धा के लिए लोकतन्त्र ही शासन का उदात्त एवं मानवीय आदर्श था, यही कारण है कि वह राज्य-भोग की महत्त्वकाँक्षिणी नहीं थी। अन्तिम क्षण तक उनका यही प्रयास रहा कि राजसिंहासन योग्य अधिकारी को मिले। सुगन्धा ने प्रजा की सेवा के लिए प्रत्येक प्रयास उत्सर्ग की भावना से किया था। सहनशीलता की साक्षात प्रतिमा रानी सुगन्धा ने अपनी जीवनकाल में ही पति, पुत्र एवं पौत्र की त्रासद मृत्यु के शोक रूपी हलाहल को जिस साहस से पिया वह किसी भी अन्य नारी के लिए शायद ही सम्भव हो।

प्रस्तुत रूपक संग्रह का पञ्चम एवं अन्तिम रूपक है 'द्राक्षामत: शकुन्तला' जो डेनमार्क के कवि होल्कर -द्राखमैन की 'शकुन्तला' शीर्षक कविता से प्रेरित होकर लिखा गया है जो 1876 ई. लिखी गई थी। यह रूपक होल्कर द्राखमैन के जीवन की कुछ घटनाओं पर आधारित है। कवि ने अपनी गर्भवती पत्नी को त्याग दिया था। उस पत्नी की मधुर स्मृति में लिखी उसकी कविता भारत के महाकवि कालिदास के प्रभाव को प्रकट करती है। यह रूपक दोनों देशों के सांस्कृतिक सम्बन्धों को भी उजागर करता है।

इस रूपक से यह सन्देश मिलता है कि विषम परिस्थितियों में पति-पत्नी को एक-दूसरे पर अविश्वास करके सम्बन्ध विच्छेद जैसा दुखदायी कदम नहीं उठाना चाहिए क्योंकि जीवन में प्रथम प्रणय की स्मृतियाँ भूलनी अत्यन्त कठिन होती हैं। विलीना एवं द्राक्षामान छोटे-से कारण से विवाह विच्छेद का निर्णय ले लेते हैं। विलीना एक स्वाभिमानिनी नारी है तथा द्राक्षामान चिरप्रेमी है जो प्रेमिका का परित्याग तो कर देता है परन्तु दिल से उसे भुला नहीं पाता।

द्राक्षामान ने इस कविता में यह कहा है कि दुष्यन्त को तो उसकी शकुन्तला मिल गई परन्तु द्राक्षामान को विलीना कभी नहीं मिली। यद्यपि उसकी याद उसे मृत्यु दम तक बनी रही। इसके अतिरिक्त यह भी विदित होता है कि महाकवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्लम्' का पाश्चात्य

साहित्यकारों पर कितना प्रभाव पड़ा है जिससे पाश्चात्य जगत में कालिदास की महिमा द्योतित होती है। प्रस्तुत रूपक संग्रह पर भी जम्मू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में डॉ. सुषमा देवी गुप्ता के निर्देशन में ''पुरन्ध्रीपञ्चकम् में नायिका'' विषय पर एम. फिल. स्तर का कार्य हो चुका है।

हिन्दी रचनाएं:-

1. मेरे गीत तुम्हारे गीत:–प्रो. वेद कुमारी घई ने हिन्दी भाषा में भी अपनी लेखनी का प्रयोग किया है जिसका परिणाम है हिन्दी का लघुकाव्य संग्रह ''मेरे गीत तुम्हारे गीत''। प्रस्तुत काव्य संग्रह में भी छोटी-बड़ी कुल सत्ताइस कविताएं हैं जिनमें विविध मनोभावों की अभिव्यक्ति सहज, सरल एवं साहित्यिक भाषा में हुई है।

संस्कृत एवं डोगरी साहित्य तथा भाषा के अध्ययन, अध्यापन, शोध निर्देशन, अनुसन्धान, लेखन, समाज सेवा जैसे महान कार्यों हेतु प्रो. वेद कुमारी घई विभिन्न सम्मानों से सम्मानित भी हुई हैं।

1. श्रेष्ठ अध्यापिकी हेतु, डॉ. योग प्रकाश पुरस्कार - 1989
2. संस्कृत संस्कृति पुरस्कार - 1993
3. शारदा सम्मान - 1993
4. सामाजिक कार्य के लिए जम्मू कश्मीर राज्य स्वर्ण पदक - 1995
5. राष्ट्रपति सम्मान - 1997
6. डोगरा रत्न सम्मान - 2005
7. सादिक मेमोरियल सोसाइटी जम्मू द्वारा प्रदत्त Life time acievement Award - 2000
8. पण्डित प्रेम नाथ शास्त्री शोध संस्थान जम्मू द्वारा प्रदत्त लल्लेश्वरी सम्मान - 2007

इनके अतिरिक्त विभिन्न संस्थानों यथा आर्य प्रतिनिधि सभा जम्मू कश्मीर, आकाशवाणी जम्मू, डोगरी संस्था जम्मू, जम्मू युनिवर्सिटी टीचरज़ एसोसिएशन, जम्मू युनिवर्सिटी, रोटरी क्लब जम्मू राज्य से भी विभिन्न सम्मानों विभिन्न शैक्षणिक संस्थाओं द्वारा सम्मानित किया गया है।



महर्षि वाल्मीकि की दृष्टि में नारी-सम्मान
(रामायणोक्त आख्यानों के परिप्रेक्ष्य में)

डॉ॰ रेणु बाला

भारतीय समाज में आख्यानों का इतिहास बहुत प्राचीन है। वैदिक साहित्य में पर्याप्त मात्रा में आख्यान उपलब्ध होते हैं। कुछ आख्यानों के विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि यह श्रवण परम्परा में पूर्व वैदिक काल में भी रहे हैं।[1] ऋग्वेद में उर्वशी अपनी शर्तें पूरी न होने पर जाने की बात तो करती है, किन्तु वह शर्तें क्या थीं, इसका उल्लेख वहाँ नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि ऋग्वेद काल में आख्यान किसी अन्य स्रोत में विद्यमान था, जहाँ से इसे वैदिक साहित्य में उद्धृत किया गया है। वैदिक साहित्य के पश्चात् रामायण, महाभारत, पुराणों तथा बाद के संस्कृत साहित्य में क्रमशः इनका विकसित स्वरूप देखने को मिलता है।

'आख्यान' शब्द 'आ' उपसर्गपूर्वक 'ख्या' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय लगाने से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है–बोलना, घोषणा करना, समाचार इत्यादि।[2] पाणिनि के अनुसार 'आख्या' का अर्थ कहना, सूचना देना, वर्णन करना आदि है। पाणिनि के अनुसार ही आख्यान का एक विशेष अर्थ "भेदकधर्म" भी है। इस अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय 'भाव' अर्थ का होकर 'करण' अर्थ में गृहीत होगा, जिसके अनुसार 'आख्यायते अनेन इति आख्यानम्' यह व्युत्पत्ति होगी।[3]

वेदों में वर्णित ऐसे आख्यानों का संग्रह 'अथर्ववेद' में 'पुराणसंहिता' के नाम से उल्लिखित है।[4] अंग्रेजी में 'पौराणिक आख्यानों के लिए 'Myth' अथवा 'Mythology' शब्द प्रचलित है। 'Myth' शब्द से अभिप्राय–जहाँ देवताओं एवं वीरों की प्राचीन परम्परागत गाथा से है, जो किसी तथ्य अथवा प्राकृतिक सिद्धान्त की व्याख्या प्रस्तुत करती है, वहाँ उसका अर्थ मिथ्या या कपोल कल्पित भी होता है।[5] इन पौराणिक आख्यानों का धर्म के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण उन्हें 'धर्मगाथा' तथा 'पुराणगाथा' भी कहा जाता है।

---

1. ऋग्वेद - 10.95.1-18।
2. संस्कृत हिन्दी कोश : वामन शिवराम आप्टे, पृ.सं. - 139।
3. "लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः।" अष्टाध्यायी - 1/4/90।
4. अथर्व. - 11.7.24।
5. 'Myth : an ancient traditional story of GoosQ or heroes offering an explanation of some fact or phenomenon : a table : a ficticious person or thing. Mythology : a collection of myths.' Chambers Compact English Dictionary.

ये आख्यान प्राचीन काल से ही मनोरंजन का साधन रहे हैं। इनके द्वारा वेदों के गूढ़ रहस्यों को सरल शैली में प्रस्तुत किया गया है। ब्राह्मणकाल में आख्यान, अध्ययन एवं अध्यापन के विषय रूप में प्रचलित थे।[1] कथा सुनाने वाले कथकों को 'आख्यानविद्' कहा जाता था।[2]

इस प्रकार आख्यानों की यह परम्परा शताब्दियों तथा सहस्राब्दियों तक कर्ण-परम्परा से जन-साधारण में प्रचलित होती रही। समय-समय पर आख्यानों के वृत्तों को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखा जाता रहा है। इन आख्यानों का विषय सृष्टिविज्ञान, प्राचीन वीरों, देवी-देवताओं, जनता की अलौकिक एवं अद्‌भुत परम्पराओं तथा किसी देश के धार्मिक विश्वास आदि का वर्णन करना रहा है। इन आख्यानों में समाजोपयोगी अन्तर्निहित सन्देश सदैव विद्यमान रहता है। सूर्य-सरण्यू सम्बन्धी आख्यान का उपदेश वहां रहना कठिन हो जाता है। 'कामदहन' आख्यान में शिव जी का तृतीय नेत्र खुल जाने पर काम का भस्म हो जाना स्पष्ट करता है कि मनुष्य का ज्ञानचक्षु जब खुल जाता है तो सब काम-विकार नष्ट हो जाते हैं।

लौकिक साहित्य के 'आदिग्रन्थ' 'वाल्मीकीय रामायण' में पर्याप्त मात्रा में आख्यान उपलब्ध होते हैं। इनमें कुछ आख्यान यही सन्देश देते हैं कि स्त्री का समाज में पूर्ण समान हो, उसकी सुरक्षा हो, उसके साथ कोई दुर्व्यवहार न हो, उसके साथ बलात्कार आदि जैसी निन्दनीय घटनाएं न हों, क्योंकि ऐसी घटनाओं के परिणामस्वरूप समाज का विनाश अवश्यंभावी है। राजा दण्ड का राज्य अरजा बलात्कार के कारण ध्वस्त हो गया। अहल्या से छलपूर्वक संभोग करने के कारण इन्द्र को निर्वृषण होना पड़ा। रावण के द्वारा वेदवती से किया गया दुर्व्यवहार उसके विनाश का कारण बनना, रावण को रम्भा के साथ बलात् संभोग करने के परिणामस्वरूप नलकूबर द्वारा दिया गया शापादि आख्यान स्त्री सम्मान के द्योतक हैं। इन आख्यानों के माध्यम से महर्षि वाल्मीकि ने अपने स्त्री सम्मान सम्बन्धी विचारों को प्रतिपादित करते हुए कहा है कि स्त्री के साथ किसी भी प्रकार का निन्दनीय व्यवहार नहीं किया जाना चाहिए। यदि कोई अन्य व्यक्ति भी उसके साथ ऐसा व्यवहार करता है, तो उसकी सर्वथा रक्षा की जानी चाहिए।[3]

रावण ने अनेक नरेशों, ऋषियों व देवताओं एवं दानवों की कन्याओं का अपहरण कर लिया था[4], जिसके कारण विभीषण, रावण को समझाते हुए कहता है-"इस प्रकार का आचरण यश, धन तथा कुल का नाश करने वाला है। जो इस प्रकार प्राणियों को पीड़ा दी जाती है, उससे बड़ा पाप होता है। इस बात को जानते हुए भी आप सदाचार का उल्लंघन करके स्वेच्छाचार में प्रवृत्त हो रहे हैं।"[5] जिन स्त्रियों को हरण करके आप लाए हैं, वे सभी उत्तम लक्षणों से युक्त देवताओं, दानवों

1. शतपथ ब्राह्मण - 13.4.3.2।
2. ऐतरेय ब्राह्मण - 3.35.1।
3. अन्येभ्योऽपि त्वया रक्ष्या प्राप्नुयां धर्षणं यदि।
तद्धर्मत: स्नुषा तेऽहं तत्त्वमेतद् ब्रवीमि ते।। उत्तरकाण्ड - 26/29।
4. उत्तरकाण्ड - 24/1।
5. उत्तरकाण्ड - 25/18।

तथा राक्षसों के घर की रत्न स्वरूप थीं।[1] आपने इन अबलाओं का हरण करके तथा इनके बन्धु-बान्धवों को मारकर, जो ऐसा निन्दनीय कर्म किया है, वह सर्वथा अनुचित है। आज आपके पापकर्म का फल आपकी बहन को भी भोगना पड़ रहा है आज हमारी मौसेरी बहन कुम्भीनसी का मधु नामक राक्षस के द्वारा अपहरण कर लिया गया है।[2] हमारी इस बहन का जो बलपूर्वक अपहरण हुआ, वह आपकी दूषित बुद्धि का ही परिणाम है। यह आपके बुरे कर्मों का फल है, जो आपको इसी लोक में प्राप्त हो गया है।[3] विभीषण की इस प्रकार की बातों से रावण सन्तप्त होकर क्रोध की ज्वाला में जलने लगा।

जिन सती, साध्वी स्त्रियों का रावण ने अपहरण किया, वे स्त्रियां माता, पिता, भाई, पति, बच्चों से बिछुड़ने के अनन्तर तरह-तरह से विलाप कर रही थीं तथा इसके साथ ही दुराचारी रावण को पराई स्त्रियों के साथ बलात्कार करने के कारण दुत्कार रही थीं व इस सम्बन्ध में कह रही थीं-"यह नीच निशाचर पराई स्त्रियों के साथ रमण करता है। इसलिए स्त्री के कारण ही इस दुर्बुद्धि राक्षस का वध होगा।"[4]

इस उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि समाज में स्त्री को सदैव सम्मान की दृष्टि से देखना चाहिए। उसका इस प्रकार से शोषण नहीं होना चाहिए। क्योंकि स्त्री को यदि सम्मान नहीं मिलता, तो दुराचारी लोगों के कारण राष्ट्र का विनाश अवश्यंभावी हो जाता है। जैसे कि रावण, बाली, राजा दण्ड आदि विनाश को प्राप्त हो गए।

रामायण में विभिन्न आख्यानों के माध्यम से महर्षि वाल्मीकि ने स्त्री के प्रति अपने श्रद्धा-भाव को प्रकट किया है। नारी सम्मान से सम्बन्धित आख्यान इस प्रकार है-

इन्द्र - अहल्या आख्यान

यह आख्यान रामायण में 'बालकाण्ड' एवं 'उत्तरकाण्ड' में मिलता है। बालकाण्ड के अनुसार मिथिला उपवन के आश्रम में घटित महर्षि गौतम द्वारा देवराज इन्द्र तथा अहल्या को शाप देने की कथा विश्वामित्र ने श्रीराम को सुनाई। एक बार इन्द्र गौतम मुनि का वेष धारण करके उनकी अनुपस्थिति में उनके आश्रम में आए तथा अहल्या से रति की याचना की। अहल्या छद्मवेषधारी इन्द्र को पहचान लेने पर भी दुर्बुद्धिवश एवं कौतुहलवश उसके साथ समागम के लिए

---

1. लक्षिण्यो रत्नभूताश्च देवदानवरक्षसाम्।
   तस्य तासु मतिं ज्ञात्वा धर्मात्मा वाक्यमब्रवीत्।। उत्तरकाण्ड - 25/17।
2. ज्ञातींस्तान् धर्षयित्वेमास्त्वयाऽऽनीता वराङ्गनाः।
   त्वामतिक्रम्य मधुना राजन् कुम्भीनसी हृता।। उत्तरकाण्ड - 25/19।
3. .....तदेतत् कर्मणो ह्यस्य फलं पापस्य दुर्मतेः।
   अस्मिन्नेवाभिसम्प्राप्तं लोके विदितमस्तु ते।। उत्तरकाण्ड - 25/28-29।
4. .....यस्मादेष परक्यासु रमते राक्षसाधमः।
   तस्माद् वै स्त्रीकृतेनैव वधं प्राप्स्यति दुर्मतिः।। उत्तरकाण्ड - 24/20-21।

तैयार हो गई। समागम के पश्चात् जब इन्द्र आश्रम से बाहर निकल रहे थे, तभी गौतम मुनि पहुँच गए। इन्द्र को मुनि वेष में देखकर, उसके न करने योग्य निन्दनीय कर्म के लिए उसे गौतम ऋषि ने निर्वृषण होने का शाप दे दिया[1] तथा अहल्या को समस्त प्राणियों से अदृश्य होकर आश्रम में ही दुरवस्था में रहने का शाप दिया।[2] इन्द्र को पुनः पुरुषत्व प्रदान करने के लिए देवता लोग पितृदेवताओं के भेड़े के अण्डकोषों को इन्द्र में आरोपित कर देते हैं[3] तथा अहल्या का उद्धार उपवन में श्रीराम पदार्पण करने पर उनके स्पर्श से पुनः स्त्रीत्व को प्राप्त होता है।[4]

उत्तकाण्ड में वर्णित कथा बालकाण्ड से कुछ भिन्न है। उत्तरकाण्ड के अनुसार इन्द्र, मेघनाद की कैद से मुक्त होने के पश्चात् अपनी पराजय का कारण सोचने लगा। इस सन्दर्भ में ब्रह्मा जी इन्द्र को उसके द्वारा किया गया पूर्व पापकृत्य स्मरण दिलाते हुए कहते हैं कि पूर्वकाल में मेरे द्वारा एक अत्यन्त सुन्दर स्त्री की सृष्टि की गई, जिसमें विरूपता का सर्वथा अभाव था। अतः उसका नाम अहल्या पड़ा। मैंने वह स्त्री पत्नी के रूप में गौतम मुनि को दे दी, जिससे देवता निराश हो गए। उसी स्त्री को पहले से ही प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले तुमने काम से पीड़ित होकर मुनि की अनुपस्थिति में उनके आश्रम पर जाकर अहल्या का सतीत्व भंग कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप गौतम मुनि ने क्रोधित होकर तुम्हें शाप देते हुए कहा कि इस पापकर्म के कारण तुम युद्ध में जाकर शत्रु के हाथ पड़ जाओगे। आज से मनुष्य लोक में भी 'जारभाव' का प्रचार हो जाएगा। जो जारभाव से पापाचार करेगा, उस मनुष्य का आधा पाप तुम पर पड़ेगा, क्योंकि इसके प्रवर्तक तुम ही हो तथा तुम्हारा यह देवराज का पद स्थिर नहीं रहेगा।[5] इसी प्रकार अहल्या को भी उन्होंने आश्रम के पास अदृश्य होकर रहने एवं उसके रूप-सौन्दर्य को भ्रष्ट हो जाने का शाप

---

1. मम रूपं समास्थाय कृतवानसि दुर्मते।
अकर्तव्यमिदं यस्माद् विफलस्त्वं भविष्यसि।। बालकाण्ड - 48/27।
2. वातभक्षा निराहारा तप्यन्ती भस्मशायिनी।
अदृश्या सर्वभूतानामाश्रमेऽस्मिन् वसिष्यसि।। बालकाण्ड - 48/30।
3. अग्नेस्तु वचनं श्रुत्वा पितृदेवाः समागताः।
उत्पाट्य मेषवृषणौ सहस्राक्षे न्यवेशयन्।। बालकाण्ड - 49/8।
4. (i) यदा त्वेतद् वनं घोरं रामो दशरथात्मजः।
आगमिष्यति दुर्धर्षस्तदा पूता भविष्यसि।।
(ii) तस्यातिथ्येन दुर्वृत्ते लोभमोहविवर्जिता।
मत्सकाशं मुदा युक्ता स्वं वपुर्धारयिष्यसि।। बालकाण्ड - 48/31-32।
5. (i) तत्रार्धं तस्य यः कर्ता त्वय्यर्धं निपतिष्यति।
न च ते स्थावरं स्थानं भविष्यति न संशयः।।
(ii) यश्च यश्च सुरेन्द्रः स्याद् ध्रुवः स न भविष्यति।
एष शापो मया मुक्त इत्यसौ त्वां तदाब्रवीत्।। उत्तरकाण्ड - 30/34-35।

दिया।[1] महर्षि वाल्मीकि के इस आख्यान का अभिप्राय यह हो सकता है कि जब समाज में एक स्त्री का तिरस्कार अथवा बहिष्कार किया जाता है तो स्त्री का पत्थर समान जड़वत् हो जाना स्वाभाविक ही है तथा भगवान् राम के चरण-स्पर्श से अहल्या का पुन: स्त्री रूप में आना समाज में पुन: उसकी सम्मानप्राप्ति का द्योतक है। इसी प्रकार इन्द्र को उसके द्वारा किये गए अपराध के लिए निर्वृषण होने की सजा दी गई। इससे प्रतीत होता है कि महर्षि वाल्मीकि की दृष्टि में बलात्कारी की सजा उसे 'नपुंसक' कर दिया जाना ही है। इन्द्र को पुन: पौरुष प्रदान करने के लिए भेड़े के अण्डकोष आरोपित करने से अपराधी व्यक्ति की सजा की कुछ निश्चितावधि संकेतित होती है।

राजा दण्ड - अरजा आख्यान

राजा दण्ड एवं अरजा आख्यान उत्तरकाण्ड में वर्णित है। राजा दण्ड का राज्य रामायण में विन्ध्य तथा शैलगिरि के मध्यभाग में बताया गया है। एक बार राजा दण्ड, पुरोहित शुक्राचार्य की अनुपस्थिति में उनके आश्रम में आए तथा वहाँ उनकी पुत्री अरजा के रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध होकर अरजा की इच्छा के विपरीत[2] बलपूर्वक उसके साथ समागम किया, जिसके परिणामस्वरूप क्रोध के वशीभूत होकर शुक्राचार्य ने अपनी पुत्री के साथ शास्त्रविरुद्ध आचरण करने वाले राजा दण्ड को सात दिनों के भीतर पुत्र, सेना तथा वाहन सहित सम्पूर्ण राज्य नष्ट हो जाने का शाप दे दिया[3] तथा अरजा को वहीं आश्रम में रहते हुए स्वयं को परमात्मा के प्रति समर्पित कर अपराध की निवृत्ति के लिए समय की प्रतीक्षा करने का आदेश दिया।[4] सम्भवत: इस भू-भाग का 'दण्डकारण्य' नाम भी इसी घटना से सम्बन्ध रखता है। बाद में यही स्थान 'जनस्थान' नाम से प्रसिद्ध हुआ।[5]

---

1. (i) तां तु भार्यां सुनिर्भर्त्स्य सोऽब्रवीत् सुमहातपा:।
दुर्विनीते विनिध्वंस ममाश्रमसमीपत:।।
(ii) रूपयौवनसम्पन्ना यस्मात् त्वमनवस्थिता।
तस्माद् रूपवती लोके न त्वमेका भविष्यति।। उत्तरकाण्ड - 30/36-37।
2. मा मां स्पृश बलाद् राजन् कन्या पितृवशा ह्यहम्।
गुरु: पिता मे राजेन्द्र त्वं च शिष्यो महात्मन:।। उत्तरकाण्ड - 80/9।
3. सप्तरात्रेण राजासौ सपुत्रबलवाहन:।
पापकर्मसमाचारो वधं प्राप्स्यति दुर्मति:।। उत्तरकाण्ड - 81/7।
4. इहैव वस दुर्मेधे आश्रमे सुसमाहिता।
अरजे विज्वरा भुङ्क्ष्व कालश्चात्र प्रतीक्ष्यताम्।। उत्तरकाण्ड - 81/13-14।
5. शप्तो ब्रह्मर्षिणा तेन वैधर्म्ये सहिते कृते।
तत: प्रभृति काकुत्स्थ दण्डकारण्यमुच्यते।।
तपस्विन: स्थिता ह्यत्र जनस्थानमतोऽभवत्। उत्तरकाण्ड - 81/19-20।

महर्षि वाल्मीकि ने इस आख्यान के द्वारा स्त्रीसम्मान को बनाए रखने के लिए चेतावनी देते हुए कहा कि मनुष्य को कभी भी, किसी भी स्थिति में मर्यादा के विरुद्ध आचरण नहीं करना चाहिए, क्योंकि इसका भयंकर दुष्परिणाम हो सकता है। जैसे कि अरजा के साथ शास्त्रविरुद्ध आचरण करने से राजा दण्ड का सम्पूर्ण राज्य नष्ट हो गया।

रावण द्वारा रम्भा से बलात्कार एवं नलकूबर द्वारा रावण को शाप

देवताओं को पराजित करने के लिए रावण ने रात्रि में अपनी सेना का पड़ाव कुबेर के निवासस्थान 'कैलाश पर्वत' पर डाला। वह उस पर्वत के शिखर पर बैठकर विभिन्न पर्वतीय स्थलों की नैसर्गिक छटा को निहार रहा था कि उसकी दृष्टि परम सुन्दरी रम्भा पर पड़ी, जो तीनों लोकों में प्रसिद्ध कुबेर के पुत्र नलकूबर को मिलने के लिए जा रही थी। रावण उसका मार्ग अवरुद्ध कर स्वयं को स्वीकार करने के लिए कहता है। रम्भा उसे बहुत समझाती है तथा कहती है कि मैं आपकी पुत्रवधू तुल्य हूँ।[1] परन्तु रावण उसकी बातें अनसुनी करके उसके साथ बलात् संभोग करता है। रम्भा अपनी सारी व्यथा स्वयं को निर्दोष बताते हुए अपने प्रियतम नलकूबर को बताती है तथा वैश्रवण पुत्र नलकूबर ध्यान बल से सम्पूर्ण वृत्तान्त को अवगत कर रावण को शाप देते हुए कहते हैं कि वह किसी भी स्त्री से उसकी इच्छा के विरुद्ध यदि बलात्कार करेगा, तो उसके मस्तक के सात टुकड़े हो जायेंगे।[2]

रावण के द्वारा रम्भा का बलात्कार इस बात की ओर संकेत करता है कि व्यक्ति को पराई स्त्री पर कभी कुदृष्टि नहीं रखनी चाहिए, अपितु यदि आवश्यकता पड़े तो ऐसी विपरीत परिस्थितियों में उसकी मर्यादा, चरित्र एवं शील की रक्षा करनी चाहिए।[3]

रावण द्वारा पुंजिकस्थला नामक अप्सरा से बलात्कार एवं ब्रह्मा द्वारा शाप

रावण के द्वारा बहुत बार प्रार्थना किए जाने पर भी सीता जब उसके प्रणय-निवेदन को स्वीकार नहीं करती तो महापाश्र्व रावण को सीता के साथ बलपूर्वक उपभोग करने की मन्त्रणा देता है। तब इसी सन्दर्भ में रावण महापार्श्व को पूर्वकाल में घटित अपने जीवन के गुप्त रहस्य को उसके समक्ष प्रकट करते हुए कहता है कि एक बार मैंने ब्रह्मा के भवन की ओर जाते हुए पुंजिकस्थला अप्सरा के साथ बलात् समागम किया, जिसके कारण ब्रह्मा ने मुझे क्रुद्ध होकर शाप दिया कि यदि तुम किसी दूसरी नारी के साथ बलपूर्वक समागम करोगे, तो तुम्हारे सिर के सौ

---

1. तद्धर्मतः स्नुषा तेऽहं तत्त्वमेतद् ब्रवीमि ते।। उत्तरकाण्ड - 26/29।
2. यदा ह्यकामां कामार्तो धर्षयिष्यति योषितम्।।
मूर्धा तु सप्तधा तस्य शकलीभविता तदा। उत्तरकाण्ड - 26/55-56।
3. अन्येभ्योऽपि त्वया रक्ष्या प्राप्नुयां धर्षणं यदि।
तद्धर्मतः स्नुषा तेऽहं तत्त्वमेतद् ब्रवीमि ते।। उत्तरकाण्ड - 26/29।

टुकड़े हो जायेंगे।[1] यह आख्यान इस ओर संकेत करता है कि अपराधी के लिए ऐसे कठोर दण्ड का विधान किया जाए, ताकि वह स्त्री के साथ बलात् समागम की चेष्टा न करे।

कुशनाभ की सौ कन्याओं का वायु के कोप से कुब्जा होना

राजा कुशनाभ ने घृताची अप्सरा के गर्भ से अति सुन्दर सौ कन्याओं को जन्म दिया।[2] उनके रूप तथा लावण्य को देखकर वायु देव ने उन्हें प्रेयसी के रूप में प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त की।[3] किन्तु उन सभी कन्याओं ने स्वयं को पिता के अधीन बताते हुए वायु देव के प्रणयप्रस्ताव की अवहेलना करते हुए कहा कि वह समय कभी न आए, जब हमें अपने सत्यवादी पिता की अवहेलना करके कामवश अथवा अधर्मपूर्वक स्वयं वर ढूँढ़ना पड़े। हमारे देवता स्वरूप पिता हमें जिसके हाथों में सौंप देंगे, वही हमारा पति होगा।[4] वायु देवता ने उनका यह निर्णय सुन क्रोधित होकर, उनके शरीर में प्रविष्ट होकर उनको टेढ़ा कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप वे कुबड़ी हो गई।[5] कुबड़ी होने पर कन्याओं ने रोते हुए राजभवन में प्रवेश किया तथा अपना सारा वृत्तान्त पिता को सुनाया।

वायु देव के क्रोध से कुब्जता का कारण सुन कर पिता कुशनाभ ने अपनी पुत्रियों के धैर्य एवं क्षमाशीलता की प्रशंसा की।[6]

महर्षि वाल्मीकि ने वायु देवता द्वारा कुशनाभ की कन्याओं को कुब्जा बनाए जाने के इस आख्यान से यह सन्देश दिया है कि स्त्रियों को भी अपनी मर्यादा के अनुकूल ही आचरण करना चाहिए। युवावस्था में कामभावना के वशीभूत होकर विवाह से पूर्व किसी भी पर–पुरुष के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के अनुचित प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करना चाहिए। कन्यायों को सर्वथा अपने माता–पिता की आज्ञा के अधीन रहना चाहिए तथा अपने मन में कामभाव को स्थान न देते हुए कुल की मर्यादा को बनाए रखना चाहिए।

---

1. अद्य प्रभृति यामन्यां बलान्नारीं गमिष्यसि।
   तदा ते शतधा मूर्धा फलिष्यति न संशयः।। उत्तरकाण्ड – 13/14।
2. कुशनाभस्तु राजर्षि कन्याशतमनुत्तमम्।
   जनयामास धर्मात्मा घृताच्यां रघुनन्दन।। बालकाण्ड – 32/11।
3. अहं वः कामये सर्वा भार्या मम भविष्यथ।
   मानुषस्त्यज्यतां भावो दीर्घमायुरवाप्स्यथ।। बालकाण्ड – 32/16।
4. मा भूत् स कालो दुर्मेधः पितरं सत्यवादिनम्।
   अवमन्य स्वधर्मेण स्वयं वरमुपास्महे।। बालकाण्ड – 32/21।
5. प्रविश्य सर्वगात्राणि बभंज भगवान् प्रभुः।
   अरत्निमात्राकृतयो भग्नगात्रा भयार्दिताः।। बालकाण्ड – 32/23–24।
6. क्षान्तं क्षमावतां पुत्र्यः कर्त्तव्यं सुमहत् कृतम्।
   एकमत्यमुपागम्य कुलं चावेक्षितुं मम।। बालकाण्ड – 33/6।

विश्वावित्र का रम्भा नामक अप्सरा को शाप

देवताओं के आग्रह से रम्भा, विश्वामित्र ऋषि की तपस्या भंग करने हेतु उनके समीप गई[1] तथा उन्हें आकर्षित करने के लिए तरह-तरह के यत्न किए।[2] परन्तु महर्षि विश्वामित्र को देवराज इन्द्र का वह सारा कुचक्र समझ में आ गया तथा उन्होंने रम्भा को कुपित होकर इस अपराध के लिए 10 हजार वर्षो तक पत्थर की प्रतिमा बने रहने का शाप दे दिया तथा शाप का समय पूर्ण हो जाने पर एक महान् तपस्वी तथा तपोबल सम्पन्न ब्राह्मण द्वारा शाप से मुक्त होने का वचन भी बताया।[3]

इस आख्यान के सम्बन्ध में महर्षि वाल्मीकि का यह दृष्टिकोण प्रतीत होता है कि पुरुष की भांति वह महिला भी दण्ड का पात्र है, जो किसी पर-पुरुष को नानाविध उपायों से अपने रूप-सौन्दर्य के द्वारा अपनी ओर आकर्षित कर मार्ग भ्रष्ट करने का प्रयास करती है। इस सन्दर्भ में देवराज इन्द्र के द्वारा रम्भा से पूर्व भी मुनि की तपस्या को भंग करने हेतु मेनका को भेजा गया था। उसके रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध होकर मेनका के साथ रमण करते हुए महर्षि विश्वामित्र ने दस वर्ष बहुत ही सुखपूर्वक व्यतीत किए।[4] परन्तु जब उन्हें देवताओं के इस कुचक्र का बोध हुआ, तो वे बहुत ही लज्जित हुए व चिन्ता तथा शोक में डूब गए।[5] डरी हुई मेनका को विश्वामित्र ने मधुर वचनों द्वारा विदा किया तथा स्वयं तपस्या के लिए उत्तर पर्वत (हिमवान्) की ओर प्रस्थान किया।[6]

इससे सिद्ध होता है कि महर्षि वाल्मीकि को पर-पुरुष के द्वारा स्त्री का शील-भंग करना स्वीकार्य नहीं था। विश्वामित्र कामजनित मोह से आक्रान्त होकर मेनका के साथ सम्बन्ध स्थापित किए जाने पर स्वयं को दोषी पाकर पश्चाताप की अग्नि में जलने लगते हैं।

---

1. सा श्रुत्वा वचनं तस्य कृत्वा रूपमनुत्तमम्।
   लोभयामास ललिता विश्वामित्रं शुचिस्मिता।। बालकाण्ड - 64/8।
2. कोकिलस्य तु शुश्राव वल्गु व्याहरत: स्वनम्।
   सम्प्रहृष्टेन मनसा स चैनामन्ववैक्षत।। बालकाण्ड - 64/9।
3. (i) यन्मां लोभयसे रम्भे कामक्रोधजयैषिणम्।
   दशवर्षसहस्राणि शैली स्थास्यसि दुर्भगे।।
   (ii) ब्राह्मण: सुमहातेजास्तपोबलसमन्वित:।
   उद्धिरिष्यति रम्भे त्वां मत्क्रोधकलुषीकृताम्।। बालकाण्ड - 64/12-13।
4. अहोरात्रापदेशेन गता: संवत्सरा दश।। बालकाण्ड - 63/11।
5. स नि:श्वसन् मुनिवर: पश्चात्तापेन दु:खित:।। बालकाण्ड - 63/12।
6. (i) भीतामप्सरसं दृष्ट्वा वेपन्तीं प्रांजलिं स्थिताम्।
   मेनकां मधुरैर्वाक्यैर्विसृज्य कुशिकात्मज:।।
   उत्तरं पर्वतं राम विश्वामित्रो जगाम ह। बालकाण्ड - 63/13-14।

वेदवती द्वारा रावण को शाप

हिमालय के वनों में घूमते हुए रावण की दृष्टि - शरीर पर काले रंग का मृगचर्म तथा सिर पर जटाएं धारण किए, ऋषि-प्रोक्त विधि से तपस्या में संलग्न एक ब्रह्मर्षि कन्या पर पड़ी।[1] ब्रह्मर्षि कन्या के रूप-सौन्दर्य की प्रशंसा कर रावण के द्वारा उसके तप करने का कारण पूछा गया। वेदवती, रावण को अपना परिचय देकर कहती है कि मेरे पिता भगवान् विष्णु को ही अपना जामाता बनाना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने किसी अन्य पुरुष को मुझे नहीं सौंपा। उनके इस अभिप्राय को जानकर शम्भु दैत्य ने मेरे पिता का वध कर दिया। मेरी माता भी उनके साथ ही चिता में प्रविष्ट हो गई।[2] मैं अपने पिता की इच्छापूर्ति के निमित्त ही इस महान् तथा कठोर तपोव्रत को धारण कर रही हूँ। नारायण के अतिरिक्त कोई दूसरा पुरुष मेरा पति नहीं हो सकता।[3] यह सुन कामजन्य विकार से पीड़ित हो रावण ने विष्णु की निन्दा करते हुए वेदवती को अपनी भार्या बन जाने का निवेदन किया।[4] यह सुनकर वेदवती ने उसके घृणित प्रस्ताव की निन्दा करते हुए प्रणय निवेदन को ठुकरा दिया, जिससे कुपित होकर रावण ने वेदवती के केश पकड़ लिए। वेदवती ने क्रोधित होकर अपने हाथ से उन केशों को काट दिया।[5] तथा जलकर मरने हेतु अग्नि की स्थापना कर रावण को शाप देते हुए कहा कि नीच राक्षस! तूने मेरा अपमान किया है। इसलिए इस जीवन को रखना मुझे अभिप्रेत नहीं है, तेरे देखते मैं अग्नि में प्रवेश कर जाऊँगी तथा तेरे वध के लिए अयोनिजा कन्या के रूप में पुनः पृथ्वी पर अवतार धारण करूँगी।[6] तदनन्तर वेदवती दूसरे जन्म

---

1. तत्रापश्यत् स वै कन्यां कृष्णाजिनजटाधराम्।
   आर्षेण विधिना चैनां दीप्यन्तीं देवतामिव।। उत्तरकाण्ड - 17/2।
2. (i) पितुस्तु मम जामाता विष्णुः किल सुरेश्वरः।।
   (ii) अभिप्रेतस्त्रिलोकेशस्तस्मन्नान्यस्य मे पिता।
   दातुमिच्छति तस्मै तु तच्छ्रुत्वा बलदर्पितः।।
   (iii) शम्भुर्नाम ततो राजा दैत्यानां कुपितोऽभवत्।
   तेन रात्रौ शयानो मे पिता पापेन हिंसितः।।
   (iv) ततो मे जननी दीना तच्छरीरं पितुर्मम।
   परिष्वज्य महाभाग प्रविष्टा हव्यवाहनम्।। उत्तरकाण्ड - 17/12-15।
3. नारायणो मम पतिर्न त्वन्यः पुरुषोत्तमात्।
   आश्रये नियमं घोरं नारायणपरीप्सया।। उत्तरकाण्ड - 17/18।
4. अहं लङ्कापतिर्भद्रे दशग्रीव इति श्रुतः।
   तस्य मे भव भार्या त्वं भुङ्क्ष्व भोगान् यथासुखम्।। उत्तरकाण्ड - 17/23।
5. ततो वेदवती क्रुद्धा केशान् हस्तेन साच्छिनत्।
   असिर्भूत्वा करस्तस्याः केशांश्छिन्नांस्तदाकरोत्।। उत्तरकाण्ड - 17/28-29।
6. सा ज्वलन्तीव रोषेण दहन्तीव निशाचरम्।।
   उवाचाग्निं समाधाय मरणाय कृतत्वरा।
   धर्षितायास्त्वयानार्य न मे जीवितमिष्यते।।
   रक्षस्तस्मात् प्रवेक्ष्यामि पश्यतस्ते हुताशनम्। उत्तरकाण्ड - 17/30-32।

में एक कन्या के रूप में पुनः कमल से उत्पन्न हुई। रावण पुनः इस कन्या को उठाकर ले आया, जिसे उसने बालक-बालिकाओं के लक्षणज्ञ मन्त्री को दिखलाया। मन्त्री द्वारा इस सुन्दर कन्या को रावण के वध का कारण बताए जाने के कारण उसने इसे समुद्र में फेंक दिया। तत्पश्चात् उसी कन्या ने राजा जनक के घर में जन्म लिया। इस प्रकार वही वेदवती जनक की पुत्री सीता के रूप में प्रादुर्भूत हो राम की पत्नी हुई[1] तथा रावण के वध का कारण बनी।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि महर्षि वाल्मीकि के अनुसार स्त्रियों के सतीत्व को भंग करने का परिणाम अति भयंकर होता है। सती-साध्वी निर्दोष स्त्रियों के साथ इस प्रकार के निन्दनीय कर्म की चेष्टा भी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ऐसी स्त्रियां पर-पुरुष के स्पर्श को सहन न करती हुई, अपने प्रति तिरस्कार के कारण जीवित रहना पसन्द नहीं करतीं तथा साथ ही उसके लिए भी विनाश का कारण बन जाती हैं। जैसे सीता, रावण के विनाश का कारण बनी तथा बाली के वध का कारण सुग्रीव की पत्नी रूमा बनी।

इस प्रकार विभिन्न आख्यानों के माध्यम से महर्षि वाल्मीकि ने स्त्री-सम्मान के प्रति अपने दृष्टिकोण को प्रतिपादित किया है। उनकी दृष्टि में समाज में स्त्री को पर्याप्त सम्मान दिया जाना चाहिए। उसके साथ किसी भी तरह का शास्त्र-विरुद्ध निन्दनीय आचरण नहीं करना चाहिए। यदि समाज में स्त्री के साथ किसी भी प्रकार का दुर्व्यवहार किया जाता है तो उसके लिए अपराधी को निश्चित रूप से दण्डित किया जाना चाहिए, ताकि समाज में किसी भी प्रकार की अव्यवस्था न फैले। इस प्रकार स्त्री-सम्मान के प्रति अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए महर्षि वाल्मीकि का कथन है कि-जिसके साथ हम दुर्व्यवहार करते हैं, वह किसी की माता है, बहन है, पत्नी है, पुत्री है, पुत्रवधू है। इसलिए धीर पुरुष वह कर्म न करें, जिसकी दूसरे लोग निन्दा करते हैं। जैसे पराये पुरुष के स्पर्श से अपनी स्त्री की रक्षा की जाती है, उसी प्रकार दूसरों की भी रक्षा करनी चाहिए-

न तत् समाचरेत् धीरो यत् परोऽस्य विगर्हयेत्।
यथाऽऽत्मनस्तथान्येषां दारा रक्ष्या विमर्शनात्।। अरण्यकाण्ड - 50/8

इसके साथ ही महर्षि वाल्मीकि ने इस ओर भी संकेत किया है कि किन्हीं भी परिस्थितियों में स्त्री को कामभाव के वशीभूत होकर किसी पर-पुरुष के प्रणय-प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करना चाहिए, भले ही उसके लिए प्राणों का परित्याग ही क्यों न करना पड़े। स्त्री का धर्म है कि वह अपने कामभाव जन्य मनोविकारों को स्थान न देते हुए स्वयं अपने शील की रक्षा करे तथा कुल की मर्यादा को बनाए रखे। उपरिकृत विश्लेषण से स्पष्ट है कि रामायणीय आख्ययान स्त्री के पूर्ण सम्मान का सन्देश देते हैं।

---

1. सैषा जनकराजस्य प्रसूता तनया प्रभो।
   तव भार्या महाबाहो विष्णुस्त्वं हि सनातनः।। उत्तरकाण्ड - 17/40।
2. एषा वेदवती नाम पूर्वमासीत् कृते युगे।
   त्रैतायुगमनुप्राप्य वधार्थं तस्य रक्षसः।। उत्तरकाण्ड - 17/43।

डॉ॰ वेदकुमारी घई : भारतीय संस्कृति की प्रतीक महिला

डॉ॰ सत्यपाल श्रीवत्स

डॉ॰ वेदकुमारी घई जी हमारे जम्मू-कश्मीर राज्य की सम्माननीय विदुषी महिला हैं, इसीलिये वह भारतीय संस्कृति की प्रतीक हैं। मेरा इनके साथ सम्पर्क लगभग गत पचास वर्षों से है, यद्यपि प्रारम्भ में हमारा सम्पर्क पत्रों के माध्यम से ही अधिक रहा। इसका कारण था 1962 ई. से 1984 ई. तक मेरा राजकीय महाविद्यालय, पुञ्छ, कठुआ एवं भद्रवाह में कार्यरत रहना तथा इसी अवधि में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की योजना के अधीन पूना विश्वविद्यालय के संस्कृत प्रगत अध्ययन केन्द्र में पी-एच.डी. के लिए शोधकार्य के लिए भी जाना। परन्तु इस 22 वर्षों की अवधि में भी डॉ॰ वेदजी से मेरा सम्पर्क आत्मीय भाव का ही रहा, क्योंकि मैं इनकी विद्वत्ता के अतिरिक्त इनके श्रेष्ठ मानवीय गुणों से भी सदा प्रभावित रहा। इस अवधि में जब कभी भी पाठ्यक्रमों आदि के विषय में इनके विभाग में जाने का अवसर मिलता था तो हमारी बैठकें सदा शान्त एवं सुखद वातावरण में ही आरम्भ होती थीं तथा समाप्त भी वैसे ही हुआ करती थीं।

एक बार इन्होंने विश्वविद्यालय को 'यूनिवर्सिटी रिव्यू' के लिए महाकवि कालिदास की कृतिओं में से किसी एक पहलू पर लेख लिखने के लिए पत्र लिखकर आग्रह भी किया था। मैं उन दिनों राजकीय महाविद्यालय, कठुआ में कार्यरत था। उस पत्रिका के प्रकाशित हो जाने के बाद इन्होंने उसकी कुछ प्रतियां भी भेजी थीं, जो आजतक मेरे पास हैं।

जब मैं पूना से आकर राजकीय कॉलेज भद्रवाह में कार्यरत था तो एक बार डोगरी रिसर्च इन्स्टीच्यूट, जम्मू के सचिव श्री श्यामलाल शर्मा ने मुझे पत्र लिखकर-डोगरी एवं भद्रवाही का तुलनात्मक अध्ययन शीर्षक से एक शोध लेख लिखने के लिए आग्रह किया तो मैंने तुरन्त अपनी स्वीकृति श्री शर्मा जी को भेज दी तथा पहले से लिखे हुए 'भद्रवाही बोली की मुख्य विशेषतायें' लेख को ही डोगरी भाषा के साथ तुलनात्मक रूप देकर अपना शोधलेख तैयार किया और जम्मू आ पहुँचा। शर्मा जी ने अपने कार्यक्रमानुसार निमन्त्रण पत्र पहले ही मेरे घर पहुँचा दिया हुआ था। जब मैंने उस पर पढ़ा कि उस गोष्ठी में मुख्य अतिथि प्रो॰ पृथिवीनाथ पुष्प होंगे और अध्यक्ष पद डॉ॰ वेदजी सम्भालेंगी तो मैं थोड़ा झिझक जैसी अनुभव करने लगा कि मेरा आलेख भाषा विज्ञान की तकनीकी पद्धति (descriptive) पर है, पता नहीं इस पर कितने प्रश्न और समालोचनात्मक

शङ्कायें उठेंगी, परन्तु मैंने अपने आपको आश्वस्त करते हुए सोचा कि कोई बात नहीं जो भी होगा उससे मेरा ज्ञानवर्द्धन ही तो होगा।

निश्चित तिथि पर जब मैं रिसर्च इन्स्टीच्यूट के कार्यालय में पहुँचा तो वहाँ पर्याप्त संख्या में विद्वान् उपस्थित थे। जब प्रो॰ पुष्प और डॉ॰ वेदजी भी पहुँची तो कुछ औपचारिकताओं के उपरान्त मुझे आलेख पढ़ने के लिए कहा गया। आलेख की समाप्ति के बाद वहाँ बैठे हुए शेष विद्वानों ने तो कोई गम्भीर प्रश्न नहीं किये, परन्तु प्रो॰ पुष्प और डॉ॰ वेदजी ने अवश्य कुछ प्रश्न भी किये और आलेख को और अधिक स्तरीय और कारगर बनाने के लिए अपने अमूल्य सुझाव भी दिये। डॉ॰ वेदजी क्योंकि उन दिनों से कुछ समय पहले डेनमार्क में डोगरी भाषा के बारे में वैज्ञानिक पद्धति पर शोध करके आई हुई थीं, अतः स्वाभाविक था कि इस भाषा के स्वरूप एवं संरचना के बारे में भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से इनके पास अधुनातन ज्ञान था। इस दृष्टि से भी उनके सुझाव मुझे अधिक पसन्द भी आए क्योंकि इनसे मेरा ज्ञानवर्द्धन हुआ। उस दिन के बाद इनके प्रति मेरी श्रद्धा और बढ़ गई।

उसके पश्चात् जब डॉ॰ वेदजी डोगरी रिसर्च इन्स्टीच्यूट की प्रधान मनोनीत हुईं तो मुझे उसकी कार्यकारिणी का सदस्य होने के नाते इनके साथ काम करने का अवसर प्राप्त हुआ। हमारा मिलना इन्स्टीच्यूट की पत्रवाचन गोष्ठियों में तथा कार्यकारिणी की गोष्ठियों में ही हुआ करता था। लगभग उन्हीं दिनों डॉ॰ वेदजी ने संस्कृत विश्व प्रतिष्ठान की जम्मू शाखा का प्रधान पद भी सम्भाला था। जब भी प्रतिष्ठान की गोष्ठियां या कार्यक्रम हुआ करते तो यह संस्कृत की जम्मू-कश्मीर में स्थिति के बारे में अपनी चिन्ता व्यक्त किया करती थीं, जिसके साथ हम भी सहमत हुआ करते थे।

क्योंकि उपर्युक्त संस्थाओं के साथ जुड़ने से डॉ॰ वेदजी से मेरा सम्पर्क और अधिक घनिष्ठ हो गया, जिससे मैंने इन्हें और अधिक गम्भीरता से जानने और समझने का प्रयत्न किया क्योंकि किसी को समझने के लिए उसके साथ बातचीत तथा निरन्तर सम्पर्क जारी रखने का बड़ा योगदान होता है। तदनुसार मैंने बड़ी उत्सुकता से इनके व्यक्तित्व को समझने के लिए अपनी चेष्टा बढ़ाई। मैंने पाया था समझिए कि मुझे कई स्रोतों से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर ज्ञात भी हुआ कि इनके व्यक्तित्व को संवारने के लिए छः महापुरुषों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। वे हैं–ला. ईश्वर दास, श्रीमती विद्यावती, स्वामी दयानन्द सरस्वती, महामना पं. मदनमोहन मालवीयजी, राष्ट्रपिता महात्मागान्धी जी तथा पं. काकाराम शास्त्री जी। जहाँ तक ला. ईश्वर दास और श्रीमती विद्यावती जी के व्यक्तित्वों की बात है, उस विषय में कुछ कहने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं। ये दोनों जम्मू में अपने समय में आर्य समाज के स्तम्भ होने के साथ-साथ जम्मू में शिक्षा के क्षेत्र में ऐसी महती भूमिका निभा रहे थे कि इसकी जितनी प्रशंसा की जाए कम है। जम्मू का प्रसिद्ध आर्य समाज विद्यालय (कच्ची छावनी) इन्हीं के योग्य निर्देशन एवं पथ प्रदर्शन में चलकर जम्मू-कश्मीर में

उस समय अपनी धाक जमाए हुए था। डॉ॰ वेदजी का यह सौभाग्य था कि इनकी प्रारम्भिक शिक्षा उसी विद्यालय में हुई थी। यही कारण है कि ऐसे नेक और समाज सुधारक तथा आर्य समाज के आदर्शों के प्रति समर्पित साधकों के योग्य सान्निध्य से इनके व्यक्तित्व की नींव पड़ी होगी तथा यह भी स्वाभाविक था कि आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती के सिद्धान्तों तथा आदर्शों की भी इनके व्यक्तित्व पर अमिट छाप पड़ी होगी।

ये जब अपने शोधकार्य (नीलमत पुराण पर), तथा साथ-साथ प्राचीन इतिहास एवं संस्कृति-विषय में एम.ए. करने के लिए वाराणसी पहुँची तो वहाँ के विश्व प्रसिद्ध काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक भारतीय संस्कृति के प्रतीक पुरुष महामना पं. मदनमोहन मालवीय जी के विलक्षण व्यक्तित्व का भी इनके ऊपर गहरा प्रभाव अवश्य पड़ा होगा ऐसा हमारा विश्वास है। तदुपरान्त जब इन्होंने अध्यापन कार्य, स्वाध्याय तथा सामाजिक कार्य सम्भालने के साथ गान्धी जी के सिद्धान्तों का प्रचार करने वाली संस्थाओं से भी अपना नाता जोड़ा तो इनके व्यक्तित्व को और अधिक संपुष्टि और तेजस्विता प्राप्त हुई जो किसी ईश्वरीय वरदान से कम नहीं थी। इसके साथ-साथ यह अपनी ज्ञानार्जन की जिज्ञासा और गुणग्राहिकता शक्ति से प्रेरित होकर जम्मू के प्रकाण्ड विद्वान् स्व. पं. काकाराम शास्त्री जी के उज्ज्वल सान्निध्य में पहुँची तो इन्हें उनसे पितृ-तुल्य स्नेह के साथ-साथ जो शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त हुआ उससे इनकी संस्कृत वाङ्मय में और अधिक गहन पैठ के साथ-साथ इनकी प्रातिभ शक्ति में और अधिक ऊर्जा आई होगी ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है।

डॉ॰ वेदजी के बारे में अपने सम्पर्क एवं सम्बन्ध के बारे में अपनी अतीत की स्मृतियों को कुरेदते-कुरेदते जब मैं उन कड़ियों को जोड़ रहा था तो एक महत्वपूर्ण प्रसङ्ग स्मरण आ गया। मैं समझता हूँ यहाँ उसका लेखा-जोखा अभिव्यक्त न करने के कारण मैं अपने प्रति अन्याय ही करूँगा। बात यूँ है कि जब 1978 ई. के अगस्त महीने के दूसरे सप्ताह में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की फैलोशिप योजना के तहत एक फैलोशिप प्राप्त करके शोध के लिए पूना विश्वविद्यालय के संस्कृत के प्रगत अध्ययन केन्द्र में प्रविष्ट हो गया तो मेरे सामने समस्या आई शोध के लिए विषय चयन की। केन्द्र के निदेशक डॉ॰ एस.डी. जोशी जी से जब उस विषय पर बात हुई तो उन्होंने मुझे काव्यशास्त्र के विद्वान् डॉ॰ पटवर्धन (पूरा नाम स्मरण नहीं) के पास भेजा। वे उस समय यद्यपि बड़े वृद्ध हो चुके थे तो भी काव्यशास्त्र सम्बन्धी प्रत्येक विषय जैसे उनकी जिह्वा पर ही बैठा हुआ था। कमाल की स्मृति शक्ति थी उसकी। लगभग एक घण्टा भर उनके साथ काव्यशास्त्र के कश्मीरी विद्वानों तथा उनकी रचनाओं के बारे में चर्चा होती रही, पर मन किसी भी विषय पर टिका नहीं। दूसरे दिन पहुँचा डॉ॰ माइनकर (पूरा नाम उसका भी स्मरण नहीं) जी के पास। वह क्योंकि दार्शनिक विषयों के मर्मज्ञ थे—अत: उनके साथ बातचीत के अन्तिम छोर पर पहुँचने पर कश्मीर शैवदर्शन के आदि आचार्य वसुगुप्त के व्यक्तित्व और कृतित्व पर शोध करने

का निश्चय हुआ। तदनुसार मैंने डॉ॰ जोशी जी को सूचित कर दिया। उन्होंने मेरे से प्रार्थना पत्र लेकर अपनी अनुशंसा के साथ विश्वविद्यालय के सम्बद्ध विभाग को भेज दिया। परन्तु, दुर्भाग्य से कुछ ही दिनों के बाद जब डॉ॰ माइनकर जी की अचानक मृत्यु हो गई तो मैंने तो अपने शोध के बारे में उनकी मृत्यु को अपशकुन समझा ही, मेरे वहाँ सद्यः बने हितैषियों ने भी उस दुखद घटना को मेरे शोध विषय को लेकर दुर्भाग्य की संज्ञा दी। उन्हीं दिनों मुझे किसी आवश्यक कार्य के सम्बन्ध में जम्मू भी आना पड़ गया था। जम्मू आने के कुछ दिनों के बाद मैं डॉ॰ वेदजी को उनके निवास (श्रीरघुकाका बाजार मोहल्ला) में मिला और अपने शोध विषय के बारे में डॉ॰ माइनकर की अकस्मात् मृत्यु के कारण पैदा हुई असमञ्जस की स्थिति के बारे में चर्चा के बाद किसी अन्य विषय पर शोध करने की इच्छा व्यक्त की तो इन्होंने तुरन्त कहा कि मुझे कश्मीरी कवि भौमभट्ट की महत्वपूर्ण काव्यकृति रावणार्जुनीयम् पर शोधकार्य करना चाहिए। मैं उनका सुझाव मानकर जब पूना पहुँचा और डॉ॰ जोशी जी से मिलकर उनके सामने डॉ॰ वेदजी के हवाले से रावणार्जुनीयम् पर शोधकार्य करने की इच्छा अभिव्यक्त की तो वह इसलिए झट मान गए कि वह स्वयं पाणिनि व्याकरण और महाभाष्य के प्रकाण्ड विद्वान् होने के नाते ऐसे शोधकार्य के लिए स्वयं निर्देशन देने के लिए भी तैयार थे। रावणार्जुनीयम् एक ऐसा शास्त्र काव्य है जो भट्टिकाव्य से भी इसलिए उत्कृष्ट कोटि का है कि जहाँ भट्टिकाव्य में पाणिनि अष्टाध्यायी के सूत्रों के उदाहरणों का प्रयोग क्रमशः न होकर कवि द्वारा यथावश्यक ही उनका प्रयोग किया है जबकि भौमभट्ट ने अष्टाध्यायी के द्वितीय पाद के पहले सूत्र–"गाङ्कुटादिभ्योऽम्णिन्ङित्" से लेकर क्रमशः सूत्रों के उदाहरणों को अपने काव्य के श्लोकों में व्यवस्थित किया है ओर जो अति कठिन भी और विलक्षण कार्य भी है।

सच ही डॉ॰ वेदजी के इस प्रकार के सौम्य स्वभाव तथा सन्तुलित व्यक्तित्व से मैं बड़ा ही प्रभावित हुआ।

महिला महाविद्यालय (परेड) से सेवामुक्त होने के तुरन्त बाद जब मैंने डॉ॰ कर्णसिंह जी के आमन्त्रण पर प्रधानाचार्य के रूप में श्रीरघुनाथ संस्कृत महाविद्यालय में कार्य आरम्भ किया तो डॉ॰ वेदजी वहाँ तीन-चार बार गईं, एक बार मुख्यातिथि के रूप में भी। इन्होंने हर बार महाविद्यालय की उन्नति और संस्कृत भाषा तथा भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार के बारे में कई सुझाव दिये, जिनसे मुझे भी पथ प्रदर्शन मिला और महाविद्यालय को भी तथा छात्रों को भी बड़ा लाभ हुआ। उसके बाद भी कई साहित्यिक कार्यक्रमों आदि में हमारा मिलना होता ही रहता है, विशेषकर जम्मू-कश्मीर कला, संस्कृति और भाषा एकेडमी की हिन्दी-डोगरी कोश-निर्माण की विशेषज्ञ समिति के सदस्य के रूप में मुझे प्रो॰ नीलाम्बर, डॉ॰ चम्पा शर्मा के अतिरिक्त डॉ॰ वेदजी के साथ एक साथ बैठकर एक वर्ष से भी अधिक समय तक कार्य करने का अवसर भी प्राप्त हुआ। मैंने अनुभव किया कि इनके स्वभाव में सदा सौम्यता, मधुरता, गम्भीर अध्ययनशीलता सादगी

और एक विशेष प्रकार का सन्तुलन बना रहता है। वस्तुतः ये ही इनके व्यक्तित्व की समन्वयात्मक विशेषताएं इन्हें सब ओर से आदर और सम्मान दिलवाती हैं। हमारी भगवान् से प्रार्थना है कि भगवान् इन्हें दीर्घायु और उत्तम स्वास्थ्य प्रदान करें ताकि यह जिन गान्धी सेवासदन, वसुधैव कुटुम्बकम् नेहाघर आदि अनेक सामाजिक भलाई की संस्थाओं से जुड़ी हुई हैं उनका काम तथा अपना लेखन कार्य की सेवाओं के लिए और अधिक जोर और जोश के साथ करती हुई आने वाली पीढ़ी को भी प्रोत्साहित करती रहे यही हमारी शुभकामना है।

आज 26 जनवरी के राष्ट्रिय पर्व के शुभ दिन पर जब मैंने यह समाचार सुना कि डॉ॰ वेदजी को जम्मू-कश्मीर सरकार ने इनकी संस्कृत, हिन्दी तथा डोगरी भाषाओं की सेवाओं के लिए पुरस्कृत करने की घोषणा की है तो मुझे और सभी परिवारजनों को अपार हर्ष हुआ। एतर्थ हम सबकी ओर से हार्दिक बधाई के साथ अपनी लेखनी को विराम दे रहा हूँ।



वेदो में पारिवारिक जीवन

प्रो॰ बचनो गुप्ता

वेद भारतीय संस्कृति के आधार ग्रन्थ हैं। भारतीय जीवन की बहुरङ्गी चित्रावली के साक्षात् दर्शन हमें वेदों में होते हैं। भारतीयों के जीवन का कोई भी पहलू ऐसा नहीं है, जिसका सूक्ष्म एवं स्थूल चित्रण वेदों में उपलब्ध न हो। जीवन का चाहे पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक अथवा आर्थिक पक्ष हो - प्रत्येक का सर्वाङ्गीण, शाश्वत सार्वत्रिक एवं सार्वकालिक विवरण वैदिक साहित्य में निहित है।

परिवार जीवन को पूर्णता की ओर ले जाने वाली प्रथम महत्त्वपूर्ण इकाई है। यही वह आधारशिला है, जिस पर क्रमश: व्यक्ति समाज एवं राष्ट्र का विकास आश्रित है। वेदों में परिवार के इस अकथनीय महत्त्व को आदिकाल में ही पहचान लिया गया था। और वहां एक पूर्ण, संगठित, सशक्त एवं विकासोन्मुख परिवार का आदर्श उपलब्ध है। परिवार का संगठन कैसे होता था, उसमें माता, पिता, भाई बन्धुओं, बहनों आदि का क्या स्थान होता था और उनको परस्पर कैसा व्यवहार करना चाहिए था, इन सब का विवरण वेदों में उपलब्ध है।

परिवार में विभिन्न सदस्यों का स्थान

पिता–पिता सन्तान का पालक[1], संरक्षक[2], हितचिन्तक[3] माना जाता था। वह सदा पुत्र के सुख की कामना करता था।[4] पिता द्वारा पुत्र को आशीर्वाद देने की परम्परा प्रचलित थी।[5] पिता या ज्येष्ठ भ्राता, जो कुल का श्रेष्ठ व्यक्ति होता था, 'कुलय' कहा जाता था। यही कुल का स्वामी माना जाता था।

माता–माता ममता की मूर्ति[6], कल्याणमयी[7], महती[8], वात्सल्यमयी सहनशीलता की मूर्ति समझी जाती थीं।

---

1. ऋग्वेद, 10.6.96.10।
2. ऋग्वेद, 10.5.62.2।
3. ऋग्वेद, 10.4.49.4।
4. ऋग्वेद, 10.4.49.4।
5. ऋग्वेद, 10.17.2।
6. ऋग्वेद, 10.17.2।
7. ऋग्वेद, 10.4.59.8।
8. ऋग्वेद, 10.4.59.8।

दाम्पत्य–वैदिक युग में दाम्पत्य-सम्बन्ध पूर्णरूपेण दृढ़ हो चुका था। गार्हस्थ्यरूपी गाड़ी पति-पत्नी दोनों के सहयोग से ही चल सकती है, ऐसी भावना उस युग में पनप चुकी थी। अत एव उन दोनों को एक ही घर में वृद्धावस्था तक साथ-साथ रहने की प्रार्थना की गई है।

"वर और वधू, तुम दोनों यहीं रहो, परस्पर पृथक् नहीं होना। नाना खाद्य भक्षण करना। अपने गृह में रहकर पुत्र-पौत्रों के साथ आमोद, आह्लाद और क्रीड़ा करना।[1]"

गृहस्थी केवल पुरुष के द्वारा नहीं, अपितु पति-पत्नी दोनों के द्वारा चलायी जा सकती है। यह आस्था वेदों में स्पष्ट है–

गृभ्णामि ते सौभाग्ज़त्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथा सः।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यम् त्वां दुर्गाहपत्याय देवाः।।[2]

"तुम्हारे सौभाग्य के लिए मैं तुम्हारा हाथ पकड़ता हूँ। मुझे पति के रूप में पाकर तुम वृद्धावस्था तक पहुंचना - यही मेरी प्रार्थना है। भग, अर्यमा और पूषा ने तुम्हें गृहधर्म चलाने के लिए दिया है।"

वैदिक ऋषियों ने इस सत्य को भी जान लिया था कि गृहस्थ की ऋद्धि-सिद्धि पति-पत्नी के मानसिक ऐक्य पर निर्भर है। ऋग्वेद में दम्पति प्रार्थना करते हैं–

"सारे देवता हम दोनों के हृदयों को मिला दें। जल, वायु, धाता और सरस्वती हम दोनों को संयुक्त करें।[3]"

वैदिकयुग में पति-पत्नी के सह-अस्तित्व के महत्त्व को अच्छी तरह जान लिया गया था। यह तथ्य इतना स्पष्ट हो चुका था कि 'दम्पति' शब्द दृढ़ मिलन के उपमान के रूप में प्रयुक्त होने लगा था।[4] पति-पत्नी का प्रेमपूर्वक मिलकर रहना परिवार की समृद्धि का प्रतीक था।[5] पति-पत्नी में परस्पर झगड़ा परिवार की समृद्धि के लिए अनिष्ट कर होता है। वेदों में इस कलह को निन्दा का हेतु माना गया है। इन झगड़ों का हेतु राक्षसों की कटुकथाएं होती हैं। अतः वेदों में पति-पत्नी में विषमता पैदा करने वाले राक्षसों के नाश के लिए प्रार्थना की गई है–

यदग्ने अधिमिथुनाश पातो यद्वा चस्तृष्टं जनयन्तरेभाः।
मन्योर्मनसः शख्या जायते यामयाविध्य हृदये यातुधानान्।।

"अग्नि स्त्री पुरुष आपस में झगड़ा कर रहे हैं। स्रोता लोग परस्पर कटुकथा कह रहे हैं। फलतः मन में क्रोध उत्पन्न होने पर जो बाण फेंका जाता है, उससे राक्षसों के हृदयों को विद्ध

1. ऋग्वेद. 10.7.85.42।
2. ऋग्वेद. 10.7.85।
3. ऋग्वेद. 10.5.68.2।
4. ऋग्वेद. 10.6.76.1।
5. ऋग्वेद. 10.6.76.1।

करो, क्योंकि इन कटु कथाओं को कहने वाले राक्षस होते हैं।[1]" और भी "जो शत्रुता के लिए दम्पति के पास आते हैं, वे विनष्ट हों। दम्पति सुविधा के द्वारा असुविधा को दूर कर दें। शत्रु लोग दूर भाग जाएं।[2]"

पत्नी–परिवार में पत्नी का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, प्रभुत्वपूर्ण, साथ-साथ आदरपूर्ण होता था। पत्नी को ही गृह कहा जाता था। वह पति के लिए मङ्गलमय मानी जाती थी।[3] उसे पुनः पुनः बुढ़ापे तक पति के घर में रहने को कहा गया है।[4] वधू को आशीर्वाद के साथ घर लाया जाता था और घर में आते हो वह घर की सामाग्री मानी जाती थी।[5] गृहस्थ का मंगल उसी पर निर्भर करता था।[6] पति स्वयं स्वीकार करता था कि वह पत्नी के विना गृहस्थी नहीं चला सकता।[7] उसे आदरपूर्वक घर लाकर गृहणी पद से अलंकृत किया जाता था। वैदिक-ऋषि कहता है–"तुम्हें हाथ से धारण करके पूषा यहां से ले जाए। अश्विनी द्वारा तुम्हें रथ से ले जाएं। घर में जाकर गृहणी बनो।[8]" वृद्धावस्था तक अपने गृह पर प्रभुता करने का अधिकार दिया जाता था।[9]

गृहणी रूप में सुचारु रूप से गृह संचालन पत्नी का कर्तव्य था।[10] सन्तानोत्पत्ति पत्नी का प्रमुख कर्तव्य कहा गया है।[11] उसे वीर-प्रसविनी आदि विशेषणों से विभूषित किया जाता था।[12] पति तथा पुत्र से युक्त पत्नी का सर्वत्र सम्मान किया जाता था। वह युद्ध तथा यज्ञ में भाग लेती थी।[13] पत्नी अपने कर्तव्यों और स्थिति को अच्छी तरह समझती थी। पति-पुत्र युक्ता नारी स्वयं को गौरवशालिनी समझती थी।[14] पति-पुत्र विहीना नारी हेय दृष्टि से देखी जाती थी।[15]

वेदों में पत्नी के विविध रूपों को आदर की दृष्टि से देखा गया है। सन्तानोत्पत्ति हेतु उसके कामिनी-रूप की कल्पना की गई है।[16] केवल स्वपति में कामेच्छा रखने वाली नारी को ही श्रेष्ठ

1. ऋग्वेद. 10.7.85.13।
2. ऋग्वेद. 10.7.85.32।
3. ऋग्वेद. 10.7.45.42.43.44।
4. ऋग्वेद. 10.7.45.42.43.44।
5. ऋग्वेद. 10.7.85.46।
6. ऋग्वेद. 10.7.85.43।
7. ऋग्वेद. 10.7.85.36।
8. ऋग्वेद. 10.7.85.26।
9. ऋग्वेद. 10.7.8[illegible]
10. [illegible] 10.7.85.27।
11. ऋग्वेद. 10.7.85.27।
12. ऋग्वेद. 10.6.80.1।
13. ऋग्वेद. 10.7.86.10।
14. ऋग्वेद. 10.7.86.9।
15. ऋग्वेद. 10.7.86.9।
16. ऋग्वेद. 10.7.85.7।

माना गया है।[1] इन्द्रपत्नी इन्द्राणी इसका उदाहरण हैं। पत्नी पति की प्रियपात्र मानी जाती थी।[2] पतिव्रता नारी पर पति गर्व करता था।[3] पतिव्रता नारियां भी स्वयं को गौरवशालिनी समझती थी। और अपने पति को ही सर्वश्रेष्ठ मानती थी।[4] पत्नी पति की सहयोगी बनकर सामाजिक समारोहों तथा अवसरों में भाग लेती थी। पत्नी अपने पति से मिली सम्पत्ति की अधिकारिणी होती थी।[5]

पुत्र–वैदिकयुग में परिवार के मध्य पुत्र का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। वैदिक ऋचाओं में अनेक बार पुत्र-प्राप्ति की याचना की गई है। पुत्र का धन रूप में उल्लेख किया गया है।[6] अन्न-पाये हुए, मेधावी, तारक, धनपूरक, वर्द्धमान, शोभनबल, शत्रुघातक, शत्रुपुरिभेदक, सत्यकर्मा, विचित्र, अश्वयुक्त, रथी, असंख्य गो आदि से युक्त, अन्नवान्, कल्याणकारी, सेवकों से युक्त, सबके लिए सेवक, पूज्य और वर्षक पुत्र स्वरूप धन की याचना की गई है।[7] वेद में गुणी, स्तुति-परायण, देवभक्त, महान, विशालमूर्ति, गंभीर, सुप्रतिष्ठित, प्रसिद्ध ज्ञानयुक्त, तेजस्वी, शत्रुदमनकर्ता पुत्र की आकांक्षा की गई है।[8] धन तथा पुत्र परिवार की सम्पन्नता के प्रतीक माने गए हैं।[9] पुत्र के माता-पिता का आज्ञानुवर्ती और उनके प्रति एक-मन होने की प्रार्थना की गई है।[10] पुत्र पिता के शुभ कार्यों का विस्तार करता था।[11] पुत्र अर्जित धन पिता को देता था।[12] पुत्र की उन्नति से माता और पिता दोनों का नाम उज्ज्वल होता था।[13] पिता के आशीर्वाद देने पर पुत्र प्रणाम करता था।[14]

वैदिकयुग में पुत्रप्राप्ति विवाह का मुख्य उद्देश्य कहा गया है। वधू को गृह में प्रवेश करते समय आशीर्वाद देते हुए कहा जाता था–"इस गृह में सन्तान उत्पन्न करके प्रसन्न हो जाओ। यहां सावधान होकर कार्य करना। स्वामी के साथ अपने शरीर को सम्मिलित करके वृद्धावस्था तक अपने गृह में प्रभुता करो।[15]"

---

1. ऋग्वेद. 10.7.86.9।
2. ऋग्वेद. 10.7.85.33।
3. ऋग्वेद. 10.7.86.8।
4. ऋग्वेद. 10.7.86.5।
5. ऋग्वेद. 10.7.86.85.31।
6. ऋग्वेद. 10.4.47.3.4.5।
7. ऋग्वेद. 10.4.47.3.4.5।
8. ऋग्वेद. 10.4.47.3.4.5।
9. ऋग्वेद. 10.4.47.3.4.5.20।
10. अथर्ववेद 3030.2।
11. ऋग्वेद. 10.4.57.2।
12. ऋग्वेद. 10.4.48।
13. ऋग्वेद. 1.45.2।
14. ऋग्वेद. 2.12.12।
15. ऋग्वेद. 10.7.85.27।

निम्न मन्त्र में अनेक पुत्रों के जन्म की कामना की गई है–"वर्षक इन्द्र! इस नारी को उत्तम पुत्र दो और सौभाग्यशाली बनाओ। इसके गर्भ में दस पुत्र स्थापित करो। पति को लेकर इसे ग्यारह पति वाली बनाओ।[1]" "पुत्र माता के लिए गौरव का विषय था। पति पुत्र वाली नारी अपने को धन्य समझती थी। पतिपुत्र हीना नारी अशुभ मानी जाती थी।[2]" पतिपुत्र वाली नारी ही हवन और युद्ध में जाती थी। वे यज्ञ का विधान करने वाली मानी जाती थी। सब लोग उनकी पूजा करते थे।[3] वेदों में पुत्र-पौत्रों से भरपूर घर की कामना है।

पुत्री–वेदों में पुत्री का वर्णन भी जहां-तहां देखते हैं। वेद में अधिकतर पुत्रों की प्राप्ति की ही कामना की गई है। परिवार में पुत्री सौभाग्यदायिनी मानी जाती थी। वह पुत्रादि युक्त धन देने वाली साथ-साथ सुख देने वाली समझी जाती थी।[4] परिवार में पुत्री को सम्मानजनक स्थान दिया गया है। उसे सम्माननीय और शोभना के रूप में समादृत किया जाता था। वह यज्ञ में भाग लेती थी।[5] पुत्री युवावस्था तक ही पिता के घर में रहती थी। विवाहोपरान्त पति का घर ही उसका वास्तविक घर होता था।[6] पुत्रियों को बधूरूप में परिणत करने के लिए उदार शिक्षण की व्यवस्था थी। उन्हें ललितकला, काव्यकला, संगीत, नृत्य तथा अभिनय की अच्छी शिक्षा दी जाती थी। इसी उत्तम शिक्षा के परिणामस्वरूप वेदमन्त्रों का दर्शन करने वाली उन स्त्री-ऋषियों के दर्शन हमें ऋग्वेद के अनुशीलन उपलब्ध होते हैं। कक्षीवान की पत्नी घोषा का नाम इस प्रसंग में महत्त्वपूर्ण है। अथर्ववेद में कहा है कि ब्रह्मचर्य के द्वारा ही कन्या युवा पति को प्राप्त करती है।

भाई–पारिवारिक सदस्यों में भाई का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है। वैदिकयुग में भाई-भाई का पारस्परिक व्यावहारिक आदर्श स्थापित हो चुका था। वेदों में भाई का भाई से प्रेमभाव हितकर एवं सुखद माना जाता था। बन्धुत्वभावना प्राप्त करने वाले का अहित नहीं होता ऐसी मान्यता थी।[7] वेदों में बन्धुत्व की रक्षा की कामना की गई है।[8] उस काल में बन्धु अर्थात् भाई की हितकर छवि की भावना का विकास हो चुका था।[9] भाई के साथ भाई को द्वेष न करने का आदेश अथर्ववेद देता है। कहा है–

> **"मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।**
> **सम्यञ्च स व्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥**

1. ऋग्वेद, 10.7.85.45।
2. ऋग्वेद, 10.7.86.9।
3. ऋग्वेद, 10.6.70.6।
4. ऋग्वेद, 10.5.85.23।
5. ऋग्वेद, 10.6.70.6।
6. ऋग्वेद, 10.7.85.23।
7. ऋग्वेद 10.5.61.25।
8. ऋग्वेद, 10.5.64.13।
9. ऋग्वेद, 10.5.62.1।

बहिन–पारिवारिक सदस्यों की शृङ्खला में बहिन का सम्बन्ध अति मधुर कहा गया है। वेदमन्त्रों में बहिन का उल्लेख हुआ है। रात्री और उषा दो बहनों का निर्देश देखते हैं।[1] बहिन का बहिन से द्वेष न करने और परस्पर मधुर वाणी बोलने का आदेश दिया है।[2] बहिन-बहिन में परस्पर सहानुभूति की भावना होती थी।

परिवार में नैतिकता

वेदों में पारिवारिक सदस्यों की नैतिकता पर विशेष बल दिया गया है। पति, पत्नी, पुत्रादि के चरित्रवान, दानी, मंगल भावनायुक्त, सेवा भावना से ओतप्रोत होने की कामना की गई है। यज्ञ तपादि करने की भी याचना की गई है।

गृह और गृह सुख

परिवार के लिए गृह की आवश्यकता होती है। वैदिक काल में गृह एक प्रिय स्थान होता था। अतः उसकी रक्षा के लिए चिन्तित होना स्वाभाविक था। ऋषि ने गृह रक्षा तथा गृह सुख हेतु प्रार्थना करते हुए कहा है–"वस्तुओं के साथ इन्द्र हमारे गृह की रक्षा करे। आदित्यों के साथ अदिति हमें सुख दे। रुद्रपुत्र मरुतों के साथ रुद्र देव हमें सुखी रखे। पत्नी समेत त्वष्टा हमारा सुख बढ़ाए।"

पारिवारिक सद्भाव

किसी भी परिवार की समृद्धि तथा सम्पन्नता का मूलाधार पारिवारिक सदस्यों में निहित परस्पर प्रेम की भावना होती है। जहां परस्पर आत्मीयता, हितचिन्ता, सौमनस्य तथा सौहार्द्र होता है वहां ही स्वर्गिक सुख की उपलब्धि होती है। वेदों में पारिवारिक सुख के इस मूल-तत्त्व को गहराई तक समझ गया है और उसे दृढ़ करने का उपदेश दिया गया है। अथर्ववेद 3-30-5-1 में कहा गया है–"हे मनुष्यों मैं तुम्हारे अर्थ-विद्वेष भाव को हटाने वाला प्रीतिमय सौमनस्य कर्म करता हूं। तुम एक दूसरे से ऐसा प्रेम करो जैसे गो अपने सद्यः प्रसूत बछड़े से प्यार करती है।" यही भाव अथर्ववेद की 3-30-5-2; 3; 4, मंत्रों में भी देखा जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वेदों में हमें स्नेहसिक्त भाई बन्धुओं से परिपूर्ण, आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न, ईर्ष्या-द्वेष विहीन, सुन्दर सुरक्षित निवास स्थान युक्त परिवार की ऐसी झांकी मिलती है जो प्रत्येक युग के मानव का एक रमणीय स्वप्न हुआ करता है। इस तरह निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि वेदों में सुखी सम्पन्न तथा सर्वाङ्गीण पूर्ण परिवार के स्वरूप का निदर्शन उपलब्ध है।



---

1. ऋग्वेद. 10.127.3।
2. अथर्ववेद. 3.30।

महामहिला श्रीमति डॉ॰ वेद कुमारी घई : एक व्यक्तित्व

डॉ॰ गङ्गादत्त शास्त्री 'विनोद'

संस्कृत शिक्षा के क्षेत्र की जानी मानी सम्पन्न श्रीमती डॉ॰ वेद घई का नाम अत्यधिक चर्चित और विख्यात है। ऐसा सौभाग्य उसी को मिलता है, जिस में कुछ विशेषताएँ हों, अपने विषय से सम्बन्धित जन ख्याति तभी उपलब्ध हो सकती है, जब उसके द्वारा देश और समाज का कल्याण और उपकार दोनों हो सकें। ऐसी अवस्था में एक विद्वान् अपने विषय पूर्ण अधिकार रखते हुए उसका विधिवत् एवं कलात्मक वैज्ञानिक उपयोग करता है जिससे छात्रों का जीवन बनता है। समाज को सुन्दर संकेत तथा साधारण जनता को लाभ प्रेरणा दोनों मिलकर जीवन का एक सत्यमय मार्ग प्रशस्त हो जाता है, जिस पर जो चलता है वह उन्नति पा जाता है। ऐसे विद्वानों का जीवन सबके लिए प्रेरक होता है। डॉ॰ वेद घई का व्यक्तित्व भी इसी प्रकार का है। इन्होंने जीवन का क्षेत्र संस्कृत भाषा का पठन-पाठन और प्रचार प्रसार स्थिर किया। इनके जीवन के कई आयाम मैने देखे हैं। लगभग 60 वर्षों से मैं इन्हें देखता आया हूँ। सर्वप्रथम हमारा इस परिवार के साथ घरेलू सम्बन्ध था मेरी माता जी इनकी माता जी की सहेली थीं। उस समय मैं किशोरावस्था में था किन्तु वेद जी अत्यन्त छोटी उम्र में थीं। आगे चलकर उन्होंने स्कूल और कालेज की शिक्षा समाप्त की। एम. ए परीक्षा पास करके कालेज में संस्कृत प्राध्यापिका नियुक्त हुईं तब तक मैं भी कालेज के अध्यापक वर्ग में पहुँच चुका था। इसी बीच वे काशी हिन्दू विश्व विद्यालय में प्रवेश पा कर पी. एच.डी. की शोध छात्रा बन गईं। योग्यतापूर्व पी.एच.डी की उपाधि लेकर पुनः जम्मू आकर अपने पद पर विराजमान हो गईं।

इसी बीच इनके जीवन में एक नया परिवर्तन आया। जिसके अन्तर्गत राज्य के विश्व विद्यालय में संस्कृत विभाग खुला, जिसकी प्रथम अध्यक्ष का पद इन्हीं ने सुशोभित किया। इन्होंने इस नये विभाग की बागडोर अपने हाथ लेकर प्रशासन चातुर्य से उसे बहुत अग्रसर किया। छात्रों की संख्या बढ़ती ही चली गई। डॉ॰ घई का प्रशासन जिसके अन्तर्गत विभाग में अनुशासन अपना वास्तविक रूप लेकर कायम था। कार्यालय और कक्षाओं में पूर्ण शान्ति से कार्य हो रहा था। आज के समय में स्कूल, कालेजों और विश्वविद्यालय के छात्रों की कक्षाओं में अनुशासन का प्रश्न उठता ही रहता है किन्तु इस विभाग में ऐसा प्रश्न नहीं था। छात्र और छात्राएँ पूर्ण अनुशासन में थीं। अध्ययन-अध्यापन दोनों अच्छे चल रहे थे। प्राध्यापक भी सद्भावना और अनुकूलता के बातावरण में कार्य कर रहे थे। वास्तव में इस संस्कृत विभाग की यह शान्ति और नियम बद्धता तथा सुन्दर अनुशासन का केन्द्रबिन्दु एक मात्र इस विभाग की अध्यक्ष डॉ॰ वेद घई ही थीं।

सदाचार, सादगी, सरल और आदर्श जीवन ही मनुष्य को उज्ज्वल व्यक्तित्व देते हैं। इस प्रकार के व्यक्तित्व वाला व्यक्ति किसी भी विभाग का प्रधान बन कर अपने आकर्षक प्रभाव से अनायास ही अनुशासन स्थापित करने में सक्षम हो जाता है। इस का उदाहरण संस्कृत विभाग की अध्यक्षा डॉ॰ वेद अपने सात्विक तथा आकर्षक व्यक्तित्व द्वारा प्रस्तुत कर रही थीं, ऐसा मैंने अनुभव किया था। मैं समझ गया था कि इस विदुषी में कुछ विशेष गुण हैं जिनके द्वारा यह अध्यापन एवं प्रशासन में सफल हो कर जनप्रिय बन सकी हैं।

यह समय 1867 का था जब मन में पी.एच.डी करने की भावना जगी। इस पर मैंने विचार किया और प्रयत्न करने पर जम्मू विश्वविद्यालय में मुझे पी.एच.डी. के अनुसन्धान की स्वीकृति मिल गई। मेरा विषय संस्कृत से सम्बन्धित था। पुन: इस संस्कृत विभाग की अध्यक्षा डा. वेद जी के दिशा निर्देशन में मुझे यह अनुसन्धान कार्य करना पड़ा, जो मेरे लिए काफी अनुकूल और प्रशस्त था। अब मुझे डॉ॰ वेद के सम्पर्क में दो वर्षों तक रहने का अवसर मिल गया था। इस अवधि में इन दो वर्षों में अनुसन्धान सम्बन्धी टेक्नीक और दिशा निर्देश के जो विशेष गुर मैंने इन से प्राप्त किये वे मेरे लिए जीवन की अच्छी उपलब्धि थी। इन के निर्देशन में गंभीरता, वैज्ञानिकता और वस्तु के मूल तक पहुँचने की अद्भुत कला मैंने देखी। किसी भी अनुसन्धानिक तत्त्व पर गहराई से विचार उसकी पूर्णता पर गंभीर चिन्तन द्वारा नये नये तथ्यों का अविष्कार करना और उन्हें समझाना इन की अनुसान्धानिक निर्देशन की विशेषता मैंने देखी। विषय को केवल ऊपर की सतह तक ही विचार करके समझा देना इनकी दृष्टि में अपूर्ण है। ये विषय की तह तक पहुँचने के बाद जो निष्कर्ष उपलब्ध होता है वही अनुसन्धान की सार वस्तु यह मानती हैं। इसी दृष्टि कोण और वैज्ञानिक प्रक्रिया के अन्तर्गत मुझे निर्देशन देती थीं जो मेरे लिये एक नवीन उपलब्धि थी। वास्तव में डॉ॰ वेद अपने ज्ञान और विद्वता को व्यावहारिक पक्ष से जोड़ कर उससे काम लेती हैं जिसके बारे में कहा गया है 'यस्तु क्रियावान् स गुणी स विद्वान्' यानी जिसको कार्य करने की व्यावहारिक क्रिया आती हो, वही गुणी और विद्वान् होता है। डॉ॰ वेद सफल लेखिका भी हैं। इनकी अनेक पुस्तकें छपी हैं। कुछ सम्पादित हैं और शोधपत्र तो पचासों लिखे और छपे हैं। लेख भी विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में पर्याप्त छपे हैं। ये डंन्मार्क में दो तीन वर्ष रहकर भाषा विज्ञान की शिक्षा भी प्राप्त कर आई हैं। राष्ट्रपति अवार्ड से विभूषित होकर अन्य सरकारी और गैर सरकारी सम्मान भी उन्होंने अपनी योग्यता अनुसार प्राप्त किये हुए हैं। इनके व्यक्तित्व के बारे में और भी बहुत कुछ लिखा जा सकता है। ऐसी महामहिला को मैं अपना सम्मान और सद्भावनाएँ समर्पित करता हूँ। डॉ॰ वेद कुमारी घई समाज सेवा में भी समय देती हैं जो उन की अलग विशेषता दर्शाता है।



चिकित्सा शास्त्र को भेल संहिता की एक मौलिक देन

डॉ॰ प्रभात कुमार

आधुनिक पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान में विलियम हार्वे को 1628 ईश्वी में हृदय से शरीर में रक्त परिभ्रमण का सर्वप्रथम ज्ञाता[1] कहा जाता है जिसने पशुओं पर परीक्षण कर तथा कथित हृदय के रक्त प्रक्षेपण का ज्ञान सर्वप्रथम पाश्चात्य जगत को दिया। परन्तु अत्यन्त खेद का विषय है कि आचार्य भेल द्वारा ईसा से पर्याप्त पूर्व काल में हृदय से धमनियों द्वारा सम्पूर्ण शरीर में रक्त प्रक्षेपण तथा पुनः शिराओं के माध्यम से हृदय में रक्त के प्रत्यावर्त्तन का ज्ञान उनके विलियम हार्वे के प्रति पक्षपात पूर्ण व्यवहार को नहीं बदल पा रहा। विलियम हार्वे से पूर्व पाश्चात्य चिकित्सा पण्डित यह मानते थे कि रक्त का संचार केवल धमनियों में ऊपर नीचे होता है।[2]

परन्तु भेलाचार्य ने अपनी वैज्ञानिक शोधों से परिपूर्ण कृति में हृदय की स्थिति, आकार, वर्ण, कार्यप्रणाली तथा उससे सम्बद्ध धमनियों द्वारा रक्त के धातु पोषक आहार रस का सम्पूर्ण शरीर में प्रक्षेपण तथा शिराओं द्वारा उसका पुनः हृदय में प्रत्यावर्त्तन सरल एवं स्पष्ट शब्दों में चित्रित किया है। इतना ही नहीं, दिन में कार्य करते समय तथा रात्रि में विश्राम के क्षणों में हृदय पर कार्य-भार विषयक सूचना भी स्पष्ट एवं सुबोध रूप में प्रदान की है। यहाँ आचार्य भेल लिखते हैं कि हृदय एक है और चेतनायतन है तथा कोष्ठ में स्थित है। इसका वर्ण तथा आकार कमल अथवा जलकुम्भि सदृश होता है। जैसे कमल रात्रि में संकुचित (मुँद) जाता है और दिन में विकसित (खिल) हो जाता है, इसी प्रकार हृदय भी स्वप्नावस्था में (अधिक रक्त फैंकने का कार्य न करने से) संकुचित हो जाता है तथा जागृत अवस्था (अधिक रक्त प्रक्षेपण का कार्य होने से) में विवृत हो जाता है। हृदय में एक चक्र में प्राण का स्थान है, जैसे कि विमान में कर्णिका होती है अथवा बीज में पुष्पकोष होता है। इसलिए मर्माभिद्यात को इस हृदय द्वारा ही प्राणी सहता है। कोष्ठ के ऊर्ध्व भाग में हृदय स्थित है, उसमें दश धमनियाँ निबद्ध हैं जिनमें से चार ऊपर को, दो तिर्यक और चार की क्रम से नीचे की ओर गति है। इन (धमनियों) से दाएं-बाएं अनेक प्रकार की मूलशिराएं हैं और उनसे भी अनेक शिराएं निकली हैं। इसलिए उनके सम्बन्ध में यह विज्ञान ऊर्ध्व

1. Stedmens Medical Dictionary Page-703 willium Harvey, English Physician, 1578-1657. The discoverer of the circulation of the blood. The book announcing the discovery was entiled Anatomical Exercises on the Motion of the Heart and Blood in Animals, Published in Frankfort in 1628.
2. श्री जयचन्द्र विद्यालंकार-भारतीय वाङ्मय के अमररत्न, पृष्ठ-57

दशमूलीय कहा जा रहा है। हृदय से रस (धमनियों के माध्यम से शरीर धातु पोषक रस) निकलता है और उसी से आगे सारे शरीर में फैलता है, और पुनः शिराओं से हृदय में लौट आता है।[1]

सर्व प्रकार की बुद्धियों का कारण चित्र हृदय में रहता है।[2]

कुछ विद्वानों का मत है कि सुश्रुत ने हृदय सम्बन्धी सूचनाएं भेल से ली हैं।[3]

आचार्य भेल का हृदय की रचना, क्रिया तथा रोगों के इससे सम्बन्धित प्रकरणों को देखने से इनके शरीर विषयक गम्भीर क्रियात्मक ज्ञान की सूचना मिलती है। जिसे स्वयं को वैज्ञानिक अनुसन्धाता कहने वाले आधुनिक पाश्चात्य विद्वान अविकल रूप में अपने अनुसन्धानों के परिणामों को प्रत्यक्ष देखने के पश्चात् स्वीकार करने लगे हैं।



---

1. मे. सू. 1011-6
   अथातां ऊर्ध्व (अर्थ) दशमूलीयं व्याख्यास्याम इति हस्माह भगवानात्रेयः।
   हृदयं धमन्यश्च-
   ऊर्ध्व (पाठान्तर अर्थ) इत्याह हृदयं तस्मिन् धमनयोदश।
   ऊर्ध्व चतस्रो द्वे तिर्यक् चतस्रश्चाप्यधः क्रमात्।।1।।
   ताम्योमूलंसिरास्त्रिर्यग्विद्यत्ते नैकधा शिराः।
   तस्मात्तदर्थं विज्ञान स्मृति योगं च मानसम्।।2।।
   हृदो रसो निःस्सरति तस्मादेतिच सर्वशः।
   सिरामि हृदयं वैतितस्मात् तत्प्रभवाश्शिराः।।3।।
   हृदि प्राणाश्च चक्रस्थाः विमाने कर्णिका यथा।
   मर्माभिद्यातं तेनात्र सहते हृदयेन तु।।4।।
   पुण्डरीकस्य संस्थानं कुम्भिकायाः फलस्यच।
   एतयोरेव वर्णं च विभर्त्ति हृदयं नृणाम्।।5।।
   यथा हि संवृत पदम रात्रावहनि पुष्यति।
   हृत्तथा संवृंत स्वप्ने विवृतं जाग्रतः स्मृतम्।।6।।
2. भेचि. 8/4 कारणं सर्वबुद्धीनां चित्तं हृदय संश्रितम्।।
3. अभिदेव- आयुर्वेदका बृहत् इतिहास, पृ. - 178.

शब्द

डॉ. भरत भूषण शर्मा

शब्द का मूल अर्थ ध्वनि है। इसकी व्युत्पत्ति के विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं। अधिक प्रचलित मत के अनुसार शब्द को 'शब्द' धातु से ही (शब्द+घञ्) व्युत्पन्न माना जाता है। जिसका अर्थ 'शब्द करना' 'ध्वनि करना' या 'बोलना' है। अंग्रेजी शब्द Word, डच् Word, जर्मन Wort, गोथिक Waurd, आइसलैंडिक Ortho, लैटिन Verbeem का अर्थ भी बोलना या ध्वनि करना है। अरबी लफ्ज़ भी मूलता 'मुँह से फैंका हुआ' या 'ध्वनि किया हुआ' बोला हुआ है। इस प्रकार शब्द के विभिन्न भाषाओं में प्राप्त पर्याय भी मूलतः एक दूसरे से बहुत दूर नहीं हैं।

विश्व की सभी भाषाओं के अनुसार 'शब्द' को पूर्णरूपेण परिभाषित करना प्रायः असम्भव है। येस्पर्शन, वेन्द्रिय डैनियल जोन्स तथा उल्डल आदि ने इस असमर्थता को स्पष्टतः स्वीकार किया है। इस के अतिरिक्त भी 'शब्द' की अनेक परिभाषाएं मिलती हैं-

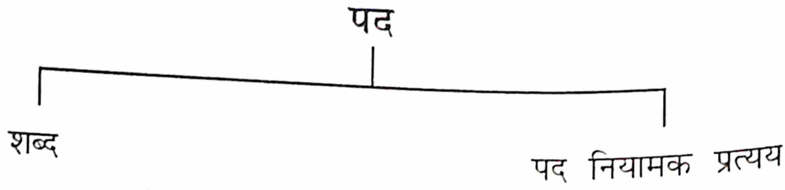
पतंजलि के अनुसार 'श्रोत्रोपलब्धिबुद्धिनिग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलितः आकाशदेशः शब्दः। अर्थात् शब्द कान से प्राप्य, बुद्धि से ग्राह्य प्रयोग से प्रस्फुरित होने वाली आकाशव्यापी ध्वनि है। महाभाष्यकर ने एक अन्य स्थान पर कहा है 'प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिशब्दः।' अर्थात् वह ध्वनि जिससे व्यवहार या लोक में पद के अर्थ की प्रतीति हो शब्द है। भोजराज ने शब्द के सम्बन्ध में शृंगार प्रकाश में उल्लेख किया है कि 'येनोच्चारितेन अर्थः प्रतीयते सः शब्दः' अर्थात् जिसके उच्चारण से अर्थ की प्रतीति हो वह (ध्वनि) शब्द है।

पश्चिम में भी इस दृष्टि से काफी प्रयास हुए हैं, ''पामर शब्द को ऐसी लघुतम भाषिक इकाई मानते हैं जो एक पूर्ण उच्चार के रूप में काम कर सके। उल्मैन इसे भाषा की लघुतम महत्त्वपूर्ण इकाई कहते हैं।' एनटिवसल शब्द को 'विचार और अर्थ को स्वतन्त्र इकाई मानने के पक्ष में हैं।' मेये इसे 'अर्थ और ध्वनिसमूह का ऐस योग मानते हैं जिसका व्याकरणिक प्रयोग हो सके।' ब्लूमफील्ड इसे 'भाषा का लघुतम मुक्त रूप कहते हैं।' रार्बट्रसन और कैसिडी 'शब्द को वाक्य में लघुतम स्वतंत्र इकाई मानते हैं।' स्वीट ने शब्द को लघुतम आर्थिक इकाई स्वीकार किया है।' अन्य अनेक विद्वानों ने भी इससे मिलती-जुलती बातें कही हैं।

शब्द भाषिक का महत्त्वपूर्ण आधार है। जिस पर भाषा रूपी भवन का निर्माण हुआ है। भारतीय तथा पाश्चात्य भाषा चिन्तन परम्परा शब्द/वर्ड को समान रूप से व्याकरणिक इकाई मानती है। हिन्दी आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं में शब्द के लिए अंग्रेजी शब्द वर्ड को ही सामान्यतः प्रयोग में लाया जाता है। इन दोनों शब्दों के मूल में निहित वर्तमान सैद्धान्तिक अथवा तात्विक अन्तर

भूला दिया जाता है। यद्यपि संस्कृत व्याकरण में भाषा का सम्पूर्ण विश्लेषण और वर्णन वर्ण पद और वाक्य के रूप में ही हुआ है। किन्तु सम्पूर्ण भाषा विवरण को व्याकरण के साथ-साथ शब्दानुशासन और शब्दोपदेश भी कहा गया है। निश्चित ही यहाँ शब्द का अर्थ वर्ड नहीं हो सकता। आधुनिक अर्थ में शब्द वाक्य भी हो सकता है और मात्र शब्द भी अर्थात् भारतीय व्याकरणिक परम्परा में शब्द अपेक्षाकृत व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अतः उसे अंग्रेजी के वर्ड का पर्याय नहीं माना जा सकता है।

आधुनिक भाषाविदों ने प्रोक्ति को भाषा की सबसे बड़ी इकाई माना है, सम्प्रेषण की सबसे छोटी इकाई वाक्य को स्वीकार किया है और किसी भाषा विशेष की सबसे छोटी सार्थक इकाई को रूपिम कहा है। आधुनिक भाषावैज्ञनिकों के मत में पद से छोटी इकाई शब्द है। पद को खण्डित करने पर दो प्रकार के भाषिक तत्त्व उपलब्ध होते हैं:-



पद से नियामक प्रत्ययों को हटाने के बाद जो अंश शेष रहता है। उसे शब्द कह सकते हैं। अर्थ की दृष्टि से पद में जो प्रयोजन सापेक्षता और तदनुकूल रूप विकृति अथवा सक्रियता का गुण होता है वह शब्द में नहीं होता। दूसरे शब्दों में पद की जो प्रकार्यात्मक पहचान होती हैं, वह शब्द की नहीं होती। संरचनात्मक वंशानुक्रम की दृष्टि से पद एक संचरना है, शब्द उसका संरचक, पद समावेशी है, शब्द समाविष्ट।

दूसरी ओर शब्द रूपिम से बड़ी इकाई है। रूपिम शब्द के संरचक हो सकते हैं, शब्द में समाविष्ट हो सकते हैं। रूपिमों के संयोग से शब्द बनते हैं, अतः शब्द व्युत्पाद्य है और रूपिम व्युत्पादन के आधार। जो आधार है वह सीमित एवं निश्चित होता है और जो व्युत्पाद्य होता है वह विस्तृत एवं अनिश्चित। इस दृष्टि से रूपिम मूल है, गणनीय है। इनकी तुलना में शब्द मूल+ 'कुछ और' तथा अगणनीय। रूपिम का संरचनात्मक स्वरूप, वर्ग तथा अर्थ संदर्भ प्रतीक की सीमा तक सीमित और सामान्य रहता है। शब्द का अर्थ सन्दर्भ प्रयोजनों से संयुक्त होता है अतः विशिष्ट होता है। शब्द के रूप में व्युत्पन्न होकर ही कोई रूपिम अनेकानेक चायन सन्दर्भों से संयुक्त हो सकता है। वह व्युत्पादकता ही भाषा में प्राप्त अपरिमेय सामर्थ्य का मूल कारण है। उदाहरण के लिए हम व्यक्तिवाचक संज्ञा रूपिम 'तिल' को ले सकते हैं, जो एक विशेष फल के दाने का प्रतीक है:-

तिल

तेल	तिलहन	तेली	तेलिन
द्रव, हर प्रकार का तेल, तिल, मिट्टी, सरसों अलसी, लौंग मछली आदि का तेल	तेल निकालने के लिए जिन दानों/फसलों का प्रयोग होता है। मछली लवंग मिट्टी, नारियल आदि नहीं।	एक जाति/मानव पुरुष, जो तेल निकालने बेचने का व्यवसाय करता है।	तेलिन तेली की पत्नी किन्तु पुत्री नहीं स्त्री वैवाहिक सम्बन्ध से बनी जाति
संज्ञा शब्द-१	संज्ञा शब्द-२	संज्ञा शब्द-३	संज्ञा शब्द-३

शब्द रूप में व्युत्पादित होते समय रूपिम गुणों में होने वाले परिवर्तनों को मुख्यत: दो रूपों में विवेचित किया जा सकता है।

शब्द व्युत्पादन के समय होने वाले परिवर्तन

अर्थगत परिवर्तन

रूपगत परिवर्तन कहीं होता है, कहीं नहीं होता

प्रतीकगत परिवर्तन	वर्गगत परिवर्तन
यह प्रत्येक शब्द के व्युत्पादन के समय निश्चित रूप से होता है।	यह शब्द व्युत्पादन के कुछ पंसगों में होता है कुछ में नहीं।

लड़का-लड़की

लड़का-लड़कपन

लड़का-लड़कोरी

अर्थगत परिवर्तन को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है-

प्रतीकगत गुण

रूपिम		अव्यस्कता	पुरुष
शब्द	लड़का		×
शब्द २	लड़की	√	×
	लड़कपन	√	

वर्गगत गुण

एक	मूर्त	संज्ञा	जाति	प्राणी	मानव
√	√	√	√	√	√
×	×	√	×	×	√

(x=नहीं, √=है)

यह स्पष्टीकरण शब्द व्युत्पादक तत्त्वों के वर्गीकरण एवं प्रभाव के निर्धारण में सहायक होगा।

रूपात्मक परिवर्तन

शब्द रचनास्तर	पदरचना स्तर
लड़का+पन=लड़कपन	लड़की+आँ=लड़कियाँ
इच्छा+इक=ऐच्छिक	बेच+ऑ=बिक
पानी+घट=पनघट	ग+आ=गया

रचनात्मक दृष्टि से शब्द को मुख्य रूपेण दो वर्गों में रखकर विवेचित किया जाता है।

शब्द

सरल

(रूढ़)

मुक्त रूपिम का शब्दवत् प्रयोग

यौगिक

बद्ध योग | मुक्त योग

सामान्यार्थी	विशिष्टार्थी
लेखक	जलज, अनंग
सामान्यार्थी	विशिष्टार्थी
(यौगिक-2)	(योगरूढ़-2)
रात-दिन	दशानन

उपसर्गयोग या प्रत्ययित

मुक्त रूपिम में किसी बद्ध रूप का संयोग

सामासिक

मुक्त रूपिम में अन्य मुक्त रूप का योग

इनमें से सरल शब्द वस्तुतः रूपिम ही होते हैं, जिसमें शब्द निर्माता शून्य प्रत्यय जुड़ा होता है। यौगिक शब्दों का निर्माण रूपिम/रूप संयोगों के द्वारा किया जाता है।

संगणीय-संस्कृत शोध और सॉफ़्टवेयर निर्माण की रूपरेखा

डॉ॰ गिरीश नाथ झा, दिवाकर मिश्र

संस्कृत के अध्ययन और विकास का एक नवीन परिप्रेक्ष्य है संगणकीय संस्कृत, जो अभी विकास की प्रारम्भिक अवस्था में है और इसमें बहुत कुछ किया जाना शेष है। भारत में तथा इस देश के बाहर इस क्षेत्र में शोध और विकास के अनेक केन्द्र हैं। भारत में स्थित केन्द्रों में प्रमुख हैं–राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, IIIT हैदराबाद, IIT कानपुर, IIT मुंबई, प्रगत संगणन विकास केन्द्र (CDAC), विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली; संस्कृत अध्ययन विभाग, हैदराबाद विश्वविद्यालय; एकेडमी फॉर संस्कृत रिसर्च, मलकोटे इत्यादि।

संगणकीय संस्कृत केवल संस्कृत के अध्ययन की आधुनिक विद्या नहीं है, यह संस्कृत और संगणक विज्ञान, दोनों के आपसी लाभ का क्षेत्र है। जहाँ व्याकरण, न्याय, मीमांसा के सिद्धान्तों पर शोधा संगणक के मानवीय व्यवहार के विकास में लाभकार होंगे, वहीं संस्कृत वाङ्मय में निहित ज्ञान विज्ञान के रक्षण तथा प्रचार-प्रसार में संगणक बड़ा ही उपादेय है। संस्कृत हेतु ई-मेल-लर्निंग में भी इसकी भूमिका उपादेय है।

व्याकरण के सिद्धान्तों तथा पाणिनीय तकनीक को संगणकीय तथा माननीय व्यवहार के बीच की कड़ी के रूप में देखा गया है। न्याय-वैशेषिक के सिद्धान्त अर्थ की मशीनगम्य व्याख्या की तकनीक के विकास में बड़ा योग कर सकते हैं। मीमांसा को वाक्यशास्त्र भी कहा जाता है। जब कई अर्थ उपस्थित हों तो किस प्रकार सही अर्थ का चयन किया जाना चाहिए, यह मीमांसा के सिद्धान्त बताते हैं। मीमांसा की यह तकनीक संगणक में अर्थ सम्बन्धी सन्देह निवारण के लिए अपनाई जा सकती है। प्रोग्रामिंग भाषा के लिए आवश्यक है कि एक प्रकार से कहे हुए कथन का एक ही अर्थ हो, नव्यन्याय ने संस्कृत भाषा में ही ऐसा भाषा प्रकार विकसित किया है जिसमें किसी भी अभिव्यक्ति का एक निश्चित तरीका है। यद्यपि हम इन विज्ञानों को यथावत् संगणक के लिए नहीं अपना सकते, फिर भी इनमें संगणकीय दृष्टि से शोध तथा परिवर्तन करके अपना सकते हैं, और वहीं इस विज्ञान में शोध और विकास की अपार सम्भावनाएँ हैं।

संगणक का संस्कृत के प्रति सम्भव योगदान भी बहुत है। संस्कृत का विपुल साहित्य अभी अप्रकाशित अवस्था में है। उसे अन्तर्जाल पर कम लागत में प्रकाशित भी किया जा सकता है तथा शीघ्र ही वह कई पाठकों तक पहुँच सकता है। मशीनी अनुवाद संस्कृत के अध्ययन को सुगम बनाएगा। इस मशीनी अनुवाद के लिए भी छोटे-छोटे आनुषंगिक उपकरण विकसित करने होंगे,

जैसे, द्वैभाषिक शब्दकोष, व्याकरणिक शब्दकोष, संज्ञापद विश्लेषक, क्रियापद विश्लेषक, सन्धि-विच्छेदक, समास-विग्राहक, व्युतदन विश्लेषक, कारक-निर्धारक, वाक्य विश्लेषक, अर्थवैज्ञानिक निरूपण, वर्तनी शोधक आदि। जिस भाषा में अनुवाद करना है, उस भाषा में इन्हीं उपकरणों के समकक्ष संश्लेषक उपकरण भी विकसित करने होंगे। संस्कृत के लिए कई यूरोपीय भाषाओं की तुलना में बहुत कम कार्य हुआ है। इस प्रकार इस क्षेत्र में शोध और विकास की प्रचुर सम्भावनाएँ हैं तथा आवश्यकता भी है। संस्कृत के महत्वपूर्ण ग्रन्थों की ऑनलाइन अनुक्रमणियाँ शोधार्थियों के लिए उपयोगी होंगी। संस्कृत ई-लनिंग में भी विभिन्न प्रकार व स्तर के जिज्ञासुओं के लिए विकास करने की आवश्यकता है। यह संगणकीय संस्कृत का विशाल क्षेत्र है।

संगणकीय संस्कृत में जो शोध और विकास कार्य विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र में हो चुके हैं, वे http://sanskrit.jnu.ac.in/ पर उपलब्ध हैं। इन कार्यों के अतिरिक्त अन्य कार्य भी जो किए जा रहे हैं, उनका भी परिचय इसी पत्र में संक्षेप में दिया जाएगा। पहले जो भाषा-तकनीकी उपकरण बन चुके हैं और ऑनलाइन हो चुके हैं, उनका परिचय दिया जा रहा है।

ऑनलाइन बहुभाषीय अमरकोश (OMA) का विकास विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा पोषित परियोजना (UPOE) के अन्तर्गत किया गया है। इस परियोजना ने संस्कृत केन्द्र में संगणकीय संस्कृत शोध प्रयोगशाला के निर्माण में सहयोग दिया। अमरसिंह द्वारा चतुर्थ शताब्दी में रचित अमरकोश कोशशास्त्र में वैसा ही महत्वपूर्ण स्थान रखता है जैसा पाणिनीय व्याकरण का व्याकरणशास्त्र में है। अमरकोश को डिजिटल रूप में रखने और प्रसारित करने के प्रयास तो हुए हैं, परन्तु ऐसा यूनीकोड आधारित डेटाबेस बनाने का प्रयास सामने नहीं आया है जो उपयोक्ता को खोजने की सुविधा भी देता हो और प्रत्येक शब्द के लिए उचित जानकारी भी देता हो। ऑनलाइन, बहुभाषीय अमरकोश में यह सुविधा है कि प्रयोक्ता संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, पंजाबी, उड़िया, बंगाली, कन्नड़ मूलशब्द और संस्कृत पर्यायवाची शब्द के आधार पर किसी भी शब्द को खोज सकते हैं जो अमरकोश में है। खोज के परिणाम में यह मूल संस्कृत शब्द, उसके हिन्दी, अंग्रेजी, बंगाली, उड़िया, पंजाबी, कन्नड़ अनुवाद तथा अमरकोश में दिए हुए संस्कृत पर्यायवाची, प्रत्येक शब्द के अध्याय, वर्ग, लिंग और वचन की सूचना देता है। इसका प्रयोग करने के लिए अमरकोश के मुखपृष्ठ पर जाकर 'View Data (डेटा-चित्रण) लिंक पर जाएँ। फिर सर्च बॉक्स में खोजने के लिए शब्द टाईप करके और सर्च का प्रकार चुनकर Search बटन पर क्लिक् किया जा सकता है। उस पृष्ठ पर खोजने की वैकल्पिक व्यवस्था भी है। सर्च बॉक्स से नीचे दिए हुए ड्रॉप डाउन बॉक्स से स्वर्ग आदि वर्ग को चुनकर उसके नीचे की बटन पर क्लिक् करें, फिर उस वर्ग से मूलशब्द ड्रॉप डाउन बॉक्स में से चयन करें, फिर उसके नीचे की बटन पर क्लिक् करें। अब खोजे गए शब्द की विस्तृत जानकारी दी गई भाषाओं में अनुवाद सहित उस पृष्ठ पर आ जाएगी। पर्यायवाचियों के लिंग और वचन की सूचना भी देखनी हो तो पर्यायवाचियों पर क्लिक् करके देखा जा सकता है। इसमें ऑनलाइन डेटा सम्पादन तथा नया डेटा जोड़ने की भी सुविधा है जो केवल

अधिकृत व्यक्ति ही कर सकते हैं। दूसरा उपकरण है **संस्कृत शब्दवर्ग अंकक (Sanskrit POS Tagger)** जो केन्द्र के छात्र डॉ. रामास्वामी चन्द्रशेखर के पी.एच.डी. शोध के आधार पर विकसित किया गया है। यह उपकरण शब्दों की विभक्तियाँ को पहचान कर उनके शब्दवर्ग के साथ अंकित कर देता है। इसमें विकसित किए गए टैगसेट में 143 टैग हैं। इसमें टैगिंग के लिये एक शब्द या वाक्य ही नहीं बड़ी मात्रा में लिखित सामग्री दी जा सकती है। यह एक सर्वर आधारित ऑनलाइन उपकरण है जिसमें मुखभाग JSP में तथा पृष्ठभाग MS-SQL डेटाबेस सिस्टम (प्रणाली) में बना है। प्रोग्रामिंग भाग जावा में किया गया है। यह कुछ ही समय में परिणाम दे देता है। सम्बन्धित शोध-विवरण (Thesis) भी वेबसाइट पर उपलब्ध है। इसे प्रयोग करने के लिए टेक्स्ट-एरिया में देवनागरी संस्कृत पाठ्य टाइप करें अथवा पहले से टाइप किसी पाठ्य को उसमें कॉपी कर दें, फिर नीचे दी हुई बटन को क्लिक् करें। परिणाम उसी के नीचे आ जाएगा। जिस शब्द के एक से अधिक परिणाम प्राप्त होते हैं या कोई परिणाम नहीं प्राप्त होता है, उन्हें भी सूचित कर दिया जाता है। संदेह निवारण के लिए किन-किन उपायों को अपनाया गया है, यह विस्तार से शोध-विवरण (Thesis) में देखा जा सकता है।

तीसरा उपकरण है **संस्कृत सुबन्त विश्लेषक (Sanskrit Subanta Analyzer)**। यह केन्द्र के छात्र सुभाष के एम.फिल. शोध के आधार पर विकसित किया गया है। यह देवनागरी संस्कृत पाठ्य को लेकर उसमें मिलने वाले सुबन्त पदों का प्रकृति-प्रत्यय-विभाग कर देता है। क्रिया-पदों को VERB, अव्ययों को AVYAYA तथा जिन्हें सुबन्त के रूप में पहचाना है परन्तु उनका परिणाम नहीं दे सकता है, उन्हें SUBANTA से अंकित कर देता है। यह भी पूर्वोक्त उपकरण के समान सर्वर आधारित ऑनलाइन उपकरण है जिसमें मुखभाग JSP में तथा पृष्ठभाग MS-SQL डेटाबेस सिस्टम में बना है और प्रोग्रामिंग भाग जावा में किया गया है। इसमें भी एक पद या वाक्य ही नहीं पूरा पाठ्य इकट्ठे दे सकते हैं। इनपुट पाठ्य मिलने पर सबसे पहले यह क्रियारूपों के डेटाबेस से पहचान करके क्रिया-पदों को अलग करता है। फिर अव्ययों की सूची से अव्ययों को अलग करता है। इसके पश्चात् सभी शेष शब्दों को सुबन्त के रूप में पहचानता है। इनके प्रकृति-प्रत्यय-विभाग के लिए यह दो पद्धतियों को क्रमशः अपनाता है- पहले उदाहरण-डेटाबेस (example-base) बाद में नियम डेटाबेस (rule-base)। इससे सम्बन्धित शोध-विवरण (dissertation) भी वेबसाइट पर उपलब्ध है।

अगला उपकरण है **तिङन्त-विश्लेषक (Sanskrit Verb Analyzer)**। यह केन्द्र छात्र मुक्तानन्द अग्रवाल के एम.फिल. शोध के आधार पर विकसित किया गया है। यह देवनागरी संस्कृत पाठ्य को लेकर उसमें स तिङन्त पदों का विश्लेषण करता है। यह पूर्वोक्त दोनों कार्यों के समान सर्वर आधारित ऑनलाइन उपकरण है जिसमें मुखभाग JSP में तथा पृष्ठभाग MS-SQL डेटाबेस सिस्टम में बना है और प्रोग्रामिंग भाग जावा में किया गया है। यह दो पद्धतियों से कार्य करता है। मूल धातु के रूपों का परिणाम धातुरूप डेटाबेस से लाकर देता है तथा शेष व्युत्पन्न रूपों का विश्लेषण करने के लिए नियम पद्धति का प्रयोग करता है। इसमें भी कई वाक्यों को एक साथ

दिया जा सकता है। परिणाम में यह एक पंक्ति में एक शब्द का परिणाम देता है। वर्तमान दशा में इस उपकरण के लिए आवश्यक है कि क्रियापद स्वतन्त्र अर्थात् सन्धिरहित हो। अर्थात् यह सन्धि रहित यूनीकोड देवनागरी संस्कृत पाठ्य का तिङन्त विश्लेषण करने में समर्थ हैं।

अगला कार्य **कारक विश्लेषक (Sanskrit Karaka Analyzer)** है जो केन्द्र के छात्र सुधीर कुमार मिश्र के पी.एच.डी. शोध के आधार पर आंशिक रूप से विकसित किया गया है। यह भी सर्वर आधारित ऑनलाइन उपकरण है जो Java-SQL server में बना है। यह उपकरण भी संस्कृत यूनीकोड देवनागरी पाठ्य लेता है और सुबन्त पदों का कारक निर्धारित करता है। एक ही विभक्ति में एक से अधिक कारक हो सकते हैं तथा एक ही कारक अनेक विभक्तियों में व्यक्त हो सकता है। उसके परिवेश का परीक्षण करके उसके कारक का निर्धारण करना इसका कार्य है। यह मानकर चलता है कि सुबन्त पदों का विभक्ति-विश्लेषण हो चुका है, फिर उसकी विभक्ति के आधार पर कारके के नियमों को लगाकर उसका सही कारक निर्धारित किया जाता है। यहाँ यह भी स्पष्ट करना उचित है कि कारक-विश्लेषक तथा शब्दवर्ग-अंकक (POS Tagger) के कार्य भिन्न हैं। कारक किसी पद की वाक्य में भूमिका बताता है जबकि शब्दवर्ग शब्द की अपनी प्रकृति पर निर्भर है।

अगला उपकरण **सन्धि-विश्लेषक (Sandhi Analyzer)** है जो केन्द्र के छात्र सचिन कुमार के एम.फिल. शोध पर आधारित आंशिक रूप से विकसित सिस्टम है। इसमें भी देवनागरी संस्कृत पाठ्य इनपुट के रूप में लिया जाता है। यह भी सर्वर आधारित ऑनलाइन उपकरण है। यह कार्य बड़ा चुनौतीपूर्ण है क्योंकि इसमें अर्थ की भी सहायता लेनी पड़ती है। किसी शब्द में कौन-कौन से सन्धि की सम्भावना वाले स्थान हैं, इसके लिए तो एक डेटाबेस बनाकर तैयार किया जा सकता है। कितने शब्द जुड़े हैं, कौन-सा शब्द सार्थक है, उसे कहाँ से अलग करना है, इन सबके लिए एक समृद्ध शब्दकोश की आवश्यकता होती है। और शब्दकोश प्रायः मूल शब्दों से युक्त होते हैं। किसी भी शब्द के सभी रूपों का संग्रह कर पाना असम्भव है। जबकि सन्धि प्रातिपदकों और रूपों सभी की होती है। यह केवल स्वर सन्धि का विच्छेद करने का प्रयास है।

केन्द्र की छात्रा मंजी भद्र द्वारा एम.फिल. शोध पर आधारित आंशिक रूप से विकसित सिस्टम है जो संस्कृत पाठ्य में शब्दों के लिंग की पहचान करता है तथा यह भी सूचित करता है कि हिन्दी में अनुवाद करने के लिए इसमें केसा परिवर्तन होगा तथा क्रिया का लिंग क्या होगा। यह अन्य सभी उपकरणों के समान यूनीकोड संस्कृत पाठ्य को ही स्वीकार करता है तथा यूनीकोड में ही परिणाम देता है। इसकी विशेष उपादेयता संस्कृति-हिन्दी यांत्रिक अनुवाद के लिए है।

अगला उपकरण है संस्कृत धातु-रूपावली। इसमें एक बॉक्स में धातुओं की सूची दी हुई है, इसमें से एक या अधिक धातुओं का चयन करके उसके नीचे की बटन पर क्लिक् करें। यदि एक धातु का ही चयन किया है तो उसी पृष्ठ में निचले भाग में उस धातु के दसों लकारों के

रूप लिख जाएँगे। यदि एक से अधिक धातुओं का चयन किया है तो एक लिंक नीचे बन जाएगा जिसमें से वह फाइल डाउनलोड की जा सकती है जिसमें सभी चयनित धातुओं के रूप लिखे होंगे। यदि फाइल पढ़ने में कठिनाई हो रही हो तो उस पेज में UTF-8 एन्कोडिंग सेट करके देखा जा सकता है। ये सभी धातुरूप यूनीकोड में लिखे होंगे। ये रूप मशीन द्वारा धातुरूप डेटाबेस की सहायता से स्वत: जनित होते हैं। इसमें सामान्यत: प्रयोग में आने वाले लगभग ४३३ धातुओं के रूप हैं जो अब तक के लिखित संस्कृत वाङ्मय में प्रयुक्त देखे जा चुके हैं।

संगणकीय संस्कृत का अन्य महत्वपूर्ण क्षेत्र **ई-वाङ्मय (e-text)** का है। इसके अन्तर्गत संस्कृत वाङ्मय के ग्रन्थों के डिजिटल रूप में संरक्षित करना तथा उसको ऑनलाइन प्रकाशित करना आता है। इसे पुस्तकों का प्रतिद्वन्द्वी नहीं बल्कि पूरक के रूप में देखना चाहिए। इसके कई लाभ है कि इसके प्रकाशन में अत्यन्त कम लागत आती है, इसे सहजता से इण्टरनेट पर प्रकाशित किया जा सकता है और विश्व को उपलब्ध कराया जा सकता है, इसकी एक नई प्रति बनाने में कोई विशेष लागत नहीं आती है। और भी महत्व की बात यह है कि इसे तकनीक की सहायता से रोचक और सुविधाजनक रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इसकी व्यक्तिगत प्रति भी रखना सरल है। एक सीडी में महाभारत, महाभाष्य जैसे बड़े-बड़े ग्रन्थ संरक्षित किए जा सकते हैं। विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र में सर्वप्रथम ई-वाङ्मय की शृंखला में भर्तृहरिकृत वाक्यपदीय का मूलपाठ प्रकाशित किया गया है जिसका लिंक वेबसाइट के मुखपृष्ठ पर उपलब्ध है। इस कार्य को केन्द्र के एम.ए. (2004-2006) के छात्रों ने द्वितीय सत्र में सम्मिलित प्रयास के रूप में पूर्ण किया। इसी शृंखला में अगले प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ अष्टाध्यायी और महाभाष्य होंगे जो संस्कृत व्याकरण के शीर्षस्थ ग्रन्थ हैं।

एक अन्य क्षेत्र ऑनलाइन अनुक्रमणी का है। यद्यपि अनुक्रमणियाँ पुस्तकों के रूप में भी उपलब्ध हो सकती हैं परन्तु इसमें यह विशेष है कि इसमें खोजने की सुविधा के साथ सम्बन्धित सामग्री या विवरण को एक ही स्थान पर उपलब्ध कराया जा सकता है जो कि पुस्तकों में सब कुछ एक स्थान पर देने से असुविधाजनक विस्तार हो जाता है। इस शृंखला में महाभारत के आदिपर्व तथा अष्टाध्यायी की ऑनलाइन अनुक्रमणियाँ अगले एक वर्ष में वेबसाइट पर उपलब्ध हो जाएँगी। ये कार्य केन्द्र के दो शोध छात्रों (दिवाकर मणि और दिवाकर् मिश्र) द्वारा शोधकार्य के रूप में सम्पन्न किए जाएंगे। इन दोनों में किसी एक शब्द या शब्दांश, श्लोक/सूत्र संख्या, आदि कई प्रकार के माध्यमों से अपेक्षित श्लोक या सूत्र को खोजा जा सकेगा और अपेक्षित होने पर उस श्लोक/सूत्र की व्याख्या भी वहीं देखी जा सकेगी। ये दोनों यूनीकोड आधारित होंगे जिनमें मुखभाग JSP में तथा पृष्ठभाग MS-SQL डेटाबेस सिस्टम में बना हुआ होगा और प्रोग्रामिंग भाग जावा में होगा।

अगला महत्त्वपूर्ण क्षेत्र **संस्कृत-ई-शिक्षण** का है। इस क्षेत्र में केन्द्र की छात्रा प्रीति भौमिक पी.एच.डी. शोधकार्य कर रही हैं। इस कार्य के अन्तर्गत राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान और प्रशिक्षण

परिषद् (NCERT) के कक्षा नौ और उस के पाठ्यक्रम के लिए ई-शिक्षण के पाठ तैयार किए जा रहे हैं। ई-शिक्षण के उपकरण को बनाने के लिए पाठ्यक्रम को रोचक रूप से प्रस्तुत करने के साथ-साथ प्रशिक्षु छात्रों के उपकरण को बनाने के लिए पाठ्यक्रम को रोचक रूप से प्रस्तुत करने के साथ-साथ प्रशिक्षु छात्रों के मनोविज्ञान तथा आधुनिक शिक्षण तकनीकी का भी ध्यान रखना होता है। पाठ्यक्रम को बोधस्तर के अनुसार विभिन्न भागों में बाँटना होता है। इसका उद्देश्य संस्कृत-शिक्षण को सरल तथा रोचक बनाना है।

हमारे संगणकीय-संस्कृत शोध और सॉफ्टवेयर निर्माण का लक्ष्य है संस्कृत से अन्य भारतीय भाषाओं में मशीनी अनुवाद। इस दिशा में हम अपने **संस्कृत-हिंदी ट्राँसलेटर (SaHit)** की ओर शनैः शनैः बढ़ रहे हैं। सर्वप्रथम हम संस्कृत में बाल साहित्य को हिंदी में स्वतः अनुवाद करना चाहेंगे ताकि हमारे बच्चे अपनी परम्परा का लाभ कम्प्यूटर और इन्टरनेट की मदद से पा सकें।



‘ऊर्मिका’ एवं ‘पुरन्ध्रीपञ्चकम्’-एक समीक्षा

डॉ. पङ्कजा कौशिक

20वीं शताब्दी एवं उसके उपरान्त संस्कृत भाषा में जो साहित्य लिखा गया उसे ‘आधुनिक संस्कृत साहित्य’ के रूप में जाना जाता है। इस की रचना में महिलाओं का योगदान उल्लेखनीय है। डॉ. वेदकुमारी ने अपने काव्यसंग्रह ‘ऊर्मिका’ एवं रूपकसंग्रह ‘पुरन्ध्रीपञ्चकम्’ में स्त्री के विभिन्न भावों को साकार रूप दिया है। इस पत्र में ‘ऊर्मिका’ एवं ‘पुरन्ध्रीपञ्चकम्’ के सामाजिक पक्ष का अध्ययन एवं समीक्षा कार्य किया गया है।

‘ऊर्मिका’

सन् 1984 में जम्मूतवी से प्रकाशित इस काव्यसंग्रह में 20वीं शताब्दी की प्रेयसी, पति की प्रेरणा रूप पत्नी, अन्याय के प्रति प्रश्न उठाने वाली, विविध भ्रष्ट पदाधिकारियों के प्रति संवेदनशील एवं निश्चित रूप से वात्सल्य स्त्री का दिग्दर्शन होता है। डॉ. वेदकुमारी ने स्त्री के अन्तर्भूत सभी भावों को इस काव्यसंग्रह में सङ्कलित कर दिया है। प्रिय को सम्मुख पाकर नायिका का आह्लाद साक्षात् चित्रित हो जाता है जब लेखिका कहती है:-

अधुना स दिवस आयात:
पुरो मदीय: प्रिय अयात:

प्रेयसी के जीवन का सार इसी भाव में अन्तर्निहित है:-

सारमय: संसारो जात:

परन्तु अन्तर्मन की इस प्रेमानुभूति में बाह्य आकर्षण मात्र नहीं अपितु गहरे दर्शन की सहानुभूति भी परिलक्षित होती है:-

प्रियतम जीवनपथे चलाव:
सुखदु:खयोश्च समौ भवाव:

इसी प्रकार वियोग का भाव ‘दुकूलम्’, विचित्रमेतत्, निशां कथं नयेनम् विरहजाधि:, प्रतीक्षे तद्दिनं मधुरम्’ काव्यों में प्रस्फुटित हुआ है। प्रिय का स्मृति दुकूल वियुक्तावस्था में प्रिय का स्मरण ही नहीं कराता अपितु विकट स्थिति में प्रिय के समर्पण के समीप होने का आभास देता है और एकमात्र परित्राण बनता है:-

यदा चाहं भवेयं
विषमबाणशरवर्षापीडिता

विरहोष्णरश्मिसनतापदग्धा
निराशाझञ्झावातप्रकम्पित।
विपद्धिमपातव्याकुला तदानीमेतत्
महार्घं महनीयं दुकूलम् तनुदेहलताया उपरि
धारयेयं। तन्मां परित्रास्यते।

यह प्रेम कर्त्तव्यपथ में बाधा नहीं बनता अपितु उस स्थिति में लेखिका ने नायिका का उदात्त चित्रण किया है जो नायक को उसके गुरुलक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रेरित करती है। 'पथिकं प्रति' कृति के माध्यम से लक्ष्य प्राप्ति के प्रति अडिग रहने का सन्देश दिया गया है। लक्ष्यप्राप्ति में दो प्रकार की बाधाएं आती हैं; प्रथम–मार्ग में आने वाले कष्ट, अवरोध, विघ्न इत्यादि तथा द्वितीय–लक्ष्य से भटकाने में विविध मनोहर लोभ उत्पन्न करने वाले, पथभ्रष्ट कारक साधन। इन दोनों में उलझ कर व्यक्ति अपने लक्ष्य से च्युत हो जाता है। लेखिका ने दोनों बाधाओं की ओर इंगित किया है। सर्वप्रथम तो जो निर्णय ले लिया उसे विषम परिस्थितियों में भी परिवर्तित नहीं करना चाहिए ऐसा सिद्धान्त लेखिक प्रस्तुत करती हैं:-

साधु विचिन्त्य निजं गुरुलक्ष्यं स्वयं
त्वयेदं निर्णीतम्।
अतः यन्निर्णीतम् निर्णीतम्।
विघ्नैरपि हसता लसता भोस्त्वयाऽविरतमभिगन्तव्यम्।
परं त्वया तैर्लोभितेन रे! क्वचिन्नैव खलु रन्तव्यम्।

स्त्री का अन्य पक्ष

डॉ. वेदकुमारी ने एक ओर नारी के कोमल पक्ष की स्थापना की है वहीं दूसरी ओर अन्याय के प्रति उसकी छटपटाहट एवं रोष को भी दिखाया गया है। 'सीतायाः सन्देशः' में परित्यक्ता सीता का राम के प्रति रोष इस बात का प्रमाण है कि 20वीं शताब्दी की स्त्री पति से उत्कट प्रेम तो करती है परन्तु उसके द्वारा निष्कारण परित्याग करने के निर्णय को मौन रहकर स्वीकार नहीं करेगी। इस रचना के माध्यम से वाल्मीकी कालीन सीता से 20वीं शती की सीता के बीच का अन्तर स्पष्ट ही अनुभव किया जा सकता है। लेखिका ने वर्तमान समाज में तथाकथित बुद्धिजीवी वर्ग के अनुत्तरदायी आचरण पर भी व्यंग्यरचना 'न मे चिन्ता' काव्य के माध्यम से कटाक्ष किया है।

साहित्यिक दृष्टि से विश्लेषण किया जाए तो पाते हैं कि पुरातनकाल और आधुनिकता के मध्य अन्तर केवल मानसिकता और भावों में ही नहीं अपितु काव्य रचना की पद्धति में भी दिखाई देता है। संस्कृत काव्य की पारम्परिक छन्दोबद्ध शैली से मुक्त होकर संस्कृत काव्यरचना के नूतन प्रयोग इस काव्य संग्रह में उपलब्ध होते हैं। 'निशां कथं नयेयम्' कविता में उपजाति और 'धन्याऽस्मि'

कविता में इन्द्रवज्रा छन्दों का प्रयोग हुआ है। शेष रचनाएं उत्तरआधुनिक हिन्दी कविताओं अथवा कवित्तों की शैली से प्रभावित हैं। 'मेनकाया:' काव्य में लेखिका ने संस्कृत मुहावरा का दर्शन कराया है। 'श्रूयते दण्डितो दुष्यन्तो दैवेन'–काव्य में:-

1. **विकिरति यः कण्टान् अन्येषां पथि**
   पादयोस्तस्यापि कण्टका व्रणं कुर्वन्ति
2. **वितनोति यो धूमम् अन्येषां कृते**
   जीवनं तस्यापि भवति धूमायितम्
3. **ददाति यो दुःखं निर्दोषजीवेभ्यो**
   लभते नहि सुखम्।

पुरन्ध्रीपञ्चकम्

पुरन्ध्रीञ्चकम् में पाँच रूपकों में पाँच विशिष्ट स्त्रियों (पुरन्ध्रियों) का दिग्दर्शन होता है: 'मेनकावात्सल्यम्' (मेनका), 'अपूर्वः प्रतिशोधः' (द्रौपदी), 'मदालसा' (मदालसा), 'सुगन्धा' (सुगन्धा), और 'द्राक्षामत:शकुन्तला' (शकुन्तला)।

पाँचों रूपक स्त्री प्रधान रूपक हैं। यद्यपि लेखिका ने इन रूपकों का कथानक मूल रूप से प्राचीन संस्कृत साहित्य से ही लिया है परन्तु इनकी प्रस्तुति आधुनिक है। प्राचीन साहित्य की इन स्त्री पात्रों की वेदना, संताप, दृढ़ता, क्षमाशीलता, वीरता आदि अन्य विशेषताएँ मूलस्रातों में उतनी उभर कर सामने नहीं आईं जितनी इन रूपकों में वर्णित हुई हैं। **'मेनकावात्सल्यम्'** में कालिदास के पात्रों में एक उपेक्षित पात्र शकुन्तला की माँ मेनका के व्यक्तित्व की झलक दी गई है जो इन्द्रसभा की गणिका है। इस रूपक में एक गणिका की वेदना का मार्मिक चित्रण हुआ है, उसकी समाज में सम्मान पाने की उत्कट इच्छा है परन्तु इसके विपरीत उसे पुरुष की वञ्चना, अपनी ही सन्तान से वियोग प्राप्त होता है। परन्तु अपनी पुत्री को अच्छा जीवन देने का उसका दृढ़ संकल्प दर्शनीय है। इसी रूपक में ऋषि कण्व के माध्यम से स्त्री एवं पुरुष के बीच स्त्री की कष्टकारी स्थिति को निरूपित किया गया है:-

'नारीपुरुषयोः समाने अपराधे सति प्रायशः नारी एव कष्टं भजते। पत्नीविहीनः सन्तानयुक्तः अपि पुरुषः पुनर्विवाहं शीघ्रम् एव रचयति परं पतिविहीना पत्नी प्रायशः वैधव्यदुःखपीड़िता एवं समस्तं जीवनं यापयति।' इति

'अूर्व:प्रतिशोधः' रूपक में महाभारत युद्ध के अन्तिम चरण की एक मर्मस्पर्शिनी घटना अंकित है। अश्वत्थामा के द्वारा द्रौपदी के पाँचों पुत्रों का वध कर दिए जाने पर द्रौपदी के माध्यम से नारी को क्षमाशील दर्शाया गया है। साथ ही एक माँ का दूसरी माँ के प्रति करुणभाव भी देखने को मिलता है:-

'जगति कापि अन्या मात अहमिव पुत्रविहीना न भवेत्।'

द्रौपदी के ही माध्यम से सन्देश दिया गया है कि प्रतिहिंसा से हिंसा नहीं मिटती अपितु हृदय परिवर्तन इसका उत्तम उपाय है। यहाँ लेखिका गाँधीवादी विचारधारा से प्रभावित लगती हैं। आज के समाज के लिए यह अत्याधिक अपेक्षित विचारधारा है। युद्ध का परिणाम किसी भी पक्ष के लिए विनाशकारी ही है यह लेखिका का भाव है-

'युद्धस्य परिणतिः तु विनाश एव, एकपक्षस्य वा द्वितीयपक्षस्य वा।'

'मदालसा' रूपक मार्कण्डेय पुराण में वर्णित आख्यान के आधार पर लिखित है और भारतीय नारी का एक भव्य रूप उपस्थित करता है। मदालसा एक स्वाभिमानिनी, परम्परागत रूप से विवाह की आवश्यकता को न मानने वाली स्त्री है। इस रूपक में बाल्यावस्था में उत्तम संस्कार देने के प्रसंग में सोते हुए बालक को लोरी के रूप में ब्रह्मज्ञान प्रदान करना निश्चित रूप से एक अद्भुत प्रयोग है-

शुद्धोऽसि वत्स, बुद्धोऽसि वत्स
निरञ्जनोऽसि। पञ्चात्मकं शरीरम्। नास्ति ते नाम
नैवास्य देहस्य त्वं कस्य हेतोः रोदिषी?

माता सर्वोत्तम शिक्षिका है जो अपने चार पुत्रों को यथासामर्थ्य योगी, आयुर्विज्ञान विशेषज्ञ, दार्शनिक एवं राजनीतिक बनाती है। यहीं लेखिका का पर्यावरण सम्बन्धी चिन्तन भी उभर कर आया है। वृक्षारोपण को पुत्रपालन से भी श्रेयस्कर माना है-

'वृक्षारोपणं तत्पालनञ्च पुत्रपालनमिव
भवतिं पुत्रजन्मनोऽपि श्रेयस्करं वृक्षपालनम्।'

'सुगन्धा' रूपक में सामाजिक बुराईयों को मिटाने वाली एवं समाज में समभाव लाने वाली अदम्य नारी का चित्रण किया गया है।

'द्राक्षामतःशकुन्तला' रूपक डेनमार्क के प्रसिद्ध कवि होल्कर द्राखमैन के जीवन की कुछ घटनाओं पर आधारित है। द्राखमैन द्वारा लिखित कविता, 'शकुन्तला' भारत के महाकवि कालिदास के प्रभाव को प्रकट करती है। इस रूपक में लेखिका ने स्त्री पुरुष के स्वाभाविक आकर्षण में परिपक्वता की कमी की ओर सटीक संकेत करते हुए सम्बन्ध-विच्छेद के कारणों का विश्लेषण किया है।

यह रूपकसंग्रह पुरातनता में नूतनता के दर्शन कराता है। लेखिका ने पुराने पात्रों और यहाँ तक कि कथानक भी पुराना ही लेकर नएपन का जो सञ्चार किया है वह अद्वितीय है। इस ग्रन्थ में प्रयुक्त भाषा इतनी सरल है कि संस्कृत भाषा का सामान्य ज्ञान रखने वाला कोई भी व्यक्ति इस पुस्तक को पढ़कर आनन्दित और लाभान्वित हो सकता है। रूपकों में कथा के प्रवाह के साथ सरल और नए मुहावरों को जोड़ दिया गया है।

मेरे विचार में ये दोनों ग्रन्थ आधुनिक संस्कृतसाहित्य की श्रीवृद्धि करते हैं।

आधुनिक संस्कृत काव्य-लक्षणों की समीक्षा

डॉ. आनन्द कुमार श्रीवास्तव

संस्कृत काव्यशास्त्र में प्राचीनकाल से ही काव्य की परिभाषा प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। प्रायः सभी आचार्यों ने काव्यस्वरूप का विवेचन किया है। प्राचीन काव्यलक्षण अर्वाचीन आचार्यों द्वारा युगानुरूप उत्तरोत्तर परिष्कृत एवं परिमार्जित होते रहे। आचार्य भामह की 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' परिभाषा अत्यन्त सरल एवं विशद थी जो आगे चलकर आधारभूत बन गयी और उत्तरकालीन आचार्य इसी में भिन्न-भिन्न विशेषणों का समायोजन कर काव्य का सर्वग्राह्य लक्षण उपस्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु प्रतिव्यक्ति सौन्दर्य-बोध भिन्न होने के कारण काव्य की एक परिभाषा तो असम्भव है। किसी के लिये रस रुचिकर हो सकता है तो किसी के लिये अलंकार। अतः सौन्दर्य के प्रायः विषयिगत होने के कारण काव्य-स्वरूप विवादास्पद ही रहा और काव्य की अनेक परिभाषायें होती रहीं। किसी आचार्य ने काव्यगत सौन्दर्य के मूल में रस के दर्शन किये तो किसी ने अलंकार के और किसी ने रीति इत्यादि के। इस प्रकार कुछ आचार्यों ने काव्य में बाह्य तत्त्व का प्राधान्य स्वीकार किया तो कुछ ने आन्तरिक तत्त्व का। फिर भी आचार्य भामह के पश्चात् अलंकारवाद, गुणवाद, ध्वनिवाद आदि जितने सिद्धान्तों का आविर्भाव हुआ उन सबका समन्वय आचार्य मम्मट ने अपने लक्षण में कर दिया।[1] यह परिभाषा इतनी लोकप्रिय हुई कि उत्तरकालीन आचार्यों ने प्रायः इसे ही काव्यलक्षण के रूप में स्वीकार कर लिया।

निरन्तर प्रवहमान संस्कृत काव्यधारा के स्वरूप में अर्वाचीन युग में एक बार पुनः परिवर्तन होने से काव्य के मानक सिद्धान्तों में भी परिवर्तन स्वाभाविक था। जिन लक्ष्यभूत काव्यों को दृष्टि में रखकर लक्षण-ग्रन्थों की निर्मिति हुई थी, वे लक्ष्य अब भिन्नस्वरूप हो रहे थे। अतः नूतनप्राय लक्ष्य के अनुरूप नूतन लक्षणों की आवश्यकता थी। इसलिए यह उचित ही था कि अर्वाचीन आचार्य नये लक्ष्य को ध्यान में रखकर काव्यशास्त्र के लेखन में प्रवृत्त होते, हालाँकि अनेक आचार्यों ने पारम्परिक काव्य लक्षण भी प्रस्तुत किए। यहाँ यह उल्लेख है कि आधुनिक युग में अनेक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का प्रणयन तो हुआ पर संस्कृत काव्यशास्त्र के सिद्धान्त पक्ष का अपेक्षित विकास नहीं हुआ।

आधुनिकयुगीन कुछ आचार्यों ने नवीन शब्दावली में काव्यलक्षण प्रस्तुत करने का प्रयास किया। आधुनिक युग से हमारा तात्पर्य पण्डितराजोत्तर युग से है। पण्डितराज के पश्चात् लगभग दो

1. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि। (काव्यप्रकाश)

सौ पचास संस्कृत काव्यशास्त्री हुये। इन समस्त काव्यशास्त्रियों के काव्यलक्षणों की समालोचना एक शोधपत्र में दुष्कर है। अतएव कुछ महत्त्वपूर्ण आचार्यों को पण्डितराजोत्तरयुगीन संस्कृत काव्यशास्त्र का प्रतिनिधिभूत मानकर अध्ययन किया गया है।

नञ्जराजयशोभूषण के रचयिता **नरसिंह कवि 'अभिनव कालिदास'** ने शब्दार्थ समष्टि को काव्य स्वीकार करते हुए काव्य की एक संक्षिप्त परिभाषा दी– **'कविसमयानुरोधेन निबद्धौ शब्दार्थौ काव्यम्'** (पृ. 14) अर्थात् कवि समय के अनुरोध से निबद्ध शब्दार्थसमष्टि को काव्य कहते हैं।

कवियों के द्वारा वर्णित अशास्त्रीय, अलौकिक और केवल परम्परा प्रचलित अर्थ को कविसमय कहते हैं।[1] काव्यशास्त्र में कविसमय का सर्वप्रथम विवेचन करने वाले यायावरीय राजशेखर ने कविसमय का मुख्यतः चार भेद स्वीकार किया है–जातिरूप, द्रव्यरूप, क्रियारूप और गुणरूप।

इस परिभाषा में 'कविसमयानुरोध' पद के समावेश से प्रभु निदेश सम्मित शब्दमात्र प्रधान वेद में और सुहृत्सम्मित अर्थप्रधान पुराणादि में अतिव्याप्ति नहीं होती क्योंकि वेद व पुराण कविसमयानुरोधी नहीं है। किन्तु आचार्य राजशेखरकृत कविसमय के लक्षण से यह काव्य परिभाषा अव्याप्तिदोषग्रस्त सिद्ध होती है क्योंकि काव्य में उपर्युक्त कविसमय का प्रयोग अल्पमात्रा में ही उपलब्ध होता है। इस अव्याप्तिदोष से बचने क लिये नरसिंह कवि ने कविसमय के अन्तर्गत द्रव्य, गुण, क्रिया की कल्पना के अतिरिक्त व्यञ्जन व्यापार का भी समावेश किया है[2] जबकि 'कविसमय' शब्द आचार्य राजशेखर के समय तक रूढ हो गया था।[3] तब उसमें व्यंजना वृत्ति का समावेश करना आपत्तिजनक है। पुनश्च राजशेखर ने कविसमय की सविस्तर चर्चा करते हुये कहीं भी व्यंजना शक्ति का उल्लेख नहीं किया है।[4] इसके विपरीत भामह, दण्डी आदि आचार्यों ने कविसमय का विवेचन नहीं किया है, प्रत्युत लोक और शास्त्रविरुद्ध बातों को काव्यदोष माना है।[5] नरसिंह कवि जातिरूप

---

1. अशास्त्रीयमलौकिकं च परम्परायातं यमर्थमुपनिबध्नन्ति कवयः स कविसमयः (काव्यमीमांसा, व्याख्याकार पं. केदारनाथ शर्मा सारस्वत, पृ. 190)।
2. नदीषु पद्मोत्पलानि सरोमात्रे हंसाः पर्वतमात्रे सिंहशरभा इत्यादि द्रव्यकल्पनम्, यशोहंसादौ अवदातत्वम्, प्रतापश्रृङ्गारादौ अरुणत्वमित्यादिगुणकल्पनम् चकोरेषु चन्द्रिकापानमित्यादिक्रियाकल्पनम्, व्यञ्जनारूपशब्द- व्यापारकल्पनञ्चेति कविसमयः। नञ्जराजयशोभूषण, (पृ. 14)
3. कविसमयशब्दश्चायं मूलमपश्यद्भिः प्रयोगमात्रदर्शिभिः प्रयुक्तो रूढश्च। (काव्यमीमांसा, पृ. 191)
4. पूर्वे हि विद्वांसः सहस्रशाखं साङ्गं च वेदमवगाह्य, शास्त्राणि च अवबुद्ध्य, देशान्तराणि द्वीपान्तराणि च परिभ्रम्य यानर्थानुपलभ्य प्रणीतवन्तस्तेषां देशकालान्तरवशेन अन्यथात्वेऽपि तथात्वेनोपनिन्धौ यः स कविसमयः। (वही, पृ. 19)
5. स्थास्नुजङ्गमभेदेन लोकं तत्त्वविदो विदुः।
   स च तद्व्यवहारोऽत्र तद्विरोधकरं यथा। (काव्यलंकार 4/36)
   आगमो धर्मशास्त्राणि लोकसीमा च तत्कृता।
   तद्विरोध तदाचारव्यतिक्रमणतो यथा। (वही, 4/48)
   इति लौकिक एवायं विरोधः सर्वगर्हितः। (काव्यदर्श, 3/173)

कविसमय का उल्लेख नहीं करते, वे जाति का अन्तर्भाव द्रव्य में ही कर लेते हैं। जिस उदाहरण को राजशेखर ने जातिगत अर्थ में असत् का निबन्धन माना है,[2] उसी उदाहरण को नरसिंह कवि द्रव्यरूप कविसमय कहते हैं और राजशेखरानुसारी द्रव्यरूप कविसमय की चर्चा तक नहीं करते।

एक अन्य स्थल पर आचार्य नरसिंह कवि ने लोकोत्तरवर्णनानिपुण कवि के सरस शब्दार्थ संघटनात्मक कर्म को काव्य कहा है–'**यल्लोकोत्तरवर्णनानिपुणस्य कवेः सरसशब्दार्थसंघटनात्मक कर्म तत्काव्यम्**' (पृ. 14)। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि नरसिंह कवि मम्मटप्रभृति आचार्यों से अत्यन्त प्रभावित है[3] और उनके लक्षण से पूर्ण सहमत भी किन्तु कुछ नवीनता के उपपादन मात्र के लिये भिन्न शब्दावलि में काव्यलक्षण उपन्यस्त करते हैं।

हम कह सकते हैं कि मम्मट ने काव्य की दो परिभाषायें कीं। एक परिभाषा में उन्होंने भामह, वामन, आनन्दवर्धन आदि आचार्यों का समन्वय प्रस्तुत किया और दूसरी परिभाषा अबोध रूप से निकल गयी। मनुष्य के अन्तर्मन की बात तभी निकलती है जब प्रसंग नहीं रहता। अतः काव्य की दूसरी परिभाषा ही वास्तविक परिभाषा है।

वस्तुतः उपयुर्क्त परिभाषा काव्य का लक्षण न होकर काव्य का परिचय मात्र प्रस्तुत करती है। काव्य-लक्षण में तो शब्दार्थयुगल की स्थिति स्पष्ट होनी चाहिये–शब्दार्थ की सालंकारता अपेक्षित है अथवा निरलंकारता, शब्दार्थ को दोषरहित होना चाहिये और सदोष होने पर काव्य की क्या स्थिति होगी, शब्दार्थ का गुण के साथ क्या सम्बन्ध है। इसी प्रकार काव्य में रस का क्या स्थान हे, इत्यादि तथ्य अस्पष्ट हैं।

काव्यविलासकार रामदेव चिरञ्जीव भट्टाचार्य (18वीं शताब्दी) विलक्षण चमत्कारयुक्त शब्दार्थ को काव्य कहते हैं–विलक्षणचमत्कारकारित्वमेव काव्यत्वमामनन्ति'।

(पृ.2) प्रथमतः इस परिभाषा में विलक्षण विशेषण ही आपत्तिजनक है। सभी चमत्कार सामान्य से विलक्षण तो होता ही है, पुनश्च विशेषण का उपपादन व्यर्थ है। विशेषण तो सम्भव तथा व्यभिचारी होना चाहिये तभी सार्थक होता है। विलक्षण विशेषण सम्भव होने पर भी व्यभिचारी नहीं है।

जहाँ तक चमत्कार का प्रश्न है संस्कृत काव्यशास्त्र में चमत्कार पद का प्रयोग दो अर्थों में किया गया है। चमत्कार पद का संकीर्ण अर्थ है–आश्चर्यचकित करने वाले शब्द एवं अर्थ तथा व्यापक अर्थ है–'काव्यजन्य आस्वाद'।[3]

यदि इस काव्य-लक्षण में चमत्कार शब्द का प्रयोग संकीर्ण अर्थ में किया गया है तो यह अर्थ हुआ कि 'विलक्षण आश्चर्य-चकित कर देने वाले शब्दार्थ' और यदि चमत्कार शब्द का प्रयोग

1. तत्र सामान्यतया सतो निबन्धनं यथा नदीषु पद्मोत्पलादीनि, जलाशयमात्रेऽपि हंसादयो, यत्र तत्र पर्वतेषु सुवर्णरत्नादिकं च। (काव्यमीमांसा, पृ. 191)
2. तुलनीय-रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत्काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणं कविकर्म। (काव्यप्रकाश)
3. भारतीय साहित्यशास्त्र (दूसरा भाग) बलदेव उपाध्याय, पृ. 261)

व्यापक अर्थ में हुआ है तो अर्थ होगा–'विलक्षण आस्वादयुक्त शब्दार्थ'। किन्तु इस लक्षण में, काव्य में यह विलक्षण आश्चर्यकारिता अथवा विलक्षण आस्वादयुक्तता किस तत्त्व से आती है, यह स्पष्ट नहीं है। काव्यलक्षण में चमत्कार पद का प्रयोग सम्भवतः विश्वेश्वरकृत चमत्कारचन्द्रिका (14वीं शताब्दी) अलंकारग्रन्थ से प्रभावित है। इस ग्रन्थ में चमत्कार में चमत्कार के सात आलम्बन माने गये हैं–गुण, रीति, रस, वृत्ति, पाक, शय्या तथा अलंकृति।[1] संभव है चिरञ्जीव भट्टाचार्य रस एवं अलंकार से ही चमत्कृत अर्थ को काव्य कहते हैं। यदि रस में चमत्कार उत्पन्न होता है तो उसे ध्वनि-काव्य और यदि अलंकार से तो उसे चित्रकाव्य कहते हैं किन्तु इस परिभाषा में भी दिशा-निर्देश मात्र किया गया है। काव्य का निर्दुष्ट लक्षण नहीं है। जहाँ तक दोष का प्रश्न है, आचार्य का मन्तव्य है कि यदि विलक्षण चमत्कारकारी शब्दार्थ दोषयुक्त है, तो उसे दुष्ट काव्य कहेंगे, अकाव्य नहीं-'विलक्षणचमत्कारकारिणि दोषसत्त्वे दुष्टं काव्यमिति प्रयोगः। न तु नैतत् काव्यमिति' (पृ.3)।

पाश्चात्य आलोचक लाङ्गिनस (213 ई.-273 ई.) के अनुसार ही कविता में चमत्कृतिजनक वस्तु होती है-भव्यता (Sublimity) इस भव्यता के मूल कारण पाँच हैं–अलंकार, रीति आदि।[2] लाङ्गन की भव्यता एवं चिरञ्जीव भट्टाचार्य की चमत्कारिता को समकोटि कहा जा सकता है।

रसदीर्घिका के रचयिता आचार्य **विद्याराम** भी चमत्कार को ही काव्य का मुख्य तत्त्व स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार दोषरहित गुणयुक्त तथा चमत्कारकारी शब्दार्थ सन्दर्भ को काव्य कहते हैं, इससे इतर तो काव्याभास मात्र है-

यस्तु शब्दार्थसन्दर्भ श्चमत्कारकरोऽनघः।
काव्यं तद्गुणवच्चान्यत्काव्याभासमुदीर्यते।। (पृ.55)

आचार्य विद्याराम ने चमत्कारकारित्व का अर्थ स्पष्ट करते हुये लिखा है–'अत्र चमत्कारकत्वं रसालङ्कारयुक्तत्वम्' अर्थात् चमत्कार का अर्थ है रस और अलंकार से युक्त होना। परिभाषा में 'गुणवत्' पद के योग से ही गुणों के रस का व्यञ्जक होने के कारण रस का भी समावेश हो जाता है। अतः चमत्कारकत्व का अर्थ 'रसालंकारयुक्तत्व' करना अधिक तर्कसंगत नहीं है। मात्र अलंकारयुक्तत्व का ही पृथक्निर्देश होना चाहिए था। इस परिभाषा पर भोजराज का प्रभाव स्पष्ट है। आचार्य भोज ने भी दोषरहित, अलंकारयुक्त, गुणवत् और रसवत् वाक्य को काव्य कहा है।[2]

प्रस्तुत परिभाषा में शब्दार्थ-सन्दर्भ को काव्य कहा गया है। आचार्य के अनुसार शब्दार्थों को छन्दों के द्वारा गूँथने को सन्दर्भ कहते हैं-

---

1. चमत्कारचन्द्रिका प्रथमविलासः पृष्ठ 2,3
2. भारतीय काव्यशास्त्रस्य ब.दे. उपाध्याय
3. निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति।। (सरस्वतीकण्ठाभरण)

'छन्दोभिर्गुम्फना तेषां सन्दर्भः परिकीर्तितः'। (पृ.59)

इस प्रकार छन्दोबद्ध विशिष्ट शब्दार्थयुग्म को काव्य कहते हैं। यह परिभाषा अव्याप्ति दोषग्रस्त है क्योंकि गद्यात्मक काव्य छन्दोहीन होने के कारण काव्य की कोटि में न आ सकेंगे।

काव्यालोक के लेखक आचार्य हरिप्रसाद (18वीं शताब्दी) ने पण्डितराज की भाँति विशिष्ट शब्द को ही काव्य स्वीकार किया है, शब्दार्थ समष्टि को नहीं तथा वे काव्य की आत्मा चमत्कार को मानते हैं-

लोकोत्तराह्लादकार्थः शब्दः काव्यम् (सूत्र 7) अर्थात् लोकोत्तर आह्लाद उत्पन्न करने वाले अर्थ से युक्त शब्द काव्य हैं। -'लोकोत्तर' को स्पष्ट करते हुए आचार्य वृत्ति में लिखते हैं-लोकोत्तरत्वं च सुखातिशयकारणं चमत्कारविशेषः।' अर्थात् सुख के अतिशय का कारण चमत्कारविशेष ही लोकोत्तरता (अलौकिकता) है। इस प्रकार यह शब्द एक विशिष्टता लिए हुए है कि वह (शब्द) अलौकिक आह्लाद उत्पन्न करने वाले अर्थ से युक्त है।

आचार्य संक्षेप में अपना मन्तव्य प्रस्तुत करते हुये कहते हैं-'सर्वथा विशिष्ट-शब्दनिष्ठमेव काव्यत्वमित्यर्थः।' अपने दूसरे ग्रन्थ 'काव्यार्थगुम्फ' में भी आचार्य ने काव्य का यही लक्षण उपन्यस्त किया है-लोकोत्तराह्लादार्थविशिष्टः शब्दः काव्यम्।

अन्य लक्षणों की भाँति यहाँ भी यह स्पष्ट नहीं है कि काव्य में चमत्कारोत्पादक तत्त्व क्या है-रस, अलंकार अथवा कोई अन्य तत्त्व।

विश्वेश्वर कविचन्द्र ने चमत्कारयुक्त शब्दार्थ को काव्य माना है-वागर्थौ सचमत्कारौ काव्यं काव्यविदो विदुः (चमत्कारचन्द्रिका, प्रथम विलास)।

उनके अनुसार 'चमत्कार' का अर्थ है-विद्वानों अर्थात् सहृदयों को आनन्दित करने वाला तत्त्व।[1] इस प्रकार जिस शब्दार्थ से सहृदय आनन्दित होते हैं वही शब्दार्थ काव्य रूप में विश्वेश्वर कविचन्द्र को अभिप्रेत है। मन्दारमरन्दचम्पूकार श्रीकृष्ण शर्मन् (18वीं शताब्दी) ने अनी काव्य परिभाषा में आचार्य मम्मट एवं नरसिंह कवि के लक्षणों का समन्वय किया-

सालंकारगुणौ काव्यं शब्दार्थौ दोषवर्जितौ।
तथा कवीनां समयानुरोधेन निबन्धितम्।। (पृ. 186)

अर्थात् दोषरहित, सगुण व सालंकार शब्द-अर्थ समष्टि को काव्य कहते हैं जो कवि समयानुरोध से निबद्ध होता है। इस परिभाषा में आचार्य मम्मट के -सर्वत्र सालङ्कारौ क्वचितु स्फुलंकारविहेऽपि न काव्यत्वहानिः' कथन के 'सर्वत्र सालङ्कारौ' अंश को प्रायः आवश्यक तत्त्व के रूप में स्वीकार कर लिया गया है।

---

1. चमत्कारस्तु विदुषामानन्दपरिवाहकृत। (चमत्कारचन्द्रिका, पृ.2)

काव्यदर्पण के रचयिता आचार्य राजचूडामणि दीक्षित (17वीं शताब्दी) ने भी 'काव्यं ह्यदुष्टौ शब्दार्थौ सदलंकृती' (पृ.10) कहकर अलंकार को काव्य का आवश्यकत तत्त्व माना है। मम्मट के 'स्फुटालङ्कारविरहेऽपि' कहने से यह स्पष्ट है कि काव्य में अस्फुट रूप से ही सही, अलंकार सदैव वर्तमान रहता है।

साहित्यसार के रचयिता आचार्य अच्युतराय (18वीं शताब्दी) के अनुसार दोषरहित एवं गुणयुक्त शब्दार्थ को काव्य कहते हैं-

तत्र निर्दोषशब्दार्थगुणवत्त्वे सति स्फुटम्।
गद्यादिबन्धरूपत्वं काव्यसामान्यलक्षणम्।। (पृ.7)

प्रस्तुत काव्यलक्षण में प्रयुक्त गुण पद का तात्पर्य माधुर्यादि मात्र से नहीं है। अच्युतराय ने गुण पद का प्रयोग पारिभाषिक पद के रूप में न करके व्यापक अर्थ में किया है। उनके अनुसार माधुर्यादि धर्म, श्रृंगारदि रस, अक्षर संहति आदि लक्षण, गौडी आदि रीति, अनुप्रासादि अलंकार, मधुरादि वृत्ति–ये 6 प्रकार के गुण काव्य में होते हैं।[1] अन्य आचार्य जिन्हें गुण कहते हैं, अच्युतराय ने उन्हें धर्म कहा है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि आचार्य मम्मट के पूर्व वृत्ति और रीति की पृथक् सत्ता थी किन्तु ध्वनिकार आनन्दवर्धन द्वारा वृत्तियों को रसानुगुण शब्द-व्यवहार कह दिये जाने से वृत्ति और रीति में एकरूपता स्थापित हो गयी। अतः मम्मट, रुद्रट, जगन्नाथ आदि आचार्यों ने रीति और वृत्ति को पर्याय मान लिया। पुनः अच्युतराय के द्वारा गौडी आदि रीति तथा मधुरादि वृत्ति का पृथक् निर्देश विभावनीय है।

इस परिभाषा में आपाततः ऐसा प्रतीत होता है कि काव्य में अलंकार की स्थिति पर विचार नहीं किया गया। काव्य में निर्दोषता का महत्त्व बताते हुए आचार्य ने लिखा है कि दोष रहने पर गुण और अलंकारयुक्तता भी व्यर्थ है, अतः निर्दोष एवं गुणयुक्त शब्दार्थ ही काव्य कहलाता है-

दोषे सति गुणैः किं वा किं वालंकरणैरपि।
अतो निर्दोषसाद्गुण्यमेवाद्रियतां बुधैः। (पृ. 8)

यहाँ 'एव' (अवधारणा) पद के प्रयोग से अलंकार के पार्थक्य की व्यावृत्ति हो जाती है। 'दोष' पद में एकवचन तथा 'गुण' पद में बहुवचन के प्रयोग से यह फलित होता है कि काव्य के गुणवान् होने पर भी एक दोष मात्र की सत्ता से काव्य दुष्ट हो जाता है।

इस प्रकार धर्म, रस, लक्षण, रीति, अलंकार और वृत्तिरूपी, गुणों से युक्त तथा दोषरहित शब्दार्थ युगल को काव्य कहते हैं। इस परिभाषा पर चन्द्रालोककार जयदेव का प्रभाव स्पष्ट है।

---

1. धर्मा रसा लक्षणानि रीत्यलङ्कृति वृत्तयः।
 रसिकाह्लादका एते काव्ये सन्ति षड्गुणाः।। साहित्यसार पृ.8

आचार्य जयदेव ने भी दोष-रहित, लक्षणवान्, रीतियुक्त, गुणभूषित, सालंकार, रसयुक्त एवं वृत्तियुक्त वाक् को काव्य कहा है।[1]

आचार्य मम्मट ने भी काव्य-लक्षण के उदाहरण की वृत्ति में 'रसस्य च प्राधान्यात्रालंकारता' कहा है। अतः सिद्ध है कि मम्मट के काव्य-लक्षण में रस भी अन्तर्भूत है। इस प्रकार 'अत्र स्फुटो न कश्चिदलंकार:' कहने से स्पष्ट है कि कोई न कोई अलंकार गूढ़ रूप से विद्यमान है। अतः अच्युतराय का मन्तव्य है कि काव्यलक्षण में रस, अलंकार इत्यादि पद भी वाच्य होना चाहिये। इसी प्रकार लक्षण, रीति, वृत्ति इत्यादि पदों का भी समावेश होना चाहिये।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि गुण में अलंकार, रसादि का अन्तर्भाव केसे सम्भव है? इसका उत्तर यह है कि रसिकाह्लादकत्व रूप साधर्म्य के कारण गुणों में अलंकारादि का अन्तर्भाव कर दिया गया है। अच्युतराय के अनुसार मम्मट प्रभृति आचार्यों ने गुणों से पृथक् रूप से जो अलंकार का उपपादन किया है, उसका कारण अलंकारों की बहुलता तथा गुणों की सूक्ष्मता है।[2]

आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी के अनुसार काव्य ज्ञानरूप है और शब्दज्ञान बाह्य है अर्थात् शब्द उसके अन्तर्गत नहीं आता।[2] शब्द में ज्ञानरूपता का अभाव होने के कारण वह काव्यस्वरूप नहीं हो सकता। उनका कहना है कि जिस प्रकार पानकरस के लिये पात्र उपाधि मात्र होता है उसी प्रकार शब्दज्ञान काव्य का उपाधि मात्र है।[3] अतः वे मात्र अलंकृत अर्थ (adequate subject matter) के ज्ञान (Knowledge or Concept) को काव्य कहते हैं अर्थात् विज्ञान मात्र ही काव्य है-

आनन्दकोषस्योल्लासे लोकोत्तरविभावना।
अलंकृतार्थसंवित्तिः कविता, सर्वमङ्गला।। (काव्यालङ्कारकारिका, 1)

अर्थात् जीवात्मा की आनन्द कला के प्रतिबोध के लिये अलौकिक, विभावन व्यापार से युक्त अलंकृत अर्थ के ज्ञान को काव्य कहते हैं। काव्य-लक्षण में 'अलंकृत' पद के सन्निवेश से काव्य की वेदादि एवं पुराणदि में अतिव्याप्ति नहीं होती। एक अन्य स्थल पर भी डॉ. द्विवेदी ने अर्थ समूह के ज्ञान को ही काव्य कहा है-

आत्मवानर्थसंघातप्रकाशः काव्यमिष्यते। (वही, 4)

एक अन्य स्थल पर सहृदय की दृष्टि से काव्य की परिभाषा करते हुये वे कहते हैं कि शब्द नामक ज्ञानात्मक अर्थ से जो अन्य अर्थों का चमत्कारी बोध होता है, उसे काव्य कहते हैं-

---

1. निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा।
   सालंकारसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक्।। चन्द्रलोक, पृ.6)
2. स्फीतदृष्टिष्वलंकारा गुणेभ्यः पृथगप्यलम्।
   दृश्यन्ते तत्तु बाहुल्यात्तेषां तेषां च सौक्ष्म्यतः।। (साहित्यसार, पृ.12)
3. काव्यस्य ज्ञानरूपत्वे शब्दत्वं नोपपद्यते। (काव्यालंकारकारिका, पृ.114)
4. ज्ञानात्मकोऽपि शब्दः स्यादुपाधि काव्यवर्ष्मणिः।
   पात्रं रसे पानकाख्ये दर्पण वा तनौ यथा।। (वही, पृ.92)

ज्ञानात्मकेन शब्दाख्येनार्थेनार्थान्तरात्मकः।
यः कश्चन चमत्कारी बोधः काव्यं स उच्यते। (वही, 190)

पश्चात्य विचारक बेनदेत्तो क्रोचे (1966 ई.) भी काव्य को अनुभूति का चिन्तन या गीतिमय प्रतिमान या विशुद्ध प्रातिभ ज्ञान मानते हैं। उनका कहना है कि कविता यथार्थतः विशुद्ध स्वयं प्रकाश ज्ञान है।[1]

काव्यधर्म के प्रसंग में डॉ. द्विवेदी कहते हैं कि पूर्णता (गुणों) से युक्त और विच्छित्ति (उपमादि एवं लक्षण) से सम्पन्न ज्ञान-विशेष (Intellect, Knowledge) ही काव्य है-

या चैषा पूर्णतायुक्ता संविन्नाम्नी नवा वधूः।
सैव विच्छित्तिसम्पन्ना कवितात्वं प्रपद्यते॥ (वही, 230)

डॉ. द्विवेदी ने 'पूर्णता' का अर्थ 'दोषाभाव एवं समस्त अवयवों की अनवद्यता' किया है।[2] किन्तु मात्र दोषरहित काव्य सहृदयजनहारी नहीं हो सकता जबतक कि वह उपमादि विच्छित्ति से युक्त न हो। इस प्रकार डॉ. द्विवेदी के काव्यलक्षण में दोषाभावत्व, गुणत्व एवं उपमादि अलंकारों का ग्रहण हो जाता है जो प्राचीन आलंकारिक सम्मत है।

काव्यसत्यालोक के रचयिता डॉ. ब्रह्मानन्द शर्मा सत्यानुभूति (experience of truth) को काव्य की आत्मा मानते हैं। उनका कहता है कि काव्य में, सत्य अर्थ में रहता है और अर्थ में शब्द रहता है। अतएव काव्यस्वरूप एवं शब्दार्थ उभय का समावेश होना चाहिये।[3] वे डॉ. द्विवेदी के मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि शब्द के दो कार्य हैं। एक तो उच्चारण से भावानुकूल कठोरता, कामलता इत्यादि की प्रतीति करना, दूसरा अर्थबोध कराना। इसके अतिरिक्त, काव्य में अर्थबोध के अनन्तर शब्द पृथक् नहीं हो जाता अपितु काव्यानुभूति में उसकी बारम्बार उपस्थिति होती है।[4] अतः शब्द काव्य से बहिर्भूत नहीं है। इस प्रकार उनका मन्तव्य है कि काव्यलक्षण में शब्दार्थयुगल का समावेश होना चाहिये। वे काव्य में एक अभिनव तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। वह है-सत्य। उनका कहना है कि सत्य सभी का अभीष्ट होता है और काव्य में भी सत्य की स्थिति होती है। काव्यगत वर्णन सामाजिक सत्य से सम्बद्ध होता है। काव्य के वर्णन का लोक व्यवहार

---

1. Poetry must be called neither feeling nor image, nor yet the sum of the two, but as 'contemplatioln of feeling' or 'lyrical intution' or 'pure intution'- pure of all historical critical reference to the reality or unreality of the images of which it is woven, and apprehending the pure throb of life into ideality. भारतीय साहित्यशास्त्र, बलदेव उपाध्याय, पृ. 338
2. दोषाभावात्मा सर्वावयवानवद्यता हि पूर्णतेत्युक्तम्। (काव्यलंकारकारिका, पृ.249)
3. सत्यमर्थगतं काव्ये, अर्थे शब्दस्य संस्थितिः।
   शब्दार्थयोर्हि सद्भावात्, अस्य साहित्यरूपता॥ (काव्यसत्यालोक, पृ.15)
4. शब्दस्यैकं कार्यमस्ति स्वोच्चारणरूपतया प्रस्तुतभावानुकूलस्य कठोरताकोमलादिकस्य प्रस्तुतिः, अपरं च कार्यमस्ति अर्थद्योतकता। किं च काव्येऽर्थद्योतनानन्तरं न हि शब्दस्य पृथग्भावोऽपितु काव्यानुभूतौ तस्य मुहुर्मुहुरुपस्थितिरिति न हि तस्य काव्याद् बहिर्भावः। (वही, पृ.15)

के साथ जो साम्य है, वही काव्य का लोकसत्य के साथ सम्बन्ध है। इस सत्य में सूक्ष्मता का आधान होने से प्रभावकारिता आती है। यही प्रभावकारिता ही काव्य में चमत्कार कहलाती है।[1] यह काव्य-सत्य एक व्यापक सिद्धान्त (Comprehensive concept) है, जिसमें शब्द, अर्थ, अलंकार, व्यंजना, रस, गुण आदि समस्त तत्त्वों का अन्तर्भाव हो जाता है। उनके अनुसार शब्दार्थ में सत्य के रमणीय प्रतिपादन को काव्य कहते हैं-

शब्दार्थवर्ति सत्यस्य, सुन्दरं प्रतिपादनम्।
काव्यस्य लक्षणं ज्ञेयम्, सत्यस्यात्र विशेषता॥ (वही, पृ. 72)

डॉ. शर्मा का कहना है कि काव्य में रमणीयता की प्रतीति होती है, वह सत्यता की प्रतीति से युक्त होती है। सत्य के प्रति हमारा सहज आकर्षण होता है। यदि सत्य में सूक्ष्मता का आधान हो तो आकर्षणाधिक्य होगा। यही आकर्षणाधिक्य ही सत्य की सुन्दरता है।

यह काव्य-लक्षण पाश्चात्त्य आलोचना के प्रवर्तक अरस्तू से प्रभावित प्रतीत होता है। अरस्तू ने भी काव्य में वास्तविकता अथवा सत्यता पर बल दिया है। उनका कहना है कि नाटक में लोक से असम्बद्ध घटनाओं का प्रदर्शन सर्वथा वर्जनीय होता है। नाटक में वास्तविक दृश्यों का ही समावेश होना चाहिए।[1] इस प्रकार अरस्तू का भी काव्य में सत्यता के प्रति आग्रह है।

पाश्चात्त्य जगत् में तो आधुनिक समय में भी काव्य के प्रसंग में सामाजिक सत्यता (Socialistic reality) की पर्याप्त चर्चा हुई है, परन्तु लोक-सत्य के व्यापक रूप में यह तत्त्व भारतीय काव्यशास्त्रियों को अज्ञात रहा हो, ऐसी बात नहीं। भरतमुनि ने 'यानि शास्त्राणि लोकधर्मप्रवृत्तानि तानि नाट्यं प्रकीर्तितम्' कहकर इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। काव्यशास्त्र के औचित्य सम्प्रदाय के लोकव्यवहार आदि तत्त्व स्पष्टतः लोकसत्य से सम्बन्धित हैं। अभिवनगुप्त द्वारा स्वीकृत 'वासनात्मतया स्थितः रत्यादिः' तथा 'विभावादिविमर्शप्राधान्यम्' भी लोकसत्य से सम्बन्धित हैं, परन्तु रसास्वाद को ब्रह्मास्वाद के तुल्य दिखाने के कारण तथा रसों में शान्तरस के सन्निवेश के कारण काव्य लोकसत्य से कुछ हट गया। वैष्णव काव्यशास्त्रियों ने अलौकिक भक्ति में सब रसों का समाहार करके हटन की इस प्रक्रिया में और योग दिया। अतः यह आवश्यक हो गया था कि युग चेतना को ध्यान में रखते हुये, काव्य स्वरूप की विवेचना हो। डॉ. ब्रह्मानन्द शर्मा का काव्य-लक्षण इसी चिन्तन का परिणाम है।

---

1. सत्यं सर्वेषामभीष्टमिति काव्येऽप्यस्य स्थितिः। अस्मिन् सत्ये सूक्ष्मतायां सत्यां प्रभावकारिताया आविर्भावः एषा प्रभावकारितैव चमत्कारः। (वही, पृ.9)
2. The poet should remember to put the actual scenes as for as possible before his eyes....... he will devise what is appropriate, and be least likely to overlook in congruities. Poetics P. 61 (उद्धृत, भारतीय साहित्यशास्त्र, दूसरा भाग, पृ.82)

अभिराज राजेन्द्र मिश्र इसे काव्यलक्षण न कहकर काव्यानुशंसन मानते हैं किन्तु यदि कारिकास्थित 'सुन्दरम्' का आशय लोकोत्तरत्व से है तो उन्हें कोई आपत्ति नहीं है।[1]

साहित्यबिन्दु ग्रन्थ के लेखक आचार्य छज्जूराम शास्त्री विद्यासगार शब्द मात्र में काव्यत्व का खण्डन करते हुए शब्दार्थोभय में काव्यत्व स्वीकार करते हैं उनका कहना है कि आस्वादव्यञ्जकत्व ही काव्य प्रयोजक (निर्माता) है और वह शब्दार्थ में समान रूप रहता है। इसके अतिरिक्त शब्द मात्र में काव्यत्व मानने पर शब्दनिष्ठ दोषादि का ही निरूपण साहित्यशास्त्र में कर सकेंगे, अर्थनिष्ठ दोषादि का नहीं, यह आपत्ति उपस्थित होगी। पुनश्च शब्दार्थ उभय में काव्यत्व न मानने से 'साहित्यशास्त्र' नाम की संगति भी न हो सकेगी।[2] अतएव वे रमणीयता सम्पन्न शब्दार्थ-युगल को काव्य कहते हैं-

रम्यं शब्दार्थयुगलं काव्यमस्माभिरिष्यते। (वही, पृ.4)

रमणीयता का तात्पर्य है अलौकिक (लोकोत्तर) आनन्दजनकता। यह रमणीयता बारम्बार उच्चारण द्वारा तथा अनुसन्धान (अर्थज्ञान) द्वारा सहृदयों के लोकोत्तर आनन्द को उत्पन्न करती है। अलौकिकत्व का अर्थ है आनन्दनिष्ठ चमत्कारत्व। इस प्रकार काव्य का परिष्कृत लक्षण हुआ 'चमत्कारविशिष्ट शब्दार्थयुगल'।[3]

अन्य लक्षणों की भाँति इस लक्षण में भी काव्य-निष्ठ चमत्कारोत्पादक तत्त्व का उल्लेख नहीं किया गया है। आचार्य ने ग्रन्थ में दोष, गुण एवं अलंकारों का निरूपण किया है। अतः हम कह सकते हैं कि निर्दोष, सगुण एवं सालंकार शब्दार्थयुगल का काव्यत्व ही आचार्य को अभीष्ट है।

सोमेश्वर शर्मा सहृदयहृदय को आह्लादित करने वाले शब्दार्थ-युगल को काव्य कहते हैं।[4] आनन्दवर्धन को भी काव्य का यही लक्षण मान्य है।[5] सहृदयहृदयाह्लाद' केवल एक विशेषण मात्र से सालंकारत्वादि का संग्रह हो जाता है, क्योंकि तादृश शब्दार्थ से ही सहृदयों को आनन्दानुभूति होती है। यदि काव्य के स्फुटालंकाररहित एवं सदोष होने पर भी सहृदयों को आनन्दानुभूति होती हो तो ऐसे काव्य का काव्यत्व भी इसी लक्षण से गतार्थ हो जाता है।

बदरी नाथ झा भी सहृदय को आह्लादित करने वाले शब्दार्थ-युगल को काव्य कहते हैं।[6]

---

1. तत्किमिदं काव्यलक्षणं काव्यानुशंसनं वा? यदि सत्यान्वेषणमेव काव्योपयोगित्वं तर्हि सत्यप्रतिष्ठैकप्रतिपाद्यानां शास्त्राणां क्षेत्रमेव काव्यनिर्गीणं परिलक्ष्यते। (अभिराजयशोभूषणम्, पृ.45)
2. काव्यत्वप्रयोजकस्यास्वादव्यञ्जकत्वस्य शब्दार्थयुगले विशेषात्। किं च शब्दमात्रस्य काव्यत्वाङ्गीकारे शब्दनिष्ठानामेव दोषगुणालंकारध्वनीनामत्र निरूपणार्हत्वेनार्थगतानां 'तेषां' निरूपणस्यानुचितत्वात्। साहित्यमिति व्यपदेशोऽपि शास्त्रस्यास्य युज्येत। (साहित्यबिन्दु, पृ.5-6)
3. एवं हि चमत्कारविशिष्टं शब्दार्थयुगलं काव्यमिति फलितम्। (वही, पृ.5)
4. सहयहृदयाह्लादकरौ शब्दार्थौ काव्यम्। (साहित्सविमर्श, पृ.33)
5. सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव हि काव्यलक्षणम्। (ध्वन्यालोक वृत्तिः 1,1)
6. काव्यं तत्र सहृदयाह्लादकशब्दार्थयुलम्। (साहित्यमीमांसा)

आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी लोक के अनुकीर्तन को काव्य कहते हैं–लोकानुकीर्तनं काव्यम्।[1] वे 'लोक' शब्द का प्रयोग प्राचीन आचार्यों की तुलना में अधिक व्यापक अर्थों में करते हैं। उनके अनुसार 'लोक' से यहाँ केवल 'जन' ही ग्राह्य नहीं है अपितु सम्पूर्ण चराचर जगत् का ग्रहण होता है। इतना ही नहीं उनकी दृष्टि में कवि का कल्पना जगत् एवं मनोलोक भी 'लोक' पद से अभीष्ट है। उनके अनुसार लोक के तीन रूप हैं–आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक। लोक में इस त्रिलोकी का समावेश है, न केवल आधिभौतिक जगत् का। इन तीनों का समग्र समुल्लास जीवन है। जीवन में ये तीनों ही पाये जाते हैं। इस प्रकार के लोक के वृत्त का अनुकीर्तन (वर्णन) काव्य है। आचार्य त्रिपाठी काव्य को लौकिक ही मानते हैं। उनका कहना है कि कवि उक्त त्रिविध लोक में अवस्थित होकर ही काव्य प्रणयन करता है और जो कुछ काव्य प्रणयन वह करता हे, वह भी लोक ही होता है।[2]

आचार्य शिव जी उपाध्याय 'लोक' शब्द से उपादान लक्षणों द्वारा 'लोकवृत्त' अर्थ ग्रहण करते हुए लक्षण का फलितार्थ मानते हैं–लोकत्वविशिष्ट-लोकवृत्तत्व–विशिष्टानुकीर्तनत्वं काव्यत्वम्। यह अर्थ ग्रहण करने पर मुख्यवृत्ति गुणवृत्ति उभयसामानाधिकरण्य में परस्पर विरोध होता है। इसी प्रकार उनका कहना है कि 'अनुकीर्तन' शब्द भी 'वर्णन' के अतिरिक्त अनेक अर्थों का द्योतक है। अतः इस लक्षण में भी उपपत्ति-अनुपपत्ति दोनों का समावेश है। उनका अभिमत है कि काव्य का सर्वाङ्गपूर्ण सर्वथा निर्दुष्ट लक्षण अशक्य है।[3]

आचार्य त्रिपाठी अनुकीर्तन की चार अवस्थायें मानते हैं–अनून्मीलन, अनुदर्शन, अनुभव तथा अनुव्याहरण। कवि के मानस में जब जीवन का प्रथम उन्मेष होता है तो उसे अनून्मीलन कहते हैं। कवि जब इस प्रथम उन्मेष का अपनी रचना-प्रक्रिया में दर्शन करता है तो वह अनुदर्शन कहलाता है। अनुदृष्ट स्थितियों के चित्रण के लिए शब्द और अर्थ के द्वारा वस्तु तथा रूप का आविष्कार अनुभव है। अनुभूत दशाओं का शब्दों से स्फुट कथन अनुव्याहरण है।

इन चारों के विनियोग से आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक विश्व काव्य में परिपूर्ण रूप से व्यक्त होते हैं। यही काव्य की परिपूर्णता है और यही अलंकार है। इसीलिए आचार्य त्रिपाठी के मत में अलङ्कार ही काव्य है।[4]

आचार्य शिव जी उपाध्याय उपर्युक्त काव्यलक्षण को शब्दनिष्ठ मानते हैं–लोकम् अनु (अनुगतं) कीर्तनं वर्णनं काव्यम्। इस निर्वचन से वर्णन पदार्थ की शब्दनिष्ठता सिद्ध है।

---

1. अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रम् 1.1.1
2. अस्मिन्नेव लोके अवस्थितः क रचयति काव्यम्। यच्चासौ रचयति काव्यं तदपि लोक एव। न तल्लोकातिगम्, अपितु लोकान्तर्वर्त्येव। अभिनव काव्यालङ्कारसूत्रम्।
3. ज्ञानायनी (आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी विशेषांक) सम्पादक–डॉ. शिशिर कुमार पाण्डेय, पृ.38-39
4. तेन अलङ्कार एवं काव्यम् अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रम्, 1.1.10

आचार्य त्रिपाठी जहाँ लोकानुकीर्तन को काव्य कहते हैं वही आचार्य अभिराज राजेन्द्र मिश्र लोकोत्तर आख्यान को काव्य मानते हैं-

'काव्यं लोकोत्तराख्यानं रसगर्भं स्वभावजम्'

'आख्यान' पद की व्युत्पत्ति करते हुए वे लिखते हैं-'आख्यायते शब्दार्थसमष्ट्या इति आख्यानम्' अर्थात् शब्द एवं अर्थ की समष्टि द्वारा जो वर्णित किया जाये उसे आख्यान कहते हैं। इस प्रकार वे शब्दार्थ-समष्टि को काव्य मानने की परम्परा का अनुमोदन करते हैं। जहाँ तक लोकोत्तरत्व का प्रश्न है, आचार्य मिश्र का कथन है कि सगुण, अदोष एवं निष्प्रयास प्रयुक्त अलङ्कारों के सद्भाव से एवं नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से आख्यान में लोकोत्तरता आ जाती है-

सगुणत्वमदोषत्वं निष्प्रयत्नाऽप्यलङ्कृतिः।
प्रज्ञा चापि नवोन्मेषा लोकोत्तरत्वकारणम्।।

आचार्य मिश्र ने लोकोत्तराख्यान के दो विशेषणों का प्रयोग किया है-रससिद्ध एवं स्वभावज। यह लोकोत्तर आख्यान रससिद्ध होना चाहिए तभी वह काव्यकोटिक कहा जा सकेगा। रससिद्ध होने का आशय यह है कि तात्कालिक आनन्द प्रदान करने वाले रसोद्रेक से काव्य का प्रत्यक्षर युक्त हो। काव्य एवं शास्त्र का एक भेद यह है कि शास्त्र विमर्शपूर्वक सायास लिखा जाता है जबकि काव्य स्वतः स्फूर्त भावोच्छलन होता है।

यहाँ यह तथ्य ध्यातव्य है कि आचार्य मिश्र लोकोत्तरता के एक कारण के रूप में 'सगुणत्व' का उपन्यास करते हैं सगुणत्व का आशय रसाभिव्यञ्जक माधुर्यादि गुणों का सद्भाव। सगुणत्व से रसादि व्यंग्य के आ जाने पर पुनः 'रसगर्भम्' पद की योजना से यह प्रतीत होता है कि आचार्य काव्य में रस की सत्ता के पक्षधर हैं। इस पद के समावेश से आचार्य विश्वनाथ के मन्तव्य का समर्थन हो जाता हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अभिराजयशोभूषणकार कार काव्यलक्षण काव्यप्रकाश के अधिक निकट है।

आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी काव्य को स्वतः स्फूर्त भावोच्छलन नहीं मानते। उनका कहना है कि ऐसा करने पर भट्टिकाव्य प्रभृति रचनायें काव्यकोटि से बहिर्भूत हो जायेंगी क्योंकि वे सायास लिखी जाती हैं। इसके अतिरिक्त रचना-प्रक्रिया में कभी पहले विचार का जन्म होता है और तब तदनुरूप भावोच्छलन होता है तो कभी पहले भावोच्छलन होता है और उसके पश्चात् तदनुसार विचार अथवा शब्दार्थसंघटना जन्म लेती है। नाटक और उपन्यास की रचना में तो कवि को प्रत्येक पात्र पर ध्यान देते हुए संवाद अथवा चरित्र विकास का निरूपण करना पड़ता है, अन्यथा साहित्य जगत् अव्यवस्थित हो जायेगा। ऐसी दशा में काव्य को स्वतः स्फूर्त भावोच्छलन नहीं स्वीकार किया जा सकता। हाँ, मुक्तकप्रभृति काव्य को यदा-कदा भावोच्छलन कहा जा सकता है।

साहित्यसन्दर्भकार आचार्य शिव जी उपाध्याय काव्यलक्षण में व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ की ओर संकेत करते हैं-

कविकर्मतया ख्यातं काव्यं यत् कवृधातुजम्।
तत्स्वरूपमथैकान्तं काव्यत्वमिति सुस्थिरम्॥

वृत्ति में वे लिखते हैं—कवृधातोर्निष्पन्नस्य काव्यशब्दस्य कविकर्मत्वेन ख्यातेः कविनिष्ठकर्तृतानिरूपितकाव्यनिष्ठकर्मत्वावच्छिन्नत्वं काव्यत्वमिति तल्लक्षणं सङ्गच्छते।

सौन्दर्यविमर्श खण्ड में काव्य का विशद लक्षण करते हुए आचार्य उपाध्याय निर्गलद्रसनिर्व्यूढ, गुणालङ्कारसंचित, निर्दुष्ट एवं भावभूयिष्ठ शब्दार्थसमष्टि को काव्य स्वीकार करते हैं-

निर्गलद्रसनिर्व्यूढं गुणालङ्कारसञ्चितम्।
निर्दुष्टं भावभूयिष्ठं काव्यसाहित्यमेव तत्॥

यहाँ रसनिर्व्यूढ कहने के पश्चात् आचार्य का 'भावभूयिष्ट' पद का सन्निवेश आपाततः चिन्त्य लगता है। भावों (संवेदनाओं) से युक्तता पुनरुक्ति सा प्रतीत होता है। वृत्ति में वे 'भावभूयष्ठि' का अर्थ करते हैं—भावैः विभावानुभावव्यभिचारिसात्त्विकादिभिः भूयिष्ठं भूम्ना परिनिष्ठितम्। काव्यसाहित्यम्-काव्यं च तत् साहित्यं, कविकर्म काव्यं तस्य शब्दार्थसहभावसंवलितम्।... निश्शेषण गलन् निष्यन्दमानो यो रस्यते आस्वाद्यते रसः आस्वादः आह्लादजनकः चमत्कृतिप्राणः तेन निर्व्यूढं (निःशेषतया अनुस्यूतम्)।

काव्यचमत्कार ग्रन्थ के लेखक आचार्य रामप्रताप वेदालङ्कार चमत्कारात्मक वाक्य को काव्य मानते हैं। उनके अनुसार अखण्डोचित शब्दार्थ से युक्त, रस-अलङ्कारादि से समन्वित, चमत्कारात्मक वाक्य को काव्य कहते हैं-

अखण्डोचितशब्दार्थं रसादिभिश्च संयुतम्।
चमत्कारात्मकं वाक्यं काव्यं कविनियोजितम्॥

यहाँ 'अखण्ड' पद का तात्पर्य है वाक् और अर्थ की सम्पृक्ति। आचार्य चमत्कार को अंगी एवं रसादि को अंग स्वीकार करते हैं, रसादि कारण है और चमत्कार कार्य।

आचार्य वेदालङ्कार काव्य की एक और परिभाषा करते हैं-

शब्दार्थैर्ललितैर्युक्तं चमत्कारेण पेशलम्।
काव्यत्वजातिमत् काव्यं प्रोच्यते वा कृतिः कवेः॥
काव्ये काव्यत्वमेतद् वै गवि गोत्वमिव स्थितम्।
सर्वेषु काव्यभेदेषु दृश्यतेऽनुगतं हि तत्॥ (काव्यचमत्कार-3-10-12)

आचार्य रहस बिहारी द्विवेदी सद् वाक् को काव्य स्वीकार करते हैं और वह भी प्रज्ञावान् कवि से निःसृत-

सुहृदां हृदयाह्लादे लोकोद्बोधे च सङ्गता।
प्रज्ञावतः कवेः सद्वाक् काव्यमित्यभिधीयते॥

प्रस्तुत काव्यलक्षण में 'प्रज्ञावतः' पद के समावेश से लोकोत्तरत्व का आधान हो जाता है।

सद् वाक् कहने से दोषराहित्य आदि भी समाविष्ट हो जाता है। आचार्य द्विवेदी ने यहाँ परम्परागत सहृदयहृदयाह्लाद शब्द का प्रयोग किया है। जहाँ तक लोकोद्बोध का प्रश्न है यह काव्य प्रयोजन की दृष्टि से सार्थक है।

उपर्युक्त लक्षणों पर विचार करने से यह ज्ञात होता है कि आधुनिक युग में चमत्कार को ही काव्य का प्रधान तत्त्व स्वीकार कर लिया गया एवं काव्य में चमत्कृति पर ही विशेष बल दिया गया और यह चमत्कृतिजनकता रस में है अथवा अलंकार में अथवा किसी अन्य तत्व में यह विश्लेषण गौण हो गया। यही कारण है कि चिरञ्जीव भट्टाचार्य, हरि प्रसाद माथुर, नरसिंह कवि, विद्याराम, रामप्रताप वेदालङ्कार आदि आचार्य चमत्कार को ही काव्य का मौलिक रहस्य मानते हैं।

आधुनिक युग में एक ओर हरि प्रसाद माथुर प्रभृति आचार्य शब्दमात्र को काव्य मानते हैं तो दूसरी ओर डॉ. रेवा प्रसाद अर्थमात्र में काव्यत्व स्वीकार करते हैं। अन्य आचार्य प्राचीन आचार्यों की सरणि में शब्दार्थोभय को काव्य मानते हैं। अभिराज राजेन्द्र मिश्र प्रभृति कुछ आचार्य अपने काव्य लक्षण में शब्दार्थ की चर्चा नहीं करते। फिर भी चाहे प्राचीन युग हो अथवा आधुनिक युग शब्दार्थोभय में काव्यत्व स्वीकार करने वाले आचार्यों का बाहुल्य दृष्टिगत है।



श्रीमद्भगवद्गीता में ज्ञानकर्मसमुच्चय सिद्धान्त
(आनन्दवर्धिनी व्याख्या के आलोक में)

डॉ॰ सी.के. झा

श्रीमद्भगवद्गीता पर विभिन्न आचार्यों ने भाष्य लिखे हैं। उन भाष्यों पर भी विभिन्न सम्प्रदायों की टीकाएं-प्रटीकाएं उपलब्ध होती हैं और सभी सम्प्रदायों को उसमें अपने सिद्धान्तों के दर्शन होते हैं। यही कारण है कि निगम तथा आगम दोनों परम्पराओं में यह आदरणीय ग्रन्थ है। इसीलिए श्रीमद्भगवद्गीता आध्यात्मिक अनुसंधान की केन्द्र है। भगवद्गीता का ही यह असाधारण वैशिष्ट्य है कि वह अध्येताओं को परस्पर विरोधी विचारों के पोषण की सामग्री प्रस्तुत करती है; अतः प्रत्येक अध्येता अपने मन्तव्य की पुष्टि के लिए उसका सहारा लेता है। राजानक आनन्द ने भी अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित करने के लिए गीता पर 'आनन्दवर्धिनी' टीका की रचना की जो ज्ञान-कर्म-समुच्चय सिद्धान्त पर आधारित है। राजानक आनन्दकृत 'आनन्दवर्धिनी' कालक्रम की दृष्टि से अन्य काश्मीरी टीकाओं से परवर्ती है। वस्तुतः राजानक आनन्द महान् दार्शनिक तथा शैवदर्शन के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों तथा दर्शनों के ज्ञाता भी थे। अपनी टीका में इन्होंने न्याय, याज्ञवल्क्य-स्मृति, उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य आदि अनेक दर्शनों के विचारों को यथा स्थान प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है।

वस्तुतः शैव परम्परा का अनुसरण करते हुए इन्होंने ज्ञान कर्म-समुच्चय की बात कही है। शैव परम्परा में परमशिव की स्वात्माभिन्न स्वातन्त्र्य शक्ति ही चिद्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया-संवलित है। अतः चिदानन्द इच्छा, ज्ञान शक्तियाँ स्वातन्त्र्य शक्ति का स्वभाव होने से ज्ञान और क्रिया स्वरूप में अलग-अलग नहीं रह सकतीं। परमेश्वर की इच्छाशक्ति ही उसकी स्वातन्त्र्य शक्ति कहलाती है जिसमें ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति सदैव अभेद रूप में स्फुरति होती है।[1] अतएव आत्मा ज्ञातृ-कर्तृरूप है। प्रत्येक क्रिया का कोई न कोई कर्ता अवश्य होता है। ज्ञान भी एक क्रिया है; अतएव उसका भी कोई कर्ता होता है इसी तरह प्रत्येक क्रिया कर्ता में होती है तथा वह कर्ता उस क्रिया का आश्रय होता है। इस प्रकार ज्ञान और क्रिया अभिन्न और एक ही है। इसी कारण काश्मीर शैवदर्शन में यह प्रतिपादित किया गया है कि जो ज्ञान है वह क्रिया शून्य नहीं है और जो क्रिया है वह ज्ञानरहित नहीं है।[2] ज्ञान और क्रिया वस्तुतः एक परमेश्वरी इच्छा का ही उत्तरोत्तर विकास है। परमेश्वर की इस चिकीर्षारूप इच्छा में सब कुछ अन्तर्भूत है और वह सब

1. विमर्श एव देवस्य शुद्धे ज्ञानक्रिये यतः। ई॰ प्र॰ वि॰, भा॰ 1.1.8.11
2. न क्रिया रहितं ज्ञानं न ज्ञान रहिता क्रिया।
नेत्रतंत्र उद्द्योतटीका, भाग 2, पृ॰ 42

वहाँ अभेद रूप से ही अवस्थित है।[1] राजानक आनन्द ने स्पष्ट रूप से कहा है कि ज्ञान और कर्म के समुच्चय से ही परमपुरुषार्थ की प्राप्ति होती है।[2] ये दोनों एक ही वस्तु के दो रूप है। ज्ञान क्रियामय है और कर्म में कुशलता (योग निष्पादन) बिना ज्ञान के नहीं हो सकती।

'ज्ञानकर्मसमुच्चय' को समझने से पूर्व इसमें प्रयुक्त पदों पर पृथक् रूप से विचार कर लेना परमावश्यक है। उसमें पहले 'ज्ञान' शब्द आता है। 'ज्ञायते अनेन' इस व्युत्पत्ति से जिस विद्या के द्वारा यह जड़चेतनात्मक समस्त विश्व ब्रह्मात्मक प्रतीत होता है, उसे ज्ञान कहते हैं। इस विषय में आचार्य शंकर का मत है कि गीता केवल तत्त्वज्ञान से मोक्ष प्राप्ति का प्रतिपादन करती है[3], न कि कर्म सहित ज्ञान के द्वारा। उन्होंने निःसंदिग्ध रूप से कई बार यह घोषणा की है कि आत्मज्ञानी को सभी कर्मों का त्याग कर देना चाहिए।[4] परम कल्याण का साधन न तो कर्म है और न ज्ञान-कर्म का समुच्चय ही। अतः कैवल्य ही जिसका फल है, ऐसे ज्ञान को कर्मों की सहायता भी अपेक्षित नहीं हैं; क्योंकि ज्ञान अविद्या का नाशक है, इसलिए उसका कर्मों से विरोध है।[5] बृहदारण्यकोपनिषद् के भाष्य में भी आचार्य शंकर ने यह मत व्यक्त किया है कि "जब तक मनुष्य आत्मज्ञान सम्बन्धी विधि के अभिमुख न हो जाये तभी तक कर्म विधियाँ हैं।" इसलिए कर्मों का आत्म-ज्ञान के साथ रहना सम्भव नहीं है और यही अमृतत्व है। इस प्रमाण से सिद्ध होता है कि आत्म-ज्ञान ही अमृत्व का साधन है; क्योंकि कर्म को ज्ञान की अपेक्षा नहीं है।[6] मुण्डकोपनिषद् के भाष्य में पुनः उन्होंने यह उल्लेख किया है कि यद्यपि ज्ञान मात्र में सभी आश्रय वालों का अधिकार है तथापि ब्रह्म-विद्या संन्यासगत होने पर ही मोक्ष का साधन होती है, कर्म सहित नहीं। ब्रह्ममात्मैक्य दर्शन के साथ कर्मों का सम्पादन स्वप्न में भी नहीं किया जा सकता।[7] इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य शंकर

1. परामर्शों हि चिकीर्षारूपेच्छा, तस्यां च सर्वमन्तर्भूतं निर्मातव्यमभेदकल्पेनास्ते
   ई॰ प्र॰ वि॰, भा॰ 2, पृ॰ 181.
2. ज्ञानकर्मसमायोगात् परं प्राप्नोति पुरूषः।
   पृथग्भावान्न सिध्यन्ति तदेतं सात्माश्रयेत्।।
   याज्ञवल्क्यस्मृति 3.57 के ऊपर अपरार्ककृत टीका उद्धृत। आ॰ पृ॰ 8
3. तस्माद् गीतासु केवलाद् एव तत्त्वज्ञानाद् मोक्ष प्राप्तिः न कर्म समुच्चिताद् इति निश्चितः अर्थः। गी॰ (शां॰ भा॰), 2.1 से 10, पृ॰ - 31
4. तस्माद् विशेषितस्य अविक्रियात्मदर्शिनो विदुषो मुमुक्षोः च सर्वकर्मसंन्यासे एव अधिकारः। तदेव
5. तस्माद् न कर्मणः अस्ति निःश्रेयससाधनत्वम्। न च ज्ञानकर्मणोः समुच्चितयोः न अपि ज्ञानस्य कैवल्य फलस्य कर्म साहय्यपेक्षा अविद्यानिवर्तकत्वेन विरोधात्
   गी॰ (शां॰ भा॰) 18-66, पृ॰ 461
6. तस्माद् यावदात्मज्ञानविधेराभिमुख्यं तावदेव कर्मविधयः तस्मान्नात्मज्ञानसहभावित्वं कर्मणामित्यतः सिद्धमात्माज्ञानमेवामृतत्वसाधनम् 'एतावदरे खल्वमृतत्वम्' इति कर्मनिरपेक्षत्वज्जज्ञानस्य।
   वृ॰ उ॰ (शां॰ भा॰) 4.515. पृ॰ 1154
7. ज्ञानमात्रे यद्यपि सर्वाश्रमिणाम् अधिकारस्तथापि संन्यासनिष्ठैव ब्रह्मविद्या मोक्षसाधनम् न कर्म सहितेति 'भैखचर्या चरन्तः' .... 'संनयासयोगात्' इति च ब्रुवन् दर्शयति। विद्या कर्म विरोधाच्च। न हि ब्रह्मात्मैकत्वदर्शनेन सहकर्म स्वप्नेऽपि सम्पादयितुं शक्यम्। मु॰ उ॰ (शां॰ भा॰) - प्रथम खण्ड का सम्बन्ध भाष्य, पृ॰ 9

"ज्ञान-कर्मसमुच्चयवाद" के कट्टर विरोधी प्रतीत होते हैं।

काश्मीरी शैवदर्शनों में चाहे वह प्रत्यभिज्ञा दर्शन हो या क्रम या कुल अथवा स्पन्द दर्शन सर्वत्र ही ज्ञान और कर्म की एकता का दर्शन होता है। राजानक आनन्द ने यद्यपि निष्पक्ष रूप से आनन्दवर्धिनी की रचना की है किन्तु काश्मीर सम्प्रदाय की स्पष्ट झलक उसमें मिलती है। आनन्दवर्धिनी का मुख्य प्रतिपाद्य विषय "ज्ञानकर्मसमुच्चय" या ज्ञान-कर्म का सहभाव ही है। क्रिया-रहित ज्ञान पङ्गु है और बिना ज्ञान के कर्म अन्धा है। इस प्रसंग में टीकाकार ने पुलस्त्य का वचन भी उद्धृत किया है। अज्ञानपूर्वक किया गया कर्म मानव के पतन का कारण भी हो सकता है। अतः बुद्धिमान पुरुष को इन दोनों मार्गों का इस रीति से अनुसरण करना चाहिए कि कर्म के बन्धन उसे बाँध न सके और वह मोक्ष का अधिकारी भी हो सके। यहाँ यह बात ध्यातव्य है कि मुमुक्षु मानव की कर्म में प्रवृत्ति तथा कर्म-फल से निवृत्ति होना ही दोनों मार्गों का समुच्चय है। समुच्चय का अर्थ है तत्त्व साक्षात्कार में ज्ञान और कर्म का साथ-साथ रहना या एक दूसरे का सहायक होना।[1]

गीता के तृतीय अध्याय में ज्ञान और कर्म के प्रसंग में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से यह प्रश्न किया है कि यदि कर्म की अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है तो फिर क्यों मुझे इस घोर कर्म (युद्ध) में लगाते हैं। एक ही साधन बताइए जिसका आश्रय ग्रहण कर मैं आत्म कल्याण प्राप्त कर सकूँ[2] यहाँ अर्जुन की शंका का समाधान करते हुए श्रीकृष्ण ने यह बातया है कि 'ज्ञानकर्मसमुच्चय' के अनुष्ठान से ही श्रेय की प्राप्ति होती है[3] अर्थात् ज्ञान कर्म के बिना विकसित नहीं होता और कर्म ज्ञान के बिना विकसित नहीं होता। दोनों मिलकर एक पुरुष साध्य विषया ही है।[4] इन दोनों मार्गों में भेद करना सम्भव नहीं है, क्योंकि जो केवल ज्ञानवादी है वे समस्त कर्मों को त्यागपूर्वक करते हुए अपवर्ग की अभिलाषा रखते हैं तथा 'ज्ञानकर्मसमुच्चय' को मानने वालों के समस्त कर्म त्यागपूर्वक अनुष्ठित होते हैं किन्तु दोनों में एक ही फल की प्राप्ति होती है।[5]

अभिनवगुप्त ने भी ज्ञान और योग के एकत्व का ही समर्थन किया है। यहाँ योग से उनका तात्पर्य कर्मयोग से है। अतः उनका भी यही अभिमत है कि ज्ञान क्रियामय है और कर्म में कुशलता

1. ज्ञानं प्रधानं न तु कर्महीनं कर्म प्रधानं न तु बुद्धिहीनम्।
तस्मादुभाभ्यां भवेऽत्र सिद्धिर्न ह्येकपक्षो गुरूडः प्रयाति।।
याज्ञवल्क्य स्मृति 3.57 के ऊपर अपरार्ककृत टीका में उद्धृत तथा आ०, पृ०-8
2. ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत् किं कर्माणि घोरे मां नियोजयसि केशव। गी०, 3.1.
3. निष्ठा निर्वहणं ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानेन श्रेयः प्राप्तिरितीत्थं सिद्धान्तस्योक्तिः। आ०, 3.3
4. तदित्थं ज्ञानिनां कर्माविनाभावात् कर्मिणां च ज्ञानाविनाभावादेकेव निष्ठा प्रकार द्वयसाध्या एकपुरुषविषया प्रोक्ता। वहीं पर।
5. यतः केवलज्ञानवादिनः सर्वात्मना कर्मणां त्यागेन अपवर्गमिच्छन्ति, समुच्चयवादिनस्तु कर्मणामत्यागेन अनुष्ठानेनेति द्वयोरपि फलश्रुतिरस्ति। सर्वतोभद्र, पृ०-117

(योग निष्पादन) बिना ज्ञान के नहीं हो सकता। इसलिए ज्ञान और कर्म एक ही वस्तु के दो रूप हैं।[1] अभिनवगुप्त ने अपरिहार्य होने के कारण कर्म को ज्ञान के अन्तर्गत ही माना है।

राजानक आनन्द ने ज्ञान व कर्म के सम्बन्ध को अङ्गाङ्गिभाव से स्पष्ट किया है।[2] जिस प्रकार अङ्ग को अङ्गी से पृथक् कर दिया जाए तो उसकी अपनी सत्ता समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार से बिना कर्म की सहायता से ज्ञान निष्क्रिय हो जाता है और निष्क्रियता द्वारा जीवन की सम्भावना ही नहीं की जा सकती है। अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने ईशावास्योपनिषद् के इस वचन को भी उद्धृत किया है कि "जो अविद्या की अर्थात् कर्म की ज्ञान के बिना उपासना करते हैं", वे अन्धकार में प्रवेश करते हैं तथा जो अपने नियत कर्मों को त्याग कर केवल आत्मज्ञान में रमे रहते हैं वे और भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं[3] यहाँ 'अविद्या' तथा 'विद्या' क्रमशः 'कर्म' तथा 'ज्ञान' शब्द के वाचक हैं। वे इसके समर्थन में अपनी टीका में पुनः इस उपनिषद् वाक्य को उद्धृत करते हैं कि "जो विद्या तथा अविद्या दोनों को ही एक साथ जानता है वह अविद्या से मृत्यु को पार करके विद्या से अमरत्व प्राप्त कर लेता है।"[4]

ज्ञान और कर्म के समुच्चय का प्रतिपादन करने वाले वाक्य सिद्धान्त रूप में जिस प्रकार उपनिषद्, पुराण, महाभारत आदि में उपलब्ध होते हैं, उसी प्रकार स्मृति ग्रन्थों में भी अनुस्यूत हैं। अतः 'मनुस्मृति' में भी यह उल्लेख मिलता है कि तप विद्या दोनों ही ब्राह्मण के लिए श्रेष्ठ है। द्विज तप के द्वारा पाप को दूर करता है तथा ब्रह्म विद्या के द्वारा मोक्ष को प्राप्त करता है।[5] आनन्द ने मनुस्मृति के अतिरिक्त अपनी टीका में याज्ञवल्क्य स्मृति के वचनों को भी उद्धृत किया है, यथा गृहस्थ भी जो ज्ञानयुक्त कर्म करता है वह भी मोक्ष पद प्राप्त करता है।[6] पुनः उन्होंने पुराण के वचन को भी उद्धृत किया है कि ज्ञानपूर्वक कर्म करने से श्रेष्ठ द्विज मोक्ष को प्राप्त करता है।[7] 'हारीत स्मृति' में इसी तथ्य को सुन्दर उपमा द्वारा निरूपित किया गया है कि "रथहीन घोड़े अथवा

---

1. न क्रिया रहितं ज्ञानं न ज्ञानहिता क्रिया।
   ज्ञानक्रिया विनिष्पन आचार्यः पशुपाशहा।। गी॰ सं, 3-3.4.
2. आ॰, पृ॰-5
3. अविद्या विद्याशब्दौ कर्मज्ञानार्थवाचकौ। ये मूढ़ा अविद्यां कर्मेव ज्ञानं विनोपासते तेऽन्धं तमः प्रविशन्ति। ये तु नियतं कर्म त्यक्त्वा विद्यायामात्मज्ञान एव केवले रतास्ते भूयो बहुतरमेवान्धं तमः प्रविशन्ति। आ॰, पृ॰ 4,
4. चशब्दावत्र समुच्चयार्थौ। विद्यामात्मज्ञानमविद्यां कर्म च उभयं।
   समुच्चितं तनिनः श्रेयससाधनं यो वेद जानाति सोऽविद्यया कर्मणा मृत्युतुल्यं विहिताकरणोद्भवं पापमेव मोक्षान्तरायं तीर्त्वा विद्ययात्मज्ञानेनामृतं मोक्षं प्राप्नोति। वही पृ॰ 4
5. तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरावुभौ।
   तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययामृतमश्नुते।। मनु॰, 12.104, आ॰, पृ॰ 7, पर उद्धृत।
6. न्यायागतधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः।
   श्रद्धकृत् सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यतते।। या॰, 3.205 तथा आ, पृ॰ - 8 पर उद्धृत।
7. एवं ज्ञानवतः कर्म कुर्वतोऽपि प्रजादिकम्। भवेन्मुक्तिर्द्धिजश्रेष्ठ रैभ्यस्य वचनं यथा।।
   आ॰, पृ॰ - 9 उद्धृत।

घोड़ों के बिना रथ सार्थक नहीं हो सकते, उसी प्रकार तप बिना विद्या तथा विद्याहीन तप सार्थक हो सकता है।[1] अनुगीता के अनुसार भी ज्ञान रहित कर्म के द्वारा व्यक्ति मोह को प्राप्त करता है।[2]

इस प्रकार विभिन्न शास्त्रों के उद्धरणों द्वारा राजानक आनन्द यह प्रमाणित करते हैं कि 'ज्ञानकर्मसमुच्चय' के द्वारा ही मोक्ष प्राप्ति सम्भव है। अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने वैशषिक दर्शन के न्यायकन्दली के सिद्धान्त को भी स्वीकार किया है। 'न्यायकन्दली' में गुण-पदार्थ विवेचन के अन्तर्गत यह समस्या प्रस्तुत की गई है कि केवल ज्ञान से मुक्ति मिलती है अथवा "ज्ञानकर्मसमुच्चय" के द्वारा। वहाँ सिद्धान्तः यही प्रमाणित किया गया है कि 'ज्ञानकर्मसमुच्चय" द्वारा ही मोक्ष प्राप्ति सम्भव है। मुमुक्षु को काम्य कर्मो का त्याग तथा नित्य और नैमित्तिक कर्मो को अवश्य करना चाहिए। काम्य कर्म निषिद्ध हैं, क्योंकि वे बन्धन के कारण बनते हैं, किन्तु नित्य तथा नैमित्तिक न करने पर बन्धक होते हैं। अतएव पूर्णरूपेण कर्म का परिहार सम्भव नहीं है।

गीता के ज्ञानकर्मसमुच्चय में कहीं-कहीं कर्म की प्रधानता का भी वर्णन मिलता है जिसकी पुष्टि महाभारत, स्मृति तथा अन्य उपनिषदों से होती है। 'ईशावाष्योपनिषद्' में वर्णित है कि इस लोक में शास्त्रविहित कर्मों का आचरण करते हुए सौ वर्षों तक जीने की अभिलाषा करनी चाहिए[3] अर्थात् शास्त्रेक्त स्वकर्म का पालन करना ही ईश्वर की पूजा है। इस प्रकार कर्म करते हुए कर्मों से लिप्त न होने का यही एक मात्र मार्ग है। मात्र अविद्या (कर्म) का सेवन करने वाले पुरूष अन्धकार में रहते हैं और केवल विद्या (ज्ञान) में मग्न रहने वाले उससे भी गहरे अन्धकार में गिरते हैं।[4] यही गीता में भी निर्दिष्ट है कि जहाँ ज्ञानी अनेक जन्मों के पश्चात् और तलवार की धार पर चलकर पहुँचता है[5] वहाँ कर्मयोगी 'योगः कर्मसु कौशलम्'[6] की स्थिति में पहुँचकर जन्मरूप बन्धनों से आसानी से मुक्त हो जाता है।

उसी प्रकार ज्ञान-प्रधान ज्ञानकर्मसमुच्चय के भी 'गीता' में असंख्य उदाहरण प्राप्त होते हैं, जिसमें कर्म का कोई विशेष महत्त्व नहीं रहता; कर्म केवल लोक संग्रहार्थ किया जाता है। यहाँ पर कर्म का स्थान गौण भले ही हो पर उसकी सत्ता अवश्य होती है। जनकादि जैसे राजर्षियों को भी लोक-संग्रहार्थ कर्म करना ही पड़ा था। पुनः 'गीता' में निर्दिष्ट है कि जिसके सम्पूर्ण शास्त्रसम्मत कर्म बिना कामना और संकल्प के होते हैं तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूपी अग्नि के द्वारा भस्म

1. यथाश्वा रथहीनास्तु रथा वाश्वैर्विना यथा। एवं तपोऽप्यविद्यस्य विद्या वप्यतपस्विनः। वहीं पर।
2. मोहमेव हि गच्छन्ति कर्मणा ज्ञानवर्जिताः।। वहीं पर।
3. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।। ई० उ० ए० 2,
4. अन्धन्तामः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो यउ विद्ययां रताः।। वही, 9.
5. बहूनां जनमनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। आ०, 7-19.
6. बुद्धियुक्तों जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।। गी०, 2-50.

हो गये हैं, उसी महापुरुष को ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं।[1] यहाँ कामना और संकल्प रहित कर्म को ही महत्त्व दिया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गीता में ज्ञानकर्मसमुच्चय को यथेष्ट स्थान प्राप्त है। यह स्वयं परमेश्वर श्रीकृष्ण के वचन से भी सिद्ध होता है कि संन्यास योगियों एवं कर्मयोगियों के उक्त विरोधात्मक विचार समीचीन नहीं है। संन्यास और निष्काम कर्मयोग दोनों वस्तुतः एक ही हैं। परन्तु मुर्ख लोग पृथक्-पृथक् फल वाले मानते हैं न कि पण्डित, दोनों में से किसी एक निष्ठा में भलि--भाँति स्थित पुरुष दोनों के लक्ष्यरूप परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।[2]

रामानुजाचार्य ने तो यहाँ तक कहा है कि ज्ञान निष्ठा का आश्रय लिए बिना भी कर्म करने से मनुष्य बद्ध नहीं होता अर्थात् संसार को प्राप्त नहीं होता और मोक्ष को प्राप्त करता है।[3] इससे कर्मों की ज्ञानरूपता सिद्ध होती है।[4] कर्म के अन्तर्गत ज्ञान रहने के कारण कर्म ही ज्ञानस्वरूप हो जाता है[5] या कर्मों को ज्ञानस्वरूप बना लिया जाता है।[6]

साधाणतया कर्म का सम्बन्ध शरीर से है। महर्षि गौतम ने शरीर की परिभाषा निश्चित करते हुए कहा है कि जिसमें रहकर इन्द्रियाँ पदार्थ के लिए चेष्टा करती है वही शरीर है।[7] अतः कर्म का आश्रय शरीर है। रामानुजाचार्य ने जो कर्म की उत्पत्ति ब्रह्म से मानी है।[8] उसका अभिप्राय भी यही है कि प्रकृति के परिणाम रूप शरीर से ही कर्म होता है। अतः स्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है कि यद्यपि इन्द्रियों की समस्त चेष्टाएं ही कर्म है और उनके अतिरिक्त मानसिक कर्म भी होते हैं तथापि वे सब शरीर पर ही आधारित हैं वे सब आधेय है और उनका आधार। कर्म की पवित्रता मन पर निर्भर होती है; इसलिए मनु ने सदाचार[9] निर्णय में मन का सहयोग अपेक्षित किया और किसी भी कर्म को मन से शुद्ध करने की भी प्रेरणा दी है।[10] महाकवि कालिदास ने भी 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक में मन की प्रेरणा से कर्म की शुद्धि को स्वीकार किया[11] सन्देह

---

1. यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः
   ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।। गी, 4-19.
2. सांख्य योगौ पृथग्वालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
   एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्। गी०, 5-4.
3. कमैव कृत्वापि ज्ञाननिष्ठां विना अपि न निबध्यते, न संसारं प्रतिपद्यते। गी० (रा० भा०), 4-19, पृ० - 155
4. कर्मणो ज्ञानाकारत्वमुपपद्यते। गी० (रा० भा०), 4-19, पृ०-153
5. अन्तर्गत-ज्ञानतया कर्मणो ज्ञानाकारत्वमुक्तम्। गी० (रा० आ०), 4-33, पृ०-163
6. ज्ञानाकारतापन्न कर्माणम्। वही, 4-41, पृ०-168
7. चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्। न्या० द०, 1.1.11.
8. गी०, 3-15, रामानुजभाष्य।
9. सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। मनु०, 2.121.
10. मनः पूतं समाचरेत्। मनु०, 6-46.
11. सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तः करण प्रवृत्तयः। अभि० शा०, 1.20.

के अवसर पर सज्जन मनुष्यों के अन्त:करण (मन) की प्रवृत्ति ही प्रमाण होती है। मन इन्द्रियों का नियंत्रक और सहकारी भी होता है, वह कमेन्द्रियाँ भी है और ज्ञानेन्द्रियाँ भी। जिस प्रार काक की एक ही अक्षि दोनों गोलकों में घूम कर उसकी दोनों आंखों का काम करती हैं उसी प्रकार मन कर्मेन्द्रियों में मिलकर कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रियों में मिलकर ज्ञानेन्द्रिय ही बनता रहता है। अभिप्राय यह है कि इन्द्रियों का पूरक मन है, वैदिक ऋषि ने कहा है कि इस शरीर की पूरक इन्द्रियाँ और उनका भी पूरक मन है।[1] अतएव शरीर के आश्रित होकर और उसके राग तथा द्वेष की उपलब्धि को घोषित करना मन का ही व्यापार है। काम, संकल्प, चिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, ह्री, धी, भय ये सब मन के ही आवर्त्त[2] हैं अर्थात् मन के ही रूप हैं।

मन का ही आवर्त श्रद्धा है जिस प्रकार मन एक तरफ से शरीर और इन्द्रियों का पूरक है तो दूसरी तरफ से बुद्धि से अपेक्षित है उसी प्रकार श्रद्धा एक ओर से कर्म की पूरिका है तो दूसरी तरफ से ज्ञान की अपेक्षिणी है। प्रेम और विश्वास के सम्मिलित रूप को ही श्रद्धा कहते हैं तथा उत्कट[3] रूप को भक्ति मानते हैं। भक्ति में ईश्वरीय प्रेम और विश्वास दोनों सम्मिलित रहते हैं वह कर्म तथा ज्ञान दोनों का संतुलन करती रहती है। एक तरफ से वह कर्म की पूरिका रहती है तो दूसरी तरफ से ज्ञान की अपेक्षिणी भी बनी रहती है। इस प्रकार भक्ति कर्म और ज्ञान का सन्तुलन करती है। वस्तुतः ज्ञान और कर्म अन्योऽन्यापेक्षी है। ज्ञान से कर्म की शुद्धि होती है और कर्म से ज्ञान की वृद्धि होती है ज्ञान के बिना कर्म अन्धा है तो कर्म के बिना ज्ञान पंगु है। जिस प्रकार नौका और नाविक परस्पर एक दूसरे पर आश्रित रहते हैं उसी प्रकार ज्ञान और कर्म भी परस्पारोधी सिद्ध होते हैं। अत: ज्ञान में जीवन की सत्यता तभी आकती है जब उसे कर्म के खोखले में ढाला जाता है और कर्म में भी नैतिकता तभी पनपती है जब उसे ज्ञान का मुलम्मा देकर परिमार्जित किया जाता है। कर्म में फल की आसक्ति विष की भाँति हानिकारक होती है और उसका परिहार केवल ज्ञान से ही होता है। ज्ञान से मनुष्य के हृदय में कर्त्तव्य की भावना जागृत होती है जिससे वह निष्काम होकर किसी भी शुभ कार्म में प्रवृत्त होता है। इसलिए गीता में कर्मयोगी के लिए बुद्धि की शरण में जाना श्रेयस्कर कहा जाता है।[4]

निष्कर्ष यह है कि कर्म से ही ज्ञान का विकास होता है और ज्ञान कर्म में औचित्य का संचार होता है। इसलिए दोनों की समष्टि मोक्ष अथवा आत्मा के साक्षात्कार में कारण होती है। इसलिए ज्ञान और कर्म के तुल्य रूप पहियों वाली गाड़ी पर बैठ कर जीवात्मा अपने तिरोहित आनन्दमय[5] स्वरूप तक पहुँच सकता है। अत: गीता एक ज्ञान "कर्मसमुच्चयात्मक" ग्रन्थ है।

1. तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयात्, अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः तेनैषपूर्णः। तै०उ०, 2.3.1
2. कामः संकल्पों विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धाधृतिर्ह्रीर्धीभीरित्येतत् सर्वं मन एव। वृ०उ०, 1.5.3.
3. सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। ना० भ० सू०, 1.2.
4. बुद्धौ शरणमन्विच्छ। गी०, 2-49.
5. तस्मान्द्वा एतस्माद्विज्ञानमयात् अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः। तै० उ०, 2.5

वेद में द्यावापृथिवी

मनोहर विद्यालंकार

वेद में द्यावापृथिवी देवता का वर्णन

वेद में देवता वाची शब्दों का तीन रूप में प्रयोग होता है।

1. मन्त्र के मुख्य देवता के रूप में वर्णन, या उससे कुछ प्रार्थना–

अस्मभ्यं द्यावापृथिवी सुचेतुनारयिं धत्तं वसुमन्तं शतग्विनम्।

2. मन्त्र के सह देवता के रूप में वर्णन–

ईले द्यावापृथिवी पूर्वचित्तयेऽग्निं धर्मं सुरुचं यामन्निष्टये।
यामिर्भरे कारमंशाय जिन्वथस्तामिरुषु अतिमिरश्विना गतम्।। ऋक् 1-112-1

आद्यपादस्य द्यावापृथिव्यौ, द्वितीयपादस्य अग्निः, उत्तरार्धस्य अश्विनौ।

3. किसी अन्य देवता वाले मन्त्र में सामान्यरूप में वर्णन–

आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। ऋक् 1-115-1
भद्रा अश्वा हरितः सूर्यस्य, परि द्यावा पृथिवी यन्ति सद्यः। ऋक् 1-115-3

4. कुछ मन्त्रों में कई देवता होने से देवता का विकल्प माना जा सकता है।

स त्वमग्ने सौभगत्वस्य विद्वान् अस्माकमायुः प्रतिरेह देव।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः।। ऋक् 1-94-16

देवता–द्यौः मित्रा वरुणौ अदितिः सिन्धुः पृथिवी च, अथवा अग्निः।

यह चतुर्थ प्रकार द्वितीय प्रकार के अन्तर्गत ही समझना चाहिए।

निघण्टु में द्यावापृथिवी के नाम

निघण्टुकार ने द्यावापृथिवी के 24 नाम गिनाए हैं। इनमें स्पष्ट रूप से दोनों की झलक किसी में नहीं है। ये सभी शब्द विशेषण रूप वाले हैं। इसलिये इनमें से प्रत्येक शब्द किसी न किसी अन्य देवता से सम्बद्ध है। और उसके पर्याय रूप में एक वचन में प्रयुक्त भी हुआ है। उदाहरण के लिये स्वद्या अन्न के अर्थ में, घिषणा वाक् अर्थ में, क्षोणी पृथ्वी अर्थ में, अम्भस् जल अर्थ में, अहिः मेघ अर्थ में, सद्म गृह संग्राम तथा जल अर्थ में, मही और अदिति पृथ्वी बाक्, गौ अर्थ में, और रोदसी रुद्रपत्नी अर्थ में प्रयुक्त हुये हैं। संभवतः ओण्यौ, चम्वौ, अपारे और दूरे अन्ते

द्विवचन के शब्द किसी अन्य द्वन्द्व देवताओं के लिये प्रयुक्त नहीं हुये हैं। इन 24 नामों में से 'रोदसी' को केवल ऋक् 3-55 के 12 से 15 तक का देवता माना है। लेकिन इन मन्त्रों में 'रोदसी' शब्द आया नहीं है। बहुतों ने इस सूक्त का देवता 'विश्वे देवाः' को माना है।

भाष्यकारों द्वारा प्रयुक्त 'द्यावापृथिवी' के अर्थ

स्वामी दयानन्द ने द्यावा के अर्थ द्युलोक, सूर्यप्रकाश (2-16) विद्युत् (14-6) प्रकाश (13-46) और अन्तरिक्ष या भूमि (5-83-8) तथा आर्यामिविनय में परमोत्कृष्ट मोक्ष सुख (2-31 तथा 38-14) किये हैं। सूर्य (3-8-8)

पृथिवी शब्द के अर्थ भूमि के अतिरिक्त अन्तरिक्ष (14-6) अप्रकाशयुक्त (13-46) और संसार सुख (आर्यानिविनय में 2-31 तथा 38-14) किये हैं।

द्यावा क्षामा का अर्थ (11-10) में ब्रह्माण्ड; और द्यावाभूमी का अर्थ (आर्यामि॰ 2-34 तथा 11-19 में) भूमि से लेकर सूर्यपर्यन्त किया है।

रोदसी का अर्थ ऋक् 1-105-1 में द्यावापृथिवी के समान राज (कर्मचारी) तथा प्रजा, ऋक् 3-41-1 में द्यावापृथिवी के समान विद्याविनय, ऋक् 3-38-8 में राजा प्रजा के व्यवहार और ऋक् 5-56-8 में भूमिसूर्यौ किया है।

आचार्य सायण ने द्यावापृथिवी का अर्थ प्रायः सर्वत्र द्यावापृथिवी किया है। और रोदसी का अर्थ भी प्रायः सर्वत्र द्यावापृथिवी किया है। किन्तु ऋक् 5-56-8 में यास्क का अनुकरण करते हुये 'रुद्रस्य पत्नी मरुतां माता' तथा रुद्रो वायुः, तत्पत्नी किया है।

हरिशरण सिद्धान्त. ने अथर्ववेद में आए 'पृथिवी शरीरम् 5-9-7' और 'मस्तिष्को द्यौः 9-12-2' का अनुसरण करते हुए, द्यावापृथिवी का अर्थ ऋक् 1-31-8, 112-1, 159-5 तथा 160-1 में मस्तिष्क और शरीर किया है। इसी प्रकार रोदसी का अर्थ भी 1-134-3, 161-4, तथा 173-3 में मस्तिष्क तथा शरीर आया है। यद्यपि ऋक् 1-105 के सभी 18 मन्त्रों में रोदसी का अर्थ द्यावापृथिवी अथवा सम्पूर्ण संसार किया है।

ऋक् 1-185-10 में 'ऋतं दिवे तदवोचं पृथिव्यै–

पातामवद्याद् दुरितादभीके पिता माता च रक्षतामवोभिः॥

द्यावापृथिवी को मातापिता का स्थानापन्न मानकर उनसे रक्षा की प्रार्थना की है। अथर्व 2-28-4 अथर्व 3-9-1 में द्यौ और पृथ्वी को स्पष्ट रूप से पिता और माता कहा है। शतपथ 4-3-1-22 में 'इमे हि द्यावापृथिवी प्राणोदानौ' कहा है।

इन भाष्यकारों द्वारा किये अर्थों की विवेचना करने पर ऐसा निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'द्यावापृथिवी' का आध्यात्मिक दृष्टि से मस्तिष्क और शरीर, आधिदैविक, दृष्टि से द्युलोक और पृथ्वीलोक और आधिभौतिक दृष्टि से पिता माता, नर नारी, अथवा राजा प्रजा या शासक शासित

(या राजकर्मचारी) तथा वैज्ञानिक दृष्टि से अन्योन्याश्रित परिस्थिति या पदार्थ, अर्थ किया जा सकता है।

यजुर्वेद में द्यावापृथिवी

यजुर्वेद में केवल 10 मन्त्रों का देवता द्यावापृथिवी है, लेकिन इनमें केवल तीन मन्त्र हैं, जिनमें चर्चा योग्य कथन हैं। स्वामी दयानन्द ने केवल इन्हीं तीन मन्त्रों का देवता द्यावापृथिवी माना है।

घृतेन द्यावापृथिवी प्रोर्णुवा थाम्। यजुः 6-16 में द्यावापृथिवी जल की स्निग्धता और उससे उत्पन्न दीप्ति से सदा दीप्ति रहें। अर्थात् इनकी कमी या अधिकता के कारण कभी मातृत्व या पितृत्व को धारण करने वाले प्राणियों को दुःख न हो। यजुः 6-35 में कहा है कि द्यावापृथिवी पर रहने वाले स्त्री पुरुषो! तुम भी द्यावापृथिवी के समान अपने धर्म पर दृढ़ रहो, और ऊर्जा को धारण करो। तुम किसी से न तो डरो और न ही किसी प्रलोभन से विचलित होओ, क्योंकि अन्त में पाप (ऋतका उल्लंघ) नष्ट होगा, शान्ति या आनन्द नष्ट नहीं होकर शेष रह जायेगा।[1] यजुः 3773 में कहा है कि–द्यावापृथिवी पर रहने वाले प्राणियों के कल्याण के लिये पृथ्वी की वेदी पर, सर्वव्यापक परमात्मा का आश्रय लेकर कर्तव्य निर्वाह के लिये कर्मण्यता की साधना करता हूँ तथा कर्मण्यता को प्रवाहित करने के लिये, कर्म को इसके श्रेष्ठ (शीर्षक) स्वरूप यज्ञ में स्थापित करता हूँ।[2]

सामवेद में द्यावापृथिवी

सामवेद में द्यावापृथिवी देवता वाला केवल 1 मन्त्र है। यह पर्यावरण प्रदूषण को रोकने की कुञ्जी प्रदान करता है।

मन्ये वां द्यावापृथिवी सुभोजसौ ये अप्रथेथाममितमभि योजनम्।
द्यावापृथिवी भवतमे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः।। साम 622

द्यावापृथिवी अथवा इनके समान उपकारी माता-पिता को मैं उत्तम भोगों का प्रदाता मानता हूँ, जो अपरिमितयोजन तक फैले हुए हैं, अथवा अपरिमित योजनाओं का विस्तार करते हैं। मेरी इच्छा है कि वे दोनों मेरे लिये सदा सुख शान्ति प्रदान करें, और मुझे ऋत के उल्लंघन रूप अपराध से सदा बचाएं। इस का उपाय है कि हम अपने मस्तिष्क और शरीर को सदा समतुलित व स्वस्थ रखें। पर्यावरण प्रदूषण को रोकने का उपाय है कि अपरिमित योजन पृथ्वी पर फैलते चले जाएं। संघट्ट उत्पन्न न करें।

---

1. मा भेर्मा संविधा, ऊर्जं धत्स्व, धिषणे वीड्वी सती वीडयेकाम्, ऊर्जं दधाथाम्। पाप्मा हतो न सोमः।। यजुः 6-35
2. देवी द्यावापृथिवी मखस्य वाममद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे।। यजुः 37-3. मख गतौ। मखः क्रतुर्यज्ञः। अमा मखः–सर्वगतपरमात्मा, गति, कर्मण्यता, कर्म। मखस्य शीर्ष्णम् =श्रेष्ठंकर्म=यज्ञ।

अथर्ववेद में द्यावापृथिवी

अथर्ववेद में द्यावापृथिवी के लगभग 40 मन्त्र हैं। इनमें केवल 3 मन्त्र विशिष्ट वक्तव्य के कारण चर्चायोग्य है। शेष मन्त्रों में द्यावापृथिवी टेक रूप में आए हैं अथवा अन्य देवताओं के सहभागी हैं। ये तीनों मन्त्र विशेष रूप से मननीय हैं।

प्रथम मन्त्र 1-32-1 में कहा है–हे मनुष्यों! इस रहस्यपूर्ण ज्ञान को अच्छी प्रकार जान लो, और उस पर विचार करके लाभ उठाओ, जो अभी कहा जायेगा। न तो पृथिवी पर और न ही द्यु में कोई ऐसा तत्व है, जिसके आधार से उत्पन्न होने वाले पदार्थ (प्राणी अथवा वृक्ष वनस्पति) जीवन धारण करते हैं। वह तत्व तो अव्यक्त महद् ब्रह्म है। वह स्वधा होते हुए सबको धारण कर रहा है।[1] दो कल्पित निष्कर्ष–

क. इनके मध्य स्थित पर्जन्य जल से वीरुध, और माता-पिता के रज-वीर्य से मनुष्य प्रादुर्भूत होकर जीवित रहते हैं।

ख. उत्तम जीवन जीने के लिये किसी एक अति पर स्थित न होकर मध्यमार्ग का अवलम्बन करना चाहिये।

द्वितीय मन्त्र 5-24-3 में कहा है–द्यावापृथिवी, भोग और सुख प्रदान करने वालों में पत्नी सदृश अधिकृत हैं। वे मेरे प्रत्येक ज्ञान प्राप्ति तथा कर्तव्य कर्म के निर्वाह में, प्रतिनिधित्व (नेतृत्व) और प्रतिष्ठा के अवसरों पर, तथा चैतन्य संकल्प और कामना के दिव्य आह्वानों में, माता-पिता सदृश मेरे मस्तिष्क और शरीर की रक्षा और वृद्धि करें; जिससे मेरी प्रत्येक चेष्टा सुफल को उत्पन्न करके सफल होवे।[2]

तृतीय मन्त्र 19-14 एक मन्त्र का सूक्त है–जो विजयी राजा द्वारा पराजित राजा आश्वासन रूप है। इसमें कहा गया है–जैसे भी हो, हमारा वैर और युद्ध श्रेयस्कर रूप में समाप्त हो गया है। द्यावापृथिवी मेरे लिये कल्याणमय हो गये हैं। अब सभी दिशाएं मेरे लिये प्रतिस्पर्धा और शत्रुता से शून्य हो जाएं। हमारा तुम्हारे से कोई द्वेष नहीं है। अब हम दोनों निर्भय होकर रह सकते हैं। इसी के साथ 15वें सूक्त के प्रथम और पञ्चम मन्त्र भी द्रष्टव्य हैं, जिनमें तीनों लोकों और चारों दिशाओं से अभय की कामना की गई है।[3]

---

1. इदं जनासो विदथ महद् ब्रह्म वदिष्यति।
   न तत्पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः।। अथर्व 1-32-8
2. द्यावापृथिवी दातृणामधिपत्नी ते मावताम्।
   अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्या पुरोधायामस्यां–
   प्रतिष्ठायामस्यां चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा।। अथर्व 5-24-3
3. इदमुच्छ्रेयोऽवसानमागां शिवे मे द्यावापृथिवी अभूताम्।
   असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु न वैत्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु।। अथर्व 19-14-1

द्यावापृथिवी देवता वाले मन्त्रों से प्रभु की अनुभूति

से इत्स्वपा भुवनेष्वास य इमे द्यावापृथिवी जजान।
उर्वी गभीरे रजसी सुमेके अवंशे धीरः शच्या समैरत्।। ऋक् 4-56-3

वामदेवः। द्यावापृथिवी। त्रिष्टुप्।

जिसने इन द्युलोक और पृथिवीलोक को उत्पन्न किया है। जो द्यावापृथिवी की अत्यन्त विस्तृत, अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त गंभीर, रंग-बिरंगे पदार्थों को धारण करने वाले अच्छी प्रकार निर्मित हैं। उस धीर-प्राज्ञ प्रभु ने अपनी प्रज्ञा और शक्ति के द्वारा इन्हें बिना किसी आधार के संगत करके धारण किया हुआ है। वह सब भुवनों तथा प्राणियों में स्थित है, और दीप्ति प्रदान करता है। वह सर्वज्ञ, सर्व व्यापक तथा सर्व शक्तिमान् है। स इत्—केवल वही स्वपा—स्वतः ही सबका पालन रक्षण करने के कारण सर्वश्रेष्ठ सृष्टिकर्ता है। उसे **बुद्धि से जानो, प्रज्ञा से अनुभव करो और कर्मों द्वारा,** तदनुरूप बनकर उसके पुत्र होने को सिद्ध करो।

इसके उपाय स्वरूप, काम, क्रोध, लोभ का निवारण करके शरीर मन बुद्धि को स्तुत्य बनाकर, वरणीय दिव्य गुणों को धारण करके वामदेव बनने का प्रयत्न करो।

इसी बात की अन्य मन्त्र द्वारा निम्न प्रकार से चर्चा की है—

अयं देवानामपसामपस्तमो यो जजान रोदसी विश्वशंभुवा।
वि यो ममे रजसीः सुक्रतूययाऽजरेभिः स्कम्भनेमिः समानृचे।।

ऋक् 1-160-4

दीर्घतमा। द्यावापृथिव्यौ। निचृज्जगती।

जिसने विश्व का कल्याण करने वाले द्यावापृथिवी को उत्पन्न किया है, और जिसने रंग-बिरंगे पदार्थों को धारण करने वाले इन लोकों को अपनी प्रज्ञा और शक्ति के द्वारा, न जीर्ण होने वाले स्तम्भक सामर्थ्यों से विमान की तरह धारण किया है—वह क्रियाशील देवों में सर्वाधिक क्रियाशील होता हुआ सर्वत्र स्तुति किया जाता है।

उस परमेश्वर की शक्ति अनिर्वचनीय है, वही इस जगत् का कर्ता-धर्ता-संहर्ता है। वह अकर्ता या निष्क्रिय न होकर, अदृष्टकर्ता है। भगवद्गीता के शब्दों में—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।। 3-22

ऋग्वेद में—

नाहं तन्तुं न विजानाम्योतुं न यं वयन्ति समरेऽत्तमानाः। ऋक् 6-9-2

मैं उस कर्म शृंखला को बुनना नहीं जानता, जिसे सब प्राणी निरन्तर कर्म करते हुए इस संसाररूपी समराङ्गण में बुन रहे हैं। मैं तो 'अनश्नन्नन्यो अमिचाकशीति' ऋक् 1-164-20 हूँ।

द्यावापृथिवी के हितकारी कार्य

द्यावापृथिवी बड़े आच्छादक हैं, अतः सबको निवास के लिये स्थान प्रदान करते हैं। अपने अटल नियमों द्वारा प्राणिमात्र को फल प्रदान करने में बहुत उदार हैं। देखने में सुन्दर और आकर्षक है, सबको जीवनप्रद पदार्थों द्वारा पुष्ट करते हैं।[1] ये अत्यन्त विस्तृत हैं, इनके अन्तिम छोर बहुत दूर हैं।, अन्न प्रदान करके सौभाग्य देते हैं, और भूख तथा रोगों से तराकर पार लगाते हैं। इन पर अगर ठी प्रकार कर्म किये जाएं तो तृप्ति प्रदान करके दिव्य भावों को उत्पन्न करते हैं।[2] जल और रस प्रदान करके मधुरता का दोहन करते हैं। अपनी दीप्ति के कारण शोभन रूप धारण करते हैं। अत्यन्त गतिशील होने के कारण कभी जीर्ण नहीं होते। राजा वरुण की धारण प्रक्रिया द्वारा बिना किसी आश्रय के टिके हुए हैं।[3]

ये द्यावापृथिवी यज्ञकार्यों द्वारा सत्यान्वेषी तथा सत्याचरणी जनों को बढ़ाने वाले तथा ज्ञानकार्यों में चेतना प्रदान करने वाले हैं। दिव्य भावनाओं से युक्त होकर देवपुत्रों के समान दिव्यकार्य करने वाले साधकों को, वरणीय धन और पदार्थ प्रदान करके सिद्धि द्वारा अलंकृत करते हैं।[4]

ये द्यावापृथिवी अथवा पिता माता से उपलक्षित नर नारी अथवा मस्तिष्क और शरीर अपनी गति और अपने विस्तार से परस्पर दीप्त होते हैं, पवित्र करते हैं और सनातन ऋत का वहन करते हैं। ये दोनों मित्रभाव से रहते हुए ऋत का आदान-प्रदान करते हुए, परस्पर पूरक बनकर जीवन यश का सेवन करते हैं, सृष्टि यज्ञ का आश्रय लेकर संसार सागर को तर जाते हैं।[5]

द्यावापृथिवी से कैसी प्रार्थनाएं करें?

प्रार्थना से पूर्वस्मरणीय चेतावनी

वेद का सार गायत्री को माना जाता है। यहाँ गायत्री से तात्पर्य किसी छन्द अथवा गायत्री छन्द निबद्ध किसी मन्त्र से नहीं है। अपितु गायत्री में निहित क्रियाओं से हैं। गायत्री शब्द में तीन धातुएं हैं जिनका अर्थ गति, स्तुति और पालन या संरक्षण है। इसलिये गायत्री का अर्थ होता है–

---

1. उर्वी सद्मनी बृहती ऋतेन हुवे देवानामवसा जनित्री। दधाते ये अमृतं सुप्रतीके द्यावापृथिवी रक्षतं नो अभ्यात्।। ऋक् 1-185-6
2. उर्वी पृथ्वी बहुले दूरे अन्ते उप ब्रुते नमसा यज्ञे अस्मिन्। दधाते ये सुभगे सुप्रतूर्ती०।
3. घृतवती भुवनानामभिश्रिया उर्वी पृथ्वी मधुदुघे सुपेशसा। द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कमिते अजरे भूरिरेतसा।। ऋक् 6-20-1
4. प्र द्यावा यज्ञैः पृथिवी ऋतावृधा मही स्तुषे विदथेषु प्रचेतसा। देवेभिर्ये देवपुत्रे सुदंससेत्थाधिया वार्याणि प्रभूषतः।। ऋक् 1-159-1
5. पुजाने तन्वा मिथः स्वेनं दक्षेण राजथः। ऊह्याथे सनादृतम्।। ऋक् 4-56-6 मही मित्रस्य साधयस्तरन्ती प्रिप्रती ऋत्तम्। परि यज्ञं निषेदथुः।। ऋक् 4-56-9 दक्षवृद्धौ, दक्ष गतिहिंसनयोः।11

1. स्तुति और प्रार्थना के अनुकूल कर्म करोगे तभी प्रार्थना स्वीकार होगी, अर्थात् तुम पालन और संरक्षण के अधिकारी बनोगे।

2. यदि तुम अपना समीचीन पालन और संरक्षण चाहते हो तो, केवल स्तुति और प्रार्थना से काम नहीं चलेगा, तदनुरूप गतिक्रिया करनी होगी।

3. प्रार्थना उसी से की हुई सफल होती है, जिसके पास वह पदार्थ या भाव हो, और उसमें उस पदार्थ और भाव को देने का सामर्थ्य भी हो। इसलिये वेद का स्वाध्यायय करते हुये इन सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर द्यावापृथिवी से की जाने वाली प्रार्थनाओं द्वारा लाभ उठाने का प्रयत्न करना चाहिये।

प्रार्थनाएं

ईले द्यावापृथिवी पूर्वचित्तये॥1॥ ऋक् 1-112-1

अपनी चेतना को पूर्णरूप से पूरण करने वाली बनाने के लिये मैं द्यावापृथिवी की स्तुति करता हूँ, उनके गुणों को धारण करके तदनुरूप बनने का प्रयत्न करता हूँ।

आभम्यं द्यावापृथिवी शुचेतुना रयिं धत्तं वसुमन्तं शतग्विनम्॥2॥

ऋक् 1-159-5

द्यावापृथिवी हमारी चेतना को ठीक रखते हुए ऐसा और इतना पर्याप्त धन दें कि हम अपने निवास और वसन का प्रबन्ध करने के साथ सैकड़ों अन्य जनों का भी प्रबन्ध करने में समर्थ हों।

ते नो गृणाने महिनी श्रवः पनाय्यमोजो अस्मे समिन्वतम्॥3॥ ऋक् 1-160-5

पूजनीय द्यावापृथिवी स्तुति किये जाने पर हमें अन्न, ज्ञान, कीर्ति और स्तुत्य तथा व्यवहार कुशल आज प्रदान करें।

इदं द्यावापृथिवी सत्यमस्तु पितमतिर्यदिहोपब्रुवे वाम्।
भूत देवानामवसे अवोभिः विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥4॥ ऋक् 1-185-11

पिता और माता के समान द्यावापृथिवी मैं तुम्हारे से जिस वस्तु की प्रार्थना करता हूँ, वह पूर्ण हो। आपके रक्षक तथा वर्धक तरीकों से विद्वानों की रक्षा और वृद्धि हो। सारा मनुष्य समाज अन्न, बल और जीवन तथा इष्ट सिद्धि को प्राप्त करे।

पाताभवधाद् दुरितादभीके पिता माता च रक्षतामवोभिः॥5॥

ऋक् 1-185-10

माता-पिता के समान पृथिवी और द्यौ तथा द्यावापृथिवी के समान पिता और माता अपनी-अपनी प्रीति, ज्ञान और क्रियाओं से हमारी निन्दनीय दुष्टाचरणों से रक्षा करके हमें गतिमान् कान्तिमान् बनावें तथा सन तरह तृप्त करें।

द्यावा रक्षतं पृथिवीं नो अम्वात्। दधाते ये अमृतं सुप्रतीके॥6॥

ऋक् 1-185-6

शुभ्र मस्तिष्क और शरीर, शुभाकांक्षी माता-पिता और सुन्दर द्युलोक और पृथिवीलोक तथा इनके निवासी हमारी निम्नकोटि के स्वभाव, और व्यवहार से रक्षा करें। हम कभी अनुदार और क्षुद्र न बनें।

राजन्ती अस्य भुवनस्य रोदसी अस्मे रेतः सिञ्चतं यन्मनुर्हितम्॥7॥

ऋक् 6-70-2

प्राणीमात्र का शासन करने वाली (रोदसी) रचनात्मक तथा संहारात्मक शक्ति में स्थित द्यावापृथिवी। हममें ऐसा उत्पादन समर्थ वीर्य उत्पन्न करो जो मानवमात्र के लिये हित करने की सामर्थ्य रखता हो।

मधु नो द्यावापृथिवी मिमिक्षतां मधुश्चुता मधुदुधे मधुव्रते।
दधाने यज्ञं द्रविणं च देवता महिश्रवो नागमस्मे सुवीर्यम्॥8॥ ऋक् 6-70-5

द्यावापृथिवी माता-पिता के समान मधुव्रती होने से सदा माधुर्य का सिंचन, दोहन व वर्षण करते हैं। वे हममें सदा यज्ञ की भावना और धन को अर्जित करने की कला तथा ज्ञान, बल, अन्न, यश, वीर्य और वीर भावना को धारण कराते हुये हमें माधुर्य से ओतप्रोत कर दें।

शं रोदसा सुबन्धने यह्वी ऋतस्य मातरा।
भरतामप यद्रपो द्यौः पृथिवि क्षमारपो मोषु तेकिं च नाममत्॥9॥

ऋक् 10-59-8

अटल नियमों की निर्मात्री द्यावापृथिवी, नियमों से बंधे व्यक्ति का सदा कल्याण करती हैं। वे हमारे दोषों और कमियों को दूर कर दें, जिससे कोई पाप या दुःख हमें कष्टप्रद न होवे।

उतो हि वां रत्नधेयानि सन्ति पुरूणि द्यावापृथिवी सुदासे। ऋक् 7-53-3
अस्मे धत्तं यदसदस्कृधोयु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥10॥

हे द्यावापृथिवी! दूसरों का भला चाहने वाले के लिये तुम्हारे पास बहुत से रमणीय पदार्थ हैं। हमें भी आप उन्हें प्रदान करो, जिससे हमारे पास कोई कमी न रहे। इसके साथ ही द्यावापृथिवी पर रहने वाले प्राणधारियों तथा जड़पदार्थों आप सब भी अपनी कल्याणकारिणी क्रियाओं से हमारी रक्षा और पालन करो। अन्त में-

यशो मा द्यावापृथिवी यशो मेन्द्राबृहस्पती;
यशो मा भगस्य विन्दतु यशो मा प्रतिमुच्यताम्।
यशस्वी अस्याः संसदोऽहं प्रवदिता स्याम्॥ सामवेद 611



संस्कृत शतक काव्यों में सूर्यशतक का स्थान

डॉ. अरुणा शर्मा

भारतवर्ष के अधिकांश भागों में आज भी दिन का शुभारम्भ सूर्यनमस्कार के साथ होता है। आदित्य, सविता, दिनकर, रवि एवं सूर्य इन अनेकानंक नामों से पूजित देव की उपासना वैदिक काल से आज तक अधिकांश भारतीयों की दिनचर्या बनी हुई है। किसी भी शुभअवसर पर नवग्रह पूजा में भी सूर्य पूजा का विधान है। वैदिक साहित्य में अग्नि, वरुण, इन्द्र आदि देवों की तरह सूर्यदेव की स्तुति भी मिलती है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के पैंतीसवें सूक्त का देवता जीवता है तथा पचासवें सूक्त का देवता सूर्य है। सूर्य व सविता देव के सुवर्ण रथ व प्रकाश का वर्णन वहाँ किया गया है। गायत्री मन्त्र का महत्व तो सब जानते ही हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों उपनिषदों से होती हुई सूर्योपासना की परम्परा पुराणों व महाभारत में बनी हुई है। कोणार्क का सूर्यमन्दिर हो या कश्मीर के मटन का सूर्यमन्दिर अपनी प्राचीन परम्परा के ही द्योतक हैं।

शारदा भूमि कश्मीर का संस्कृत साहित्य को जितना भी योगदान है उनमें 'सूर्यशतक' भी महत्वपूर्ण है। प्रथम 'सूर्यशतक' सातवीं शताब्दी में भक्त कवि मयूर भट्ट द्वारा रचा गया था। उसके एक सहस्रवर्ष पश्चात् कश्मीर के ही राजानक रत्नकण्ठ द्वारा ईस्वी सन् 1664 में पुनः सूर्य की स्तुति में भक्तिरस से परिपूर्ण शतककाव्य लिखा गया जो अभी तक शारदा लिपि में लिखित एक पाण्डुलिपि के रूप में था।

स्तुति कुसुमाञ्जलि, युधिष्ठिर विजय आदि अनेक संस्कृत काव्यों के प्रसिद्ध टीकाकार, परम शिवभक्त व सूर्यभक्त राजानक रत्नकण्ठ का यह शतक उच्चकोटि का स्तुतिकाव्य है। इसमें एक सौ दो पद्य हैं। पहले आधे भाग में वह सूर्य की महिमा, किरणों, तेज, घोड़ों, रथ तथा सारथी अरुण आदि की स्तुति करते हैं तथा अन्तिम आधे में सूर्यदेव की स्तुतिपरक पद्य हैं। तदुपरान्त अन्तिम दो पद्यों में वह अपना परिचय देते हैं। कश्मीर के शैवदर्शन के परिप्रेक्ष्य में कवि ने सूर्य को भी अष्टमूर्ति शिवे का ही एक रूप माना है। कवि के लिए सूर्य कभी आकाश में रेंगता हुआ एक शिशु है तो कभी अपने कर स्पर्श से नायिका पृथिवी को रोमांचित करता हुआ युवा नायक प्रतीत होता है। संसार रूपी समुद्र में डूबे हुओं का उद्धार करने में श्रेष्ठ नाविक के समान सूर्य का कान्तिमण्डल सभी का कल्याण करने वाला कहा गया है। सूर्यदेव की विभिन्न विशेषताओं का उल्लेख करता कवि सूर्य को 'भवसागर का जहाज' कह नमन करता है। साहित्यिक दृष्टि से भी इस शतक काव्य का विशेष महत्त्व है इसमें भक्ति रस का परिपाक पूर्णतया हुआ है तथा अलंकारों से भी यह कृति सुसज्जित है। भाषा न भाव की दृष्टि से इस कृति का सौन्दर्य देखते ही बनता है। लेकिन क्या

साहित्य प्रेमी विद्वान इस कृति का रसास्वादन कर पाते यदि प्रो. वेदघई इसे सम्पादित व अनुदित कर सुधि पाठकों के लिए प्रकाश में न लातीं? प्रो. घई इस पुस्तक में औक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी के वोडलियन पुस्तकालय के अधिकारियों के प्रति अपना आभार प्रकट करती हैं क्योंकि इस पाण्डुलिपि की माइक्रोफिलम् प्रति वहीं से उन्हें उपलब्ध हुई थी। यह एक बहुत श्रमसाध्य काम था जिसे सम्पादिका ने अपने स्वभावानुसार बहुत कुशलता से सम्पूर्ण किया है। इसके लिए वे साधुवाद की अधिकारिणी हैं। ईस्ती सन् 1664 में रचा गया यह काव्य आज तक अप्रकाशित रहा और यदि प्रो. घई इसे पुनर्जीवन न देतीं तो संस्कृत साहित्य और न जाने कितनी देर इस लाभ से वंचित रह जाता। इससे पहले प्रो. घई के द्वारा कश्मीरी पुराण नीलमत पुराण का सम्पादन तथा अनुवाद किया गया है। मुझे आशा है कि प्रो. वेद कुमारी घई की यह कृति भविष्य में शोध के इच्छुकजनों को आलोक प्रदान करेगी। विद्वतापूर्ण सम्पादित सूर्यशतक (हिन्दी भाषा अनुवाद सहित) भक्तजनों व साहित्य प्रेमियों और शोधार्थियों के मध्य अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनायेगा।



पर्यावरण-चिन्तन और श्रीमद्भगवद्गीता

डॉ० उमेश दत्त भट्ट

पर्यावरण व्याख्या

पर्यावरण की सोच और उसके संरक्षण की चिन्ता जो परिस्थितिवशात् वर्तमान युग का प्रमुख विषय बनकर उभरा है, है क्या? वस्तुतः यह विषय समग्र सृष्टि-जल, स्थल तथा वायु सभी को अपने में समेटे हुए है। यहाँ तक कि तेजस् (अग्नि) तथा गगन भी इसकी **परिधि** में हैं। प्रकृति के इन सभी घटकों में रच-बस वा विकसित होती वस्तुयें इनसे प्रभावित हैं, इन्हीं से हैं तथा इन्हीं में हैं। 'पर्यावरण' शब्द का निर्माण **परि** और **आवरण** दो शब्दों के संयोग से बना है। भूमि के परितः फैला या आच्छादित। परि + आ + वृञ् (धातु) + ल्युट् के योग से पर्यावरण शब्द निष्पन्न है।

भूमि के परितः व्याप्त यही पंचतत्त्व ही जड़, जंगम, चर-अचर प्रकृति का कारण है। प्रकृति के सभी उत्पादन एक दूसरे पर आश्रित हैं। अतएव परस्पर सामञ्जस्य बनाकर भी चलते हैं। समन्वय का दायित्व भी इन्हीं घटकों का है। कहीं प्रत्यक्ष तो कहीं अप्रत्यक्ष। इनमें से यदि कोई भी प्रभावित होता है तो उसके कारण समग्र आवरण में ही उथल-पुथल उत्पन्न हो जाती है। समुद्र में ज्वार भाटा, स्थल पर ईतियाँ तथा विभिन्न प्रकार की महामारियाँ, भू-गर्भीय विसंगति से ज्वालामुखी विस्फोट तथा भूकंप, वायुमण्डलीय विसंगति से चक्रवात, आकाश जल, वायु तथा तेजस् की विकृति से उल्कापात तथा उपल वृष्टि, अनावृष्टि एवं अतिवृष्टि, षड्ऋतुओं का क्रमशः अवतरण भूमण्डल के इन्हीं महदादि तत्त्वों के विकारजन्य हैं। समग्र सृष्टि पर इनके दुष्प्रभावों का विस्तृत अध्ययन विश्वविख्यात अर्थशास्त्री माल्थस तथा कीन्स ने अर्थशास्त्रीय दृष्टि से अपनी पुस्तक में प्रस्तुत किया है। पर्यावरण में विद्यमान इन महदादि तत्त्वों की विषमताओं का प्रतिफलन कहीं विनाश के रूप में तो कहीं विकास के रूप में दृष्टिगत होता है। ऐसे भी विकास की चरम परिणति विनाश का द्वार उदघाटित करती है।

पर्यावरण विषयक चिन्तन की प्राचीनता

शब्द 'पर्यावरण' आज हमारे लिए नवीन अवश्य है किन्तु एतद्विषयक तात्त्विक सोच हमारे संस्कृत-साहित्य की अति प्राचीन वस्तु है। मनीषियों ने समय-समय पर इन घटकों के अध्ययन-चिन्तन को भिन्न-भिन्न नाम दिए हैं।

अथर्ववेद का ऋषि सृष्टि जीवन के संदर्भ में परिधिर्जीवनायकम् - ऐसा उल्लेख करता है। अर्थात् वह परिधि जिसमें जीव जीवन जीने में समर्थ होते हैं। यहाँ पर शब्द 'परिधि' पर्यावरण शब्द

का ही पर्याय है और इसी के संदर्भ में कहा गया है– **सर्वो वै तत्र जीवति।** सभी जीवों के परितः की सर्वविध सोच ही **परिधि** है। अतएव आज का यह 'पर्यावरण' शब्द वैदिक 'परिधि' का ही पर्याय है। कतिपय विद्वान् इसी को 'वातावरण' भी कहते हैं। 'वात' (वायु) का आच्छादन या आवरण, किन्तु परिधि या पर्यावरण मात्र वायु परिवृत्त न होकर जल, स्थल आदि अन्य तत्त्वों से भी परिवेष्टित है जिनमें तरह-तरह की प्रकृति तथा जीव भी विद्यमान हैं। पर्यावरण के समग्र तत्त्व अपनी-अपनी प्रकृति, मात्रा गुणों के कारण अपने गर्भ में भाँति-भाँति का परिवर्तन भी आवृत किए हुए हैं। हमारी परम्परा में इनके भयावट विपर्ययों का गहन अध्ययन हुआ था। इसीलिए तो ऋषियों ने प्रत्येक याज्ञिक अनुष्ठानों में लोक कल्याणार्थ इनकी शान्ति की प्रार्थना की - **द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं ॐ शान्तिः पृथ्वी शान्तिरापः शान्तिरोषद्यय: शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदवाः शान्ति ब्रह्म शान्तिः ॐ शान्तिः रेव शान्तिः सामा शान्तिः रेधि।** ..... शुक्लयजुर्वेद 36.17

ये सभी यज्ञ लोक कल्याणार्थ आयोजित होते हैं इसीलिए ऋग्वेद का ऋषि-अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः ऐसा उद्घोषित करता है।

हमारी समग्र इन्द्रियाँ वायु तत्त्व से संचालित होती हैं। इनका वायु तत्त्व शुद्ध रहे इसके लिए हमारे मनीषी प्रार्थना में कहते थे– **ॐ भद्रं कर्णेभिः श्रुणुयाम, भद्रं, पश्येमाक्षिभिर्यजत्रा प्रश्नोपनिषद्।** यजुर्वेद 25/21, 25/19.

हमारे ऋषियों को भली प्रकार ज्ञात था कि वायु के अभद्र होने से विनाश के अतिरिक्त कुछ भी प्रयोजन नहीं सिद्ध होगा। प्रश्नोपनिषद् में ही ऋषि ने पृथ्वी, जल, तेज को मूर्त तत्त्व तथा आकाश एवं वायु को अमूर्त बताया है– **आदित्यो ह वै प्राणे रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत् सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः!** प्रश्नोपनिषद् 1/1/5

ऋग्वेद 1/89/8, 1/89/6 से कहा गया है-**स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदा स्वस्ति नस्ताक्ष्र्यो अरिष्टनेमिः।** यह मंत्र अत्यंत पारदर्शिता से यह बात उजागर कर रहा है कि उपनिषद् काल में अरिष्टों और उनके कारणों तथा इनके अधिष्ठाताओं तथा नियंत्रकों की शक्तियों का सम्यक् अध्ययन सम्पन्न हो चुका था।

मूर्त तथा अमूर्त घटकों की सृष्टि

पर्यावरण के इन मूर्त तथा अमूर्त घटकों की अपनी संरचनात्मक सृष्टि हे जो भौतिक रूप से पृथक् दिखते हुए भी एक दूसरे से पूरी तरह संबंधित हैं। एक के अभाव में दूसरे का जीवन-चक्र ही अपूर्ण रह जाता है। अपूर्णता से विकास बाधित होता है, और विनाश को अवसर मिलता है।

स्थल सृष्टि

पर्वत, वनस्पति, भूगर्भीय खनिज पदार्थादि, स्थलीय जीव। स्थलीय जीवों में भी विभिन्न प्रकार के जीव अपनी-अपनी शारीरिक संरचनानुसार यथा-रीढ़धारी तथा रीढ़विहीन। इनमें भी

रीढ़धारियों की भी विभिन्न प्रजातियाँ हैं तथा अरीढ़धारियों की भी विभिन्न प्रजातियाँ हैं। खाद्य पदार्थों की दृष्टि से सामिश भी हैं और निरामिश भी। चौपाए भी हैं और दो पाए भी। पृथ्वी पर भी रहने वाले हैं तथा भूगर्भ में भी। यही नभचारी भी हैं। इसी प्रकार वनस्पतियाँ भी भिन्न-भिन्न रूपों में। कुछ वृक्षों के रूप में, कुछ झाड़ियों के रूप में तथा कुछ जमीन पर रेंगने वाले। वानस्पतिक संसार का भी विभाजन तथा अध्ययन भिन्न-भिन्न दृष्टि कोणों से हुआ। औषधियों और जड़ी-बूटियों का प्रयोग इसी का परिणाम है जो सभी जीवों के लिए समय समय पर आवश्यक होती है।

जल-सृष्टि

नदी, समुद्र, सरोवर, जलीय वनस्पति, खनिज जल, जलीय जीव जिनका विभाजन तरह-तरह से किया जा सकता है–तथा रीढ़धारी मत्स्य वर्ग। जलीय पक्षी भी इनमें सन्निहित हैं। जलीय वनस्पति में फफूंद तथा शैवालों का अपना विस्तृत संसार है जिन पर जलीय जीव आश्रित हैं।

वायु सृष्टि

इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका तरह-तरह की उन गैसों की है जो भू-मण्डल या जल में निवसित सृष्टि हेतु जीवनाधायक हैं। इस दृष्टि से आक्सीजन जीवधारियों के लिए, कार्बन-डॉई-ऑक्साइड-वनस्पतियों के लिए, हाइड्रोजन जल संघटन के लिए, नाइट्रोजन वनस्पतियों तथा जीव-धारियों के लिए, तथा ओजोन जो तेजस् की तीव्रता को नियन्त्रित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। ये आवश्यक गैसें वायुमण्डल में एक निश्चित दूरी की पेटी बना कर स्थित होती हैं। इनके ऊपर भी अनेक प्रकार की गैसों की पेटियाँ होती हैं। जो निश्चित दूरी और परिधि के उपरान्त नभ की कक्षा का निर्माण करती हैं। वायु या गैस की इन पेटियों में तरह-तरह के रोगाणु तथा जीवाणु भी होते हैं जो समय-समय पर वर्षा के साथ पृथ्वी पर उतर भू-जल को प्रभावित करते हुए हल-चल उत्पन्न करते हैं। विभिन्न प्रकार के जीवाणु इन्हीं वायु स्रोतों के माध्यम से संचरण वा संक्रमण को अंजाम देते हैं।

तेजस् (अग्नि) सृष्टि

यह अमूर्त तत्त्व है। यह जल स्थल तथा वायु को तरह-तरह से प्रभावित करता है। इनकी सृष्टियों में यह भिन्न-भिन्न प्रकार से सकारात्मक तथा नाकारात्मक दोनों ही प्रकार का विकार उत्पन्न करता है जिसका प्रतिफलन विनाश भी हो सकता है और विकास भी।

अन्तरिक्ष

अन्तरिक्ष में विद्यमान तरह-तरह के गैसीय पिण्ड, द्यात्वीय तथा अद्यात्वीय तत्त्व जो समय-समय पर विभिन्न नक्षत्रों तथा ग्रहों की वायुमण्डलीय अभिक्रिया के फलस्वरूप वियुक्त होकर भू-मण्डल, जल-मण्डल और वायुमण्डल की वस्तुओं को प्रभावित करते हैं। सूर्यग्रहण, चंद्र

ग्रहण तथा कई ग्रहों का ऐक्य, अपनी ही कक्षा में मार्गी तथा वक्री गति समग्र सृष्टि को कम नहीं प्रभावित करती।

श्रीमद्भगवद्गीता का पर्यावरण चिन्तन

प्राचीन काल की अपेक्षा वर्तमान में पर्यावरण तरह-तरह के कारणों से अत्यधिक विकृत हुआ है। इसीलिए इसके संरक्षण पर सभी राष्ट्र चिंतित तथा प्रयत्नशील हैं, क्योंकि इसके असंतुलन से समग्र सृष्टि को चाहे वह चेतन हो अथवा अचेतन को खतरा उत्पन्न हो गया है। किन्तु इसका आशय यह भी नहीं है कि पर्यावरण में व्याप्त सृष्टि तथा इसके घटकों का प्राचीन काल में मूल्यांकन नहीं हुआ था।

वैदिक काल से लेकर महाभारत युग तक यज्ञों को भू-मण्डल का केन्द्र निरूपित किया गया है-

अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः (ऋग्वेद-1.164.35)

ऋग्वेदः, अथर्ववेद तथा यजुर्वेदादि में जल, अग्नि तथा पृथ्वी आदि का सृष्टि प्रक्रिया में अत्यंत महत्त्वपूर्ण योगदान सिद्ध किया गया है। गीता में इसी बात की स्पष्ट विवेचना करते हुए श्री कृष्ण कहते हैं-

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्न संभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ 3/14

सृष्टि के आदि में प्रजापिता ने इन यज्ञों को चराचर के सर्वतोन्मुखी विकास एवं उनकी कामना पूर्ति का उत्तम साधन निरूपित किया है-

सहयज्ञाः प्रजा सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक॥ श्रीमद्भगवद्गीता-3/10

सतत इन्हीं यज्ञों के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए श्री कृष्ण कहते हैं-

यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते॥ 9/20

लोक के कल्यार्थ ही यज्ञ को नियत कर्म निरूपित किया गया है। इसी से पर्यावरण संतुलन संचालित होता था, जो जीवन को संबल देता था। जीवन निर्वाह के लिए ये सब अत्यंत आवश्यक है-

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्मज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीर यात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः॥ 3/8

इन नियत कर्मों के न सम्पन्न होने पर लोक जीवन का प्रभावित होना तय है और अन्तगति उसका विनाश होना निश्चित है-

उत्सीदेयुरिमे लोका .... 3/24.

चातुवर्ष के कर्म ही प्रकारान्तर से इनके करणीय धर्म थे। सृष्टि प्रक्रिया के पारस्परिक समन्वय को ध्यान में रख कर निर्धारित किए गए थे जिनके कारण यज्ञधूम से समग्र वातावरण का परिशोधन होता था। यज्ञधूम से सम्यक् वृष्टि होती थी। वृष्टि से एक तरफ जहाँ वातावरण की सफाई होती थी वहीं परतः हमारी प्राकृतिक वन सम्पदा शस्य श्यामला बनी रहती थी। इसमें औषधियों का पर्याप्त भण्डारण होता था। यही वनसम्पदा पुनः समिधा में भाग लेती थी। वृष्टि से ही अनन का उत्पादन पर्याप्त होता था जो कि जीवन-प्रक्रिया के लिए आवश्यक तत्त्व है। हरा-भरा प्राकृतिक वातावरण ही हमारे वायुमण्डल में आक्सीजन का स्रोत भी बनता था जो कि जैविक प्रक्रिया में प्राण वायु के रूप में निरूपित है। यही हरियाली समय पर वर्षा का भी कारक होती है। इन सभी तत्वों की संघटना का जो चक्र है वह सब एक दूसरे पर आश्रित है यदि एक भी प्रभावित हुआ तो अगला भी आहत हो काँप उठता है। अतएव जितना भी इन पर ध्यान दिया जाएगा वह भी उतना ही हमारे परिवर्धन की चिन्ता करेंगे।

देवान् भवयतानेन ते देवा भावयन्तु वा।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परम् अवाप्स्यथ। 13/11

इस प्रकार यह 'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परम् अवाप्स्यथ' का भाव सृष्टि में आपसी सन्तुलन तथा साम्य स्पष्ट करता है क्यों कि वह यह भी कहते हैं। **मत्तः परतरं नान्यत्।** ऐसे में उनकी रक्षा से सृष्टि की रक्षा और सृष्टि के रक्षित होने से समग्र परा तथा अपरा प्रकृति में साम्य स्वाभाविक होगा–

भूमिरापोऽनलो वायु खं मनो बुद्धि रेव च।
अहंकार इतीयं में भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।। 7/24 गीता

अपरेयं इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।। 7/5

गीता आगे भी कृष्ण कहते हैं–

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।। 7/6

वह अपनी व्याप्ति को और स्पष्ट करते है–

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययो।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु।। 7/8

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनम् सर्व भूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु।। 7/9

और भी–

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी।। 10/21

वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ 10/23

वरुणो यादसामहम् (10/29) अनन्तश्चास्मि नागानां 10/29 मृगाणांच च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्।। 10/29 पवनः पवतामस्मि 10/31, मासानां मार्ग शीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः। 10/35

वायोरिव सुदुष्करम्

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीमद्भगवद्गीता में प्रकृति तथा सृष्टि के सभी उपादानों की चिंता श्री कृष्ण के वक्तव्यों उल्लेखित हुई है–नदी, वन, पहाड़, सरोवर, समुद्र, वर्षा, षड्ऋतु, जल, स्थल, अग्नि, वायु, अन्तरिक्ष, जलचर, स्थलचर, नरचर, वनस्पति, चेतन, अचेतन, कीट, पतंग, पक्षी वर्ग आदि कुछ भी ऐसा नहीं है जिसका संबंध श्री कृष्ण ने मनुष्य से स्थापित न किया हो। स्वाभाविक है इनका संरक्षण मनुष्य का धर्म भी है और कर्म भी क्यों कि इन सभी से मानव समाज का जैवी संबंध है। श्री कृष्ण ने गीता में अपना अवतार धर्म संरक्षाणार्थाय घोषित किया है। स्पष्ट है कि उस काल में मानव अपने धर्म से च्युत हो गया था तथी तत्कालीन वैषम्यों ने उस युग के भीषण संग्राम को जन्म दिया था। इसीलिए तो उन्हें मनुष्य समाज को मानव धर्म तथा सम्यक् कर्म की शिक्षा देनी पड़ी। क्योंकि समग्र सृष्टि के सन्तुलन का दायित्व मनुष्य के ही हलन-चलन पर निर्भर करता है।

पर्यावरण की दृष्टि से श्रीमद्भगवद्गीता का यह चर्चित धर्म सीमित परिधि का न होकर अति व्यापक, सार्वभौमिक तथ सार्वदेशिक है। मनुष्य को उसके नैतिक धर्म के प्रति जागृत करने के लिए ही कृष्ण को कहना पड़ा–**न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन**, तथापि वह लोक संग्रहार्थ अपना कर्त्तव्य करते रहे। यदि वह ऐसा न करते तो - लोक का विनाश तय था। उन्हीं के शब्दों में–**उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्** (3/24)। उनके द्वारा प्रयुक्त 'लोकाः' शब्द पर्यावरण का ही पर्याय है जो बहुवचनान्त होने के कारण समग्र सृष्टि और सृष्टि-प्रक्रिया में भाग लेने वाले घटकों का बोध कराता है, जिसमें जल, स्थल, वायु, अग्नि तथा अन्तरिक्ष सभी मिल कर भाग लेते हैं। अतएव उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि श्रीमद्भगवद्गीता युग में पर्यावरण पर सम्यक् ध्यान दिया गया था।



संस्कृत शिलालेखों में नटराज

डॉ॰ कमल किशोर मिश्र,
डॉ॰ सईद तनवीर नसरीन

पुरातात्त्विक शिलालेखों की एक समृद्ध परम्परा रही है। ये प्राचीन शिलालेख मुख्यत: संस्कृत भाषा में मिलते हैं तथा समानान्तर रूप से स्थानीय भाषा के भी शिलालेख उपलब्ध हैं। इनकी लिपि ब्राह्मी तथा ब्राह्मी के स्थानीय परिवर्तित रूपों में भी है साथ ही दक्षिण भारतीय ग्रंथी लिपि भी दृष्टिगत होती है। श्री नटराज प्रभु जी के अध्ययन के सन्दर्भ में शिलालेखों को दो दृष्टियों से रखते हैं। यहाँ शिलालेखों के साथ दानपत्रों को भी सम्मिलित किया गया है। इनसे प्राचीन धार्मिक एवं सांस्कृतिक आयामों का विधिवत् जानकारी मिलती है। पहले प्रकार मे अखिल भारतीय स्तर पर या वृहत्तर भारत से मिले अनेक शिलालेखों में श्री नटराज का उल्लेख है तथा दूसरे प्रकार में प्राचीन चिदम्बरम् मन्दिर परिसर में शिलालेख उपलब्ध है। चिदम्बरम् के नटराज मंदिर परिसर में उत्कीर्ण शिलालेख हैं, जिनके माध्यम से मंदिर के कालक्रम और तत्कालीन अन्त:व्यवस्था की जानकारी मिलती है। अनेक तत्कालीन शैवभक्त राजाओं ने दान द्वारा इसकी व्यवस्था को निरन्तर पोषित किया है जिससे मंदिर की व्यवस्था निरन्तर समृद्ध होती रही। यद्यपि उपलब्ध शिलालेख जिनकी भाषा संस्कृत, तमिल, संस्कृत-तमिल एवं लिपि में ग्रंथी और चोल-कालीन ब्राह्मी का स्वरूप मिलता है। राजराज चोल की पुत्री थी कुलोतुंग चोल की बहन कंडुवायु अलवार से संबंधित शिलालेख के अतिरिक्त यहाँ कई अन्य शिलालेख भी उपलब्ध हैं। इन अभिलेखों की प्रतिलिपि 'साउथ इडियन इंस्क्रिप्संस', एपीग्राफ़िका 'इंडिका' तथा 'इडियन एंटिक्विटि' आदि में उपलब्ध प्राप्त शिलालेखों की विषय वस्तु को निम्नलिखित रूप में वर्णित किया जा सकता है।

अर्द्धनारीश्वर की आध्यात्मिक सक्रियता का कवित्वपूर्ण उल्लेख महाकवि कालिदास ने अपने काव्य में किया है। शिव को संबोधित करते हुए वे कहते हैं कि जब आप नारी और पुरुष की सृष्टि करने चलते हैं, उस समय आप ही स्त्री और पुरुष दो रूप बन जाते हैं। आपके वे ही दोनों रूप सारे संसार के माता-पिता कहलाते हैं-

स्त्रीपुंसावात्मभागौ ते भिन्नमूर्तेः सिसृक्षया।
प्रसूतिभाजः सर्गस्य तावेव पितरौ स्मृतौ।। (कुमारसंभवम् 2,7)

इस प्रकार अर्द्धनारीश्वर रूप में नृत्यरत नटराज शिव का चित्रण महत्त्वपूर्ण है जिसमें संध्या-ताण्डव तथा लास्य को शरीर के दो भागों में विशिष्टता के साथ नियोजित किया गया है। उनका सुकोमल अंगहार एक ओर है तथा अति भयंकर गति दूसरी ओर है। इस तरह वे दो प्रकार

की मुद्राओं की भाषा को सफलतापूर्वक चरितार्थ कर रहे हैं तथा शिवगण आनन्द रस के सागर के अनन्त विस्तार में संगीत को तरंग-लहरों के रूप में उठता गिरता देख रहे हैं। इस कथानक की अभिव्यक्ति वललालसेन के नैहाटी (प.बंग) दानपत्र में होती है–

सन्ध्याताण्डवसम्विधानविलसन्नान्दीनिनादोर्मिभिः
निर्मर्यादरसार्णवो दिशतु वस् श्रेयोर्धनारीश्वरः
यस्यार्धे ललितांगहारवलनैः अर्धे च भीमोद्भटैः
नाट्यारम्भरयैः जयत्यभिनयद्वैधानुरोधश्रमः

(एपीग्राफ़िका इंडिका 14, पृ॰ 159)

एक अन्य राज्यादेश में कवि नृत्य के बाद रेत पर उभरे अर्द्धनारीश्वर के पदचिह्नों की प्रशंसा करता है। गंगा तट पर एक ही शरीर में शिव तथा देवी अपने पदचिह्न छोड़ रहे हैं, जिससे एक में थलयावक (जवा पुष्प) का तथा दूसरे में भस्म का निशान बन रहा है। यह शिव के सृष्टि के नृत्य को संकेत करता है–

गिरिसुताहरयोः अविभिन्नयोः विहरतोः
नियमार्थम् अवन्तु वः सरसयावक-
भस्मविचित्रिताः त्रिपथगापुलिने पदपंक्तयः (एपीग्राफ़िका इंडिका 32, पृ. 51)

तिरुवण्णमल्लै से प्राप्त 13वीं शती का कादवराय का अभिलेख अरुणाचलेश्वर मंदिर के पश्चिमी द्वार पर अंकित है। तथा 'भरतमवल्ला' नामक एक आभूषण का वर्णन है, जिसमें उच्चकोटि के रत्न जुड़े हैं। भगवान शिव पाँव में नूपुर बाँधे उमा द्वारा गाये गये धुन पर नृत्य कर रहे हैं–

ओडरि-मैक्कण्-उमैय्-इशै-पाड़ि आडियवदिरुञ्-
कळर्-पेरुमाळुक्किन-माणिक्कम्-इलंगच्छहेय्द बरतम्वल्ल
पेरुमाळेन्नुन- तिरूवाशिगैयुड् छिरन्द ...

(एपीग्राफ़िका इंडिका 27, पृ॰ 99)

सौन्दर्य की दृष्टिकोण से नटराज स्वयं में अद्भुत हैं। वीरराजेन्द्र के कन्याकुमारी अभिलेख के अनुसार चोल-कालीन महत्त्वपूर्ण कांस्य प्रतिमाओं के शृंगार हेतु उन्हें जीते गये युद्धों में प्राप्त भव्यतम रत्नों से सुशोभित किया जाता था। ये चित्रण 'तिरुवल्लूर' में सोमस्कन्द शिव के ललाट पर तथा चिदम्बरम् एवं अन्य शैव प्रतिमाओं में पाये जाते हैं। इस अभिलेख में उल्लेख है कि राजा वीरचोल अर्थात् करैकाल ने दभ्र सभा 'नटराज' में 'त्रैलोक्यसार' नामक माणिक्य से सुशोभित किया–

देवस्यादृसुताधिपस्य महतस् त्रैलोक्यसूराभिधम्
श्रीमद् दभ्रसभानटस्य मकुटे माणिक्यम् आरोपितम्

मन्ये वैरिकुल ... न्त्रनिजवसकृतस...स्तनुस्समारोपितः

(त्रावणकोर आर्केलॉजिकल सीरीज, 3. पृ. 148)

गंगा अवतरण से जुड़ी अनेक पौराणिक गाथाएँ भी शिलालेखों में वर्णित हैं। अन्नवर्मा के वनपल्लि ताम्रपट्ट अभिलेख में दिव्य नदी मंदाकिनी को अधीर होकर नटराज शिव के जटाओं में नृत्य करते वर्णित किया गया है। महानट मंदाकिनी की बूंदों की मधुर ध्वनि को कंकड़ की ध्वनि समझकर मुग्ध हो रहे हैं। यहाँ कंकड़ में अर्थ श्लेष है। कंकड़ का अर्थ नूपुर और जल की बूँद दोनों ही है। यहाँ अर्थालंकार (श्लेष) और शब्दालंकार (अनुप्रास) का समन्वय द्रष्टव्य है। इसमें कवि त्रिलोचनाचार्य ने शिव के साथ संबंध होने के कारण गंगा को भी एक महान नृत्यांगना बना दिया है–

महानटजटाचछटानटदमन्दमन्दाकिनीकलक्वणि तकञ्कण-
व्रजविजृम्भिवाग्गुम्भनः कविः कविकुलोद्भवो भुवनभव्य-
दिव्योदयास् शिवागमविशारदो जयति शरदावल्लभः

(एपीग्राफ़िका इंडिका 3, पृ. 63)

ब्रह्मदेव के शिलालेख में शिव के नृत्य के अन्तराल में गंगा की जल की बूँदें उनके मस्तक पर मोतियों के आभूषण की तरह अथवा उनकी लता रूपी जटाओं में चमेली के पुष्पों की तरह प्रतीत होती हैं। उनके गले में हार हथेलियों में पुष्प पृथ्वी पर पुष्प तथा आकाश में सितारों की वर्षा की तरह प्रतिभासित हो रहे हैं। यह 'तालपुष्पपुरा' की अभिव्यक्ति है वास्तव में यह नृत्य प्रारंभ का एक आनन्ददायक और सुकोमल चित्र है–

मौलौमौक्तिकविभ्रमाः पृथुजटावल्लीषु मल्लीनिभाः कण्ठे
हारविहारिणोञ्जलिपुटे फुल्लप्रसूनप्रभाः भूमौ पातितपुष्पवृष्टिरचना
तारारुचश्चाम्बरे शम्भोः वः सुखदा भवन्तु नटतो गंगाः पयोविन्दवः

(कार्पस इंसक्रिप्सनम् इंडिकेरम् 4, पृ. 571)

विद्याधर भंजदेव के उड़ीसा ताम्रपट्ट अभिलेख में गंगा की विराट लहरों की तुलना नृत्य के दौरान लहराते शिव की भुजाओं सहित कई वस्तुओं से की गई है। यहां गंगा की परिकल्पना एक नटी की तरह मिलती है जो शिव के नृत्य का अनुकरण कर रही है। दिव्य नदी की उत्ताल तरंगें, जो सभी पापों का नाश करती है। चंद्रमा की चंद्रिका में शेषनाग के फन अथवा हिमाच्छादित हिमालय के शिखरों की तरह प्रतीत होती हैं। शिव की भुजाओं का व्यापक रूप से संचलन नृत्य को गतिशील सौन्दर्य प्रदान करता है–

शेषाहेः इव ये फणाः प्रविलसन्त्युदभास्वरेनदुत्विषः
प्रालेयाचल श्रृंगकोटय इव त्वंगन्ति ये' त्युन्नताः
नृत्ताओपविघटिता इव भुजा राजन्ति ये शाम्भवाः

ते सर्वाद्यविघट्टिनस् सुरसरित्तोयोर्मयः पान्तु वः

(एपीग्राफ़िका इंडिका 9, पृ. 275)

राजराजा के करेपतन ताम्रपट्ट अभिलेख में शिव के ताण्डव नृत्य का वर्णन है। जिसमें वे जब अपने दण्डपाद के अंगूठे को अपने सिर तक उठाते हैं तब गंगा का स्पर्श होता है और गंगा की सीपों से मोती उनके कपाल पर गिरते हैं तथा चंद्रमा से टपकता अमृत देखकर सदैव शिव के मुखमंडल पर स्मित मुस्कान आभासित रहता है। अन्यत्र यह भी वर्णित है कि शिव के द्वारा धारण किये गये कपाल साधारण नहीं है बल्कि ये कपाल उन उच्च दिव्य आत्माओं के हैं, जिनका युगों का अस्तित्व शाश्वतता में एक बूँद की तरह है। शिव एक मात्र दिव्य नर्तक हैं जो महाप्रलय से पहले और बाद में भी बने रहे तथा पुनः निर्माण एवं विनाश का क्रम निरन्तर रख सभी चराचर जगत को नवीन स्वरूप प्रदान करते रहे–

हेलोल्ललितचण्डदण्डचरणान्गुष्ठाग्रभागाहत स्वर्गंगोद्गत शुक्तिसम्पुट
गलन्मुक्ताभृताम् ताण्डवे पाणौ विक्ष्य कपालम् अश्वथ जटाचन्द्रा-
मृतोज्जीवितम् कंकालम् च यद् अद्भुतम् स्मितम् अवत्वीशेन तद् वश्चिरम्

(एपीग्राफ़िका इंडिका 3, पृ. 297)

गुजरात से प्राप्त श्रीधर के देवपतन प्रशस्ति अभिलेख में शिव के पंचकृत्य अर्थात् सृजन, रक्षण, विलयन, भ्रम निवारण तथा मुक्ति देने का वर्णन है–

उपास्महे परम् तत्त्वम् पंचकृत्यैककारणम्...

(हिस्टोरिकल इंस्क्रप्संस ऑफ गुजरात-2, पृ. 104)

दक्षिण-पूर्व एशिया के चम्पा क्षेत्र से प्राप्त प्रकाशधर्म का मिशन स्टेले अभिलेख में यह जिज्ञासा की गई है कि जब भगवान शिव ब्रह्मा, विष्णु एवं सभी देवताओं के अधिपति हैं तब वे श्मशान में नृत्य क्यों करते हैं? इसका उत्तर भी यहाँ दिया गया है कि विश्व के कल्याण के लिए वे नृत्य करते हैं तथा विश्व को धारण करने के लिए अपनी ऊर्जा के समान पंचतत्त्वों के स्वरूप को ग्रहण करते हैं–

यो ब्रह्मविष्णुत्रिदशधिपादिसुरासुरब्रह्मनृपर्विमान्यः तथापि
भूत्यै जगताम् अनृत्यच्छमशानभूमवति छित्रम् एतत् ...

(इंस्क्रप्संस ऑफ चम्पा. बुक 3, पृ. 20)

कुमारपाल के वडनगर प्रशस्ति अभिलेख में शिव को नृत्य करते हुए तथा एक माणिक-पिण्ड रूपी कन्दुक से खेलते हुए वर्णित किया गया है जिससे प्रतीत होता है कि मानो वे ब्रह्माण्ड के नवसृजित और सृजित होने वाले ग्रह हैं, जिनका निर्माण भगवान शिव की इच्छाशक्ति मात्र से होता है–

ब्रह्माद्वैतधिया मुमुक्षुभीरभीध्यातस्य बद्धाक्षहरैः इच्छाशक्तिम् अभीष्टवीमि
जगताम् पत्युस् श्रुतीनाम् निधेः या व्यापारितसम्ह्तैस् स्वसमयम्
ब्रह्माण्डपिण्डैः नवैः क्रीडन्ती मणिकन्दुकैः इव सदा स्वच्छन्दम् आह्लादते.

(हिस्टोरिक इंस्क्रृप्संस ऑफ गुजरात 2, पृ. 44)

शिव का ताण्डव नृत्य संहारक भी माना गया है। यद्यपि ताण्डव नृत्य के कई रूप हैं तथा आनन्द ताण्डव इत्यादि। लेकिन ताण्डव शब्द मात्र से ध्वनित होता है संहारक भाव का। अतएव ताण्डव स्वयं में उग्रता और ओज का बोधक भी है। यहाँ पर इसी ताण्डव रूप से संबंधित अभिलेखीय तत्त्वों को देखा गया है।

दक्षिण-पूर्व एशिया के सूर्यवर्मन प्रथम के प्रभखान अभिलेख में शिव के भयानक ताण्डव नृत्य की कल्पना है। सभी देवतागण उनके नृत्य को देख रहे हैं। शिव के ताण्डव से धरती झुक रही है और दिशाएँ काँप रही है–

श्रीमत्पादाग्रल् ईलावनमितधरणिक्क्षोभसम्क्षोभिकाषम् भ्राम्यत्क्रन्दत्सुरेन्द्रम्
भुजबलपवनैः सम्स्खलत्सद्विमनैः स्वांगैस्स्वल्पिकृताशम् नवरासरुचिभिः
विस्फुरद्रश्मिमाल्यैः नाट्यम् ब्रह्मादिसेव्यम् सुखयतु दयितानन्दनम् चंद्रमौलेः..

(बी.इ.एफ.इ.ओ. 4, पृ॰ 674)

हर्ष के एक शिलालेख में वर्णित है कि शिव के नृत्यरत पाद पृथ्वी को दबाकर झुका देते हैं। यद्यपि यह पृथ्वी शेषनाग के फन पर स्थित है तथा उनकी ऊपर उठी हुई भुजाएँ सूर्य और चंद्रमा तक पहुँच रही है। और ब्रह्माण्ड की सभी वस्तुओं, चराचर जगत् की स्थित में परिवर्तन हो जाता है–

पादन्यासावनुन्ना नमति वसुमति शेषभोगावलग्ना बाहूत्क्षहेपैः समम्...
ऋक्कचन्द्रैः भिन्नावस्थाम् समस्तम् भवति हि भूवनम् यस्य नृत्ते प्रवृत्ते
स श्री हर्षाभिभानो जयति पशुपतिः दत्तविश्वानुकम्पः ...

(एपीग्राफिका इंडिका 2, पृ. 119)

कलचुरी राजा पृथ्वीदेव द्वितीय के कोनि अभिलेख में वर्णन आता है कि ताण्डव नृत्य के समय शिव के पैरों के धमक से पृथ्वी धँस गई है। लोकपाल भयभीत हो गए हैं। उनके हाथों के रौद्र संचालन से पहाड़ एक दूसरे से टकराने लगे हैं दिशाएँ भय से भीत हो गई हैं तथा उनके हाथ के विशिष्ट अस्त्र खटवांग की नोक ब्रह्माण्ड के वृत्त को चीर रही है--

पादन्यासनमत्कषितिप्रविलसद्दोः कण्डचण्डभ्रमिभ्रान्तप्रान्तनगाभिगात-
विदधद्दिक्पाल पर्याकुलम् खट्वांगोत्कटकोटिगृष्टिविचटद्
ब्रह्माण्डमुड्डारम् पायात् ताण्डवम्बरम् पुरभिदो देवस्य वः सर्वदा...

(एपीग्राफ़िका इंडिका 27, पृ. 280)

रनोद से प्राप्त एक अभिलेख में धूर्जटि शिव के नृत्यरत पाद संचालन की भयंकर थाप होने वाले भयावह परिणाम का वर्णन है जिसमें पृथ्वी को धारण करने वाला कछुआ भी स्वयं ही धँस जाता है–

वर्णपरिष्कारिणि: चरणभरावनत अवनि विनमत्कमठोरूकर्प्परराभोगा
नाट्यस्य धारूजटे: धुरि वर्णपरिष्कारिणि जयति...

(एपीग्राफ़िका इंडिका 1, पृ. 354)

सुन्दर चोल के अनविल ताम्रपट्टाभिलेख में नृत्यमय शिव के हस्त संचालन से होने वाले परिणाम का विवरण है। शिव की गदानुमा भुजाएँ सभी दिशाओं में पहुँचती हैं जिनसे सभी देव एवं असुर भयभीत हो जाते हैं। पहाड़ों की कन्दराओं में एक विशेष प्रकार का कम्पन उत्पन्न होने लगता है और सभी यह विचार करने लगते हैं कि असमय में ही प्रलय अथवा महाविनाश आ गया है–

सम्हार: ये वेगाकृष्टविश्वाचलवलयमहागह्वरो दयन्निनादव्यभिताशेष
देवासुर परिकलिताकाण्ड सम्हारशंका: आश्वाचक्रावसानावधि
परिविसृतास् ताण्डवव्यपरिता: ते भाहादण्डा: चिरम् वो विदधतु महतीम्
भूतिम् अर्धेन्दुमौले ... (एपीग्राफ़िका इंडिका 15, पृ. 59)

खजुराहो से प्राप्त एक शिलालेख में शिव के हस्त संचालन से श्रेष्ठाकुल पर्वतों का समूह हवा में वर्तुलाकार घूमते हुए गिर पड़ते हैं और सभी दिशाओं को संभालने वाले हाथियों की करुण क्रंदन सुनाई पड़ता है। सात समुद्रों तक विस्तृत पृथ्वी छिन्न-भिन्न-सी लगती है और दिव्य पर्वत मेरु शिखरविहीन हो गया प्रतीत होता है–

तूर्णम्घूर्णति यत्र गोत्रशिखरिव्यूहः समूहः पतत्यव्यावर्तितमूर्तिः आर्तविरुतम्
कुर्णन् ककुप्कूम्भिनाम् सप्ताम्बोध्यवधिः प्रधूतवसुधाबन्धः कबन्धिकृतस्वर्गाधृः
क्षयकाण्डताण्डवविधिः शैवस्शिवायास्तु वः...

(एपीग्राफ़िका इंडिका 1, पृ॰ 140)

बड़ौदा से प्राप्त एक अभिलेख में शिव के ताण्डव का वर्णन है इसमें शिव की अनेक भुजाओं के रौद्र संचालन से हो रहे विस्फोट से पर्वतों के समूह ऊपर उड़ने लगे और दूसरी ओर इंद्र को अपने वज्र की ओर देखने के लिए बाध्य होना पड़ा क्योंकि उन्हें लगा कि पर्वतों के पंख फिर से उग आये हैं, जिन्हें उन्होंने अपने वज्र से पूर्वकाल में ही समाप्त कर दिया था–

सन्धयाताण्डव वडम्बरव्यसनिनो भीमस्य चण्डभ्रमिः व्यानृत्यभ्दुजदण्ड-
मण्डलभुवो झम्झानिला: पान्तु वः येषाम् उत्सभवम् जवेन झगिति
व्याहेषु भूमिभृताम् उड्डीनेषु विडौजसा पूनः असौ दम्भोलिः अलोकितः

(इंस्क्रृप्संस ऑफ गुजरात 1, पृ॰ 67)

सिरपुर से प्राप्त एक अभिलेख में वर्णन है कि शिव किस तरह पर्वतों पर भयंकर प्रहार कर रहे हैं और वे पहाड़ पिण्ड की तरह ऊपर जाकर नीचे गिर रहे हैं। साथ ही, शिव अपने नृत्य मे लय और गति भी बनाये हुए हैं–

उद्वेल्लनातिभरनिर्भरहस्तषण्डचण्डाभिघातरभसोत्पतददृजालैः यः कन्दुकैः इव कृतातुलतालकेलिः नृत्ते बभौ स भवभिद्‌भवताद् भवो वः ...

(एपीग्राफ़िका इंडिका 31, पृ॰ 35)

एक कल्चुरी शिलालेख में उल्लेख है कि शिव का ताण्डव नृत्य नागों के अधिपति के फणों को नीचे झुका देता है। पृथ्वी उनके पाद संचालन से वलयाकार हो जाती है सभी दिशाओं के हाथी भयभीत हो भागने लगते हैं और उनके दण्ड समान भुजाओं के संचालन से ब्रह्माण्ड का शीर्ष डमरू की गंभीर ध्वनि पर घूमने लगता है–

चारीसम्चरण प्रवीण चरणव्यापारणघूर्णितक्षोणीकुण्ड नमत्फणीश्वरफणम् विद्राणदिग्वारणम् दोर्दण्डब्रमणाद् अकाण्ड चलितब्रह्माण्ड खण्डम् मुडे भूयाद् वो निबिडक्क्वणड्डमरूकम् चण्डीपतेः ताण्डवम् ...

(एपीग्राफिका इंडिका 21, पृ. 149)

एक अन्य अभिलेख में शिव के ऊपर उठे हुए दण्डपाद के साथ-साथ यह भी वर्णन है कि किस प्रकार त्रिपुरजयी शिव अपने ताण्डव में ग्रहों एवं नक्षत्रों पर प्रहार कर रहे हैं, उनके दूसरे पाँव द्वारा नीचे किए गए प्रहार से पृथ्वी लुप्त हो जाती है और उन्हें आकाश में ही चारी मुद्रा में नृत्य करना पड़ता है–

भूचारीः उत्क्षिप्तो दण्डपादो ग्रहगणम् उडुभिः सार्धम् उत्तमय्य भूयः प्रायाद् यावत् स्वसीमाम् अपरपदभरभ्रष्ट पृष्टाक्व भूमिः इत्त्हः दौस्थयेपिरंग गगनतलचलच्चारिकाचारवृत्तेस् त्रयन्ताम् वस् त्रिसन्ध्यम् त्रिपुरविजयिनस् ताण्डवक्रीडितानि ...

(एपीग्राफ़िका इंडिका 1, पृ॰ 354-5)

एक अन्य अभिलेख में विवरण है कि किस प्रकार शिव के नृत्य को देखने के लिए एकत्र हुए लोग चिंतित एवं आतुर हैं तब वे उनके अद्वितीय सर्वांग सम्पूर्ण नृत्य तथा लास्य की सूक्ष्मताओं को चित्रित करते देखते हैं, जो कि नृत्य का एक सुकोमल अंग है। यह भी कैलाश पर्वत के अस्तित्व के लिए भी ख़तरा प्रतीत होता है। सर्वपाप हर शिव का आनन्दपूर्वक लास्य नृत्य यद्यपि अपनी विशिष्टताओं–'स्थानक' के साथ है फिर भी शिव की तलवों की थाप से कैलाश पर्वत कंपित हो रहा है जिससे वहाँ उपस्थित देव और असुर एक साथ भयभीत हो जाते हैं–

सम्पूर्णांगम् अशेषकल्मषमूषस् सम्पन्नम् अप्यादराद् दूरम् पादतलावघ्दट्टननमत्कैलास-

नश्यत्सीति सानन्दम् यगपत्सुरासुरसभासम्राम्भ-
दलव्यथाम् सम्भोः लास्यपरिग्रहस्य दिशतु श्रेयाम्सि वः स्थानकम्...

(एपीग्राफ़िका इंडिका 1, पृ॰ 354)

बिलहरी चेदि शिलालेख में त्रिपुरजयी शिव के नृत्य का रौद्र चित्रण है। यहाँ वर्णन है कि उनके विशाल भुजाओं से हो रहे शक्तिशाली विस्फोट से दिशाएँ पीछे की ओर हट गई हैं। जब उनकी पूर्ण ऊर्जा नृत्य में होती है तो आकाश और ऊपर उठ जाता है एवं उनके चारी अथवा वलय से पृथ्वी नीचे चली जाती है–

दिक्षु प्रेंखाभियोगप्रवलितवलनाविभ्रमाकाण्डचण्डैः दोर्दण्डानाम्
प्रकामप्रथिमभिरनिलैः दूरम् उत्सारितासु किम् च प्रस्फारचारी-
नमदवनिवशाद् व्योम्नि याते महत्ताम् अव्याद् अव्याहतेच्चहम्
त्रिपुरविजयिनस् ताण्डवाडम्बरम् वः ...

(एपीग्राफ़िका इंडिका 1, पृ॰ 254)

एक अन्य राष्ट्रकूट अभिलेख में शिव के सूचीपाद के रौद्र संचालन का सजीव चित्रण है। जब भगवान नृत्य करते हैं तब उनके सूचीपाद के स्पर्श से पृथ्वी हिल जाती है और पृथ्वी को धारण करने वाले नगाधिराज उनके पाँव के नीचे काँपने लगते हैं। क्षीरसागर एक फड़फड़ाते हुए श्वेत वस्त्र की तरह दिखता है और सबसे बढ़कर उनके घूमते हाथ उड़ते हुए पर्वतों की भाँति प्रतीत होते हैं जिन्हें फिर से पंख लग गये हों–

सूचिपातेन सद्यः प्रचलति वसुधा कम्पते नागराजः पदोद्धारेणनितो
ध्वज इव धवलो दुग्धसिन्धुः विभाति दोर्दण्डैश् च भ्रमद्भिः पुनरपि
गिरयो जातपक्षाः प्रयान्ति यस्मिन्नित्थम् प्रवृत्ते भवति जगदिदम् सोस्तु
भूत्यै भवो वः...

(एपीग्राफ़िका इंडिका 32, पृ॰ 115)

कम्बोडिया से प्राप्त राजेन्द्र वर्मन के प्रि रूप स्टेले अभिलेख में अद्भुत दक्षता से नृत्यरत शिव तथा ब्रह्माण्डीय शक्तियों पर उनके पूर्ण नियंत्रण को दिखलाया गया है–

त्रातुम् त्रिलोकीम् कलिकालकाल्याम् सन्दर्शयन् नृत्तम् उवाह सर्वमृ उ
वार्षध्वजम् ताण्डवपाटवम् यो निजम् प्रयागम् त्ववनेर अकम्पम्...

नरसिंहा के भेड़ाघाट शिलालेख में नीलकंठ शिव को एक नीलकंठ मयूर के साथ ताण्डव नृत्य में तल्लीन दिखलाया गया है

शक्तिहेतिपरप्रीतिहेतुः चन्द्रकचर्चितः
ताण्डवाडम्बरः कुर्यान्नीलकण्डः प्रियाणि वः...

(कार्पस इंस्क्रिप्संनम इंडिकेरम 4, पृ॰ 315)

एक अन्य अभिलेख में शिव के नृत्य तथा उनके पदध्वनि की तुलना किसी घुड़सवार सेना के घोड़ों के खुरों के अबाध धमक से करता है जो पृथ्वी को धूल-धूसरित करते हुए निकल जाती है। दिशाएँ धूलाच्छादित हो जाती है–

कल्पः यद्घाटी घोटकोटीप्रकरखुरपुटप्रोतितं कप्रणादिक्षुण्णक्ष्होणी प्रदेशत्रुटदनणुरजस्समापिता शावा काशः दृप्यत्कल्पान्तहेलाहतहरडभरू डडामरस्फारभेरी भांकारोद्भीमभूरिभ्रमणभयभृतारातिभूपा भ्रमन्ति...

(हैदराबाद आर्केलाजिकल सीरीज 6, पृ॰ 5)

मुनिराबाद से प्राप्त एक पश्चिमी चालुक्य अभिलेख में भस्म लेप किए हुए शिव के नृत्य का वर्णन है। शिवजी तालियाँ बजाते हैं और सौर एवं चंद्र को कम्पायमान कर देते हैं, विश्वसर्प शेष को अपनी पदताल के बोझ के नीचे झुकने को विवश कर देते हैं और अपने चपल संचालन से समुद्र को तरंगायित कर देते हैं–

प्रचलितरवीन्दुमण्डलम् आकुंचितशेषम् उच्चलज्जलधिः उद्धूलितस्य शम्भोः उभयकरास्फालनम्जयति...

(हैदराबाद आर्केलाजिकल सीरीज 5, पृ॰ 5)

नृत्यमय शिव स्वरूप में कपालों की स्थिति, लयों की ध्वन्यात्मकता, शब्द ब्रह्म की उत्पत्ति तथा देवी का नृत्य भी साकार हो उठता है। भुवनेश्वर से प्राप्त पूर्वी गंग राज के एक शिलालेख में काव्यात्मक शैली में कपाल के अर्थ को संकेत किया गया है। यहां कंकालों तथा कपालों का पुनरुज्जीवित होना शिव के नृत्य के द्वारा ही संभव हो पाया है। नृत्य के समय शिव के तृतीय नृत्य की लपटें गर्म होकर चंद्रमा से अमृतधार प्रवाहित करती है तथा उनके द्वारा धारण कपालों की श्रेणी एवं श्रृंखला को पुनरुज्जीवित करते हैं जिससे यह प्रतीत होता है कि एक राहु कई गुणा हो गया है और इससे चंद्र भयभीत हो जाता है। वे शिव की जटाजूटों के जंगल में तथा दिव्य नदी गंगा के कंदराओं में छिप जाते हैं। बिना शरीर के कपालों के जीवित होने का विचार असंख्य राहुओं के घूमने का विचित्र दृश्य सृजित करता है–

विद्युतिपंगल भाललोचनशिखिज्वालागलत्स्वामृतस्रो तस्स्पर्शन जीवितास् शवशिरश्शेणीस् शिवे नृत्याति एको राहुः अनेकताम् गत इति त्रासाद् इव प्रेक्ष्ह्यतास् चंद्रस् सान्द्रजटाटवीसुरसरिदुर्गाभृतः पातु वः...

(एपीग्राफ़िका इंडिका 6, पृ॰ 200)

बलरामवर्मन के कन्याकुमारी अभिलेख में वर्णन है कि शम्भु का नृत्य सर्वविजयी है। उने बाजूबंद झलम्-झलम् की ध्वनि ध्वनित हो रही है। धरती पर थपकियाँ देते पाँवों से तक-तक की ध्वनि निकल रही है। पाँवों के नूपुर से क्वणन-क्वणन के शब्द निकल रहे हैं। सभी ओर हर-हर का नाद हो रहा है। दुंदुभि से धिम्मि्-धिम्मि् और मार्दाल से ध्वनद्-ध्वनद् का नाद हो रहा है। यहाँ

शुद्ध नृत्य के लयात्मक अंग पर बल दिया गया है जिसमें ताल पर विशेष ध्यान दिया गया है:-

झलम् झलितकंकणम् तकतकांघ्रसन्ताडितम् क्वणत्क्वणितनूपुरम् हरहरेति शब्दोज्ज्वलम् धिमिद्धिमितदुन्दुभिध्वनिघनाकुलम् मद्दलैः द्धणद्धणघन-धवनंजयति ताण्डवम् शाम्भवम् ...

(त्रावणकोर आर्केलालिकल सीरीज 4, पृ॰ 107)

इसी शिलालेख में शिव के साथ देवी के अभिनय एवं उनके लास्य नृत्य का प्रभावशाली चित्रण काव्यात्मक शैली में किया गया है। नटराज की संगिनी हमारी रक्षा करें जो स्वयं अभिनय अर्थात् नृत्यगत मुद्राओं में निष्णात हैं और जिनसे अद्भुत भावनाओं की सृष्टि होती है वह नृत्य संगीत, ताल तथा लय में नवीन और चिर-नवीन सौन्दर्यात्मक सर्जना से नृत्य को अभिव्यक्त करती हैं। वे सूर्य के समान प्रकाशमान हैं तथा 18 पादों के अद्भुत संचालन से और भी सौन्दर्यवती हो गई हैं-

नवनवनवसारैः नाट्यसंगीततालैः अभिनयकुशला सा चाद्भुतोल्लसभावा दिनकररूचिभासा शोभिताष्टादशांगैः करणगतिविविदग्धैः नर्तितेशप्रियाव्यात्

(त्रावणकोर आर्केलालिकल सीरीज 4, पृ. 107)

स्तोत्र समुच्चय के एक श्लोक में वर्णन है कि किस प्रकार शिव के नृत्य के समय उनके डमरू से चौदह सूत्र निकले, जिनका विश्लेषण और व्याख्या वैयाकरण पाणिनि ने अपने माहेश्वर सूत्र में किया है-

सूत्राणि प्रथितानि यस्य नटने ढक्कोत्थितान्यादितस् सम्शोध्यैव चतुर्दश स्वयम् उदाहार्षिन् मुनिः पाणिनिः सूत्रैः आत्मकृतैः स्फुटार्थघटनम् सूप्तिंपदव्याकृतिम् वन्दे तम् जलकण्ठदेवम् अनिशम् वन्दारुचिन्तामणिम्

(जलकण्ठेश्वरशतकम् 52)

एक अन्य अभिलेख में वर्णन है कि इस प्रकार विजेता सुन्दरवर्मन पुलियार (चिदम्बरम्) की पवित्र परिधि में प्रवेश करने के बाद नटराज की नृत्यरत प्रतिमा को देखकर मुग्ध हो गया और भगवान के श्रीचरणों में गिर पड़ा-

अय्यप्पड़ाद अरूमरै-टेः अन्दणर्गळ देव्य-प्पुलियाः तिरूवेल्लैमुटपुक्कु प्पोन्नमबलम्पोलिय आडुवाः पुवैयुडका मन्नुन तिक मेलिकणड्डु-मनंकलिप्प क्लोल मलः मेल् अयनुंकुलि तुलाय्मालुम अरेया मलः छेविडि वणंग....

(एपीग्राफ़िका इंडिका 22, पृ॰ 47)

राजराज प्रथम के लेयडन ताम्रपट्ट अभिलेख नटराज मंदिर के निर्माण की सूचना मिलती

है। यहाँ वर्णन है कि किस तरह परान्तक चोल ने चिदम्बरम् मंदिर को स्वर्णाच्छादित करवाया था–

स्वभाहुवीः यावजिताखिलाशामुखोपनीतामलहाटकेन
समावृओन् मन्दिरम् इन्दुमौलेः व्यधाग्रहारे रविवमशकेतुः..

(एपीग्रफ़िका इंडिका 22, पृ॰ 239)

तिरूवालगाडु ताम्रपट् अभिलेख में परान्तक द्वारा पुरारी शिव के लिए स्वर्ण निर्मित दभ्र सभा बनाये जाने का उल्लेख है–

रजतगिरिजुषः पुरा पुरारेः अकृत स दभ्रसभाभिधानम् एकः कनकमयम्
उदारसम्पदा यस्सछिवम् अगुषय छ लज्जितम् धनेशम्...

(साउथ इंडियन इंस्क्रिप्संस 33, पृ॰ 396)

नोरोड, ग्वालियर से प्राप्त एक शिलालेख में वर्णन है कि महान शैवाचार्य व्योम शिव की प्रेरणा से बनवाए गए शिव के मंदिर के लिए 'नाट्श्वेर' नामक एक विशिष्ट प्रतिमा के साथ उमा–माहेश्वर, गणपति की स्थापना की गई है–

शिवयुग्मम् उमादेवीनाट्येश्वरविनायकौ
समठम् मन्दिरै रम्यैर अयम् एतान्यछाकरत्....

(एपीग्राफ़िका इंडिका 1, पृ॰ 359)

इससे यह सपष्ट होता है कि उत्तर एवं मध्य भारत में नटराज को नाट्येश्वर के नाम से जाना जाता था। नियमित शिल्प ग्रंथों के अभाव में केवल प्राचीन अभिलेखों से ही नटराज के नामों में समानार्थक भिन्नताओं का पता चलता है। आदनुर से प्राप्त एक शिलालेख में इन्हें, नटिश्वररललवार कहा गया है तथा इनको दान किए गए अखण्डदीप का उल्लेख है–

आडेरिण्पिडारः कोइल् निन्ररूलिय कूत्त्प्पेरूमानडिगलुक्कु तिरूवमिःतुक्कु
पकलुम् इरावुम् एरिय नंदाविलक्कुक्कु इवन् पोन् कोडुतु...

(साउथ इंडियन इंस्क्रिप्संस 14, पृ॰ 73)

तंजावुर के राजराजेश्वर मन्दिर की बायीं भित्ति पर अभिलेखों की श्रृंखला मिलती है। इस श्रृंखला के एक अभिलेख में सम्राट राजराज की संगिनी शोला महादेवी द्वारा दिए गए दान का वर्णन है जिसमें 'आढवल्लार' की प्रतिमा का विवरण है जिसके चार हाथ हैं, सिर पर जटा में गंगा, नवजटाएँ सात फूलों की मालायें यह प्रतिमा एक विशाल पद्मपीठ पर स्थित है। यह नटराज ही है–

स्वष्तिश्री उढैयाः श्रीराजराजदेवः नम्बिराट्टियाः सोलमहादेवियाः श्री
राजराजेश्वरमुडैयाः कोयिलिल् याजुडु इरूपत्तोन्पतावदु करै
एलुन्दरूलिवित्त घोप्पुत्तिरूमेनिकल् उडैयाः कोयिलिल मूलत्ताल अलन्दुम्

रत्नम्गाव्व छरडुच्च्हदृसूंच्ह्ण्ण णोकलुनिक्के दक्षिणमेरूविटंकन् एन्नुनंकल्लाल निरै एडुत्तुंकल्लिकवेहिनपडि क्काल्क्किकडन्द मुशलगनोडुंकुड..

(साउथ इंडियन इंस्क्रिप्सस 14, पृ॰ 73)

चित्तौड़गढ़ से प्राप्त एक अभिलेख में शिव के एक भव्य मंदिर के निर्माण का उद्देश्य शिव के ताण्डव के प्रति अनुरक्ति को इंगित करता है। कवि के अनुसार कैलाश के ऊपर ताण्डव करना सुरक्षित नहीं है क्योंकि रावण ने इसे जड़ तक हिला दिया है इसलिए शिव नृत्यरूप में अब चित्तौड़गढ़ के मनोहारी चित्रकूट पहाड़ी पर सुरक्षित है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि के अनुसार कैलाश पर नृत्य सभागार नहीं है–

गिरिः कैलासो यद् दशमुखभुजोच्चवासनादिनाद् गलन्मूलस्थामा प्रभवति न नाट्यम् विषहितुम् प्रदेशप्राग्भारप्रकृतिरमणीये तद् अधुना समिद्धेशस् श्रीमन् इह वसति गौरीसहचरः।

(एपीग्राफ़िका इंडिका 2, पृ॰ 420)

नेपाल से प्राप्त एक अन्य अभिलेख में प्रयुक्त काव्यगत शैली में, जिसके प्रणेता स्वयं राजा हैं, में पशुपति शिव को एक मंदिर समर्पित करने का उल्लेख किया गया है। यहाँ शिव ने वस्त्र के रूप में अनन्त आकाश को धारण कर लिया है तथा बिना किसी संकोच के सबों के स्वामी होकर भी नृत्य कर रहे हैं। यह अपने आप में स्तुत्य है क्योंकि भगवान सभी सांसारिक औपचारिकताओं से ऊपर हैं उनका भव्य स्थान परस्पर विरोधाभासी गुणों से परिपूर्ण है और उनकी महिमा का गुणगान चार मुखों वाले ब्रह्मा, छः मुखों वाले कुमार तथा दशानन रावण एवं सहस्रजिह्व वासुकि के द्वारा किया जा रहा है यद्यपि वे एक ही है किन्तु उने आठ शरीर हैं–अष्टमूर्ति और देवताओं तथा असुरों द्वारा समान रूप से पूजित होकर भी वे गगनाभरण होकर निःसंकोच नृत्यमय हैं–

यम् स्तौति प्रकटप्रभावमहिमा ब्रह्मा चतुर्भिः मुखैः यम् च श्लाघयति प्रणम्य चरणे षड्भिः षण्मुखः यम् तुष्टाव दशाननोपि दसभिः वक्त्रैः स्फुरत्कन्धरस् सेवाम् यस्य करोति वासुकिः अलम् जिह्वासहस्त्रैः स्तुवन् ख्यात्या यः परमेश्वरोपि वहते वासो दिशाम् मण्डलम् व्यापी सूक्ष्मतरः च शंकरतया ख्यातोपि सम्हारकः एकोऽप्यष्टतनुः सुरासूरगुरूः वीतत्रपोनृत्यति स्थाणुः पूज्यतमो विराजति गुणैः एवम् विरूद्धैः अपि...

(इंस्क्रिप्संस ऑफ नेपाल 15, 26-27 पृ॰ 18)

पूर्वी बंगाल के एक अभिलेख में नृत्यमय शिव को नटेश्वर कहा गया है यहां शिव की नृत्यमय प्रतिमा की लाह्या चंद्रदेव द्वारा स्थापित करने का वर्णन है यह उल्लेख भी रोचक है कि तिपेरा (आधुनिक बाङ्लादेश) जिले के नट नगर में अभी भी इस प्रकार के एक नटराज प्रतिमा

की पूजा की जाती है। यही शब्द कम्बोडिया के अभिलेखों में भी मिलता है। कम्बोडिया में इन्हें नाटकेश्वर के रूप में भी वर्णन किया गया है जिनकी दस भुजाएँ हैं। (जर्नल ऑफ एशिऐटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल 1914-15)

इस प्रकार शिलालेखों में नटराज के संदर्भ में यद्यपि काव्यात्मक शैली में वर्णन मिलता है पर काव्यात्मक संदर्भों के माध्यम से नटराज का वैविध्यपूर्ण वर्णन ऐतिहासिकता के साथ ही भारतीय चिंतन पार्श्व छवि को रेखांकित करता है।



संस्कृतवाङ्मय में विज्ञान

(गणित के सन्दर्भ)

डॉ. लाला शङ्कर गयावाल

विश्ववाङ्मय के पुस्तकालय की प्रथम पुस्तक "ऋग्वेद" की रचना भारतधरा के राजस्थान प्रान्त में ही हुई। वेद को समस्त ज्ञानविज्ञान का मूल माना जाता है **"सर्वज्ञानमयो हि सः"**। संस्कृत विश्व की प्राचीनतम भाषा है जिसमें वैदिक काल से ही भारतीय संस्कृति एवं ज्ञानविज्ञान की अजस्रधारा अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित होती रही है।

वेदों में उपलब्ध आख्यानों से, दार्शनिक सूक्तों से, वेदांगों से विविध वैज्ञानिक चिन्तन का आविर्भाव प्रायः सभी विद्वान् मानते हैं। संस्कृतवाङ्मय में कुछ इस प्रकार के भी वैज्ञानिक चिन्तन उपलब्ध हैं जिनका तात्पर्य अधिक सूक्ष्म आलोचन के बाद ही स्पष्ट होता है।

आधुनिक विज्ञान को संस्कृत की विशिष्ट देन

आधुनिक विज्ञान केवल पाश्चात्य जगत् की ही देन नहीं है अपितु अनेक सिद्धान्त प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में प्रतिपादित विवेचन पर आधारित हैं। जैसे- सैद्धान्तिक विज्ञान की दृष्टि से 600 ई॰ पूर्व में बोधायन ने शुल्वसूत्र में वृत्त एवं त्रिभुज के फल का सिद्धान्त प्रतिपादित किया जो रेखागणित में प्रचलित पाइथागोरस प्रमेय से सादृश्य रखता है। 600 ई॰ पूर्व में कणाद ने वैशेषिक दर्शन में परमाणुवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और बताया कि परमाणु अविभाज्य तथा दिग्रहित है। आज के वैज्ञानिक तथ्य कि Speetrum is the language of atoms. **'द्रव्यगुणकर्मसामान्य विशेष समवायाभावाः सप्तपदार्थाः'** पदार्थों के सात विभाजन में वैशेषिक दर्शन ने बताया है कि पदार्थों के विशेष गुण विश्व की वस्तुओं के परिचायक हैं। परमाणुवाद का सिद्धान्त संस्कृत की प्रमुख देन है।

आधुनिक भौतिकी Kinetic theory of Gases में Thermo-dynamic theory का प्रयोग बताते हैं जो कणाद के पीलुपाक सिद्धान्त पर आधारित है। कणाद की तरह ही यहाँ बताया गया है कि Molecule पहले टूटता है, फिर उसमें उष्मा (Heat) का प्रवेश होता है।

5वीं शदी में आर्यभट्ट ने सर्वप्रथम प्रतिपादित किया कि पृथिवी अपने अक्ष पर घूमती है और तारे स्थिर हैं; जिसको हजार वर्ष बाद कोपर्निकस एवं केपलर आदि आधुनिक वैज्ञानिकों ने उसी रूप में प्रस्तुत किया। आर्यभट्ट ने ही अपनी पुस्तक 'आर्यभट्टीयम्' में परिधि-व्यास अनुपात

का मूल्य निर्धारित किया जो एक स्थिरांक है। आधुनिक युग में इसे पाई के नाम से जाना जाता है। आर्यभट्ट की कुट्टक पद्धति का विकसित रूप Theory of Indeterminate equation of Ist degree है जिसका उत्तरवर्ती प्रयोग ज्योतिषीय सिद्धान्तों में हुआ।

- 505 ई० में वराहमिहिर ने बृहसंहिता में भूगोल, उल्काविज्ञान, वनस्पतिविज्ञान, कृषि, अभियांत्रिकी, जन्तुविज्ञान आदि विषयों का प्रतिपादन किया है।

- 600 ई० में भास्कराचार्य ने महाभास्करीयम् एवं लघुभास्करीयम् में ग्रहनक्षत्रों की गणना, आर्यभट्ट के Indeterminate Equation का पुनः पल्लवन एवं ज्यामितीय एवं त्रिकोणमितीय सिद्धान्तों का उल्लेख किया है।

- प्रसिद्ध आर्यग्रन्थ सूर्यसिद्धान्त में गुरुत्वाकर्षण का सविस्तार विवेचन किया है। "**अदृश्यरूपाः कालस्य मूर्त्तयो भगणाश्रिताः**" यथा- नोद बिन्दु पर बैठे अदृश्य देवता ग्रहों को अदृश्य रश्मि से खींचते हैं।

- बटेश्वर (880 ई०) ब्रह्मगुप्त (591 ई०) मुञ्जाल (952 ई०) आर्यभट्ट द्वितीय (950 ई०) भास्कर द्वितीय (1114 ई०) एवं नीलकण्ठ (1465 ई०) ने अपने ग्रन्थों में गणित शास्त्र को विकसित किया।

- 1150 ई० में भास्कराचार्य ने अपनी पुस्तक "सिद्धान्त शिरोमणि" में पृथिवी पर स्थित वस्तुओं पर गुरुत्वाकर्षण के लागू होने का विवेचन किया है। तर्कसंग्रह में स्पष्ट उल्लेख है- "**आद्यपतनादसमवायिकारणत्वं गुरुत्वम्**"। न्यूटन ने जिस 'गुरुत्वाकर्षण-सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया उसका उल्लेख सैकड़ों वर्ष पूर्व संस्कृत वाङ्मय में विद्यमान है।

- गणित में शून्य की अवधारणा संस्कृत वाङ्मय की देन है।

- उपनिषद् में प्रतिपादित मंत्र- "पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते" तथा भास्कराचार्य का कथन- "**अस्मिन् विकारः खहरेण राशौ**" गणित की अनन्त की अवधारणा का मूल है।

- आचार्य पिंगल (200 ई० पूर्व) के "छन्दसूत्र" में "प्रस्तार-पद्धति" का विवेचन है। जिसका प्रयोग कम्प्यूटर समेत अनेक आधुनिक विज्ञानों में है।

- दाशमिक प्रणाली (Decimal System) भी संस्कृतवाङ्मय की देन है जिसे बाद में सर्वत्र अपनाया गया।

- आयुर्वेद के क्षेत्र में औषधिज्ञान के लिए चरक की 'चरकसंहिता' शल्य चिकित्सा के लिए सुश्रुतसंहिता, शरीर रचना के लिए वाग्भटकृत 'अष्टांगहृदय' एवं 'रसरत्नसमुच्चय' उपयोगी हैं और रहेंगे।

- वाचस्पति मिश्र ने अपने तात्पर्यटीका में त्रि-आयामी रेखागणित (Three Dimensional Geometry) का विवेचन किया है।

– आधुनिक कम्प्यूटर वैज्ञानिक की Natural language processing सम्बन्धी अवधारणा मुख्यतः पाणिनीय संस्कृतव्याकरण के सिद्धान्तों पर आधारित है।

संस्कृतवाङ्मय में विद्यमान जीवन मूल्यों के साथ-साथ वैज्ञानिक ज्ञान-गणित, खगोलविज्ञान, रसायन शास्त्र, भौतिक शास्त्र, वनस्पति विज्ञान, आयुर्विज्ञान, अभियांत्रिकी एवं प्रौद्योगिकी, प्राणिविज्ञान, पशुचिकित्सा, कृषिविज्ञान, पर्यावरण, एवं सैन्य विज्ञान आदि का उल्लेख प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है जिसकी उपादेयता आज भी सर्वविदित है, अक्षुण्ण है। वैदिक काल से ही मनुष्य का प्रकृति के साथ तादाम्य सम्बन्ध रहा है। हमारे ऋषियों ने प्रकृति में एक ऐसे उदात्त तत्त्व की अनुभूति की जिसने हमें सामान्य से अलग एक विशेष दृष्टि प्रदान की। हमारा शरीर पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पाँच तत्त्वों से बना माना गया है इन सभी तत्त्वों के प्रति हमारी अगाध श्रद्धा है। पर्यावरण की ओर उन्मुखीकरण की प्रक्रिया यहीं से प्रारम्भ होती है। **''माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः''** यह वैदिक उद्घोषणा है। संस्कृतवाङ्मय में इस तरह की उदात्त भावना समस्त प्राकृतिक तत्त्वों के प्रति है तभी तो हमारा ऋषि स्तुति करता है-

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग्भवेत्॥

गणित

सम्पूर्ण विश्व की यह मान्यता है कि अधिकांश गणितीय ज्ञान का उद्भव भारतभूमि पर हुआ। वैदिक काल से हमें भारतीयों के गणितीय ज्ञान का पता चलता है। अंकगणित, ज्यामितीय और त्रिकोणमिति के क्षेत्र में बहुत सारे आविष्कार प्राचीन भारतीयों की देन है। भारतीय विद्या परम्परा में आरम्भ से ही गणित को समस्त शास्त्रों में शीर्षस्थ माना गया है-

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद् वेदाङ्गशास्त्राणां गणितं मूर्धनि स्थितम्॥

आचार्यों ने तो यहाँ तक कहा है कि त्रैलोक्य में कुछ भी गणित के बिना सम्भव नहीं-

बहुभिर्विप्रलापैः किं त्रैलोक्ये सचराचरे।
यत्किञ्चद्वस्तु तत् सर्वं गणितेन विना न हि॥

गणित- गण्+क्त=गणना की जाती। इस अर्थ में मित=नापा हुआ और संख्यात=गिनती किया हुआ शब्दों का भी प्रयोग देखा जाता है। पर इस शास्त्र का नाम गणित है।

प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य वैदिक साहित्य में गणित के ज्ञान का पर्याप्त परिचय मिलता है। ऋग्वेद में गणक, गण, गण्या आदि शब्द मिलते हैं। गणित नक्षत्रविद्या के अन्तर्गत आता है। काल जानने के लिए ज्योतिष की आवश्यकता पड़ी तथा उसका सम्यक् ज्ञान नक्षत्र, वेध, और ग्रहगणित से ही था। इस काल की विश्व को सबसे बड़ी देन संख्याओं का आविष्कार तथा दाशमिक प्रणाली (Decimal System) है। एक से लेकर सहस्र तक संख्याओं के नाम तथा अर्बुद

(अरब) तथा परार्ध (10^{12}) तक जानते थे। तत्कालीन लोग संख्याओं को द्विगुणित से द्वादशगुणित तक करना जानते थे यजुर्वेद के एक मंत्र में असंख्य सहस्त्र का भी उल्लेख है। यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता में युग्म तथा अयुग्म तथा विभिन्न परिभाषाओं का उल्लेख है। सामान्य अंकगणितीय संक्रियाएँ जैसे जोड़ या भाग बहुत परिष्कृत रूप में वैदिक साहित्य में ही मिल जाते हैं। इसी संहिता में दशलोक तक की संख्याओं के नाम दशमलव पद्धति से दिये गये हैं।

शुल्वसूत्रों में रेखागणितीय प्रक्रियाओं का ज्ञान प्राप्त होता है। शुल्व उस रज्जु को कहते थे जिससे वेदी बनाई जाती थी आज वह काम फुट्टा (Scale) तथा परकार (Compass) की सहायता से किया जाता है।

– पाइथागोरस प्रमेय का ज्ञान– बौधायन शुल्वसूत्र में इसका उल्लेख सर्वप्रथम मिलता है-

दीर्घचतुरश्रस्याक्ष्ण्या रज्जुः पार्श्वमानी तिर्यङ्मानी च।
यत्पृथग्भूते कुरुतस्तदुभयं करोति॥

अर्थात् दीर्घचतुरश्र (आयत) की तिर्यङ्मानी और पार्श्वमानी भुजाएँ जो दो वर्ग बनाती हैं उनके योग के बराबर अकेली अक्षण्यारज्जु वर्ग बनाती हैं। पाइथागोरस से 460 वर्ष पूर्व बौधायन (1000 ई॰ पूर्व) उपर्युक्त (540 ई॰ पूर्व) सिद्धान्त का प्रतिपादन कर चुके हैं।

पाई (π) का मान

''यूपावटाः पदविष्कम्भाः त्रिपदपरिणाहानि यूपोपराणीति''

वर्ग के बराबर वृत्त खींचने के प्रसंग में पाई का मान अन्तर्निहित हो जाता है। मानव शुल्वसूत्र में कहा गया है कि दो हाथ का वर्ग, एक हाथ तीन अंगुल अर्धव्यास पर बने हुए वृत्त के बराबर होता है। गणितीय भाषा में इसका समीकरण होगा–

$2^2 = \pi$ पाई $(9/8)^2$

अर्थात् $\pi = 4 \times (9=8)^2 = 4 \times 64/81 = 3.16049$

बौधायन शुल्वसूत्र में पाई का मान 3 बताया है।

इसी प्रकार करणी, वर्ग का क्षेत्र, भिन्न आदि का ज्ञान शुल्वसूत्रों से प्राप्त होता है।

वेदाङ्गकाल में गणित सिरमौर था। लगधमुनि ने योग, वियोग, गुणा, भाग, भिन्न आदि की प्रक्रियाओं का काल की इकाईयों का तथा अन्य अंकगणितीय मूलभूत प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है। भिन्न प्रक्रिया के सम्बन्ध में लिखते हैं–

तिथिमेकादशाभ्यस्तां पर्वभांश समन्विताम्।
विभज्य म समूहेन तिथिनक्षत्रमादिशेत्॥

अर्थात् तिथि को 11 से गुणा करें और उसमें पर्व के भांश जोड़े और फिर नक्षत्र संख्या से भाग दें। इस प्रकार तिथि के नक्षत्र को बतावें। इसी प्रकार कला दश सविंश स्यात् अर्थात् 1

नाडिका 10-1/20 कला में भिन्न का प्रयोग है। जैन धार्मिक ग्रन्थ सूर्यप्रज्ञप्ति तथा चन्द्रप्रज्ञप्ति (500 ई॰ पूर्व) में गणितानुयोग है जिसमें गणितीय सिद्धान्तों तथा रेखा-गणितीय उपलब्धियों का उल्लेख है। इसमें पाई का मान, क्षेत्रमिति, ज्यामिति, समचतुरस्र, विषम, चतुष्कोण आकृतियों दीर्घवृत्त का आविष्कार तथा परिमण्डल आदि का विस्तार से वर्णन है। इसके व्याख्याकार ने गणित को वज्र के समान कहा है-

गणितं सूक्ष्मगणितं संकलनादं तदैव सूक्ष्मम्।
सूक्ष्मबुद्धिगम्यत्वात्, श्रूयते च वज्रान्तं गणितमिति।।

स्थानांगसूत्र, भगवतीसूत्र, अनुयोगद्वार आदि गणितीय संदर्भों से युक्त ग्रन्थ हैं। जैन लेखक उमास्वामी (150 ई॰ पूर्व) ने क्षेत्रमिति सम्बन्धी सूत्र दिये हैं। गुणा एवं भाग की विधियों का भी वर्णन इसमें मिलता है।

स्थानांगसूत्र में 5 प्रकार के अनन्तों का, अनुयोगद्वार में 4 प्रकार के प्रमाणों का, भगवती सूत्र में ज्यामितीय आकृतियों का, उत्तराध्ययन सूत्र में बीजगणितीय नियमों का वर्णन है।

आर्यभट्ट प्रथम की पुस्तक 'आर्यभट्टीयम्' के चार भागों में से दो भाग गणित विषयक तथा दो भाग खगोल विषयक है। इनके 33 सूत्रों में अंकगणित, बीजगणित, ज्यामिति तथा त्रिकोणमिति का वर्णन है। इनकी प्रमुख उपलब्धियों में संख्या लिखने की रीति जो अक्षरों के द्वारा थी, पाई का सूक्ष्ममान, वर्गमूल और घनमूल की संक्षिप्त पद्धति त्रैराशिक नियम बीजगणितीय प्रक्रियाएँ तथा रेखागणितीय नियम हैं। वर्गमूल की संक्षिप्त पद्धति है-

भागं हरदेवर्गान्नित्यं द्विगुणेन वर्गमूलेन।
वर्गाद् वर्गे शुद्धे लब्धं स्थानान्तरे मूलम्।।

अर्थात् अन्तिम वर्ग स्थान में से बड़ी से बड़ी जो वर्ग संख्या घट जाये उसे घटा दो। सर्वदा वर्गमूल के दुगुने से अवस्थित को भाग दो। भाग करने से प्राप्त लब्धि के वर्ग को आगे के वर्ग स्थानों से घटाओ। पृथक् पंक्ति में रखी हुई संख्या वर्गमूल सूचित करती है।

ब्रह्मगुप्त (558-560) ने 'ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त' की रचना की इसमें 20 परिकर्म और 8 व्यवहार हैं। यूक्लिड के प्रमेय का इसमें वर्णन है। इनके अनुसार गणक वही है जो 20 परिकर्म और आठ व्यवहार को जानता है-

परिकर्मविंशतिमिमां संकलिताद्यां पृथग्विजानाति।
अष्टौ च व्यवहारान् छायान्तान् भवति गणकः सः।।

बीजगणित के आचार्य श्रीधर (750 ई॰) गणित सार संग्रह के लेखक महावीराचार्य (850 ई॰) ने लघुतमसमापवर्त्य, चतुर्भुज का क्षेत्रफल, दीर्घवृत्त का क्षेत्रफल बताया तथा श्रीपति (1039) ने सिद्धान्तशेखर तथा गणिततिलक की रचना की।

सर्व प्रमुख गणितज्ञ के रूप में भास्कराचार्य द्वितीय (1114 ई०) का स्मरण किया जाता है। इन्होंने सिद्धान्तशिरोमणि, लीलावती, बीजगणित, तथा करणकुतुहल की रचना की। लीलावती में अंकगणित, बीजगणित, एवं ज्यामितीय सिद्धान्तों का वर्णन है। इसमें पूर्णाङ्क, भिन्न, त्रैराशिक, ब्याज, व्यापार गणित, क्रमयय, मापिकी तथा क्रकयव्यवहार का वर्णन है। बीजगणित में 5 प्रकरण हैं- करणियाँ, शून्यगणित, सरल समीकरण, वर्ग समीकरण और कुट्टक। सिद्धान्त सिरोमणि में वे चलन-कलन के आविष्कार के अग्रदूत बने। इन्होंने ग्रहों की दो प्रकार की गतियाँ स्थूल और तात्कालिकी सूक्ष्म कही है।

इसके अतिरिक्त नारायण पण्डित (1356) माधव (1400) परमेश्वर (1450) नीलकण्ठसोमयाजी (1443) ज्ञानराज (1503) चित्रभानु (1475-1550) शङ्करवारियर (1556) ज्येष्ठदेव (1600) कमलाकर (1658) पण्डितराज जगन्नाथ (1750) बापूदेव शास्त्री (1821) नीलाम्बर शर्मा (1823) केतकर (1854) सुधाकर द्विवेदी आदि गणितशास्त्र के प्रमुख आचार्य हैं। भारतीय गणितशास्त्रपरम्परा में इनके ग्रन्थ गणित के विकास में स्मरणीय हैं।

इस प्रकार भारतीय गणितशास्त्र जो कि प्राय: प्राणियों की जिज्ञासात्मक संख्याबुद्धि पर आधारित था भास्कराचार्य के समय तक परम उन्नति पर पहुँच गया। इस काल तक गणित एक स्वतंत्र विषय बन गया तथा बीजगणित, रेखागणित, क्षेत्रगणित, त्रिकोणमिति गतिविज्ञान, स्थितिविज्ञान, सांख्यिकी आदि इसकी अनेक शाखायें बन गईं। श्लेगल के अनुसार भारतीयों द्वारा किये गये आविष्कारों में वर्णमाला के बाद ''दार्शनिक स्थानमान पद्धति'' का आविष्कार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।



श्रीमद्भगवद्गीता का मानवमात्र के लिए संदेश और उसकी वर्तमान में उपयोगिता
(द्वितीय अध्याय के आलोक में)

डॉ. नरसिंह चरण पण्डा

श्रीमद्भगवद्गीता विश्व के महान् ग्रन्थों में से एक है। महाभारत का अंग होते हुए भी यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में सुप्रतिष्ठित है। भारतीय संस्कृति और सभ्यता की यह एक विख्यात ग्रन्थ है। इसका अमर संदेश युग-युगों से भारतीय जन-मानस को आप्लावित करता आ रहा है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने गुह्य से गुह्य ज्ञान का उपदेश किया। जगत् के विविध क्षेत्रों के सभी अधिकारियों के लिये यह महान् दिव्य शिक्षक प्रस्तुत हो गयी। ज्ञानयोगी, कर्मयोगी, भक्तियोगी ही नहीं, संसार के विविध उलझनों में फँसे हुए तमोग्रस्त सभी लोगों के लिये गीता दिव्य प्रकाश स्तम्भ बनकर सभी को उनके अधिकारानुसार पथ-प्रदर्शन करने लगी। इसी से अरण्यवासी विरक्त साधु के हाथ में भी गीता रहती है और क्रान्तिकारी युवक के हाथ में भी गीता है। दोनों ही उससे प्रकाश पाते हैं। गीता का द्वितीय इसके अन्य सभी अध्यायों में से अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस अध्याय में जो उपदेश भगवान् कृष्ण के द्वारा किया गया है उसके कुछ बिन्दुओं को केन्द्र बनाकर प्रस्तुत शोध पत्र का अवतरण किया जा रहा है। द्वितीय अध्याय में जो अमर संदेश मिलता है उस दिव्य संदेश या उपदेश के निम्नलिखित बिन्दु विशेष द्रष्टव्य है:

(क) अर्जुन की अनुकरणीय गुरु भक्ति

(ख) आत्मा का स्वरूप एवं जन्म मृत्यु का रहस्य

(ग) निष्काम कर्म का उपदेश

(घ) स्थितप्रज्ञ होने का उपदेश

(ङ) क्षत्रिय धर्म पालनार्थ उद्बोधन

(च) निर्वाण या परमशान्ति प्राप्ति के साधन का उपदेश।

युद्ध क्षेत्र में अर्जुन ने अपने गुरुओं को देखकर उन्हें न मारने के लिए मन में बार-बार संकल्प किया। कारण संसार में गुरु का स्थान सर्वोपरि है। ब्रह्मवैवर्तपुराण के अनुसार जो पुरुष पिता और माता का तथा विद्यादाता एवं मन्त्र दाता गुरु का पोषण नहीं करता, वह जीवन भर पापसे शुद्ध

नहीं होता। साथ-साथ यह भी परम सत्य है कि विद्यादाता एवं मन्त्रदाता गुरु माता से भी पूजनीय एवं वन्दनीय है। वेद के अनुसार गुरु से बढ़कर और पूजनीय दूसरा कोई नहीं है। कहा गया है-

पितरं मातरं विद्यामन्त्रदं गुरुमेव च।
यो न पुष्णाति पुरुषो यावज्जीवं च सोऽशुचिः॥[1]

पुनश्चः

विद्यामन्त्रपदः सत्यं मातुः परतरो गुरुः।
न ही तस्मात्परः कोऽपिप्रवन्द्यः पूज्यश्च वेदतः॥[2]

शास्त्रों में गुरुओं को विशेष सम्मान दिया गया है। शिष्य को हमेशा गुरु के आदेशानुसार कार्य करना पड़ता है। शिष्य कभी भी गुरु को ईश्वर से कम नहीं समझता है। गीता में अर्जुन श्रीकृष्ण से कहता है कि हे मधुसूदन! मैं रणक्षेत्र में भीष्म और द्रोण जैसे पूजनीय गुरुजनों पर बाण कैसे चलाऊँगा?[3] अर्थात् इन गुरुओं के चरणों में तो भक्तिभाव से पुष्प-अर्पण करना मेरा परम कर्त्तव्य है, न कि तीक्ष्ण बाणों से प्रहार करना। कारण गुरुजनों को यदि 'तू' शब्द से सम्बोधित किया जाए तो वह भी घोर पाप का हेतु बन जाता है। जैसे महाभारत में कहा गया है-

त्वमित्युक्तो हि निहतो गुरुर्भवति भारत।[4]

अर्थात् यदि गुरुजनों को 'तू' कह दिया जाए तो यह धर्म की दृष्टि से उनका वध ही हो जाता है-

अवधेन वधः प्रोक्तो यद् गुरुस्त्वमिति प्रभुः।[5]

गुरु को 'तू' कह देना उसे बिना मारे ही मार देना है। भला, जिन गुरुजनों के प्रति कहा गया अपमान युक्त शब्द भी घोर पाप में कारण बन जाता है, उन गुरुजनों के समक्ष मैं धनुष-बाण से युक्त होकर युद्ध कैसे करूँगा। पितामह भीष्म केवल वयोवृद्ध ही नहीं अपितु ज्ञान वृद्ध भी हैं। बाल्यकाल से ही मैं इनके पास पावन स्नेह को प्राप्त कर स्वयं को धन्य मान रहा हूँ इनकी गोद में बैठकर अनुपम सुख का अनुभव करता हूँ अतः इन पितामह के समक्ष खड़े होकर उनसे युद्ध करना क्या मेरे लिए उचित होगा? द्वितीयतः आचार्य द्रोण जिन्होंने मुझे (धर्म) शास्त्र एवं शस्त्र-दोनों प्रकार की विद्या से युक्त कर इतनी क्षमता प्रदान की है कि उनके द्वारा मैं भगवान् शंकर को भी युद्ध में सन्तुष्ट कर सका हूँ, क्या उन पूजनीय गुरु से युद्ध करना धर्मसंगत कहा जा सकता

---

1. ब्रह्मवैवर्तपुराण, 72.109
2. तदेव, 72.112
3. कथंभीष्ममहं संख्ये द्रोणञ्च मधुसूदन।
   इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥ गीता, 2.4
4. महाभारत, कर्णपर्व, 69.83
5. तदेव, 69.86

है? इस प्रकार गुरु एनं आचार्यों के प्रति अर्जुन के मन में सम्मान का भाव था, जो कि एक आदर्श शिष्य के रूप में सदा-सर्वदा प्रशंसित एवं सुप्रतिष्ठित था। यथार्थतया अर्जुन के हृदय में परमकृपा का आविर्भाव पितामह भीष्म और गुरु द्रोणाचार्य को युद्ध क्षेत्र में प्रत्यक्ष देखकर ही हुआ है। अतः गीता के द्वितीय अध्याय के चतुर्थ श्लोक में वह 'मधुसूदन' शब्द से श्रीकृष्ण को सम्बोधित करते हुए यह कहना चाहता है कि आप मधु नामक दैत्य के विनाशक हैं, किन्तु ये मेरे गुरुजन दैत्य नहीं अपितु महान् धर्मज्ञ एवं पुण्यात्मा हैं और आपके अनन्य भक्त एवं प्रशंसक हैं। पुनश्च 'अरिसूदन' सम्बोधन से यह स्पष्ट संकेत करता है कि आपने अपने शत्रुओं का ही वध किया है, किसी प्रातः स्मरणीय एवं पूज्य गुरुजन का नहीं। इन परम हितैषी गुरुजनों के साथ मैं बाणों से कैसे युद्ध कर सकूँगा? इनके साथ मन से या बाणी से भी युद्ध करना महान् पाप है। इसके आगे पुनः गुरुजनों के प्रति विशेष सम्मान व्यक्त करके अपने उदार एवं श्रद्धास्पद हृदय का परिचय देते हुए अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण से कहता है-

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुंजीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्।।[1]

इसलिये मैं इन महानुभाव गुरुजनों को मारने की अपेक्षा इस संसार में भिक्षा द्वारा जीवन यापन करना अच्छा समझता हूँ क्योंकि गुरुजनों की हत्या करके उनके रुधिर से (रक्त से) सने हुए अर्थ आंर काम का उपभोग ही तो करना पड़ेगा।

यहाँ अर्जुन स्पष्ट रूप से कहता है कि मैं गुरु हत्यारा एवं गुरुद्रोही नहीं बनना चाहता हूँ, भले ही मुझे भिक्षा के अन्न द्वारा जीवन निर्वाह करना पड़ जाए। फिर भी मैं इन धर्मात्मा एवं महायशस्वी गुरुजनों को मारकर अपयश लेकर समाज में नहीं रहना चाहता हूँ तो अर्जुन का यह संदेश आज के युग के लोगों के लिए अत्यन्त ग्रहणीय है, जो कि सदैव दूसरों को लूटकर, मारकर एवं छल से वश में करके धन अर्जित कर सुखपूर्वक रहना चाहते हैं। आज के लोग गुरुजनों को सम्मान देना तो दूर उनको हमेशा कष्ट एवं दुःख देकर धन कमा रहे हैं, परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि किसी को प्रताड़ित एवं प्रपीड़ित करके कमाया हुआ धन एवं यश कम समय के लिए ही रहता है। इसका अन्तिम परिणाम केवल दुःख ही है। अतः शास्त्र में कहा गया है-

अकृत्वा परसंतापमगत्वा खलमन्दिरम्।
अक्लेशयित्वा चात्मानं यदल्पमपि तद्बहु।।

दूसरों को सन्ताप न पहुँचाकर, याचनार्थ दुष्ट जन के घरों पर न जाकर और अपने शरीर को अत्यन्त पीड़ा न देकर, जो कुछ थोड़ा-बहुत प्राप्त हो जाए उसमें ही सन्तुष्ट रहना यह मुमुक्षु के लिए जीविका का साधन बताया गया है।

---

1. तदेव, 2.5

अतः अर्जुन ने गुरुओं के प्रति जो आदर्श भावनायें व्यक्त की हैं वह आज के हर शिष्य को अनुकरण करनी चाहिए। जिससे उनका तो कल्याण होगा ही साथ-साथ समाज का भी कल्याण होगा, इसमें लेश मात्र संदेह नहीं है।

आत्मा का स्वरूप एवं जन्म-मृत्यु का रहस्य:

श्रीमद्भगवद् गीता का प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्त है कि जो असत् है उसका भाव नहीं हो सकता और जो सत् है उसका कभी अभाव नहीं हो सकता (**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**[1]। सत् वही है जो त्रिकालाबाध हो, अर्थात् जो भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में सदा सर्वदा नित्य, एकरस और अपरिवर्तनशील रहे। यह लक्षण शुद्ध आत्मतत्त्व या ब्रह्म का है और वही 'सत्' है। गीता में आत्मतत्त्व के लिए नित्य, अविनाशी, अज, अव्यय, सर्वगत, अचल, सनातन, अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकार्य आदि पद प्रयुक्त हुए हैं।[2] यह शरीर नश्वर है, आत्मा नित्य है, अतः वह शरीर के साथ नष्ट नहीं होती। जैसे गीता का शाश्वत वचन है-

न जायते म्रियते वा कदाचिन् नायं भूत्वा भविता वा व भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।[3]

पुनश्च जिस प्रकार कोई व्यक्ति पुराने जीर्ण वस्त्रों को उतार कर दूसरे नये वस्त्रों को पहन लेता है, उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीर को छोड़कर नये शरीर को धारण करती है।[4] शरीर और आत्मा के भेद को, शरीर की अनित्यता और आत्मा की नित्यता को दर्शाने के लिए इससे अच्छा दृष्टान्त नहीं दिया जा सकता। नये कपड़े की तरह नए शरीर का धारण जन्म है, पुराने कपड़े की तरह पुराने शरीर को छोड़ देना मृत्यु है- इसमें आत्मा वही की वही रहती है। आत्मा एक जन्म से दूसरे जन्म में चली जाती है। जिन कर्मों के कारण यह शरीर मिला है जब उसका भोग समाप्त हो जाता है तब शरीर को जीर्ण कहा जाता है। इसलिए कई व्यक्ति युवावस्था में ही शरीर छोड़ देते हैं, कई वृद्धावस्था में। इस लोक में जीर्णता का अर्थ बुढ़ापा नहीं है, इसका अर्थ यह है कि जब शरीर कर्म फल भोग चुकता है तब आगे यह शरीर निरर्थक हो जाता है, यह शरीर की जीर्णता है और तब आत्मा इस शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करती है। अर्थात् आत्मा एक जन्म से दूसरे के जन्म में चली जाती है। अतः जब आत्मा की मृत्यु ही नहीं, जिसे हम मृत्यु कहते हैं वह दूसरा जन्म है, तब मरने से क्या डरना? परन्तु उचित समयानुसार शरीर अवश्य नष्ट हो जाता है। जैसे कहा गया है-

---

1. तदेव, 2.16
2. अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
   नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।। तदेव, 2.24
3. तदेव, 2.20, तुलनीय-कठोपनिषद् 1.2.18
4. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय...नवानि देही। तदेव, 2.22

जातस्य ही ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मात् अपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥[1]

जीवात्मा के प्रारब्ध कर्म समाप्त हो जाने पर उनकी मृत्यु निश्चित है, और मृत्यु से पहले किये गये कर्मों को भोगने हेतु दुबारा जन्म लेना भी निश्चित है। जन्म-मृत्यु के इस अटल सत्य को कोई टाल नहीं सकता कारण जन्म के साथ मृत्यु का नित्य सम्बन्ध है। यह जीव जन्म एवं मृत्यु के प्रवाह में तब तक भटकता रहता है जब तक कि उसे परमात्मास्वरूप की प्राप्ति नहीं हो जाती है। इसलिये श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं कि जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु अनिवार्य है और जो मरता है उसका जन्म भी अनिवार्य है क्योंकि मृत्यु के पश्चात् देहान्तर की प्राप्ति अवश्य होती है। यह जन्म और मृत्यु का क्रम जीव के विकास की प्रक्रिया से सम्बन्धित है और इस विकास के क्रम से जीव जब इस परमात्मा भाव से भावित होकर उसमें प्रतिष्ठित हो जाता है तो वह जीवन मुक्त हो जाता है। इस स्थूल शरीर के साथ उसके सूक्ष्म और कारण शरीर का भी अपने मूल कारण इस त्रिगुणात्मिका प्रकृति में लय हो जाता है। यह चिदंश अपने यथार्थ स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त कर लेता है। गीता शास्त्र का यही प्रयोजन है कि वह इस अविनाशी जीव को परम-लक्ष्य रूप ब्रह्मनिर्वाण की प्राप्ति कराने वाले सर्वोत्तम उपाय का अवबोधन करा दे। श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं कि जीव के इस विकास क्रम में जन्म के पश्चात् जन्म अनादि काल से चला आ रहा है और कब तक चलेगा, इसके विषय में कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता, अतः यह अपरिहार्य है, अर्थात् जिसका परिहार वा निराकरण न किया जाए, ऐसा यह क्रम है। इस चिरन्तन क्रम को जीव के कल्याण में हेतु जानकर तुम्हें इसके सम्बन्ध में शोक करना उचित नहीं है।

अब यह प्रश्न होता है कि इस जन्म-मृत्यु के क्रम में कहीं भी कोई सीमा का बन्धन नहीं दीखता। एक से अनेक जीवों का जन्म और फिर उनकी मृत्यु के पश्चात् पुनः उसी क्रम से अनेक जीवों का जन्म और फिर उनकी मृत्यु के पश्चात् पुनः उसी क्रम से उनकी अभिवृद्धि यह सब कहाँ से और कैसे होती जा रही है? इस गूढ़ रहस्य का समाधान करते हुए श्रीकृष्ण पुनः उपदेश दे रहे हैं:-

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥[2]

उपर्युक्त 'अव्यक्त' शब्द सांख्य सिद्धान्त का है। सांख्य शास्त्र में प्रकृति को अव्यक्त कहा गया है। अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों से न दिखने वाली। जो पदार्थ इन्द्रियों द्वारा अनुभव होते हैं, वे व्यक्त कहलाते हैं। जो दृश्यमान संसार है वह व्यक्त है, परन्तु यह सदा इसी प्रकार नहीं रहता, बदलता रहता है। इसी प्रकार यह व्यक्त-संसार नष्ट भी होता रहता है, जिस रूप में यह चला जाता

1. तदेव, 2.27
2. तदेव, 2.28

है, वह भी अव्यक्त है। संसार का चक्र अव्यक्त से व्यक्त और व्यक्त अव्यक्त- इस प्रकार चला रहा है। अव्यक्त को सूक्ष्म भी कह सकते हैं, व्यक्त को स्थूल कह सकते हैं। संसार सूक्ष्म की तरफ जा रहा है। श्रीकृष्ण स्पष्ट रूप से कहते हैं कि जब तुम आत्मा की दृष्टि से सोचने को तैयार नहीं, शरीर की दृष्टि से ही सोचना चाहते हो, तब भी तो ये स्थूल, व्यक्त शरीर किसी सूक्ष्म, अव्यक्त से चले होंगे, सदा नहीं टिके रहेंगे, और अपने कारण सूक्ष्म में, अव्यक्त में स्वयं लीन हो जायेंगे।

कहने का भावार्थ है कि तमाम जीव पहले और बाद में अव्यक्त रहते हैं। केवल बीच में व्यक्त होते हैं, तो फिर दुबारा उनके अप्रकट होने पर शोकवश विलाप क्यों? श्रीमद्भागवत[1] में कहा गया है कि कर्मों के निमित्त ही चराचर जीवों का आविर्भाव होता है, इसलिए शोकवश विलाप क्यों? श्रीमद्भागवत में भी उपदेश दिया गया है कि यदि मनुष्य को जीव रूप में नित्य और शरीर रूप में अनित्य मान कर अथवा अनिर्वचनीयता के कारण नित्य और अनित्य दोनों रूप से भी विचार करें तो भी शोक करना नहीं बनता। केवल मोहजनित स्नेह को छोड़कर शोक का और कारण नहीं है, अर्थात् मोहजनित स्नेह ही तुम्हारे शोक का मुख्य कारण है।[2]

आज के मानव के लिए यह संदेश है कि वह भौतिकता से ऊपर उठकर लोभ, मोह एवं विषय वासनाओं से दूर रहकर परमात्मा को प्राप्त करने के लिए सदा प्रयास करें, जिससे उसका तो मंगल होगा ही, साथ-साथ समग्र मानव समाज का भी कल्याण हो सकेगा।

निष्काम कर्म का उपदेश

गीता में मनुष्य को कर्म करने के लिए उपदेश दिया गया है। कारण देहधारी प्राणी के लिए कर्मों का सर्वथा त्याग सम्भव नहीं है–**नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः**[3]। पुनश्च यह सारा संसार कर्म से बंधा है–**लोकोऽयं कर्मबन्धनः**[4]। अतः कोई भी मनुष्य किसी भी काल में क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता, क्योंकि सारा मनुष्य समुदाय प्रकृतिजनित गुणों द्वारा परवश हुआ कर्म करने के लिये बाध्य किया जाता है। गीता के अनुसार-

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यतेह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥[5]

अगर मनुष्य कर्म करने के लिए बाध्य है तो प्रश्न यह उठता है कि वह किस प्रकार का कर्म करे? अर्थात् उसका कर्म कैसा होना चाहिए? अतः भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश दे रहे हैं-

---

1. श्रीमद्भागवत, 10.87.29
2. तदेव, 1.13.44
3. गीता, 18.11
4. तदेव, 3.9
5. तदेव, 3.5

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।[1]

तुम्हारा अधिकार केवल कर्म करने में है, कर्म फल में तुम्हारा कोई अधिकार नहीं। अतः तुम कर्म-फल की कामना या फलासक्ति मत करो, और न ही तुम्हारी प्रवृत्ति कर्म न करने में हो। गीता के कर्म-योग का यह सबसे मुख्य श्लोक है। इसमें कर्म-योग का सार बताया गया है। गीता कर्म का निषेध नहीं करती, अपितु कर्म में फलासक्ति या कामना का निषेध करती है। वासना, कामना, आसक्ति या फलाकांक्षा कर्म का विषदन्त है, जो कर्ता को बन्धन में बांधता है। इस विष-दन्त को निकाल देने पर कर्म में बाँधने की शक्ति नहीं रह जाती। गीता का कर्मयोग नैष्कर्म्य (कर्म-निषेध) नहीं है, अपितु निष्काम कर्म (कामना रहित कर्म, कामना निषेध) है। संन्यास का अर्थ कर्म त्यागना नहीं है, अपितु कर्मफल का त्याग है।[2] काम्य कर्म क्या है? स्त्री, पुत्र और धन आदि प्रिय वस्तुओं की प्राप्ति के लिये तथा रोग-संकटादिकी निवृत्ति के लिए जो यश, दान, तप और उपासना आदि कर्म किये जाते हैं, उसका नाम काम्यकर्म है। गीता के अनुसार यज्ञ, दान एवं तप जो ये कर्म है, वह त्याज्य नहीं है, कारण ये कर्म विद्वानों को भी पवित्र बना देते हैं। परन्तु यज्ञ, दान एवं तप आदि कर्मों को निष्काम (फल वासना से रहित) भावना से करना चाहिए। अर्थात् इन सब कर्मों को तथा और भी कर्त्तव्य कर्मों को आसक्ति रहित होकर संपादन करना चाहिए-यह श्रीकृष्ण अर्जुन से उपदेश दे रहे हैं। जैसे-

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गंयक्त्वा फलानि च।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्।।[3]

भगवान् कहते हैं कि कर्म करना, किस प्रकार करना और किसी कर्म को न करना यह मनुष्य के अधीन है, परन्तु इस कर्म के फल की प्राप्ति और वह फल कब और किस रूप में प्राप्त होगा, यह मनुष्य के अधीन नहीं। इस कारण मनुष्य को निष्काम भाव से कर्म करना चाहिए। निष्काम भाव का ही दूसरा नाम निर्द्वन्द्व और निर्योगक्षेम है-**निर्द्वन्द्वो नित्य सत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्**[4] यह तब सम्भव है जब बुद्धि योग युक्त हो। योग का अर्थ है समभाव-**समत्वं योग उच्यते**[5] जो कुछ भी कर्म किया जाये, उसके पूर्ण होने और न होने में तथा उसके फल में समभाव

---

1. गीता, 2.47
2. काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।। तदेव, 18.2
3. तदेव, 18.5.6
4. तदेव, 2.45
5. तदेव, 2.48

का नाम समत्व है। भगवान् कृष्ण का आशय यह है कि योगस्थ होने के लिए बुद्धि योग युक्त होनी चाहिए। अभिप्राय यह है कि सुख-दु:ख, शोक-हर्ष, जय-पराजय, सिद्धि-असिद्धि इत्यादि में निर्द्वन्द्व अथवा बुद्धि को योग युक्त, समत्व की भावना युक्त, करने से ही हो सकती है। अपने भाव को स्पष्ट करने के लिए भगवान् ने यह भी कहा है कि जब तक मोह के कीचड़ से पार नहीं जाता तब तक तू सुनने योग्य बात को नहीं सुनेगा और सुनी हुई बात को समझ नहीं सकेगा। साथ ही भांति-भांति की बातों को सुनकर विचलित हुई बुद्धि जब तक स्थिर, समाधिस्थ और अविचल नहीं हो जाती, तब तक तू योग (कर्म कुशलता) को प्राप्त नहीं हो सकता।[1]

अत: इस युग के मनुष्य के लिए गीता का यह दिव्य उपदेश है कि वह मोह से रहित होकर, अनासक्त भाव से कर्म करें एवं साथ-साथ योग के माध्यम से बुद्धि को स्थिर करके परम सिद्धि को प्राप्त करें, जिससे उसका कल्याण हो सकता है।

स्थित-प्रज्ञ होने का उपदेश

गीता की दृष्टि से स्थितप्रज्ञ एक आदर्श व्यक्ति का चित्र है। अर्जुन ने जब स्थितप्रज्ञ शब्द सुना तो उसके विषय में पूछ लिया कि इस शब्द के क्या अर्थ है, समाधि में इसका क्या प्रयोजन है? स्थिर बुद्धि पुरुष क्या कहता है? कैसे बैठता है और कैसे चलता है? उत्तर में श्रीकृष्ण ने स्थिर बुद्धि के विषय में कहा कि-

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।[2]

हे अर्जुन! जिस समय मनुष्य मन की समस्त कामनाओं का परित्याग कर देता है, एवं प्रत्याहृतमन अर्थात् भक्तियोग स्थित मन में आनन्दस्वरूप आत्मा के स्वरूप दर्शन से परितुष्ट हो जाता है, तब उसे स्थितप्रज्ञ (स्थिर बुद्धि युक्त) कहते हैं।

मनुष्य की सभी कामनायें मन का धर्म है। गीता का यहाँ कथन है कि सुख-दु:ख, शुभ-अशुभ, सिद्धि-असिद्धि सब द्वन्द्वों से उसे ऊपर उठना है। यह तो समझ आता है कि मनुष्य दु:ख, अशुभ, असिद्धि से ऊपर उठे, परन्तु सुख, शुभ, सिद्धि से भी ऊपर उठे- यह बात समझ में नहीं आती। गीता का समुचित उत्तर यह है कि जैसे दु:ख मन को उद्विग्न करता है वैसे सुख भी तो मन को उद्वलित करता है, जैसे अशुभ से मन हिल जाता है वैसे शुभ से भी तो मन चलायमान हो जाता है, जैसे असिद्धि या अप्राप्ति से मन खिन्न होता है वैसे सिद्धि से भी तो इतना प्रसन्न हो जाता है उसे शान्त नहीं कहा जा सकता। इन बातों का मन पर जो प्रभाव पड़ता है उसकी परख निद्रा है। जैसे अत्यन्त दु:ख समय में मन उद्वेलित हो जाने के कारण नींद नहीं आती, वैसे अत्यन्त सुख में भी मन के उद्वेलित हो जाने के कारण नींद नहीं आती। यही बात शुभ-अशुभ,

1. गीता, 2.52-53
2. तदेव, 2.55

सिद्धि-असिद्धि, द्वन्द्वों की है। अनुकूल-प्रतिकूल दोनों प्रकार के मनोभावों से मन चंचल, अस्थिर, दोलायामन हो जाता है, यह मन की असम अवस्था है, विषम अवस्था है। गीता का उपदेश है कि मन की अचल, स्थिर, सम अवस्था ही प्रसाद या आनन्द की अवस्था है, यही योग की अवस्था है, इसी को ब्राह्मी-स्थिति कहते हैं, यही स्थित-प्रज्ञता है। श्रुति कहती है–**बुद्धिश्च न विचेष्टयति**। अर्थात् बुद्धि भी चेष्टा रहित हो जाती है, यही साधक या योगी की परम (श्रेष्ठ) गति है। अतः उपनिषद् कहता है-

> **यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामायेऽस्य हृदि स्थिताः।**
> **अथ मर्त्योऽमृतोभवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।।**[1]

जिस समय योगी के हृदय में स्थित सभी कामनायें समाप्त हो जाती है, मर्त्य भी अमृत हो जाता है और वह ब्रह्म को प्राप्त करता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जब तक योगी या साधक के मन में स्थित समस्त कामनाओं एवं वासनाओं का संपूर्णतया नाश नहीं हो जाता तब तक योगी कभी भी उस ब्रह्मानन्द का अनुभव नहीं कर सकता और बिना ब्रह्मानन्द का अनुभव प्राप्त किये बुद्धि सम्यक्तया प्रशान्त एवं प्रतिष्ठित नहीं हो सकती। अतः स्थितप्रज्ञ पुरुष मानव समाज के लिए आदर्श होता है। यदि वह अपने अनुभव सत्य को प्रकाशित न करे तो वह जन्म-मृत्यु के प्रवाह में पड़े हुए जीवों को अपने उद्धार की दिशा में कैसे प्रेरित कर सकता है? अतः व्युत्थान की अवस्था में वह जीवन मुक्त, स्थितप्रज्ञ हर्ष-विषाद, स्तुति-निन्दा, आदि से रहित सदैव लोक-कल्याणार्थ सत्यपूत वाणी ही बोलता है। वह अपनी सत्य वाणी द्वारा सम्पूर्ण मानव समाज को सदैव सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा प्रदान करता है तथा मुमुक्षु जिज्ञासुओं के समक्ष उस परम तत्त्व का उपदेश करता है।

इस प्रकार आज के मुमुक्ष व्यक्ति के लिए श्रीकृष्ण का यह महनीय उपदेश अत्यन्त प्रेरणाप्रद है, जिसको ग्रहण करके मानव अपने आपको इस संसाररूपी चक्रव्यूह से बचा सकता है। अतः मानव कल्याण के लिए यह प्रसंग विशेषतया ग्रहणीय एवं पठनीय है।

क्षत्रिय-धर्म पालनार्थ उद्बोधन

श्रीमद्भगवद्गीता में क्षात्रधर्म पालन के लिए विशेष महत्त्व दिया गया है। युद्ध क्षेत्र में विषाद ग्रस्त होकर अर्जुन विलाप कर रहा था कि मनुष्य जिन उद्देश्यों की सिद्धि के लिए जीवन धारण करता है, वह आत्मीय, स्वजनों की मृत्यु से सब व्यर्थ हो जायेंगे, उसका जीवन वस्तुतः शून्य हो जाएगा। अर्जुन के शोक और भय के दो प्रमुख कारण हैं। प्रथम कारण है- गुरुजनों एवं प्रियजनों के विनाश से वियोग की संभावना। द्वितीय कारण है क्षात्रधर्म की हिंसामय प्रवृत्ति से होने वाला घोर पाप। श्रीकृष्ण ने आत्मा और अनात्मतत्त्व का विवेचन करके प्रथम कारण का निराकरण किया। यह हम विस्तार से वर्णन कर चुके हैं। अब वे क्षात्रधर्म के पालन से होने वाले हिंसारूपी घोर पाप

1. कठोपनिषद्, 2.3.14, तुलनीय, गीता-2.56-58

का निराकरण करने के लिए स्वधर्म पालन की अनिवार्यता और उसकी महत्ता का अवबोधन कराते हुए कहते हैं-

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।।[1]

हे पार्थ! स्वधर्म (क्षत्रिय धर्म) की ओर ध्यान देने से तुम फिर इस प्रकार से भयभीत नहीं हो सकते, क्योंकि धर्मयुद्ध को छोड़कर और कोई मंगलकारी कर्म क्षत्रिय के लिए नहीं है। अपनी और अपने परिवार की सुख-स्वच्छन्दता तथा, बन्धु-बान्धवों के साथ शान्ति-सुखमय जीवन यापन क्षत्रिय जीवन का वास्तविक उद्देश्य नहीं है। क्षत्रिय जीवन का वास्तविक उद्देश्य है कि धर्म के लिए युद्ध करना, क्षत्रिय जीवन का प्रधान सुख है किसी महान् उद्देश्य-साधन के लिए जीवनदान करने में अथवा युद्ध में विजय प्राप्त करने में, एवं वीरोचित गौरव के साथ जीवन-यापन करने में। धर्मयुद्ध से बढ़कर क्षत्रिय के लिए और कुछ भी किसी तरह श्रेय नहीं है, स्वर्ग के मुक्तद्वार स्वरूप इस प्रकार का युद्ध जिन क्षत्रियों के सामने आप ही आप उपस्थित होता है वही सुख है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि यदि तुम धर्म युद्ध नहीं करोगे तो यह तुम्हारे लिए अपने कर्त्तव्य स्वधर्म और कीर्ति का त्याग करना होगा और तुम पाप के भागी होगे। इस प्रकार युद्ध से विमुख होने पर, तुम्हारे सम्मान करने वाले लोग तुझे कापुरुष कहकर उपहास और घृणा करेंगे। क्षत्रिय जीवन में इससे बढ़कर और क्या दुःख होगा? इससे तो मृत्यु भी कहीं श्रेयस्कर है। युद्ध, साहस, शक्ति, प्रभुत्व, वीरता का गौरव, सम्मुख युद्ध में मर कर स्वर्ग की प्राप्ति यही क्षत्रिय के आदर्श है। पुनश्च यदि तुम युद्ध में मारे गये तो स्वर्ग जाओगे और यदि विजयी हुए तो पृथ्वी का भोग करोगे। अतः हे अर्जुन! तुम युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।।[2]

अब श्रीकृष्ण उपदेश दे रहे हैं, हे अर्जुन! जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख को समान समझकर, उसके बाद युद्ध के लिए तैयार हो जाओ। इस प्रकार युद्ध करने से तुझे पाप नहीं लगेगा।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।।[3]

इस प्रकार श्रीकृष्ण के अनुसार क्षत्रिय धर्म का पालन करके धर्म युद्ध करने से मनुष्य पाप से युक्त नहीं होगा, अपितु पुण्य प्राप्त करेगा। अतः आज के युग के मनुष्य के लिए यह अत्यन्त

---

1. गीता, 2.31
2. तदेव, 2.37
3. तदेव, 2.38

महत्त्वपूर्ण कार्य है कि वह अपना स्वधर्म को सहर्ष पालन करें। स्वधर्म पालन करने से उसका इहलोक और परलोक सुखमय एवं शान्तिमय हो जाएगा, यही गीता की प्रकृत शिक्षा है।

निर्वाण या परमशान्ति प्राप्ति के साधन का उपदेश

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण यह दिव्य उपदेश दे रहे हैं कि मनुष्य को सर्वदा कामना एवं वासना से दूर रहना चाहिए क्योंकि कामी व्यक्ति कभी भी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। जैसे कहा गया है-

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥[1]

अर्थात् जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्ति को प्राप्त होता है। अतः परमशान्ति पाने के लिए मनुष्य को विषय वासना से सदा के लिए दूर रहना पड़ेगा, साथ-साथ अपने अहंकार का भी त्याग करना पड़ेगा। मोह तथा उसके कारण से विमुक्त हुआ स्थिर बुद्धि को प्राप्त ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्म में ही स्थित हो जाता है। इसी रहस्य को समझते हुए कहते हैं-**स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः**[2]। ब्रह्म को प्राप्त करवाने वाली जड़मुक्ति को ब्रह्मनिर्वाण करते हैं। जड़ से विलक्षण तत्त्व का नाम ब्रह्म है। अगर अन्तकाल में भी किसी को यह स्थिति प्राप्त हो जाए तो वह ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त होता है, ब्रह्म में लीन हो जाता है (ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति) या महान् निर्वाण या परमशान्ति को प्राप्त करता है। गीता के अनुसार-

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥[3]

यह गीता का आदर्श एवं उदान्त उपदेश है, जो सर्वग्राह्य है। इस प्रकार गीता की द्वितीय अध्याय की जो कि उपयोगिता महाभारत काल में थी वे आज भी अक्षुण्ण बनी है। यह कहना असंगत नहीं होगा कि आज के मानव-समाज को गीता के अमर संदेश की महती आवश्यकता है। गीता ही आज के दूषित सामाजिक पर्यावरण को संकट से निकाल सकती है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि हम गीता के प्रति श्रद्धावान् हों, गीता से सामीप्य प्राप्त करें और गीता-ज्ञान को अपने जीवन में उतार कर अपना और समाज का उद्धार कर सकें। अतः जन कल्याणार्थ गीता गंगा जल की भांति प्रत्येक घर में प्रतिष्ठित होनी चाहिए, क्योंकि यह परमात्मा की अमर एवं दिव्य वाणी है। जैसे कहा गया है-

1. तदेव, 2.71
2. तदेव, 5.20
3. तदेव, 2.72

भारतामृतसर्वस्वं विष्णोर्वक्त्राद्विनिः सृतम्।
गीतागङ्गोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते।।

सहायक-ग्रन्थ-सूची

1. श्रीमद्भगवदगीता, धर्म विज्ञान भाष्य, ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा, दिव्यालोक प्रकाशन, ब्रह्मर्षि, आश्रम, विराट नगर, पिंजौर, हरियाणा, 1995
2. गीता, त्रिदण्डिस्वामी श्रीमदभक्तिवल्लभतीर्थ गोस्वामी द्वार संपादित, श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ, सैक्टर-20बी, चण्डीगढ़, 2007.
3. गीता, सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, विजयकृष्ण लखनपाल एण्ड कम्पनी, विद्याविहार, देहरादून 1965.
4. श्री अरविन्दकी गीता (श्री अरविन्द के "Essays on the Gita" का हिन्दी में अनुवाद), अनुवादक श्री अनिलवरण राय, डी.एम. लाईब्रेरी, कर्नवालिस स्ट्रीट, कलकत्ता।
5. श्रीमद्भगवद्गीता, गीता, प्रेस, गोरखपुर, संवत् 2065



पदपाठ की दृष्टि से सामभाष्यों का अनुशीलन

डॉ॰ दिनेशचन्द्र शास्त्री

पदपाठ, ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद् और वेदाङ्ग–ये पाँच वेदों के गूढ़ अभिप्राय को हृदयङ्गम करने के महत्त्वपूर्ण साधन हैं। इनमें 'पदपाठ' सबसे प्रथम साधन है। इसमें वेदार्थ को समझने के लिए मन्त्रों के विभिन्न पदों को पृथक्-पृथक् स्वरसहित रखा जाता है। इससे संज्ञा, क्रिया, उपसर्ग आदि का ठीक-ठीक बोध होता है तथा प्रत्येक पद का अर्थ समझने में सुविधा होती है। अथर्वप्रातिशाख्य के अनुसार पदपाठ में पदों के आदि, अन्त, वैदिक शुद्धस्वरूप (शब्द) स्वर तथा अर्थ पर विचार किया जाता है।[1] इसलिए स्वामी दयानन्द ने जहाँ इसको भाष्य के अंगरूप में स्वीकार किया है[2] वहीं प्राच्यविद्याविशारद महामहोपाध्याय पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने वेदों का प्रारम्भिक संक्षिप्त भाष्य कहा है।[3] ऋग्वेद पर शाकल्य, तैत्तिरीय यजु, पर आत्रेय और सामवेद पर गार्ग्य के पदपाठ उपलब्ध हैं। यह भी उल्लेख मिलता है कि यजुर्वेद (मा.) के पदपाठ भी शाकल्यकृत हैं।[4]

सामवेद का जहाँ सायणकृत भाष्य मिलता है वहीं भरतस्वामी के भाष्य के साथ-साथ माधव का विवरण नाम से व्याख्यान भी उपलब्ध है इसके साथ ही साथ सामवेद में कृतभूरिश्रम सामश्रमी के नाम से लोकविश्रुत बंगाल के प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् पं. सत्यव्रत की सायणभाष्य के सम्पादन में दी गयीं पाद-टिप्पणियां भी सामभाष्यों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। पण्डितराज भगवदाचार्य का सामसंस्कारभाष्य भी उल्लेखनीय है। इसमें आध्यात्मिक अर्थ ही किये गये हैं।[5] आधुनिक युग में स्वामी दयानन्द की शैली पर सम्पूर्ण सामवेद का संस्कृत और आर्य (हिन्दी) दोनों भाषाओं में भाष्य, गुरुकूल कांगड़ी में अधीतविद्य विद्यामार्तण्ड आचार्य रामनाथ का उपलब्ध है जो कि सब प्रकार से पूर्ण कहा जाता सकता है। इसमें पदपाठ, स्वरशास्त्र, अलंकार शास्त्र, नैरुक्त प्रक्रिया एवं

---

1. पदाध्ययनमन्तादिशब्दस्वरार्थज्ञानार्थम्, अथर्वप्राति. 4/107
2. सम्पूर्णकार्यार्थावेदं भवति सुरुचि यन्मन्त्रभाष्यं मयातः।
   पश्चादीशानभक्त्या सुमतिसहितया तन्यते सुप्रमाणम्॥
   मन्त्रार्थभूमिका ह्यत्र मन्त्रस्तस्य पदानि च।
   पदार्थान्वयभावार्थाः क्रमाद् बोध्या विचक्षणैः॥ (ऋ.भा.भू. के अन्त में लिखित)
3. मेरी दृष्टि में स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके कार्य, पं. युधिष्ठर मीमांसक, बहालगढ़ सोनीपत, हरियाणा पृ. 232
4. वही, 23 1 पृ.
5. अथाध्यात्मिकं वक्तुं सामवेदस्य कृत्स्नशः उत्तरार्चिक सामसंस्कार भाष्य का मंगलाचरण।

पूर्वापर संगति आदि कई दृष्टियों से मन्त्रों पर विचार किया गया है। अपने से पूर्ववर्ती उपलब्ध प्रायः सभी भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन भी भाष्यकार ने अपनी टिप्पणियों में प्रदर्शित किया है। मन्त्र संबन्धी जो भी जानकारी भाष्यकार को है वह सब उसने भाष्य के साथ-साथ टिप्पणियों में दिखाने की हर संभव कोशिश की है। इस तरह कई दृष्टियों से यह महत्त्वपूर्ण जानकारियों का बृहत्कोष (Encyclopaedia) है। हिन्दी में भी तुलसीराम स्वामी, पं. जयदेव शर्मा विद्यालंकार, स्वामी ब्रह्ममुनि, हरिशरण सिद्धान्तालंकार और श्रीपाद दामोदर सातवलेकर के भाष्य मिलते हैं। अंग्रेज़ी में जे. स्टेवेन्सन, ग्रिफिथ और स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती के अनुवाद प्रकाशित हैं। जर्मनभाषा में थियोडोर वेन्फे का अनुवाद मिलता है।

इस शोध पत्र का महत्त्वपूर्ण आधार आचार्य रामनाथकृत सामभाष्य की पाद-टिप्पणियाँ हैं। जिनके अनुसार हम गार्ग्यकृत पदपाठों के आधार पर केवल सामवेद पूर्वार्चिक पर ही संस्कृत भाष्यों को परखने की कोशिश करेंगे कि ये पदकार आचार्य के अनुसार कितने सही हैं या पदच्छेद करने वाले का पदविभाग कितना युक्तियुक्त है। यदि इस शोध पत्र को सम्पूर्ण सामवेद को आधार बनाकर लिखा जाता है तो इसका कलेवर ज्यादा बड़ा हो जाता। सामवेद पूर्वार्चिक में ही 650 मन्त्र हैं। आग्नेय, ऐन्द्र, पावमान और आरण्यपर्व के मन्त्र इस आर्चिक में हैं। इसके साथ ही साथ इसमें 10 मन्त्रों का महानाम्नी आर्चिक भी है क्योंकि छन्द आर्चिक और महानाम्नी आर्चिक मिलकर पूर्वार्चिक होता है। सामवेद के पदपाठों पर विचार करते हुए तत्-तत् मन्त्रों के ऋग्वेदीय शाकल्य पदपाठों की संगतियों पर आवश्यकतानुसार प्रकाश पड़ेगा। सामवेद पूर्वार्चिक के जिन स्थलों पर भाष्यकारों की पदकार आचार्य से मतभिन्नता है वे निम्न प्रकार हैं–

आग्नेय पर्व

1. अभुवः (मं.स.53)
2. असुरस्य (मं.78)
3. वन्दद्वारा (मं. 78)
4. ऊत्या गमत् (मं.102)
5. स्वर्णरम् (मं. 109)

ऐन्द्र पर्व

6. रथ्योर्हिता (मं.154)
7. द्युमद्गामन् (मं.177)
8. दोषो (मं.177)
9. बृहद्गाय (मं.177)
10. वरिवस्या (मं.186)
11. त्रदम् (मं.204)
12. अगो रयिः (मं.225)
13. असुरेभ्यः (मं.254)
14. देवतातये (मं.249)
15. आप तद्(मं.268)
16. त्वावसो (मं.280)
17. त्रि-शत् पदा न्यक्रमीत्(मं.281)
18. इत ऊती (मं.283)
19. विव्रतानाम् (मं.288)

20.	उस्रा	(मं.304)	21.	कुष्ठः	(मं.305)
22.	आद्वन्यथा	(मं.305)	23.	वियद्व: (विव:)	(मं.315)
24.	अधद्रा:	(मं.323)	25.	विष्वक्	(मं.339)
26.	(पितु:)नपातम्	(मं.340)	27.	उभयाहस्ति	(मं.345)
28.	भ्यसाते	(मं.371)	29.	शम्बरम्	(मं.392)
30.	विषुवत:	(मं.409)	31.	शोभथा	(मं.409)
32.	सोम इत्	(मं.410)	33.	ब्रह्म	(मं.410)
34.	मातथा इव	(मं.416)	35.	रणा	(मं.422)
36.	सक्षणि:	(मं.428)	37.	ऋणया	(मं.428)
38.	सहस्रमानव:	(मं.458)	39.	विवस्वते	(मं.461)

पावमान पर्व

40.	आयुषक्	(मं.483)	41.	तु न	(मं.509)
42.	व्रजं न	(मं.539)	43.	गोन्योघा	(मं.540)
44.	मखम्	(मं.553)	45.	अपि या	(मं.585)

आरण्यपर्व

46.	(आ) रजोयुज:	(मं.588)	47.	विष्वङ्	(मं.618)
48.	सहना/सुहना	(मं.625)			

इस प्रकार आग्नेय पर्व में पांच, ऐन्द्रपर्व में 34, पावमान पर्व में 6 आदि आरण्यपर्व में तीन ऐसे स्थल हैं जहाँ पद-सम्बन्धी गार्ग्य के पाठों की अधिकांश स्थलों पर सायण, भरतस्वामी और विवरणकार माधव आदि ने उपेक्षा कर अपने अनुसार व्याख्यान किये हैं। परन्तु विद्यामार्तण्ड आचार्य रामनाथ ने इन सभी स्थलों पर पदपाठानुसारी ही संगत अर्थ किये हैं, जो कि परम्परा और स्वरशास्त्र सम्मत हैं। कहीं-कहीं आचार्य रामनाथ ने पदपाठानुसार तो भाष्य किया ही है अन्य स्वतन्त्र व्याख्यान भी अपनी ऊहा और तर्कशक्ति से किया है क्योंकि पदपाठ में सभी सम्भव अर्थ समाहित नहीं हो सकते अर्थात् मन्त्र के जितने अर्थ प्रतीयमान हो सकते हैं, उन सबका संग्रह पदकार पदपाठ के प्रवचन द्वारा नहीं कर सकते।[1] ऐसे स्थल यथास्थान इस शोधपत्र में द्रष्टव्य हैं। भाष्यकारों के पदपाठ से मतभिन्नता रखने वाले उपर्युक्त स्थलों में से कतिपय पदों का विवेचन इस प्रकार है–

1. देखो 'मेरी दृष्टि में स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके कार्य, पं. युधिष्ठर मीमांसक, पृ. 233

1. **यद्दूरे सन्निहाभुवः** (मं. 53) में पदकार ने अन्तिम पद–'अभुवः' माना है जो कि लुङन्त रूप है। जबकि भरतस्वामी ने इसको लेट् लकार का रूप 'आभुवः' मानकर व्याख्यान किया है–आ समन्ताद् भवेः' इति। आचार्य रामनाथ ने पदकार के लुङन्तरूपानुसार ही भाष्य किया है–'अभूः' भूतवानसि' इति।

2. **वन्दद्वारा वन्दमाना विवष्टु** (मं.78) में पदकार ने 'वन्दद्वारा' पदपाठ का प्रवचन किया है। परन्तु विवरणकार ने 'वन्दद्वारा' के स्थान पर 'वन्दद् वारा' पाठ मानकर व्याख्यान किया है–''प्रवन्दत् प्रकर्षेण स्तौति, वारा द्वितीयैकवचनस्य स्थाने आकारः, वार वरणीयम'' इति। अन्यभाष्यकारों के व्याख्यान इस प्रकार हैं–

- 'वन्दद्वारा- वन्दद्वाराणि' इति भरतस्वामी।
- 'वन्दनं वन्दः स्तुतिः, तद् द्वाराणि स्तुति प्रमुखानि वन्दमानाः सर्वैः स्तूयमानानि कृतानि कर्माणि' इति सायणाचार्यः।

'वन्दनाद्वारेण' इति आचार्य रामनाथः।

3. **ऊत्या गमत्** (मं.102) ऊत्या आ गमत् (पदपाठः)। विवरणकार माधव और भरतस्वामी ने यहाँ (ऊती आगमत्) विच्छेद करके अपने-अपने भाष्य-व्याख्यान किये हैं, जो कि पदकार के विरुद्ध हैं–ऊती-पालयित्री' इति माधवः। 'ऊती ऊत्या रक्षया सह' इति भरतस्वामी। परन्तु आचार्य रामनाथ ने पदकार के प्रवचनानुसार ही अपना व्याख्यान किया है–'ऊत्या-रक्षया सह, आ गमत् आगच्छतु' इति।

4. **स्वर्णरम्** (मं. 109) पदकार ने यहाँ 'स्वः नरम्' यह पदपाठ दिया है, जो कि समस्त पद है। आचार्य शाकल्य ने भी ऋग्वेद में इसको समस्तपद के रूप में स्वीकार किया है- 'स्वंःऽ नरम्'इति। आचार्य सायण आदि ने इसी के अनुसार इसकी व्याख्या की है। परन्तु सत्यव्रत सामश्रमी ने यहाँ पृथक्-पृथक् दो पद स्वीकार किये हैं' स्वः, 'नरम्' इति, जो कि विचारणीय बात है क्योंकि गार्ग्य और शाकल्य दोनों आचार्यों ने अपने-अपने पाठों में इसको समस्त पद ही स्वीकार किया है। स्वरशास्त्र की संगति भी तभी होगी जब इसको समस्तपद के रूप में स्वीकार किया जाये। आचार्य रामनाथ ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है- 'मोक्षानन्दस्य प्रापयितारं परमात्माग्निम् स्वः मोक्षादिसुखं नृणाति प्रापयति इति स्वर्णरः तम्। स्वः इति सुखनाम। नृ नये क्रयादिः।

आचार्य रामनाथ ने अपने सामभाष्य में पं. सत्यव्रत सामश्रमी के मत का उल्लेख करते हुए निम्न प्रकार समीक्षा की हैं–स्वः, नरम्' इति पृथक् पदद्वयमिति पदकृत्पाठात् स्वरश्रुतेश्च स्पष्टमवगम्यते, विवरणकारश्चैवमेव व्याचष्टे–इति सत्यव्रत सामश्रमी। तत्तु चिन्त्यम् उपलब्ध पदपाठपुस्तकेषु समस्त पदत्वेनैव प्रदर्शितत्वात्। समस्तपदत्वेन स्वीकृते सति स्वरोऽपि संगच्छत एव स्वर इति 'न्यङ्स्वरौ स्वरितौ' इति स्वरितम्, तत्पुरुषेऽव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरः।'

5. **रथ्योर्हिता** (मं. 164) पदकार ने 'रथ्योः हिता' ऐसा पदपाठ किया है। इसको मानते हुए भरतस्वामी और आचार्य रामनाथ ने अपने व्याख्यान प्रस्तुत किये हैं। परन्तु आचार्य सायण ने अपना पदविभाग अलग किया है। उन्होंने 'रथ्यः अर्हिता' यह पदच्छेद कर 'रथ्यः रथार्हः, अर्हिता आरोढा सोमःतादृशः पूषा सूर्यश्च' यह व्याख्यान किया है जो कि पदकार के विरुद्ध है।

6. **द्युमद्गामन्**-(मं. 177)- पदकार ने इसको समस्तपद न मानते हुए इसका 'द्युमत् गामन्' पदपाठ किया है। परन्तु भरतस्वामी और माधव ने इसे समस्त पद स्वीकार किया है और तदनुकूल ही अपने अर्थ किये हैं जो कि पदकार आचार्य के विरुद्ध हैं। आधुनिक भाष्यकारो में आचार्य रामनाथ ने पदपाठानुकूल असमस्तपद मानते हुए ही अपना व्याख्यान किया है जो कि इस प्रकार है- 'द्युमान् दीप्तिमान् विद्यादिसद्गुण प्रकाश युक्तः गामो गमनम् आचरणं यस्य तथाविधः द्युमान् द्योतनवान्। नि. 6/19 गामा इत्यत्र गाङ् गतौ धातौः 'सर्वधातुभ्यो मनिन्' 4/146 इति मर्निन्।' समस्तपद मानने वालों में से भरतस्वामी ओर विवरणकार माधव का व्याख्यान इस प्रकार है- 'कीदृशं स्तुतिरूपम्? द्युमत् स्वरसौष्ठवयुक्तम् इत्यर्थः। गामन्। गामान् गाता उच्चारयिता स्तोता। तस्य संबोधनं हे गामन् स्तोतरित्यर्थः' इति विवरणकारः। 'द्युमत् दीप्तिमत् स्तोत्रम्। हे गामन्। गायतीति गामा स्तोता। हे स्तोतः, इति भरतस्वामी।

7. **दोषो** (मं. 177) पदकार आचार्य ने यहाँ 'दोषा उ' इस प्रकार पदच्छेद किया है। इसके अनुरूप ही आचार्य रामनाथ ने अपना व्याख्यान किया है, यथा–'रात्रिः, अज्ञानमोहदुर्व्यसनदुराचारादीनां तमिस्रा। दोषा इति रात्रिनाम। नि. 2/7'। आचार्य रामनाथ जी का यह व्याख्यान निघण्टु के अनुरूप भी है। वेद में अनेक स्थलों पर 'दोषा' पदरात्रि के लिए आया है, जैसे–'दोषावस्त किया वयम्' ऋ. 1/1 । परन्तु आचार्य सायण और भरतस्वामी ने पदकार और निवण्टु की मान्यताओं आदि से विरुद्ध अर्थ किया है। वे 'दोष आ' ऐसा पदविभाग मानकर अर्थ करते हैं। 'दोषः दूषयति नाशयति तमांसीति वा, दुनोति उपतपति रक्षांसि इति वा दोषः सविता' इति भरतस्वामी। 'दोषः ऋत्विग्-यंजमानापराधेन यः कश्चिद्दोषः आगात् आगच्छति, तत्परिहारार्थं सवितारं प्रेरकम् एतन्नामकं देवं स्तुहि। यद्वा दोष दूषयति नाशयति तमांसीति, दुनोति उपतपति रक्षांसीति वा दोष, से सविता आगात्' इति सायणाचार्यः।

8. **बृहद्गाय**- (मं.177) यहाँ पदकार ने असमस्तपद मानते हुए स्वरशास्त्रानुकूल 'बृहत् गाय' ऐसा पदपाठ किया है। सायणाचार्य को छोड़कर अन्य आचार्य रामनाथ आदि ने इस पदविभाग के अनुरूप ही अपने अपने भाष्य किये हैं सायण ने 'बृहद्गाय' ऐसा समस्तपद माना है। जो कि पदकार आचार्य के विरुद्ध है।

9. वरिवस्या (मं.186) पदकार ने यहाँ 'वरिवस्या[1]' पदपाठ स्वीकार किया है। आचार्य रामनाथ ने पदकार-सम्मत ही व्याख्यान किया है, 'वरिवसां धनानां प्रदानेच्छा वरिवस्या'। हिन्दी में इसका अर्थ होगा' धन प्रदान करने की इच्छा से' सामवेद में पठित यह मन्त्र ऋग्वेद में भी आता है। वहाँ पर यह 'वरिवस्य' ऐसा तिङन्त पद के रूप में है। इसी का अनुसरण करते हुए भरतस्वामी और सायणाचार्य ने यहाँ भी तिङन्त पद ही माना है। तथापि पदपाठ में 'वरिवस्या' ऐसा पाठ पदकार ने पढ़ा है इससे पता चलता है कि वे क्रियापद के रूप में इसको नहीं मानते क्योंकि पदपाठ में दीर्घान्त क्रिपापद को पदकार सर्वत्र ह्रस्वान्त दिखाते हैं।

विवरणकार माधव ने संबुद्धि एकवचन में इस को मानकर व्याख्यान किया है जो कि सम्बुद्धि स्वर के अभाव में चिन्तनीय है। क्योंकि सम्बुद्धि में तो पादादित्व के कारण "आमन्त्रितस्य च" सूत्र से आद्युदात्त होना चाहिए था। अत: विवरणकार का अर्थ पदपाठानुसार न होने से स्वरशास्त्र के बिल्कुल विपरीत है। विवरणकार का व्याख्यान इस प्रकार है–'वरिवस्या वरिवस्य: परिचरणीय तस्मात् सम्बुद्धयेकवचनम्, तस्य स्थाने 'सुपांसुलुक्' इति आकार: हे परिचरणीय इत्यर्थ:।'

10. देवतातये (मं.249) देवतातये (पदपाठ:) यहाँ पदकार को स्वार्थिक तातिल् प्रत्यय ही अभिमत है। आचार्य सायण ने इसका–"देवै: स्तोतृभि: तायते विस्तार्यते इति देवतातिर्यज्ञ:' ऐसा व्याख्यान किया है। आधुनिक भाष्यकार आचार्य रामनाथ ने इसका दो प्रकार से व्याख्यान किया है, जिनमें से पहला पदकारानुकूल है और दूसरा प्राप्त पदपाठ के विपरीत है। भाष्यकार के ही शब्दों में–

(1) देवतातये-देवजनकल्याणार्थं यद्वा विद्वज्जनै: विस्तार्यमाणाय यज्ञाय। देवशब्दात् 'सर्वदेवात् तातिल्' अ. 4/4/142 इति स्वार्थिकस्तातिल् प्रत्यय:। तस्य लित्वात् 'तिति' अ. 61/1/193 इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्त:।

(2) यद्वा देवै र्विद्वद्भि: ताति: विस्तारो यस्य तस्मै यज्ञाय। देवताता इति यज्ञनामसु पठितम् (निघण्टु 3/17)। बहुव्रीहित्वात् पूर्वपदप्रकृतिस्वर:।

उक्त अर्थों में से पहला आचार्य सायण का अनुसरण करता है और दूसरा पदकार के पदपाठ प्रवचन के विरुद्ध है। क्योंकि पदकार 'देवतातये ऐसा' विच्छेद नहीं करते।

इससे ज्ञात होता है कि पदपाठ में सभी प्रतीयमान संभव अर्थों का संग्रह नहीं हो सकता। क्योंकि भाष्यकार आचार्य रामनाथ का पदपाठ सम्मत अर्थ करने के बाद अन्य संभाव्य प्रतीयमान अर्थ करना इस बात को स्पष्ट झलकाता है।

1. इस पद की निष्पत्ति आचार्य रामनाथ ने अपने भाष्य में इस प्रकार की है-'वरिवस् इति धननाम। निघण्टु 2/10। 'छन्दसि परेच्छायां क्यच् उपसंख्यानम्।' अ. 3/1/8 वा इति परेच्छार्थे क्यच्। 'न च्छन्दस्यपुत्रस्य'। अ. 7/4/34 इति ईत्वदीर्घयोर्निषेध:। क्यजन्तेभ्य: 'अप्रत्ययात्'। अ. 3/3/1-2 इति भावे अ: प्रत्यय:- ततष्टाप् तृतीयैकवचने 'वरिवस्था' इति प्राप्ते 'सुपां सुलुक् अ. 7/1/39 इति तृतीयाया लुक्, पूर्वसवर्णदीर्घो वा।'

ये उपर्युक्त कतिपय विवेचित पद हैं जिनसे पदपाठ के आलोक में सामवेद के संस्कृत भाष्यों की परख होती है। सभी निर्दिष्ट पदों की इसी तरह विस्तृत विवेचना यदि की जाये तो इस निबन्ध का कलेवर बड़ा हो जायेगा। अतः अन्य कुछ पदों का संकेत मात्र हम निम्न चार्ट द्वारा कर रहे हैं–

संहिता पाठ	**पदपाठ**	**भाष्यकारों का पाठ**	**परिणाम**
अगो रयिः	अ, गोः-रयिः	अगोः अयिः (सायण)	पदपाठ-विरुद्ध
आप तद्	आप-तत्	आपतत्(सायण, माधव, भरत)	पदपाठ और स्वरशास्त्र के विरुद्ध
त्वावसो	त्वा-वसो	त्वावसुः(माधव,भरत,सायण)	,,
त्रिं-शत् पदा न्यक्रमीत्	त्रिंॐशत् पदानि अक्रमीत्	त्रिंशत् पदा न्यक्रमीत् (आ.रामनाथ को छोड़कर पदपाठ के विरुद्ध अन्य भाष्कार)	
विव्रतानाम्	विव्रतानाम्	वि व्रतानाम् (माधव)	,,
आद्वन्यथा	आत् उ अन्यथा	आद्वन् यथा (सायण)	,,
अधद्राः	अधात् राः	-अपद्राः (सायण) -अधत्(माधव) राः छोड़ दिया -अध,द्राः (भरतस्वामी)	मूलसंहिता और पदपाठ के विरुद्ध
शम्बरम्	शम्बरम्	शम्बरम् (आचार्य रामनाथ)	पदपाठ-विरुद्ध, विदित हो कि आचार्य रामनाथ ने पदपाठानुकूल भी अर्थ किया है।
विषूवतः	विषुवतः वि-सुवतः	विषुऽवतः (माधव, भरत, सायण)	सामवेदीय पदपाठ-विरुद्ध किन्तु ऋग्वेदीय पदपाठ सम्मत।
रणा	रण	रणाः(सायण)	संहिता और पदपाठ-विरुद्ध
विवस्वते	वि वस्वते	विवस्-वते(माधव,भरतस्वामी)	पदपाठ-विरुद्ध
तु न	तु नः	तुन(भरतस्वामी, सायण)	,,
अपि याः	अपि याः	अपियाः (सायण, भरतस्वामी)	,,

उक्त सभी स्थलों पर भाष्यकारों में प्राय: आचार्य रामनाथ के व्याख्यान ही पदपाठ प्रवचनकर्त्ता आचार्य के अनुसार हैं, अन्यों के नहीं।

महामहोपाध्याय पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने लिखा है कि पदपाठ पश्चाद्वर्ती भाष्यकारों के पदप्रदर्शक होने से प्रारम्भिक भाष्य कहे जा सकते हैं और ये ऋषि-मुनियों द्वारा प्रोक्त होने से पौरुषेय हैं, अत: परत: प्रमाण हैं। उनमें कुछ न्यूनताएं रहनी स्वाभाविक है, जैसे-

1. अल्पज्ञता से भूल
2. सभी सम्भव अर्थों का असंग्रह, और
3. पदकार जिस व्याकरणशास्त्र के अनुसार पदविभाग अथवा अवान्तर पदविभाग आदि दर्शाता है, उसमें अन्य व्याकरण के अनुसार भेद संभव है।

निष्कर्ष यही है कि पदकारों द्वारा प्रदर्शित पदविभाग से भिन्न यदि पदविभाग किये जायें तो वे भी स्वरादि दोषों के अभाव में प्रमाण हैं। हमारे उपर्युक्त अनुशीलन में ऐसे कई उदाहरण हैं जिनसे इन बातों की पुष्टि होती है। इस अध्ययन से निम्न बिन्दुओं पर विशेषरूप से प्रकाश पड़ता है-

i. कि पदपाठ के प्रवचनकर्त्ता आचार्य ने कुछ स्थलों पर जैसे–मं.सं. 78 और 254 में क्रमश: 'अ सुरस्य' और 'अ सुरेभ्य:' पदपाठ कर भूल की है। क्योंकि वेदों में कहीं भी 'सुर' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। ऐसा ही भाष्यकार आचार्य रामनाथ विद्यामार्त्तण्ड का भी मानना है।

ii. कतिपय भाष्यकारों ने मूलपाठ के विपरीत पाठ स्वीकार कर व्याख्यान किया है, जैसे–अधद्रा:, के स्थान पर 'अपद्रा:' और 'मखम्' के स्थान पर 'मघम्'। भाष्यकारों की यह प्रवृत्ति घातक है। इसको उचित नहीं ठहरा सकते। अपौरुषेय वाणी वेद में इस तरह परिवर्तन कर व्याख्यान करना कालान्तर में क्षेपकों (Inter pollution) को जन्म दे सकता है। अत: विद्वानों को चाहिए कि वे माधव और सायण आदि भाष्यकारों के ऐसे स्थलों की समालोचना करें।

iii. कुछ भाष्यकारों द्वारा पदपाठकर्ता आचार्य से भिन्न पदच्छेद कर व्याख्यान किए गये है।

iv. कुछ भाष्यकारों ने जहाँ दो पदों को इकट्ठा करके एक समस्त पद के रूप में व्याख्यान किया है वहीं एक पद को विभक्त करके दो पदों के रूप में भी अपने भाष्य किये हैं। बृहद्देवताकार ने भी ऐसा उल्लेख किया है कि व्याख्यानकर्त्ता आचार्यों में यह प्रवृत्ति पायी जाती है। इसका उन्होंने यास्क के निरुक्त से उदाहरण दिया है। 'पुरुषाद:–पदं यास्को द्विधा कृत्वा निरुक्तवान्' इति (देखो मैक्डानल सम्पादित बृहद्देवता का संस्करण)

v. कुछ स्थलों पर ऐसा भी देखा गया है कि भाष्यकारों ने पदपाठ की परवाह न करते हुए केवल मुद्रित संहितापाठ के अनुसार ही अपना व्याख्यान किया है।

vi. इस अनुशीलन से यह भी ज्ञात हुआ कि सामवेद के सभी भाष्यकारों में केवल विद्यामार्त्तण्ड आचार्य रामनाथ के ही व्याख्यान (भाष्य) पदपाठ-सम्मत है अन्यों के नहीं। जहाँ इनको प्रतीयमान अन्य संभाव्य अर्थ प्रतीत हुआ है वहाँ भाष्यकार ने पहले पदपाठ के अनुसार व्याख्यान किया है बाद में अन्य संभाव्य व्याख्यान। इति।



जैनदर्शन में शब्द (ध्वनि) का स्वरूप

डॉ. ज्ञानचन्द्र त्यागी
पूर्व प्रधानाचार्य राजकीय महाविद्यालय बहरोड़ (अलवर)

जैनदर्शनग्रन्थों में पुद्गल (द्रव्य) के ध्वनिरूप परिणाम को शब्द कहा गया है। विश्व के सभी भागों में जहां जहां भी मानव-प्राणी है अपनी अपनी शारीरिक रचनानुसार वर्णात्मक ध्वनियां विकसित कर ली गई हैं। अन्य प्राणियों में अपने मुखों से निकलने वाली ध्वनियों को वर्णमाला में ढालने की क्षमतायें प्रकृति ने नहीं दी। वे अपनी मुखनि:सृत ध्वनियों से ही अपने सजातीयों के साथ, संदेशों का आदान प्रदान कर लेते हैं। इसका उनको एक प्रकार का लाभ यह मिला है कि उनमें भाषाओं व अलग अलग धर्मों को लेकर कोई विवाद नहीं हुआ करता। हानि उनको यह रही है कि वे मनुष्यों की भांति विभिन्न विज्ञानों व यन्त्रों का आविष्कार नहीं कर सके हैं।

इस लेख में शब्द का तात्पर्य ध्वनि (साउण्ड) है, वर्णात्मक ध्वनि नहीं है। यह ध्वनि रूप परिणाम (कार्य), कैसे बनता है इसकी चर्चा जैन-दार्शनिक कुन्दकुन्दाचार्य के प्रसिद्ध ग्रन्थ पञ्चास्तिकायसार (संग्रह) में मिलती है-

'शब्द: स्कन्धप्रभव:, स्कन्ध (मोलीक्यूल), परमाणु-संघात: इत्यादि शब्द (साउण्ड) के विषय में उनकी धारणा है कि परमाणु स्वयं अशब्द (साउण्डलैस) है। शब्द तो परमाणु-संघात-रूप स्कन्धों के संघर्ष से उत्पन्न होता है। इसलिये वह, स्कन्ध-प्रभव है। तीव्र प्रयत्न से प्रेरित शब्द-प्रवाह, विश्व के अन्त-भाग तक पहुंच जाता है।'

कुछ लोग कहते हैं कि रेडियो आदि यन्त्रों के आ जाने से जैन-दर्शन के उक्त कथन की पुष्टि हो गई है क्योंकि इन यन्त्रों ने साबित कर दिया है कि शब्द विश्व के एक कोने से दूसरे कोने तक देखते देखते ही पहुंच जाता है। यहां तक के शोध चल रहे हैं कि सुदूर अतीत में बोले गये शब्दों को पकड़कर यह परीक्षण कर लिया जाये कि कुरुक्षेत्र के मैदान में गीता-प्रवचन हुआ था।

किन्तु यहां सबसे बड़ी कठिनाई यह आती है कि आधुनिक विज्ञान ने शब्द को शक्ति (इनर्जी) माना है[1], जबकि जैन-दर्शन शब्द को द्रव्य (पुद्गल) का ही एक रूप मानता है। वैज्ञानिकों के मत में ध्वनि का स्वरूप तरंगात्मक है। माइक्रोफोन रेडियो आदि यन्त्रों से ध्वनि-तरंगें विद्युत्प्रवाह में परिवर्तित होकर आगे बढ़ती हैं और लक्ष्य पर जाकर वह विद्युत्प्रवाह शब्द-तरंगों के

1. Text book of Physics __R.C. Willows

रूप में परिणत हो जाता है। विज्ञान के अनुसार ध्वनि की गति 1100 मील प्रति घंटा है। पर वह विद्युत् प्रवाह में प्रवाहित होकर रेडियो आदि यन्त्रों के आधार से विद्युत् की गति से आगे बढ़ जाता है।

आधुनिक विज्ञान व जैन-दर्शन की मान्यताओं में आपाततः यह अन्तर नज़र आता है। किन्तु अन्ततोगत्वा आधुनिक विज्ञान, जैन-दर्शन के स्वर में स्वर मिलाता प्रतीत होता है क्योंकि द्रव्य और ऊर्जा (मैटर व इनर्जी) में जो द्वैत था वह आधुनिक विज्ञान में मिटता जा रहा है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार कि जिन वस्तुओं (ध्वनि, प्रकाश, छाया आतप आदि) को अब तक, ऊर्जा (इनर्जी) कहा जाता रहा है वे द्रव्य व ऊर्जा परस्पर परिवर्तनीय हैं। दोनों में अद्वैत है। शक्ति के भार तक को मापने के लिये, गणितीय सूत्र बनने लगे हैं।

आस्तिक 6 दर्शनों में, शब्द को आकाश का गुण बताया गया है। 24 गुणों में यही गुण ऐसा है जो तरंगाकार यात्रा करता है। यह रहस्य, दर्शनकारों को ज्ञात तो होगा किन्तु आकाश में अन्य कोई गुण न होने से, शब्द को ही उसका गुण मानकर 'गुणमयो द्रव्यम्' वाले लक्षण की खानापूर्ति कर ली गई होगी। वैसे, आकाश में भी वायु का आधार बनाकर ही शब्द आगे को बढ़ता है। अतः शब्द या ध्वनि को केवल आकाश का ही गुण नहीं भी कहा जा सकता।



प्राकृत-भाषा में जनमानस की भावाभिव्यक्ति

प्रो0 जयपाल विद्यालंकार

संस्कृत के नाटकों, काव्यों तथा प्राकृत-साहित्य में आवश्यकता अनुसार प्राकृत भाषा के माध्यम से जनमानस की भावनाओं की कुशलता के साथ सशक्त अभिव्यक्ति की गई है।

संस्कृत नाटकों में प्राकृत के प्रयोग का एक प्रबल कारण प्राकृत भाषा में सहज रूप से विद्यमान सशक्त ध्वनि-प्रभाव रहा। मञ्चीय प्रस्तुति में लय-ताल के साथ एकाकार आंगिक अभिनय में नियामक तत्त्व वाचिक अभिनय होता है। प्राकृत भाषा में निबद्ध संवाद, ध्वनि प्रभाव के बलबूते प्राकृत-जनों के साथ जो तादात्म्य स्थापित कर सकते थे वह सजी-संवरी संस्कृत में निबद्ध संवादों के बूते की बात नहीं थी। एक उदाहरण से इस बात को स्पष्ट करना चाहूँगा-

ईसीसिचुम्बिआइं भमरेहिं सुउमारकेसरसिहाइं।
ओदंसअन्ति दअमाणा पमदाओ सिरीसकुसुमाइं।। शाकुन्तलम् 1-4

भ्रमरों ने जिन्हें धीमे-धीमे चूमा है और जिनका केसरान्त अत्यन्त कोमल है ऐसे शिरीष पुष्पों को युवतियाँ प्यार से अपने कानों पर सजा रही हैं। निश्चय ही नटी ने प्राकृत में जब इस गान को प्रस्तुत किया होगा तो रंगशाला में सभी दर्शकों का चैतन्य राग-आबद्ध हो गया होगा, वे चित्रलिखित से निश्चल हुए होंगे। प्राकृत में इस गीति का ध्वनि सामर्थ्य शब्दों के संस्कृत रूप में नितान्त शिथिल हो जाता। एक और उदाहरण देखिये - दुष्यन्त ने हंसपदिका को प्यार करके भुला दिया हंसपदिका उपालम्भ भरी एक गीतिका गा रही है। प्राकृत में बद्ध यह गीतिका प्रेम से सराबोर उलाहने को जिस निपुणता से अभिव्यंजित करती है, संस्कारनिष्पादित संस्कृत शब्दों में वह सामर्थ्य सम्भव नहीं।

अहिणवमहुलोलुवो तुमं तह परिचुम्बीअ चूअमञ्जरिं।
कमलवसइमेत्तणिव्वुदो महुअर विम्हरिओ सि ण कहं।। शा॰ 5-1

शहरकोतवाल और उसके सिपाहियों ने एक मच्छीमार को पकड़ लिया। वह राजमुद्रिकाङ्कित अंगूठी को बाजार में बेचने का प्रयत्न कर रहा था। सिपाहियों द्वारा उसकी पिटाई और उस अवसर पर उनका वार्तालाप प्राकृत में निबद्ध होने के कारण ही जीवन्त हो उठा है। कुछ वाक्यों को देखिए-

पशीदन्तु भावमिश्शे। ण हगे ईदिशकम्मकाली।
किं शोहणे बम्हणेत्ति कलिअ रण्णा पडिगहे दिण्णे।

हगे शक्कावदालब्भंतरालवासी धीवले।
पाडच्चला किं अम्मेहिं जादी पुच्छिदा॥
जाणुअ, फुल्लन्ति मे हत्था इमश्श वहश्श शुमणा पिनद्धुं।
.....। गिद्धबली भविश्शशि शुणो मुहं वा देक्खिश्शशि।
एशे णाम अणुग्गहे जे शूलादो अवदालिअ हत्थिकन्धे पडिट्ठाविदे।
धीवरो, महत्तरो तुमं पिअवअस्सओ दाणिं मे संवुत्तो।
ता सोण्डिआपणं एव्व गच्छामो। शाकुन्तल 6 (प्रवेशक)

प्राकृत में निबद्ध इन संवादों को जब नाटकीय अभिनय के साथ वे अभिनेता, जिनकी यह स्वाभाविक भाषा थी, बोलते होंगे तो रंगशाला में बैठे दर्शकों का आनन्द सहज तादात्म्य के कारण अपेक्षाकृत बढ़ जाना स्वाभाविक था।

संस्कृत के प्रत्येक रूपक में ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं। चाहे जिस प्रसंग को देख लें वहाँ प्रयुक्त प्राकृत इस तथ्य की पुष्टि करेगी कि प्राकृत भाषा रचनाकारों की अपरिहार्यता थी और इन रूपकों के अभिनय में प्राण प्राकृत ही फूँकती थी। संस्कृत रूपकों में मृच्छकटिक प्रकरण जनसामान्य से जुड़ी इकलौती रचना है। प्राकृत के प्रयोग की दृष्टि से भी यह रचना इतनी समृद्ध है कि उस समय बोली जाने वाली शायद ही कोई प्राकृत हो जिसका इस प्रकरण में प्रयोग न हुआ हो। मृच्छकटिक के विवृतिकार पृथ्वीधर ने इस प्रसंग को विस्तार से विवेचित किया है। नाटक में सूत्रधार, नटी, रदनिका, मदनिका, वसन्तसेना, उसकी माता, चेटी, कर्णपूरक, धूता, शोधनक तथा श्रेष्ठी ये ग्यारह पात्र शौरसेनी बोलते हैं। वीरक और चन्दनक अवन्तिका बोलते हैं। विदूषक की भाषा प्राच्या है। संवाहक, वसन्तसेना तथा चारुदत्त के तीनों चेट, भिक्षु तथा रोहसेन मागधी बोलते हैं। शकार शकारी प्राकृत और दोनों चाण्डाल- चाण्डाली का प्रयोग करते हैं। माथुर द्यूतकर ढक्की बोलता है। यह ढक्की अपभ्रंश से मिलती-जुलती उस काल की कोई अ-संस्कृत जनभाषा प्रतीत होती है। मृच्छकटिक पाँचवी-छठी ईस्वी की रचना मानी गई है। प्राकृत-बहुल इस रचना का प्रयोग जनसाधारण को कितना आकर्षित करता होगा इसकी कल्पना की जा सकती है। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि इस रचना में सब कुछ था जो आम आदमी की प्रतिदिन की जिन्दगी में होता है। इस समूची प्रस्तुति में आम आदमी स्वयं को देखता था, अपनी जिन्दगी को देखता था। मृच्छकटिक नाटक के जनसामान्य में जुड़ाव का मुख्य आधार इस रचना में प्रयुक्त प्राकृत थी। दो जुआरियों के कलह का प्रसंग प्राकृत के कारण सहज ही उन साधारण लोगों का अपना बन जाता होगा जो आजीविका नहीं मिलने के कारण द्यूतोपजीवी बनने पर मजबूर हो जाते थे। राजा का साला शकार नीच कुलोत्पन्न महामूर्ख पात्र है। वह अशिक्षित है, दम्भी है, बात करने की तमीज़ नहीं है। शकारी प्राकृत, जिसकी विशेषता उलटी-पुलटी ऊटपटांग उक्तियाँ होती हैं शकार के चरित्र से सही मेल खाती है। मृच्छकटिक में शकार के अभिनय की प्राण यह शकारी ही है। इसे संस्कृत में परिवर्तित कर दीजिये शकार का शकारत्व ही समाप्त हो जायेगा। दर्शक इसके अभिनव का भरपूर आनन्द

शकारी प्राकृत के कारण ही ले सकते थे। एक उदाहरण देखिये, वसन्तसेना का पीछा करते हुए कामातुर शकार कहता है–

झाणज्झणन्तबहुभूषणशद्दमिश्शं, किं दोवदी विअ पलाअशि लामभीदा।
एशे हलामि शहशत्ति जधा हणूमे, विश्शावशुश्श बहिणिं विअं तु शुभद्दं॥

मृच्छकटिक 1-25

इस प्रकार का कोई भी प्रसंग उठाकर देख लीजिये अभिनय की प्राण प्राकृत दृष्टिगत होगी। वसन्तसेना का हाथी खूँटे तोड़कर महावत को मारकर उपद्रव मचाते हुए राजपथ पर उतर आया। हाथी के डर से भागती हुई सुन्दरियों के पाजेब के जोड़ खिसकने लगे, मणिजटित करधनियाँ टूट कर बिखरने लगीं, इस आपस की रेलमपेल में छोटे-छोटे रत्नजड़ित हाथ के कंगन टूट-टूट कर गिरने लगे।

विचलइ णेउरजुअलं छिज्जंति अ मेहला मणिक्खइआ।
वलआ अ सुंदरदरा रअणंकुरजाल-पडिवद्धा॥ 2-19

भट्टनारायण के वेणीसंहार में दिनभर के भयंकर युद्ध में मारे गये वीरों के शवों से युद्धभूमि पटी पड़ी है। उस दिन के युद्ध की समाप्ति के बाद रात्रि में राक्षस और राक्षसी का एक युगल भूख-प्यास बुझाने वहाँ आता है। उनके संवादों का प्राकृत में होना स्वाभाविक ही है। इस दृश्य के मञ्चन में प्राकृत के कारण जो प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है वह परिमार्जित संस्कृत के प्रयोग से नहीं किया जा सकता।

राक्षसः – **अले, के मं शद्दवेइ? अला कहं पियामे वशागंधा। वशागंधे कीश मं शद्दावेशी?**
लुलाशवपाणपाणमत्तिए लणहिण्डस्तलन्तगत्तिए।
शद्दाअशि कीशमं पिए पुलिशशहश्शं हदं शुणीअदी॥

राक्षसी – **अले लुहिलप्पिआ, एदं खु मए तुह कालम्मादो पच्चग्गहदश्श**
कश्श विलाएशिणो शलीलावअवप्पशुदं
प्पहूदवशाशिणेहचिक्कणं कोशिणं एव्व लुहिलं अग्गमेशं अ आणीदं।
ता पिबाहि णम्।

राक्षसः – **शाहु वशागन्धे, शाहु। गहिणि। शोहणं तुए किदं।**
बलिअम्हि पिपाशिए जं कोशिणं लुहिलं आणीदं तं उवणेहि। वेणी. 3-3

यह पूरा प्रसंग राक्षस, राक्षसी की भूमिका में अभिनय करने वाले अभिनेताओं को उनकी अपनी प्राकृत बोली में संवादों के कारण जीवन्त कर देता होगा। इस प्रसंग को यदि थोड़ा अभ्यास करके प्राकृत में व्यवधान-रहित पढ़ा जाये तो निश्चय ही मांस, रुधिर और शवों की दुर्गन्ध पाठक को आक्रान्त कर लेगी। यहाँ बीभत्स रस की अनुभूति का मुख्य आधार यह पैशाची प्राकृत ही है। दूसरी ओर कर्पूरमञ्जरी के दोलाझूलन-प्रसंग में प्राकृत भाषा के कारण गीति-सौन्दर्य, अनुप्रास-माधुर्य

और पद-लालित्य को एक साथ अनुभव किया जा सकता है।

रणन्तमणिणेउरं झणझणन्तहारच्छडं,
कलक्कणिदकिङ्किणी मुहरमेहलाडम्बरं।
विलोलवलआवलीजणिदमञ्जुसिञ्जारवं,
ण कस्स मणमोहणं ससिमुहीअ हिन्दोलणं॥ कर्पूरमञ्जरी 2-32

झूले पर झूलती हुई सुन्दरी का यह रमणीय शब्दचित्र है। "उसके मणिनूपुरों से कैसी मीठी झंकार निकल रही है, उसका कण्ठहार किस प्रकार चमक-दमक रहा है, उसकी करधनी छोटे-छोटे घुँघुरुओं से कैसी सुहावनी मालुम पड़ती है, उसके हिलते हुए कंकणों से कैसी प्रिय ध्वनि निकल रही है - ऐसी चन्द्रमुखी रमणी को देख भला किसका हृदय मुग्ध नहीं हो उठता।" चन्द्रमुखी कर्पूरमञ्जरी के इस झूले ने सचमुच प्रेक्षागृह में उपस्थित सहृदयों को मोहित किया होगा। इस सशक्त सम्मोहन में प्राकृत भाषा का अनुगुंजन स्पष्ट अनुभव किया जा सकता है।

वस्तुत: भाषा या बोली, वह चाहे कोई भी हो केवल अर्थवान् शब्दों का समूह मात्र नहीं होती। भाषा, वक्ता के चिन्तन, सोच और मान्यताओं के आधार पर बने उसके समूचे व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का माध्यम होती है। दृश्यकाव्य रूपक का रूपकत्व उसके सफल प्रयोग में है और यह प्रयोग अभिनय आश्रित है। आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक चतुर्विध अभिनय का प्राण, इनमें लयात्मक सामंजस्य है। इस समन्वय को बनाये रखने का दायित्व संवाद अर्थात् वाचिक अभिनय पर है। प्राकृत पात्रों के सत्य स्वरूप की यथार्थ अभिव्यक्ति उनकी अपनी भाषा के माध्यम से ही सजीव हो सकती है।

प्रथम शती के आस-पास सातवाहन राजा हाल ने, शृंगार रस से सनी सहस्रों गाथाओं में से सात सौ ऐसी गाथाओं का संकलन किया जिनमें उस समय के सामान्य लोगों के दैनिक जीवन की झलक सहज ही देखी जा सकती है। कृषक, आखेटक, ग्वाले, ग्वालिन, खेत की रखवाली करती बालाएं तथा अपने प्रेम प्रसंगों को आपस में कहती-सुनती युवतियों के सुन्दर शब्दचित्र इन प्राकृत गाथाओं के आकर्षक विषय हैं। इन गाथाओं की लोकप्रियता इसी तथ्य से आंकी जा सकती है कि साहित्यशास्त्र के प्राय: सभी आचार्यों ने ध्वनि, रस, गुणीभूत- व्यंग्य, अनेक प्रकार की नायिकाओं के उदाहरण इन गाथाओं में से जुटाये हैं। प्रत्येक गाथा अपने आप में पूर्ण है और एक सुन्दर शब्दचित्र उकेरती है। पन्द्रहवीं शताब्दी में वेमभूपाल ने इन सात सौ गाथाओं में से सौ को चुनकर सप्तशतीसार नामक संग्रह की रचना की। इसी संग्रह से कुछ उदाहरण देखिये-

कल्लं किर खर हिअओ पविसिइहि, पिओत्ति सुण्णइ जनम्मि।
तह वद्ढ भअवइ निसे जह ते कल्लं विअ ण होइ॥ माहाकोठ-46

सुनते हैं कल प्रात: मेरे प्रियतम यात्रा पर जा रहे हैं। पुरुषों का हृदय होता ही बड़ा कठोर है। हे भगवति रात्रि! इतनी बढ़ जाओ कि प्रात:काल ही न हो। इस गाथा में नवोढ़ा की व्याकुलता, असहायता, परदेशी होने वाले पुरुष की प्रकृति सिद्ध कठोरता के कारण कोमलस्वभावा स्त्रीलिंग

रात्रि से की गई अभ्यर्थना इत्यादि मनोभाव चित्रलिखित से होकर सहृदय के मानस-पटल पर उभर आते हैं।

प्यासा पथिक पानी पिलाती हुई प्रमदा के चन्द्रमुख की सुधा का आकण्ठ पान कर रहा है। इस रोमांचकारी अनुभव का अधिक समय तक आस्वादन करने के लिये वह अपनी अंगुलियों के बीच से पानी निकल जाने देता है और कामिनी भी उत्कण्ठावश, पथिक के प्रति उदार होकर पानी की पतली धार को और भी पतली कर रही है।

उद्धच्छो पिअइ जलं जह जह विरलंगुली चिरं पहिओ।
पावालिआ वि तह तह धारं तणुअं पि तणुएइ॥13॥

एक और गाथा में दूती अपनी सखी की विरहवेदना को किस विदग्धता से कहती है-

महिला सहस्स भरिए तुह हिअएँ सुहअ ठाणं अलहंति।
णिच्चं अणण्ण कम्मा अंगं तणुअं पि तणुएइ॥38॥

सहस्रों महिलाओं से भरे हुए तुम्हारे हृदय में स्थान न पाती हुई मेरी सखी काम-काज छोड़कर क्षीण अपनी काया को और भी क्षीण कर रही है। ग्रामीण जीवन के इसी भाव का एक और चित्र देखिए। किसान की मुग्धा पुत्रवधू को एक रंगीन साड़ी मिली है। उसका उल्लास इतना असीम है कि गाँव के चौड़े रास्ते में भी वह तन्वी समा नहीं पा रही है। भाषा यदि अपनी हो, उसमें बनावटीपन न हो तो उसका सीधा सम्बन्ध वक्ता के हृदय के साथ होता है। वक्ता की मानसिकता के साथ इस अपनी सहज भाषा के समीकरण का एक सुन्दर उदाहरण देखिये-

कत्तो खेमं कत्तो जो सो खुज्जंबओ घरद्दारे।
तस्स किर मत्थओवरी को वि अणत्थो समुप्पणो॥64॥

प्रोषितभर्तृका से पड़ोसिन ने कुशल-क्षेम पूछा। उसका बुझे मन से सहज भाव से निकला उत्तर उसकी टीस की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। अरी! कहाँ, कैसा कुशल-क्षेम यह जो दरवाज़े पर बोना आम का पेड़ है उसके ऊपर कोई अनर्थ पैदा हो गया है। इशारा आम्र मंजरी की ओर है। निर्वेद का अतिशय दिखाने के लिए **कत्तो** पद की द्विरुक्ति ने इस गाथा में जान डाल दी है। ग्राम्य बालाओं का पथिकों को आमन्त्रण तथा उनसे छेड़-छाड़ इन गाथाओं में बहुलता से मिलती है। महाराष्ट्र का बहुत सा हिस्सा पथरीला पठार है। सफर पर निकले पथिक को ही विदग्धा के साभिलाष आमन्त्रण ने आकर्षित नहीं किया, प्रायः सभी काव्यशास्त्र के आचार्य भी इस पद्य से अभिव्यंजित वस्तु-ध्वनि से आकर्षित हुए बिना न रह सके।

पंथअ ण एत्थ संथरमत्थि मणं पत्थरत्थले गामे।
उण्णअ पओहरे पेक्खिऊण जइ वससि ता वससु॥76॥

हे पथिक इस पथरीले गाँव में तनिक सा भी पुआल का बिछौना तो मिलेगा नहीं (यहाँ कोई शास्त्र-व्यवस्था नहीं है) हाँ उमड़ते मेघों को देखकर यदि रुकना चाहो तो रुको। **उण्णअ पओहर**

उन्नतपयोधरान् (उन्नतमेघान् उन्नतस्तनौ च) में श्लेष का चमत्कार आज तक आचार्यों को आकृष्ट करता रहा है। विदग्धा हालिक-वधू किस सफाई से घर के बुजुर्गों को वाच्यार्थ से तिरोहित करके पथिक को ध्वन्यर्थ से आमन्त्रित करती है। यह हुई सन्ध्या समय में आये पथिक की बात। शिखर दोपहरी में राह चलते पथिक के प्रति आमन्त्रण की कम चातुर्य युक्त नहीं है-

थोअं पी ण णीइ इमा मज्झण्हे उअ सिसिरअल लग्गा।
आअव भएण छाहा वि ता पहिअ किं ण वीसमसि॥22॥

भयंकर गरमी के भय से छाया भी अपनी ठण्डी जगह को छोड़कर थोड़ा भी इधर-उधर नहीं खिसकती। हे पथिक तुम भी क्षण भर विश्राम क्यों नहीं कर लेते। ग्राम्य विदग्धा ने बड़ी चतुराई से पथिक को इंगित कर दिया यह निर्जन प्रदेश है, यहाँ कोई आता-जाता नहीं तनिक रुक कर जाओ बटोही। रात में सराय में ठहरे किसी पथिक को चतुर ग्राम्य-वधू गृहजनों की आँख में धूल झोंक कर किस चतुराई से आमन्त्रित कर रही है-

अत्ता एत्थ णुमज्जइ एत्थ अहं एत्थ परिअणो सअलो।
पंथअ राई अंधल मा मे सअणे णुमज्जहिसि॥15॥

सास यहाँ बेखबर सोती हैं, यहाँ मैं और यहाँ शेष परिवार के लोग। अरे रतोंधी से पीड़ित पथिक रात में कहीं मेरे बिस्तर पर मत आ पड़ना। इस गाथा में विद्यमान वैदग्ध्य से भरपूर वस्तु-ध्वनि ने भी काव्यशास्त्र के आचार्यों को सदा आकर्षित किया है। दर्पणकार ने तो इसे रसाभास के कारण उत्तम काव्य ही माना है।

हाल ने इन गाथाओं का संग्रह प्रथम शती में किया। समय-समय पर इस संग्रह में अभिवृद्धि तथा परिवर्तन भी होते रहे। इस समय जनसामान्य में बौद्ध, जैन तथा ब्राह्मण धर्म प्रचारकों की साख में धीरे-धीरे कमी आ रही थी। जनसामान्य में प्रचलित गाथा-साहित्य में और कथा साहित्य में इन धर्म प्रचारकों पर व्यंग्य किये जाने लगे थे। इस पृष्ठभूमि में कुछ गाथाओं को देखिये-

भंजंतस्स वि तुह सग्ग गामिणो णइ करंज साहाओ।
भण कह अज्ज वि धम्मिअ पाआ धरणिं चिअ छिवंति॥42॥

करंज वृक्ष की शाखाओं से आच्छादित एक एकान्त स्थान किसी का संकेत स्थान था। एक महात्मा वहाँ नित्य आने लगे और उन्होंने शिवार्चन के निमित्त प्रतिदिन करंज की शाखाओं को तोड़कर उस स्थान को खुला कर दिया। अब वह संकेत स्थान नहीं रह गया। युवती महात्मा से खफा है। हे महात्मा स्वर्ग जाने की चाह में तुम ने नदी-करंज की सारी शाखायें तोड़ डालीं। फिर कहो आज भी तुम्हारे पैर 'धरती पर क्यों टिके हैं? उसका व्यंग्य स्पष्ट है-अरे महात्मा करंज-शाखा-भंजन से स्वर्ग नहीं मिलता इससे तो अधोगति ही प्राप्त होती है। संलक्ष्यक्रमभावध्वनि के इस उदाहरण में विशेषोक्ति अलंकार का चमत्कार अनुभव किया जा सकता है। ऐसे ही एक महात्मा की भर्त्सना करती हुई एक युवती कहती है-

एद्दहमेत्तगामे ण पडइ भिक्ख त्ति कीस मं भणसि।

धम्मिअ करंज-भंजअ जं जीअसि तं पि दे बहुअं॥54॥

अरे भिक्षुक 'इस पूरे गाँव में भिक्षा नहीं मिलती' ऐसा मुझसे क्यों कहते हो। अरे करंजभंजक तुम अब तक जीवित हो यही क्या कम है। इस श्रेणी का एक और प्रसिद्ध उदाहरण देखिये–

भम धम्मिअ वीसद्धं सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण।
गोलाअड विअड-कुडुंग-वासिणा दरिअ सीहेण॥58॥

गोदावरी तट का कोई जीर्ण मन्दिर किसी का संकेत स्थान है। एक महात्मा ने वहाँ आकर डेरा जमा लिया। भक्तजन वहाँ आने लगे और संकेत-स्थल का निर्जनत्व समाप्त हो गया। इससे बाधित युवती ने महात्मा को भगाने के लिए अपना कुत्ता वहाँ छोड़ दिया। गोदावरी स्नान करके पूजा-अर्चना के लिए पुष्पावचयन करते महात्मा को कुत्ते ने तंग तो किया परन्तु वह महात्मा को वहाँ से खदेड़ नहीं सका। गाँव में भिक्षा के लिये आये महात्मा को युवती ने भिक्षा दी और कहा–हे महाराज! अब आप वहाँ गोदावरी तट पर नि:शंक भ्रमण करो, अब कोई बाधा वहाँ नहीं है। वह कुक्कुर तो आप को तंग करता था उसे वहीं गोदावरी तट के भयंकर गर्त में रहने वाले सिंह ने मार डाला है। महात्मा प्रसन्नतापूर्वक भिक्षा ग्रहण करके जब लौटे और गाथा के अर्थ को टटोला तो समझ में आया कि अब तक तो वहाँ कुक्कुर का भय था परन्तु अब भयंकर सिंह है और वह वहीं गोदावरी-गर्तों में रहता है। यहाँ से भागो अन्यथा मरण निश्चित है। आलंकारिकों ने इसे अभिधामूला-ध्वनि का उदाहरण मान कर यह स्पष्ट किया है कि जहाँ प्रकरण पर्यालोचन के बाद विध्यर्थ, निषेध परक अर्थ में बदल जाता है वहाँ ध्वनि ही माननी चाहिये। विपरीत लक्षणा का अवसर वहाँ होता है जहाँ तुरन्त विधि से निषेध या निषेध से विध्यर्थ की प्रतीति हो। इस प्राकृत गाथा ने भी प्रायः सभी आलंकारिकों को आकृष्ट किया है।

गाहाकोश / गाथासप्तशती / सप्तशतीसार इस प्रकार के उदाहरणों से भरपूर हैं। वस्तुतः इन संग्रहों की प्रत्येक गाथा व्यंग्य से आप्लावित है और उस समय के ग्रामीण जीवन के सहज प्रेम-प्रसंगों का आस्वादन सहृदयों को कराती है। गोदावरी के तटीय प्रदेश प्रतिष्ठान के राजा हाल का यह प्राकृत संग्रह, जिसे गाहाकोश, सत्तसइ या गाथासप्तशती नाम से भी जाना जाता है प्राकृत साहित्य का एक महत्वपूर्ण संग्रह कोश है। सातवीं शती के बाणभट्ट ने इसकी प्रशंसा में लिखा–

अविनाशिनमग्राम्यमकरोत्सातवाहनः।
विशुद्धजातिभिः कोषं रत्नैरिव सुभाषितैः॥ हर्षचरित 1-13

सुभाषित रत्नों से भरे इस कोश से हमने सरसरी तौर पर कुछ उदाहरण ही यहाँ स्थालीपुलाक न्याय से प्रस्तुत किये हैं। तत्कालीन ग्राम्य जीवन के हर पहलू को शब्द चित्रों से इन गाथाओं में उकेरा गया है। इस छोटे से आलेख में इन शब्दचित्रों का सर्वांगीण चित्रण न तो संभव है और न ही इस प्रकार का प्रयत्न यहाँ किया गया है। यह दिग्दर्शन मात्र है।

आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थ काव्यप्रकाश में जिस कान्तासम्मित उपदेश शैली (काव्यप्रकाश 1.4) का प्रतिपादन किया है वह शैली इन गाथाओं में देखने को मिलती है।

भावविलसित - नवीन प्रतिमान की ओर

डॉ॰ मञ्जुलता शर्मा

वर्तमान समय में कुछ प्रगतिशील रचनाकारों ने संस्कृत भाषा में नवप्रयोग करके इस भाषा को लौकिक जगत् से जोड़ने का श्रमसाध्यकार्य किया है। अर्वाचीन साहित्यकारों की इस शृंखला में श्रीनिवास रथ, अभिराज, राजेन्द्रमिश्र रमाकान्तशुक्ल, देवर्षि कलानाथ शास्त्री, वनमाली विश्वाल, हर्षदेवमाधव, दीपक घोष, इच्छारामद्विवेदी, प्रशस्यमित्र शास्त्री आदि अनेक कवियों को सहृदयों द्वारा संस्कृत की संजीवनी कहा जाता है। डॉ॰ सीतानाथ आचार्य इसी शृङ्खला की एक कड़ी हैं जो भावविलसित काव्य संकलन के द्वारा अपनी प्रस्तुति में सफल सिंह हुये हैं। इस काव्य में उनकी भावप्रवणता यत्र-तत्र प्रस्फुटित है।

भावविलसित में एक ओर तो सरस्वती वन्दना, भारत वन्दना, संस्कृति, ऋषिवन्दन, महानुभावप्रशस्ति शरद्ऋतु वसन्तऋतु जैसे पारम्परिक विषयों को स्वीकार किया गया है, वहीं दूसरी ओर रजनीगन्धा, महासङ्गीत, कल्पना, पथिकाय, नवागतानां विद्यार्थिनां कृते, सङ्कल्प, चायगाथा, चायस्तोत्र जैसे नवीन विषयों को भी संग्रहित किया है। डॉ॰ आचार्य वास्तव में भावचित्रण के कुशल चितेरे हैं। वे विद्वत्सभा की वैचारिक बुभुक्षा शान्त करने के साथ-साथ नवांकुरों के साथ भी न्याय करना चाहते हैं। अत: उनके संकलन के पूर्व भाग में पारम्परिक विषयों का नवनीत है और उत्तर भाग में उनके प्रगतिशील होने का आश्वासन भी।

वाणीवन्दना के उपरान्त श्री ओङ्कारनाथ ठाकुर की वन्दना एवं अनुकूलचन्द्र की वन्दना में कवि की व्यक्तिगत आस्था का स्वरूप दृष्टिगत होता है। परन्तु रवीन्द्र प्रशस्ति और शरत्प्रशस्ति में कवि को आञ्चलिक प्रभाव से प्रभावित कहना इन महानुभावद्वय के प्रति न्याय दृष्टि नहीं कही जा सकती। क्योंकि कवीन्द्र रवीन्द्र एवं शरत्चन्द्र दोनों ही बंगाल की धरोहर ही नहीं, विश्व के आदर्श कहे जा सकते हैं। कवि इनके बंगाल में जन्म से कृतज्ञ है क्योंकि उसकी अपनी जन्मभूमि भी वही है—अये शरच्चन्द्र! कवीन्द्रचन्द्रते रविप्रमोद्भासितकाव्यपुष्करे विलोक्य दीप्तिं सुतरां समुज्ज्वलां सविस्मया स्म बङ्गनिवासिन:। डॉ॰ आचार्य की दृष्टि केवल कल्पना के सतरंगी संसार को ही नहीं देखती अपितु भौतिक आवश्यकतओं को भी जीवन विशेष का अंग मानती है। लालबहादुर शास्त्री की हरितक्रान्ति को वे देश की प्रगति का आधार स्वीकार करते हैं। अत: ऐसे महापुरुष के महाप्रयाण पर कवि का हृदय हाहाकार कर उठता है—

महाप्रयाणेन भवादृशस्य पूतात्मनो नायककुञ्जरस्य,
या न: क्षतिर्देशगताभवत् सा पूर्येत किं हा वद जातु तावत्।

'रवीन्द्रप्रशस्ति' वाणीपुत्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रति कवि का श्रद्धा सुमन है। ठाकुर को वे केवल कवि के रूप में ही स्वीकार नहीं करते अपितु एक श्रेष्ठ दार्शनिक, उपनिषदों का ज्ञाता, योगी एवं श्रेष्ठ शिक्षक के रूप में देखते हैं। रवीन्द्र में लक्ष्मी सरस्वती का सन्तुलन देखकर कवि हृदय अनायास ही कह उठता है–

लक्ष्म्याः कदापि वसतिं श्रयते न वाणी,
त्येतत् प्रवादवचनं प्रथितं पृथिव्याम्।

बंगाल में प्रचलित दुर्गापूजा का वर्णन कवि ने अपनी ''विजया' और बङ्गेषु विजया' इन रचनाओं में अत्यन्त सजीवता से किया है। व्यक्ति अपने स्थान विशेष के प्रभाव से मुक्त ही नहीं हो सकता। उसका लेखन व्यक्तित्व उस परिवेश के समानान्तर चलते हैं। अतः कवि ने अपने प्रिय उत्सव दुर्गापूजा को अपनी कृति में प्रमुखता से स्थान दिया है।

चाहे युगपुरुषों की वन्दना हो अथवा स्तुति के विविध रूप हों, सामान्य पाठकों एवं जिज्ञासुओं के लिये इस में कोई नवीनता नहीं होती। शब्दों का चमत्कार अर्थों के विचित्र प्रयोग काव्य में जिज्ञासा तो उत्पन्न कर सकते हैं, परन्तु जिस निर्मल आनन्द में काथ का प्रयोजन पर्यवसित होता है वह विषयों की नवीनता में ही निहित है। उन्हीं पुराने विषयों की पुनर्चर्वणा स्थायित्व के अभाव में काव्य को चिरन्तन होने से रोक देती है। व्यक्ति वन्दना का स्वरूप जागरूक पाठक को कदापि स्वीकार नहीं होता। डॉ० आचार्य अपने इस प्राचीन मिथक को तोड़ नहीं सके हैं। उन्होंने अपने इस काव्यसंकलन में संस्कृतदिवस, शीतकाल, बसन्तऋतु, भारतमाता जैसे सामान्य विषयों को भी स्थान दिया है। ये समस्त विषय संस्कृत पाठकों के लिये इतने जाने पहचाने हैं कि भाषा और भाव का कोई आकर्षण भी उसे नहीं बाँध पाता। इन रचनाओं से इस काव्यसंकलन की गुरुता को क्षति पहुँची है। यदि इसके स्थान पर कुछ वर्तमान विषय लिये जाते तो डॉ० आचार्य पुनरुक्ति के दोष से बच सकते थे। वस्तुतः ऋतुवर्णन, संस्कृत एवं संस्कृति, स्तुति, वन्दना, इन सबकी चर्चा इतनी बार पुस्तकाकार रूप में स्थान ले चुकी है कि नवीन परिवेश में इनकी उपस्थिति एक औपचारिकता का निर्वहन मात्र है।

पुस्तक का मध्यभाग कवि के मौलिक चिन्तन का परिणाम है। इसमें नवीन विषयों की प्रस्तुति पाठकों को आकृष्ट करती है। उनकी 'पथिकाय' रचना छात्रोद्बोधन गीत कहा जा सकता है। डॉ० आचार्य ने छात्र को एक ऐसे पथिक के रूप में स्वीकार किया है। जो मार्ग में आने वाली प्रत्येक चुनौती से संघर्ष करता है। छात्रजीवन व्यक्ति के धैर्य, शक्ति एवं आत्ममूल्यांकन की कसौटी है–

हे पान्थ! वर्त्मनि सदा मुदितः प्रयाहि
लोकस्य तर्जनकृतं कियदित्यवेहि।

''नवागतानां विद्यार्थिनां कृते'' कवि की नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा का परिणाम है। वर्तमान समय में 'रैगिंग' की वृत्ति जहाँ विद्यार्थियों में प्रतिशोध उत्पन्न कर रही है। वहीं डॉ० आचार्य की यह रचना नवीन विद्यार्थियों के लिये बासन्ती बयार है। इसमें गुरू शिष्य के पारस्परिक पवित्र

सम्बन्ध को छात्र जीवन का आधार स्वीकार किया गया है। विद्यार्थियों के अन्तस् को ज्योतित करने वाले डॉ॰ आचार्य का यह आह्वान समीचीन है–

आचार्यहृदयानन्दा सारस्वतव्रतार्थिनः
सुप्तिशय्यां परित्यज्य जागृत भारतीमठे।

x x x

सरस्वती या श्रुतिगीयमाना कवीन्द्रवृन्दैरभिवन्द्यमाना
आचार्यवृन्दैः समुपास्यमाना मातेव सा पातु सदैव युष्मान्।

''कविकृति'' रचना 'अपूर्वकोषोऽयं विद्यते तव भारति ....'' से प्रभावित है। अतः कवि का यह विश्वास है कि सृष्टि का विलय काव्य को नष्ट नहीं करता–

य इष्टनाशो जगतीतलेऽस्मिन् दुनोति चित्तं नियतं जनानाम्
वार्ता च सा तावकसङ्गया पुनः प्रमोदं परमं ददाति।

'कल्पना' में कवि संतृप्त हुये हृदय को शान्ति के अमृतरस से सींचना चाहता है–

मनसःशान्तिसुधैककाङ्क्षिणम्

इस कविता में डॉ॰ आचार्य इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि शुभकल्पनाओं के इन्द्रधनुषी रंग मन के विषाद को आनन्द के द्वार तक पहुँचा देते हैं।

''महासङ्गीत'' में प्रकृति का अनूठा सङ्गीत छिपा है। चाहे वह समुद्र का गर्जन हो अथवा वायु का सञ्चरण, पहाड़ी नदियों एवं झरनों का निनादित स्वर हो अथवा पल्लवों का स्फुरण। प्रकृति की गोद में परिवर्द्धित इन उपदानों में जो सङ्गीत विद्यमान है वह अनुपमेय है–

महावारिधिकल्लोले, सुनीलाम्बरविस्तरे,
प्रवहद्वायुहिल्लोले, ग्रहनक्षत्रसञ्चरे।
वृक्षश्रयामलितारण्ये, गिरिनिर्झरिणीझरे,
महासङ्गीतसम्मूर्च्छा, श्रूयते या निरन्तरा।

सङ्कल्प, संस्कृतेन चिन्तनम्, नववर्ष आदि रचनायें सुहृत्सम्मित शैली में लिखी हुयी रचनायें हैं। व्यञ्जना के अभाव में ये रचनायें विशेष रूप से प्रभावित नहीं करतीं। मुक्तछन्द में लिखी रजनीगन्धा पर छायावादी शैली का प्रभाव परिलक्षित होता है। सम्बोधन से इसका प्रारम्भ रजनीगन्धा को जीवन्त कर जाता है। डॉ॰ आचार्य इस रचना में अधिक मुखरित हुये हैं। कोमलकान्त पदावली में रचित यह कविता अपनी श्लेषजन्यअनुभूति से पाठक के अन्तर्मन का स्पर्श कर जाती है–

अयिरजनीगन्धे! रसिकजनवन्द्ये
इह सन्ध्याकाले गतकर्मकोलाहले
अलसलुलितदेहे अपरिमितस्नेहे
ध्यायामि तव विशदप्रभाम्
पिबामि तव सौरभसुधाम्।

कालिदास के श्रृंगाररस का स्पर्श करने वाली ये पंक्तियाँ सहृदयों को रजनीगन्धा में मानो नवमालिका का परिचय दे जाती है। इसमें डॉ॰ आचार्य के लेखन की श्रान्ति को विश्रान्ति मिलती है।

पुस्तक के अन्त में 'चायगाथा' एवं चायस्तोत्र वर्तमान से प्रभावित रचनायें हैं। बहुप्रचलित चाय जैसे पेय के विषय में संस्कृत में लिखकर कवि ने अपने गत्यात्मक व्यक्तित्व का परिचय दिया है। ''चायगाथा'' में डॉ॰ आचार्य चाय की बाह्यप्रकृति पर केन्द्रित रहे हैं। परन्तु चायस्तोत्रम् उनकी विनोदपूर्ण रचना है। इसकी भाषा सहज सरल है। कविता के प्रारम्भ में ही उनकी हास्य विनोदात्मक शैली के दर्शन होते हैं–

चायस्तोत्रं प्रवक्ष्यामि चायार्थिनां हितेच्छया
प्रत्यहं प्रातरुत्थाय काले चायस्य सेवनात्।

और भी–

साम्प्रतं चायरूपेण तेन व्याप्ताखिला मही,
कृत्येऽकृत्ये सदा कामं सोऽपेक्ष्यतेऽखिलैर्नरैः।

चहेति चेति चायेति ... कहकरकवि ने नवीन हास्य उत्पन्न किया है। चाय पर लिखी दोनों ही रचनायें सामान्य पाठक का मनोरंजन करती हैं। निसंदेह पूर्ण विराम की ओर जाते हुये डॉ॰ आचार्य अपने व्यक्तित्व के इस पक्ष से भी पाठक का परिचय करा जाते हैं। उनकी यह विद्या उन्हें प्रासंगिक सिद्ध करती है, और डॉ॰ आचार्य केवल पुरातनपंथी होने के आरोप से बच जाते हैं।

पुस्तक के अन्त में बंगाली में लिखी उनकी कुछ रचनायें स्वान्तः सुखाय है। अपने परिवेश से प्रभावित होने के कारण इन रचनाओं में उनका भाषायी प्रेम द्योतित होता है। वैचारिक कसौटी पर ''भावविलसितम्'' खरा उतरता है। वर्तमान समय में जहाँ बढ़ते हुये काव्यलेखन ने संस्कृतभाषा को चलताऊ बनाने की प्रयास किया है ऐसे में डॉ॰ आचार्य ने अपनी भाषा की गरिमा एवं ऊष्मा को बनाये रखा है। उनके भाव शब्दों से भाषायी खिलवाड़ नहीं करते अपितु शब्दों का सहजता से अनुगमन करते हैं। संस्कृतनिष्ठशैली का निर्वाह करते हुये उन्होंने संस्कृत भाषा के गौरव को ऊँचाइयाँ प्रदान की हैं। भावपक्ष एवं कलापक्ष के धनी डॉ॰ आचार्य का लेखन उन कवियों के लिये प्रेरणास्पद है जो संस्कृत भाषा को व्यावहारिकता के नाम पर नीलाम कर रहे हैं।

अन्ततः सार संक्षेपणीय तथ्य यह है कि संस्कृत साहित्य को जन-जन से जोड़ने के लिये यह आवश्यक है कि आधुनिक संस्कृतसाहित्य वर्तमान विषयों से जोड़कर लिखा जाये। प्राचीन मूल्यों पर दृष्टि रखते हुये भी अर्वाचीन की उपेक्षा न हो। जब रचनाकारों की दृष्टि वर्ग विशेष के इन्द्रजाल से मुक्त होकर जनकेन्द्रित होगी तब ही संस्कृत साहित्य को अपना गन्तव्य मिल सकेगा। वस्तुतः डॉ॰ सीतानाथ आचार्य की भावविलसितम् विविध भावों का विलास है, गम्भीर चिन्तन के क्षितिज पर कल्पनाओं का अरुणोदय है। इस पुस्तक का वैशिष्ट्य कवि की संवेदना है जो नव्यकाव्यसर्जकों के लिये ही मानों मुखरित हुई है।

वैदिक वाङ्मय में स्वर ज्ञान

डॉ॰ पी॰ डी॰ शास्त्री

वैदिक शब्दों के सूक्ष्म, सही एवं स्पष्ट अर्थों की अभिव्यक्ति के लिये स्वर शास्त्र का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। स्वर ज्ञान के बिना मन्त्रार्थ को पूर्णरूप से समझने में, और उसके अन्तर्निहित अर्थ को जानने में कठिनाई आ सकती है। इतना ही नहीं कहीं-2 तो अर्थ का अनर्थ भी हो जाता है। इस लिए सूक्ष्म एवं गूढ़रहस्य वाले अर्थों की जानकारी के लिये उदात्तादि वैदिक स्वरों का बोध अतीव अनिवार्य है। वैदिक वाङ्मय में स्वर चिह्न वाले जितने भी गेय या अगेय ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, उन सभी ग्रन्थों में उदात्तादि स्वरों के अङ्कन प्रकार भिन्न-भिन्न रूप से उपलब्ध है। यथा-"अ॒ग्नि मीले" इत्यादि वैदिक शब्दों में अ॒ के नीचे पड़ी तिरछी रेखा अनुदात्त स्वर की द्योतक है। परन्तु ऋग्वेद में यही नीचे पड़ी रेखा उदात्त स्वर की बोधक है। इसी तरह सामवेद अथर्व वेद एवं अन्य वैदिक ग्रन्थों में अनुदात्त स्वर, एवं ऊपर पड़ी खड़ी सीधी रेखा वाले स्वरित स्वर के चिह्नों के अङ्कन प्रकार में विभिन्नता होने से पाठकों के स्वर अवबोधक में सन्देह उत्पन्न हो जाता है। इन मूल संशय एवं भिन्नताओं से निवृत्त होने के लिए स्वर चिह्न का उल्लेख करना आवश्यक है। इससे पहले हम स्वर शब्द के अर्थ और जिन-2 अर्थों में स्वर शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है, की चर्चा करना भी अनिवार्य समझते हैं।

पाणिनि ने अच् प्रत्याहार से स्वरों के बोध का संकेत दिया है। परन्तु फिट् सूत्र में स्वरों की जानकारी अष् प्रत्याहार से दर्शाई है। इस सन्देह को दूर करने के लिये पाणिनि व्याकरण के अनुसार अच् प्रत्याहार से ही स्वरों के उद्बोधन की चर्चा करना समीचीन होगा।

I. सामवेद में ऋष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ मन्द्र एवं अति स्वार्य नाम से स्वरों को दर्शाया है।

II. संगीत शास्त्र में षड्जादि सात स्वरों के लिये स्वर शब्द का प्रयोग सर्वत्र प्रयुक्त हुआ दिखाई देता है। पाणिनीय शिक्षा में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित एवं उदात्तादि के भेदों (आद्युदात्त, अन्तोदात्त) के कारण स्वर को सप्त स्वर की संज्ञा दी है।

III. घ्राणेन्द्रिय के दाएं बायें रन्ध्र से निष्कासित होने वाले प्राण वायु को भी स्वर संज्ञा से व्यवहृत किया है। नासिका रन्ध्र से निकलने वाले दाएं बाएं स्वर को सूर्यस्वर और चन्द्र स्वर नाम से भी पुकारा है।

IV. स्वर: प्रणव:-प्रणव अर्थात् ओंकार के लिए भी स्वर शब्द का प्रयोग हुआ है।

मुख्यरूप से वैदिक आम्नाय में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और प्रचय/एकश्रुति आदि स्वरों के लिए स्वर शब्द को व्यवहृत किया गया है।

स्वर शब्दकी व्युत्पत्ति

स्वर्यन्ते एभिरर्थाः इति स्वरः अर्थात् जिनसे शब्दों एवं पदों के अर्थों की अवगति हो, उन्हें स्वर कहा जाता है। स्वृ उपपतयोः धातु से 'घ' अथवा 'घञ्' प्रत्यय होने से स्वर अथवा स्वार शब्द व्युत्पन्न होता है। यह दोनों प्रत्यय 'घ' और घञ् एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

स्वर एवं स्वार

विद्वानों ने छन्दोभङ्ग होने के भय से एक नियम बना दिया है, कि स्वर एवं स्वार दोनों का प्रयोग एक ही अर्थ में हो सकता है। यदि कहीं पर छन्दो भङ्ग हो रहा हो तो बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये माषं के स्थान मषं को लिखने के सिद्धान्त को अपना ले, पर छन्दो भङ्ग न होने दे। ह्रस्व, दीर्घ विषयक प्रवृत्ति बाहुल्य से उपलब्ध होने से, प्रसर, प्रसार, उपनयन, उपनायन आदि एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए शब्दों के सिद्धान्त या नियमों का पालन करें।

पाणिनि की शब्दावली में अच् प्रत्याहार से पहचाने जाने वाले उदात्तादि स्वर वैदिक वाङ्मय में चार हैं। उदात्त स्वर, अनुदात्त स्वर, स्वरित स्वर तथा प्रचय स्वर इनमें से पहले तीन स्वर प्रधान स्वर हैं। चौथे प्रचय स्वर को एकश्रुति स्वर के नाम से भी जाना जाता है। इन स्वरों के मौखिक उच्चारण के तरीकों में भी भिन्नता दिखाई देती है।

पाणिनीय व्याकरण के अनुसार "उच्चैरुदात्तः" इस सूत्र के आधार पर उदात्त स्वर का उच्चारण मुख अवयवों को ऊपर खींच कर उच्चध्वनि से जिस स्वर का उच्चारण होता है, उसे उदात्त नाम के स्वर से पुकारा जाता है। परन्तु स्वर शास्त्र में निष्णात कुछ विद्वानों को यह मत स्वीकार्य नहीं है। उनका मत है, कि एक बलशाली व्यक्ति जिस स्वर को ऊंची ध्वनि से बोल सकता है। दुर्बल व्यक्ति उसी स्वर को निम्न ध्वनि से उच्चरित करता है। अतः ऊंची ध्वनि से उच्चारण करने का सिद्धान्त सर्वत्र व्यवहृत नहीं होता, इसलिए ऊंचे स्वर से बोले जाने वाला स्वर ही उदात्तस्वर हो यह पूर्णरूप से ठीक नहीं है। इन का मत है, कि सम्भवतः पाणिनि का यह अभिप्राय रहा होगा, कि वर्णों को उच्चरित करने वाले अवयवों के उच्च भाग से जब वर्णों के स्वरों का उच्चारण होता है, उसे उदात्तस्वर की संज्ञा दी जा सकती है। ध्यातव्य यह है, कि उदात्त स्वर स्वरों में प्रमुख एवं आदि संज्ञक होने के कारण तथा उच्चतम और चढ़ता हुआ स्वर होने से उदात्त स्वर को प्रमुख स्वर की स्वीकारा है।

अनुदात्त स्वर

अनुदात्त स्वर को नीच स्वर माना है। ''नीचैरनुदात्त:'' पाणिनि के इस सूत्रानुसार जो स्वर मुख विवर के अङ्गों की शिथिलता के कारण नीच ध्वनि अर्थात हल्के स्वर से उच्चरित होता हैं, उसे अनुदात्त नामक स्वर से स्वीकारा है। इस स्वर के उच्चारण स्थान में भी मतभेद है। क्योंकि अनुदात्त स्वर की निम्न ध्वनि किसी के लिए उच्चध्वनि भी हो सकती है। और उच्च ध्वनि अन्य के लिए नीच ध्वनि हो सकती है। अत: यह उच्चारण व्यवस्था भी सर्वत्र व्यवहृत नहीं होती। यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है, कि मुख विवर के कौन से निम्न अवयव होंगे जिन से वर्णों का उच्चारण होता होगा। यहां भी स्पष्टता के विषय में संदिग्धता है। परन्तु इतना अवश्य है, कि अनुदात्त स्वर उदात्त स्वर से, सामवेद अथर्ववेद में पहले आता है। अनुदात्त स्वर के भी अनुदात्ततर एवं अनुदात्ततम आदि कई भेद हैं। जिन के उच्चारण के विषय की जानकारी मुख द्वारा बार-बार उच्चरित वर्णों के उच्चारण के अभ्यास से ही हो सकती है।

''समाहार: स्वरित:''

पाणिनि के इस सूत्रानुसार स्वरितस्वर को मध्यम स्वर की संज्ञा दी है। इस स्वर के विषय में भी अनेक मतभेद हैं। कुछ विद्वान् स्वरशास्त्रज्ञ इसे उदात्त और अनुदात्त के मेल से बना हुआ स्वीकारते हैं। उनके मतानुसार जैसे त्रपु और ताम्र के संयोग से कांस्य की उत्पत्ति होती है, परन्तु कांस्य त्रपु और ताम्र से बिल्कुल पृथक् है। उसी तरह उदात्त स्वर और अनुदात्त स्वर के सम्मिश्रण से स्वरित स्वर का प्रादुर्भाव होता है। अर्थात् स्वरित स्वर, उदात्तस्वर के एवं अनुदात्त स्वर के कुछ अंशों के मेल से निज स्वरूप को धारण करता है। इस बात में भी सन्देह पैदा होता है, कि उदात्त और अनुदात्त स्वर के कितने पर और कौन-कौन से अंशों के मेल से स्वरित स्वर का प्रार्दुर्भाव हुआ होगा। स्वरित स्वर भी सामान्य स्वरित, स्वतन्त्रस्वरित एवं कम्प स्वरित आदि-आदि भेदों के कारण नौ प्रकार का कहा गया है।

प्रचय स्वर

इन उपर्युक्त तीन स्वरों के अतिरिक्त चौथा प्रचय नामक स्वर है। यह उदात्त स्वर की तरह अचिह्नित स्वर है। स्वरित स्वर के पश्चात् आने वाले अनुदात्त स्वर को प्रचय स्वर के नाम से पुकारा है। इसे प्रचित, प्रच, तान, निचित, उदात्तमय, उदात्तश्रुति, एक श्रुति आदिनामों से पुकारा गया है। मुख्य रूप से उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का सानिध्य ही प्रचय अथवा एक श्रुति स्वर है।

स्वरों के चिह्नों का उल्लेख

उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, प्रचय या एक श्रुति आदि स्वर चिह्नों के वैदिक संहिताओं में ठीक प्रयोग एवं पद्धति का जानना भी अनिवार्य है। स्वर शास्त्र में 'अक्षर' शब्द, शुद्धस्वर या व्यञ्जन सहित स्वर पाणिनी के अच् प्रत्याहार या फिट् सूत्र के अष् प्रत्याहार से ही निकला है।

अधोरेखयाऽनुदात्तः

इस सूत्र के अनुसार व्यञ्जनसहित किसी अक्षर के नीचे पड़ी तिरछी रेखा से अनुदात्त स्वर का बोध होता है। उदाहरण स्वरूप-

"अ॒ग्नि मींले पु॒रोहिंतम्"

ऋग्वेद के इस मन्त्र में 'अ॒' के नीचे और पुरोहिंतम् के 'पु॒' के नीचे पड़ी तिरछी रेखा अनुदात्त स्वर की परिचायक है। यह बात ठीक है, कि उदात्तादिस्वरों का धर्म अच् प्रत्याहार से है, व्यञ्जनों से नहीं, परन्तु स्वर चिह्नों के पूर्णज्ञान के लिय व्यञ्जन युक्त अक्षरों पर ही स्वर चिह्न लगाने का प्रावधान है। यह भी ध्यातव्य है, कि स्वर चिह्नों का अभिप्राय स्वरों से है, न कि व्यञ्जनों से।

"ऊर्ध्वरेखया स्वरितः"

व्यञ्जनयुक्त किसी भी अक्षर या वर्ण के ऊपर पड़ी खड़ी रेखा स्वरित स्वर की बोधक होती है। जैसे-"अ॒ग्नि मींले पु॒रोहिंतम्"

इस मन्त्र में 'मीं' और 'हिं' के ऊपर पड़ी लम्बवत् सीधी रेखा स्वरित स्वर को निर्दिष्ट कर रही है।

"स्वरितात् परोऽनङ्कित एकश्रुतिः"

स्वरित स्वर के चिह्न से अङ्कित अक्षर से परे होने वाले बिना चिह्न वाले वर्णों को एकश्रुति स्वर वाला समझना चाहिये।

उदाहरण-

"होतांरं रत्न॒ धातंमम्"

इस मन्त्र में "होतांरम्" के 'तां' पर और धातंमम् के 'तं' पर स्वरित स्वर का चिह्न है। स्वरित स्वर से चिह्नित अक्षरों के परे होने वाले 'रं' 'र' वर्णों पर कोई भी चिह्न न होने से ये तीनों वर्ण एकश्रुति स्वर के बोधक हैं। अर्थात् स्वरित स्वर के चिह्न से अङ्कित वर्णों के आगे जितने भी अचिह्नित वर्ण हों, वे सभी एकश्रुति स्वर के परिचायक होते हैं।

"अपूर्वोऽनुदात्तः पूर्वोवाऽनङ्कित उदात्तः"

प्रथमवर्ण या अनुदात्त से पहला अचिह्नित वर्ण उदात्तस्वर को निर्दिष्ट करता है। अथवा अनुदात्त स्वर से आगे आने वाले अनङ्कित वर्ण भी उदात्त स्वर की पुष्टि करते हैं। यथा-

"अग्ने॒ यं य॒ज्ञमंध्व॒रम्"

इस मन्त्र में 'ग्ने॒' वर्ण के नीचे तिरछी रेखा अनुदात्त स्वर को प्रकट कर रही है। और उस से पहले 'अ' अचिह्नित स्वर होने से उदात्त स्वर को निर्दिष्ट कर रहा है। इसी तरह अनुदात्त स्वर

'मे॒' के बाद यं और अनुदात्त यु॒ के परे ज्ञ एवं ध्व॒ के परे 'र' आदि सभी वर्ण अचिह्नित होने से उदात्त स्वर संज्ञक हैं।

"उदात्त स्वर और प्रचय/एकश्रुति स्वर में अन्तर"

वैदिक वाङ्मय में अनुदात्त और स्वरित स्वरों को नीचे ऊपर चिह्न लगा कर चिह्नित स्वरों के रूप में दर्शाया है। परन्तु उदात्त प्रचय एकश्रुति आदि स्वरों को सभी वैदिक संहिताओं में अचिह्नित दर्शाया है। इसलिये मन्त्र में अचिह्नित वर्णों को देख कर पाठक की बुद्धि भ्रमित हो जाती है और पाठक को पहचानना कठिन हो जाता है, कि कौन सा अचिह्नित वर्ण उदात्त है, और कौन सा प्रचय स्वर वाला है। इस भ्रम एवं सन्देह को दूर करने के लिए और दोनों स्वरों में अन्तर जानने के लिए निम्नलिखित स्वरविधान एवं नियमों को ध्यान में रखना आवश्यक है।

I. प्रत्येक पद का पहला अनङ्कित वर्ण उदात्त होता है।

जैसे–''विश्वा॒ भुवनानि''

इस मन्त्रांश में श्वा॒ अनुदात्त से पहले 'वि' अचिह्नित वर्ण होने से उदात्त संज्ञक है। ''बृहंस्पते: प्रथमम्'' इस मन्त्रांश में बृहंस्पते का 'बृ' वर्ण आदि पद होने से उदात्त स्वर है।

II. अनुदात्त स्वर के चिह्न से अङ्कित वर्ण के परे आने वाला अचिह्नित वर्ण भी उदात्त होता है। जैसे-'अ॒ग्निम्' इस शब्द में अनुदात्त स्वर से चिह्नित अ॒ से परे ग्नि वर्ण अनङ्कित होने से उदात्त स्वर की पुष्टि कर रहा है।

''अ॒स्य वा॒मस्य'' ऋग्वेद के इस मन्त्राशं में भी अनुदात्त स्वर से चिह्नित अ॒ और वा॒ के परे होने वाले क्रमश: 'स्म' और 'म' दोनों ही उदात्त स्वर के परिचायक हैं।

III. सामान्य स्वरित स्वर से प्रथम आने वाला अनङ्कित वर्ण भी उदात्त संज्ञक होता है। जैसे–"इन्द्रं:" इस शब्द में 'न्द्रं:' वर्ण पर स्वरित स्वर है। और उस 'न्द्रं:' से पूर्व 'इ' स्वर बिना किसी चिह्न से चिह्नित होने से उदात्त स्वर को पुष्ट कर रहा है। "मि॒त्रा वरुंणा" इत्यादि मन्त्रांश में उपर्युक्त नियम या सिद्धान्त के अनुसार आदि पर अनुदात्त के परे 'त्रा' वर्ण अचिह्नित होने से उदात्त स्वर बोधक है। 'वरुंणा' में स्वरित स्वर वाले 'रुं' पूर्व 'व' वर्ण अचिह्नित होने से उदात्त स्वर का संकेतक है। यही नियम एवं सिद्धान्त 'इन्द्रावरुणौ' में भी लागू होता है।

IV. यदि किसी मन्त्र भाग में दो अनुदात्त हों तो दों अनुदात्तों के बीच वाला अचिह्नित अक्षर उदात्त स्वर को प्रकट करता है।

जैसे–"अ॒स्य पी॒त्वा" ऋग्वेद के इस मन्त्र भाग में अ॒ और पी॒ दोनों वर्ण अनुदात्त हैं। बीच में 'स्य' अक्षर अचिह्नित होने के कारण उदात्त स्वर का निर्देशक है।

अत: उपर्युक्त नियमों एवं सिद्धान्तों को छोड़कर मन्त्र भाग में आने वाला कोई भी अचिह्नित

वर्ण प्रचय स्वर का द्योतक होता है।

जैसे–"बृहंस्पते प्रथ॒मम्" इस मन्त्र में 'हं' स्वरित स्वर से परे और 'थ॒' अनुदात्त स्वर से पहले आने वाले सभी वर्ण प्रचय स्वर के बोधक हैं।

''मन्त्रार्थज्ञान के लिये स्वरों की उपयोगिता''

मन्त्रों की अर्थावगति के लिए उदात्तादि वैदिक स्वरों का ज्ञान होना बहुत अनिवार्य है। स्वर ज्ञानहीन व्यक्ति तव तक मन्त्रों के सही एवं अभीष्टार्थ को नहीं निकाल सकता जब तक उसे स्वर ज्ञान का पूर्ण बोध न हो। स्वर और वर्णहीन एवं मिथ्या प्रयुक्त शब्द अभीष्ट एवं अभिप्रेत अर्थ को व्यक्त न कर विपरीतार्थ की अभिव्यक्ति करता है। विरुद्धार्थ का प्रकटन शब्दार्थ सम्बन्ध की सङ्गति करने वाले यजमान के लिये ही घातक सिद्ध होता है।

जैसे–"इ॒न्द्र॒श॒त्रुः'' इस मन्त्र भाग में व्याकरण सिद्धान्त कौमुदी की स्वर वैदिक [1]प्रक्रिया प्रकरण के सूत्र से तत्पुरुष समास होने पर अन्तोदात्त स्वर हुआ। पीछे लिखे नियमानुसार अनुदात्त स्वर के पश्चात् आने वाला अचिह्नित वर्ण उदात्त स्वर का बोधक होता है। यहां श॒त्रुः में श॒ अनुदात्त के परे 'त्रु' उदात्तस्वर है। और तत्पुरुष समास होने से यह उदात्त अन्तोदात्त के नाम से जाना जाता है। अन्तोदात्त से "इन्द्र का शत्रु विजयी हो" यह अर्थ अभिप्रेत था। परन्तु मन्त्रोच्चारण करने वाले ऋत्विजों ने 'इन्द्रशत्रु वर्धस्व'' का उच्चारण करते समय "इन्द्रंशत्रुः" का [2]बहुव्रीहि समास में पूर्वपद प्रकृतिस्वर से 'आद्युदात्त' स्वर लगा कर उच्चारण कर दिया। जिस के कारण यजमान के अभीष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति न होकर उससे विपरीत अर्थ का प्रकटन हुआ। अर्थात् उच्चारण स्वर में तनिक सी अशुद्धि होने से इन्द्र नहीं अपितु इन्द्र को मारने वाला वृत्रासुर स्वयं ही मर गया। इसलिये अपने अभीष्टार्थ के अनुसार ही शब्दों के स्वरों का उच्चारण करने से अनुकूलार्थ की प्राप्ति होती है।

एतदर्थ वैदिक वाङ्मय साहित्य में, उदात्तादि स्वर ज्ञान, एवं उपयोगिता का अधिक महत्त्व है।



1. सिद्धान्त व्याकरण स्वर वैदिक प्रक्रिया प्रकरण
2. सिद्धान्त व्याकरण स्वर वैदिक प्रक्रिया प्रकरण

वेदों में राजा व शासनव्यवस्था

डॉ. नरेश बत्रा

बिना शासक या अधिपति के कोई शासन राज्य या राष्ट्र नहीं चल सकता इस अखिल ब्रह्माण्ड का अधिपति, सम्राट् या राजा परमात्मा है–

भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्[1]।

सम्राडेको विराजति[2]

सम्राडसि[3] इत्यादि यजुर्वेद में उल्लेख है।

परमात्मा के समस्त ब्रह्माण्ड पर शासन के कारण उपर्युक्त शब्द उसमें घटित होते हैं। उन्हीं के आधार पर लोकशासन या जनसमाज में उक्त शब्द प्रचलित हुए। सृष्टि में जो नियम है–वही उस परमात्मा का शासन है। अतः समाज में भी विभाग व शासन आवश्यक हैं। समाज पर शासन करने वाले सर्वोच्च व्यक्ति को उसके गुणों से प्रकाशित होने के कारण राजा आदि संज्ञाएं प्रदान की गई हैं।

अथर्ववेद में राजा को अनेक विशेषणों से विभूषित किया गया है–

त्वां विशो वृणुतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्चदेवीः।
वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रमस्व ततो न उग्रो विभजा वसूनि॥[4]

अर्थात् प्रजा राज्य के संचालन के लिए तुम्हारा वरण करती है, सब दिशाओं के लोग तुम्हारा वरण करते हैं। तुम राष्ट्र रूपी शरीर के सर्वोच्च स्थान पर आसीन रहो और वहाँ रहते हुए उग्र शासक के समान सब में सम्पत्ति का विभाजन करो। ऋग्वेद में राजा के उदात्त स्वरूप का इस प्रकार वर्णन किया गया है–

सोमस्य राज्ञो वरुणस्य धर्मणि बृहस्पतेरनुमत्या उ शर्मणि।
तवाहमद्य मघवन्नुपस्तुतौ धातर्दिधातः, कलशां अभक्षयम्॥[5]

---

1. यजु. 25.10
2. यजु. 12.117.
3. यजु. 5.32
4. अथर्व. 3.4.2.
5. ऋग्वेद 10.167.3.

राजा का कथन है कि मैंने अग्नि, चन्द्रमा, मेघ, सूर्य, वायु, विद्युत् और मृत्यु इन देवों के धर्मानुसार अपने आपको राज्य प्रबन्ध के योग्य बना लिया है। मैंने इन सभी देवताओं के ऐश्वर्य कलशों का भक्षण कर लिया है।

यजुर्वेद में शासक अथवा राजा के गुणों का प्रतिपादन इस प्रकार है:–

नाभा पृथिव्याः समिधाने अग्नौ रायस्पोषाय बृहते हवामहे।
इरम्मदं बृहदुक्थं यजत्रं जेतारमग्निं पृतनासु सासहिम्।।[1]

जिससे राष्ट्र का ऐश्वर्य बढ़े, जो सहनशील हो, अन्न मात्र से सन्तुष्ट प्रसन्न रहने वाला हो, युद्धादि विद्या में भी निपुण हो, अग्नि के समान तेजस्वी हो, हर क्षेत्र में विजयशील हो, ऐसा व्यक्ति राजा बनने योग्य है।

राष्ट्र के शासक राजा को सत्यशील, महत्त्वाकाङ्क्षी, नियम पालन में सुदक्ष तेजस्वी, दीक्षा, तपस्या, वेदज्ञान, और याज्ञिक भावना से युक्त होना चाहिये, तभी वह राष्ट्र को स्थिर रख सकता है। अथर्ववेद में कहा है-

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।।[2]

यजुर्वेद में राजा को राज्याभिषेक के अवसर पर कहा गया है-

इमं देवा असपत्नं सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय।
महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय।।[3]

हे राजसभासदो! तुम इस राजा को क्षात्रधर्म के लिए महान् ऐश्वर्य के लिए, जनराज्य के लिए, पराक्रम के लिए शत्रुरहित अभिषिक्त करो।

राष्ट्र की विचारधारा को प्रभावित करने में राजनीति का भी बहुत बड़ा योगदान रहता है। वास्तव में उत्कृष्ट राजनीति वही है जो राष्ट्र को सन्मार्ग में प्रवृत्त करे। वेदों में हमें उसी जनकल्याणवादी राजनीति के सङ्केत प्राप्त होते हैं। वेदों में शासन की दो लोकतन्त्रीय संस्थाओं सभा और समिति का उल्लेख है। अथर्ववेद के एक मन्त्र में उक्त संस्थाओं के साथ उनकी पृथक् समितियों और सेनाओं का भी वर्णन मिलता है-

तं सभा च समितिश्च सेना च।।[4]

अथर्ववेद के निम्नलिखित मन्त्र में सभा के सभासदों की आवश्यकता व प्रजा में श्रेष्ठजनों को सभासद् बनाने, सभासदों को भी उत्तम बने रहने की प्रेरणा दी गई है–सभ्य सभां मे पाहि ये

1. यजुर्वेद 11.76
2. अथर्व 12.1.1.
3. यजुर्वेद 9.40
4. अथर्व 15.9.2.

च सभ्याः सभासदः।।[1] में अनेक स्थान पर गणतन्त्र के मूलभूत गुणों का उल्लेख है। यथा-

गणेभ्यः स्वाहा महागणेभ्यः स्वाहा।।[2]

वेद में ही स्वराज्य का प्रथम उद्घोष है। स्वराज्य का सर्वाधिक महत्त्व प्रतिष्ठापित करते हुए बताया गया है कि स्वराज्य से परे और कुछ भी नहीं है, क्योंकि जनता का परमकल्याण स्वराज्य अथवा लोकतंत्र में ही है—यदजः प्रथमं सम्बभूव स तत्स्वराज्यमियाय यस्मान्नान्यत्परमस्ति भूतम्।।[3] स्वराज्यं का इतना महत्त्व है कि विशिष्टाधिकारतन्त्र भी स्वराज्य का अनुगामी है-

विराट् स्वराज्यमभ्येति पश्चात्।।[4]

अथर्ववेद के निम्नलिखित मन्त्र में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में बताया गया है कि समाज के सभी वर्ग मिलकर राजा को बनाते हैं:-

ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः।
ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये।।[5]

अर्थात् जो धीवर हैं, रथ बनाने वाले (बढ़ई) हैं, अन्य हाथ का कार्य करने वाले लोहार आदि हैं, जो विद्वान् बुद्धिजीवी हैं, जो राजा (छोटे ग्रामों या नगरों के शासक हैं, जो रथ चलाने वाले तथा जो नेता हैं—वे सब राजकृत् अर्थात् राजा को बनाने वाले हैं। वेदों में गणतंत्र प्रणाली का अनुसरण करते हुए राज्य की स्वराज्य से लेकर सर्वराज्य तक की स्थितियों का वर्णन है। यजुर्वेद के इस मन्त्र में स्वराट्, सत्रराट्, जनराट् और सर्वराट् इन चार राज्यावस्थाओं का निरूपण किया गया है-

स्वराडसि सपत्नहा सत्रराडस्यभिमातिहा।
जनराडसि रक्षोहा सर्वराडस्यमित्रहा।।[6]

राष्ट्र में कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न करने के लिए कर्मों का विभाजन एवं शक्तियों का भी विभाजन किया जाना चाहिये ताकि राजा स्वेच्छाचारी न बन सके-

विभक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः। सवितारं नृचक्षसम्।।[7] यजु. 30.4.

वेदों में राष्ट्र को समुन्नत तथा शासन व्यवस्था के मंगलमय स्वरूप को चिरस्थायी बनाने के लिए नियुक्तियाँ योग्यता व क्षमता के आधार पर करने के लिए निर्देश हैं, जिससे सभी क्षेत्रों में योग्यतम व्यक्ति उपलब्ध हो सकें-

1. अथर्व 19.55.6
2. अथर्व 19.22;16.17
3. अथर्व 10.7.31
4. अथर्व 8.9.9.
5. अथर्व 3.5.6-7
6. यजुर्वेद 5.24.
7. यजुर्वेद 30.4.

ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं
मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रं तमसे तस्करं
नरकाय वीरहणं पाप्मने क्लीबमाक्रयाय
अयोगूं कामाय पुंश्चलूमतिक्रुष्टाय मागधम्।।[1]

यजुर्वेद के अध्याय तीस के 5 से 20 मन्त्रों में लगभग 150 कार्यों के विभाग बनाकर उनके तत्तद्गुणविशिष्ट शासनाधिकारियों की नियुक्ति का उल्लेख किया गया है।

वेदों में जहाँ राजा की प्रचुर प्रशंसा और महिमा गाई गई है वहीं कई विषयों में राजा की सीमाओं का भी वर्णन है। वैदिक राजा स्वेच्छाचारी नहीं है कई निर्णयों में उसके अधिकार सीमित हैं। सभा और समिति के बिना वह कोई निर्णय नहीं ले सकता। अथर्ववेद में प्रार्थना है–

सभा च मा समितिश्चावतां
प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।
येना सङ्गच्छा उप मा स
शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु।।[2]

अर्थात् सभा और समिति प्रजापति की दो पुत्रियां हैं, वे मेरी रक्षा करें। वे मुझे समुचित परामर्श दें, सभी सभासद् समुचित भाषण करें।

समृद्ध, यशस्वी, सर्वतो भद्र राज्य की कामना के लिए राजा के साथ साथ प्रजा की सहयोगिता भी अनिवार्यतया अभीष्ट है। प्रजा जिसका स्वामी राजा है, जिसकी रक्षा और उन्नति के लिए राजा का चयन हुआ है वह प्रजा ही राष्ट्र का जीवन है। अतः अथर्ववेद कहता है–

स विशोऽनुव्यचलत्।।[3]

अर्थात् राजा प्रजा का अनुचर होकर रहता है।

इस प्रकार वैदिक राजा शासनाधिकार को जन्म से नहीं लेकर आता। किन्तु वह प्रजा एवं समाज की क्षमता, योग्यता, गुणों का पुञ्जीभूत शक्तिकेन्द्र तेजस्वी किन्तु निरहंकारी सत्ता का अधिष्ठान बना हुआ प्रजा के मध्य परमात्मा का प्रतिनिधि बन कर आता है। तभी तो वह ऋग्वेद के शब्दों में यह कामना करता है–

ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम।

---

1. यजुर्वेद 30.5.
2. अथर्व 7.12.1.
3. अथर्व 15.9.1.

मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्त्रस्त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम॥[1]

अर्थात् हे अग्ने! मेरी क्षमता, शक्ति और अधिकार उत्तम कार्यों में लगें। तुम्हारी स्तुति करते हुए राष्ट्ररूपी शरीर को पुष्ट करूँ ऐसे कार्य करूँ कि चारों दिशाएं मेरे समक्ष नतमस्तक हों। तुम्हारी अध्यक्षता में मैं चारों ओर से विजयी बनूं। एवंविध उत्तम ब्राह्मण, निष्कल्मष राष्ट्रभृत् राजा, राजतन्त्र-शासनव्यवस्था से सुरभित समाज-राष्ट्र की ही सुन्दर कामना यजुर्वेद के ऋषि मन में उल्लास ले रही है-आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्[2].....। हमारे राष्ट्र में ब्राह्मण ब्रह्मज्ञानी और वेदविद्याविद् हों और क्षत्रिय शूर एवं बलवान् हों।



1. ऋग् 10.128.1.
2. यजुर्वेद 22.22

वैदिक अग्नि विज्ञान

डॉ. प्रतिभा पुरन्धि

अग्नि तत्त्व संसार का सर्वाधिक व्यापक, गतिशील, और शक्तिशाली तत्त्व है। आधुनिक युग में वैज्ञानिक प्रगति का मूलाधार यह अग्नितत्त्व ही हैं। वेदों में अग्नि का सबसे अधिक वर्णन प्राप्त होता है।

ऋग्वेद का प्रारम्भ ही 'अग्नि' शब्द से है। ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में ही अग्नि का महाविज्ञान निहित है। यजुर्वेद-13/40 में कहा है-

अग्निर्ज्योतिषा ज्योतिष्मान् रुक्मो वर्चसा वर्चस्वान्।

सहस्रदा असि सहस्राय त्वा॥ यजु. 13/40

हे अग्ने! तू ज्योति से ज्योतिष्मान् है। सुवर्ण सदृश सुखद वर्चस् से वर्चस्वान् है। तू सहस्रों सुखों का दाता है अतः सहस्रों प्रकार के सुख के लिए मैं तुझे स्वीकार करता हूँ।

अग्नि का निवास पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में है। पृथ्वी में अग्नि नाम से अन्तरिक्ष में विद्युत् नाम से और द्युलोक में सूर्य नाम से अग्नि संसार में अनेक सुख प्रदान करती है। अग्नि के विविध गुण कर्म के अनुसार अनेक नाम हैं।

और्वभृगु–यह अग्नि भूमि के भीतर सब पदार्थों का भर्जन अर्थात् परिपाक करती है।

अप्नवान्–यह अग्नि रसों और औषधियों में शान्तभाव से रहती है और रस, अम्ल तथा क्षारयुक्त होती है।

इन दोनों अग्नियों का वर्णन एक साथ निम्नमन्त्र में प्राप्त होता है-

और्वभृगुवच्छुचिमप्नवानवदाहुवे। अग्निं समुद्रवाससम्॥ साम.1/3/8 (18)

अर्थात् आकाश में व्यापक शुद्ध अग्नि को और्वभृगु तथा अप्नवान् अग्नि के समान स्मरण करता हूँ।

जातवेदा–केवल सूर्य ही अग्निमय नहीं है अपितु यह अग्नि उदर में जठराग्नि, जल में वडवाग्नि, काष्ठ, धातु, पत्थर पृथिवी के भीतर अनेक गैसों के रूप में विद्यमान है इसलिए इस अग्नि को जातवेदा अग्नि भी कहा गया है। निरुक्तकार यास्क ने जातवेदा की निरुक्ति इस प्रकार की है–'जातानि वैनं विदुः, जाते जाते विद्यते इति वा, जातवित्तो वा जातधनः, जातविद्यो वा जातप्रज्ञानः। (7.5)

इन विग्रहों के अनुसार जिस अग्नि को हम सभी जानते हैं, जो सभी पदार्थों में पाई जाती है जिसे रगड़ मन्थन के द्वारा पाया जाता है, जिससे कार्य लेकर धन ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति की जा सकती है, जो अन्धेरे में सब वस्तुओं को प्रकाशित करती है और जिसे पाने की चाह सभी मनुष्यों में रहती है वह अग्नि जातवेदा अग्नि है। साम. 1/8/7(79), 99, 103 आदि में इसका विस्तृत वर्णन है। वहाँ कहा गया है–'यह जातवेदा अग्नि हविर्युक्त होता हुआ स्तुत होता है। यह हमारे लिए उत्तम धन वा अन्न प्रदान करे।' 'हे मनुष्य! तू उस अग्नि के गुणों का प्रकाश कर जो सबका उपकार करता है, जिसका धुआं चतुर्दिक् व्याप्त हो रहा है। जिसके तेज से लोग अवगत नहीं हैं।

द्रविणोदा–

धन और बल को द्रविण कहते हैं अतः धन और बल देने वाली अग्नि को द्रविणोदा अग्नि कहा जाता है।

सामवेद में कहा गया है–

देवो वो द्रविणोदाः पूर्णां विवष्ट्वासिचम्।
उद्वा सिञ्चध्वमुप वा पृणध्वमादिद्वो देव ओहते॥ 1/6/1 (55)

अर्थात् अग्नि देवता तुम्हारी भरी हुई सुवा को स्वीकार करे। तुम उपपृणध्वं वा=तुम और भरो उत् सिञ्चध्वम्=ऊपर छोड़ो। अग्नि तुम्हारी आहुति को आत् इत=तत्काल ही पहुँचाता है। अग्नि से ही शरीर में बल है। अग्नि से ही शिल्पी धन की प्राप्ति करते हैं इसलिए अग्नि को द्रविणोदा भी कहा जाता है।

वडवानल–

साम. 6/3/6 (607) में कहा गया है–'वृष्टि जल पृथिवी में गिरते हैं और भूमि के जल में मिल जाते हैं। तब वह जल नदीरूप होकर समुद्र में स्थित वडवानल को तृप्त करते हैं। जलों के पौत्र अनल के निकट सभी जल शुद्धता से प्राप्त होते हैं।

ये सभी अग्नियाँ पार्थिव हैं। अन्तरिक्षस्थ अग्नि विद्युत् कहलाती है। इन तीन अग्नियों का वर्णन वेद में इडा, सरस्वती और भारती नाम से प्राप्त होता है। वहाँ इन्हें शक्ति के रूप में वर्णित किया गया है। अतः इन्हें देवी कहा गया। तद्यथा–

आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विडा मनुष्वदिह चेतयन्ती।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वती स्वपसः सदन्तु॥

अर्थात् हमारे यज्ञ में भारती=आदित्यज्योति शीघ्र प्राप्त हो। मनुष्य की तरह चेताने वाली इडा=पृथिवीस्थ अग्नि हमारे इस यज्ञ में शीघ्र प्राप्त हो। सरस्वती=जल में रहने वाली विद्युत् भी हमें शीघ्र प्राप्त हो। अनेक उत्तम कर्मों को सिद्ध करने वाली ये तीनों देवियाँ हमारे इस सुखकारी शिल्पयज्ञ में उपस्थित हों अर्थात् इन तीनों प्रकार की अग्नियों से विविध कार्य लेते हुए हम जीवन

को सुखमय बनाएँ।

वैश्वानर अग्नि–

आदित्य और विद्युत् से सम्बद्ध अग्नि को वैश्वानर अग्नि कहा जाता है। निरुक्तकार ने 7/6/20 में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की है-विश्वान्नरान् नयति.......वैश्वानरः अर्थात् यह सब मनुष्यों को ले जाता है, सभी मनुष्य इसे प्राप्त करते हैं। निरुक्त में पूर्व तथा उत्तरपक्ष प्रस्तुत करते हुए इसकी विस्तृत चर्चा की गई है। वहाँ कहा है–अयमेवाग्नि.......सम्पद्यते। अर्थात् सूर्य और विद्युत् को विश्वानर कहा जाता है। सूर्य और विद्युत् से उत्पन्न होने वाली अग्नि वैश्वानर कही जाती है। जब तक वैद्युत अग्नि मेघ में रहती है और जब तक वह मेघ से पृथक् होकर पृथिवी पर नहीं गिरती तब तक वह विद्युत् स्वभाव वाली रहती है। वह जल से प्रदीप्त होती है अर्थात् मेघ के घने होने पर और भी तेज हो जाती है और अन्य पार्थिव वस्तु को पाकर शान्त हो जाती है किन्तु यही विद्युत् जब कहीं शुष्क वृक्ष पर गिरती है तो पार्थिव अग्नि बनकर जलने लगती है और जल से शान्त होती है।

सूर्योदय होने पर उसके फोकस से कंस मणि या सूखा गोबर आदि भी जलने लगते हैं। इस प्रकार सूर्याग्नि इन सबके माध्यम से पृथिवी पर लाई जा सकती है। यही बात निम्न मन्त्र में कही गई है-

मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जातमग्निम्।
कविं सम्राजमतिथिं जनानामासन् नः पात्रं जनयन्त देवाः।। साम.1/7/5(67)

विद्वान् ऋत्विज् लोग हमारे यज्ञ में पृथिवी से द्युलोक के ऊर्ध्व भाग को जाने वाले दहकते हुए सदा चलने वाले प्राणियों के रक्षक देवों के मुख वैश्वानर अग्नि को सब ओर से प्रकट करें।

दैवीदास अग्नि दैवीदासो अग्निर्देव इन्द्रो न मज्मना।
अनुमातरं पृथिवीं विवावृते तस्थौ नाकस्य शर्मणि।। साम. 51

द्युलोक में उत्पन्न होने वाला अग्नि प्रकाशमान होकर सूर्य के समान समस्त प्राणियों की माता पृथिवी के चारों ओर बलपूर्वक छा जाता है और अन्तरिक्ष के आश्रय में स्थिर है अर्थात् द्युलोक में बैठा हुआ सूर्य बड़े वेग से अपनी प्रकाश किरणों को पृथिवी पर भेजता है।

पं. तुलसीराम ने इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए लिखा है–पृथिवी में एक प्रकार की गरमी है जिसको वेद की भाषा में दैवीदास कहा है क्योंकि वह पृथ्वी से निरंतर बाहर को निकलती रहती है और जिस प्रकार सूर्य की धूप पृथिवी के चारों ओर छाती है इसी प्रकार बिजली के बल से निकलकर वह भी द्युलोक के घर में अर्थात् द्युलोक रूप घर में स्थित है। और वर्षादि की हेतु है। पृथिवी के दूर चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश है वही द्युलोक है और उसमें वर्तमान समस्त दिव्य पदार्थ निरुक्त में लिखे 'द्युस्थान देवता' हैं। सूर्य पृथिवी से बहुत बड़ा है पृथिवी उसकी अपेक्षा बहुत ही छोटी है इस कारण सूर्य से जो प्रकाश की धारा बहती है वह पृथिवी के छोरों को छूती हुई

सिकुड़ती-सिकुड़ती चन्द्र से परे जिस बिन्दु स्थान पर मिल जाएगी वही द्युलोक का आरम्भ है। बस इस दूरी से आगे पृथिवी के चारों ओर अंधियारा नहीं है और वहाँ के स्थान को द्युलोक जानिए।

यही दैवीदास अग्नि जब द्युलोक में पहुँचती है तो वह इन्द्र कहलाती है। और अपनी दिव्यशक्ति से वर्षा पैदा कर फसलों को बढ़ाने में सहायता करती है। यह बात साम. 52 में कही गई है। 53वें मन्त्र में अग्नि को व्यापक और अविनाशी बताया गया है–हे अग्ने! जब तू वन, काष्ठ, या जलरूप माताओं में शान्त होता हुआ लय हो जाता है तब तेरा मार्ग लुप्त नहीं होता क्योंकि तू दूर (नष्ट) होता हुआ भी यहाँ अर्राण अथवा मेघ में वहिन या बिजली के रूप में उत्पन्न हो जाता है।

अग्नि ध्वनि वाणी आदि का जनक है-ऐतरेयोपनिषद् में कहा गया है कि अग्नि वाणी रूप होकर मुख में प्रवेश कर गया। वेद में कहा गया है–'एह्यूषु ब्रवीणि तेऽग्न इत्थेतरा गिरः' साम. 1/1/7 (7) हे अग्ने! मैं तुम्हारे द्वारा ही सब वाणियां बोल लेता हूँ। शि. ग्रन्थ में भी कहा है-

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।

अर्थात् अग्नि के सहयोग से मनरूपी विद्युत् शरीर में फैलती है तभी बोलने का सामर्थ्य आता है। यही भाव साम. 1/1/8 (8) मन्त्र में कहा गया-

आ ते वत्सो मनो यमत्परमाच्चित् सधस्थात्।
अग्ने त्वां कामये गिरा॥

हे अग्ने! वाणी सहित मैं तुम्हें चाहता हूँ क्योंकि तुमसे ही बोलने वाला मनरूपी विद्युत् पदार्थ उत्कृष्ट हृदय स्थान से फैलता है।

यजुर्वेद 33/15 में कहा है श्रुधि श्रुत्कर्ण 'हे अग्ने! तुम श्रुत्कर्ण हो अर्थात् तुममें शब्द को ग्रहण करने की क्षमता है। ऋ. 9/41/3 में कहा–'चरन्ति विद्युतो दिवि' अर्थात् द्युलोक आदि सर्वत्र ही विद्युत् अग्नि प्रवाहित हो रही है।

यजु. 33/53 में कहा–विश्वेदेवाः शृणुतेमं हवं मे ये अन्तरिक्षे य उप द्यवि ष्ठ।

हे विविध स्थानों पर रहने वाले विद्वानों! आप चाहे अन्तरिक्ष में रहो, चाहे द्युलोक में रहो, हमारे वचनों को निकट से सुनो।

ऋ. 1/23/14 में कहा है-

पूषा राजानमाघृणिरप गूढं गुहाहितम्।
अविन्दच्चित्रबर्हिषम्॥

यह अग्नि जिसकी रश्मियां दीप्तिमती हैं वह अत्यन्त गुप्त और इन आँखों से बहुत दूर के

पदार्थों को भी प्रकट करने में समर्थ होता है।

इन सभी मन्त्रों से सिद्ध है कि हम अग्नि के माध्यम से अप्रत्यक्ष पदार्थों का दर्शन कर सकते हैं, चाहे वे पदार्थ पृथ्वीलोक के हों अथवा द्युलोक तथा अन्तरिक्ष के ही क्यों न हों। अन्तरिक्षस्थ तथा द्युलोकस्थ दूर-दूर के व्यक्तियों से भी वार्तालाप कर सकते हैं। आज अग्नि की इस शक्ति के कारण ही एक्सरे, रेडारयन्त्र, दूरदर्शन, दूरभाष आदि से हम दूर-दूर तक सम्पर्क और दर्शन करने में सामर्थ्यशील हुए हैं।

यज्ञाग्नि—यज्ञ में जो अग्नि हम प्रज्वलित करते हैं उससे अप्रत्यक्ष लाभ तो होते ही हैं किन्तु प्रत्यक्ष लाभ भी कम नहीं हैं। यह प्राकृतिक प्रदूषणों के साथ-साथ औद्योगिक प्रदूषण भी समाप्त करता है। कारखानों से निकलने वाले गन्धक, सीसा आदि दूषित रसायन अग्नि में डाले गए गोघृत, औषधियों और विविधा वनस्पतियों से संशोधित होते हैं। ऋग्वेद 10/88/9 में इस रहस्य को स्पष्टतः बताया गया है।

यज्ञाग्नि से ही वृष्टि पर भी नियंत्रण सम्भव है। वेद में कहा है-निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु यजु. 22, 22, अर्थात् यथासमय वर्षा होनी चाहिए। 'वृष्टिश्च मे यज्ञेन कल्पताम् अर्थात् यज्ञ से ही वृष्टि होती है।' मरुतां पृषतीर्गच्छ वशा पृश्निर्भूत्वा दिवं' गच्छ ततो नो वृष्टिमावह' यजु. 2/16 अर्थात् गायत्री आदि छन्दों से यज्ञ का अनुष्ठान करके हम लोग अपनी जो इच्छित आहुति अग्नि में डालते हैं वह वायु की नाड़ियों अर्थात् नालियों के तुल्य वायवीय मार्गों से होकर अन्तरिक्ष में विचरण करती हुई द्युलोक में पहुँचती है। वहाँ से आहुति वृष्टि को अच्छी प्रकार लाती है। यजुर्वेद 18/55 में कहा गया है-

विश्वस्य मूर्धन्नधि तिष्ठसि श्रितः समुद्रे
ते हृदयमप्स्वायुरपो दत्तोदधिं भिन्त।
दिवस्पर्जन्यादन्तरिक्षात्पृथिव्यास्ततो नो वृष्ट्याव॥ यजु. 18/55

हे अग्ने! तुम वृष्टि से हमारी रक्षा करो, जहाँ जहाँ जलों की स्थितियाँ हैं वहाँ से वृष्टि लाओ तथा जब-जब रोकने की आवश्यकता हो तो उदधिं भिन्त=उन समुद्रों को जिनसे वर्षा होती हैं उन्हें नष्ट कर दो।

यजुर्वेद 13/53 में भी कहा है—वृष्टि कराने के लिए मैं जलों को वायु में स्थापित करता हूँ। वर्षा जल के निर्माण में इसके निर्माता तत्त्वों का क्या अनुपात है? श्री वीरसेन वेदश्रमी मित्रस्य भागोऽसि वरुणस्याधिपत्यं दिवो वृष्टिर्वात स्पृत। एकविंशस्तोमः (यजु. 14, 24), को प्रस्तुत करते हुए 'एकविंशस्तोमः' की व्याख्या करते हुए लिखते हैं-वरुण और मित्र ने एकविंश स्तोम की रचना में जल का निर्माण किया.....द्युलोक या अन्तरिक्ष लोक में जल और वायु का भी जब एकविंश स्तोम-2:1 का अनुपात होता है तब वृष्टि हमें प्राप्त होती है। अर्थात् जब जल का भार अधिक हो जाता है और वायु का भार कम हो जाता है तो वृष्टि जल द्युलोक से पृथ्वी पर आ जाते हैं। जल का भार वायु के भार से अपने आयतन क्षेत्र में दुगुना होने की स्थिति में वृष्टि का होना अनिवार्य

है......वैज्ञानिकों ने जल के दो मूल तत्त्व हाइड्रोजन और आक्सीजन माने हैं। उनमें से हाइड्रोजन के गुण वरुण के तुल्य हैं और आक्सीजन के गुण मित्र के तुल्य हैं और दोनों से जल का जो फार्मूला वैज्ञानिकगण लिखते हैं वह H_2O इस प्रकार है। अर्थात् हाइड्रोजन-वरुण तत्त्व 1 भाग और आक्सीजन-मित्र तत्व। भाग। दोनों संख्याओं का स्तोम-समूह21 अर्थात् दो और एक (2:1) के अनुपात के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

यजु. 25/28 में भी कहा गया है कि जब होता, अध्वर्यु, आदि द्वारा उत्तमोत्तम भावों से विधिविधान से यज्ञ होता है तो उस वृष्टियज्ञ से नदी नाले तालाब कुआँ आदि भर जाते हैं। यज्ञ से सूखा, आँधी, तूफान, बाढ़ आदि पर भी नियन्त्रण सम्भव है।

उग्रश्च भीमश्च ध्वान्तश्च धुनिश्च।
सासह्वां श्चाभियुग्मा च विक्षिपः स्वाहा॥ यजु. 39/7

अर्थात् उग्र=प्रचण्ड, भीम=भयानक, ध्वान्त=गर्जने वाला, अथवा अन्धकारमय धुनिः= कम्पायमान क़रने वाला सासह्वान्=तोड़फोड़ करने वाला अभियुग्वा= सब ओर टक्कर मारने वाला विक्षिप=पदार्थों को दूर फैंकने वाले बातों से (तूफानों से) शान्ति के लिए स्वाहा=हमें यज्ञ करना चाहिए।

यजु. 38/7 में भी कहा—समुद्री वात के लिए वायु के प्रत्येक अनावश्यक और विनाशकारी वेग रोकने के लिए हमें यज्ञ करना चाहिए।

यज्ञ और आयुर्वेद—शतपथब्राह्मण में कहा है कि ऋतुओं की सन्धि में व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं इसलिए ऋतुसन्धियों में विशेष भैषज्य यज्ञ करने चाहिए। यजु. 22/18 में कहा गया कि हे औषधियों! हम प्राण, अपान और व्यान के लिए तुम्हारा हवन करते हैं। तुम यज्ञ में आओ और हमें आरोग्य प्रदान करो। नवसस्येष्टि यज्ञ जो होलीपर्व पर किया जाता है वह भैषज्य यज्ञ ही है। अथर्व 3/11 में स्पष्ट कहा है—यदि आयु नष्ट हो रही है। मृत्यु समीप आ गई है, ऐसी सभी अवस्थाओं में मृत्यु की गोद से निकल कर सौ शरद् पर्यन्त जीवन के लिए तेरा यज्ञ एवं हवि से सुसंस्कृत हाथों से तेरा मैंने स्पर्श किया है।

वस्तुतः अग्नि महाशक्तिशाली तत्त्व है। वेद (साम.1/2/7(103) स्वयं कहता है—हे मनुष्य! तू अग्नि के गुणों का प्रकाश कर जो सबका उपकार करता है। जो जातवेदा है जिसका धुआँ चतुर्दिक् व्याप्त हो रहा है और जिसके तेज से लोग अवगत नहीं हैं।

वेद हमें स्वयं सन्देश दे रहे हैं कि इस विलक्षण सृष्टि की विलक्षणता एवं रहस्य को हम समझने का प्रयास करें और अपने कलाकौशल, बौद्धिक बल से अग्नि और जल आदि से विविध कार्य लेकर सांसारिक अभ्युदय की ओर अग्रसर हों।



डोगरा कला संग्रहालय में पाण्डुलिपियाँ–एक विवेचन

–डॉ. संगीता शर्मा

भारत एक ऐसा देश है जो अपनी कला, संस्कृति एवं सांस्कृतिक धरोहरों के लिए विश्व भर में प्रसिद्ध है। सहस्रों वर्ष पूर्व की ओर यदि दृष्टि डाली जाए तो हम देखते हैं कि भारत में ज्ञान की आश्चर्यजनक समृद्धि थी। अधिकतर यह ज्ञान विभिन्न क्षेत्रों अथवा बौद्धिक कार्यकलापों से सम्बन्धित था। उस समय छापेखाने का आविष्कार नहीं हुआ था। लोग हाथ से ग्रन्थ लिखा करते थे। नगरों की गलियों में पाँच-पाँच व सात-सात लोगों की टोलियाँ घूमा करती थीं उनसे लोग ग्रन्थ लिखवाया करते थे। यही हाथ से लिखे हुए ग्रन्थ पाण्डुलिपियाँ कहलाए। तब समाज में इन पोथियों की पूजा का प्रचलन था। बाद में जब छापाखानों का आविष्कार हुआ तो पाण्डुलिपियों की उपेक्षा होने लगी। देश की सामान्य जनता और शिक्षित वर्ग दोनों की ओर से ही पाण्डुलिपियों की ओर उपेक्षावृत्ति बरती जाने लगी। आज भी जिनके पास पाण्डुलिपियाँ होती हैं वे उनके बारे में पूछने पर उन्हें दिखाते नहीं हैं। इन ग्रन्थों की स्वयं सुरक्षा नहीं करते और न ही दूसरों को करने देते हैं। उन्हें दान भेंट में नहीं देते और न ही उन्हें बेचते हैं। बहुत से लोग धन के लोभ में विदेशियों को बेच देते हैं। इन अमूल्य रत्नों की दुर्दशा देखकर मन में दुःख होता है कि हमारी प्राचीन संस्कृत और सभ्यता के चिह्न किस प्रकार कालकवलित होते जा रहे हैं।

ये ग्रन्थ विभिन्न भारतीय भाषाओं की लिपियों में लिखी गई हैं जो भोजपत्र, ताड़पत्रों, पत्रों, कपड़े, लकड़ी, शिला, चर्मपत्रों और धातु आदि के रूप में हैं। अभी भी विभिन्न शैक्षिक संस्थानों, मन्दिरों, मदरसों, महलों, ज्ञान-भण्डारों, विद्यापीठों, अभिलेखागारों, संग्रहालयों तथा व्यक्ति विशेष द्वारा स्वयं पाण्डुलिपियाँ संग्रह की गई हैं। पाण्डुलिपिविज्ञान में निपुण विद्वान् डरते हैं कि प्रायः सभी ताड़पत्र तथा भोजपत्र पर लिखे हुए लेख भविष्य में समाप्त हो जाएंगे अथवा नष्ट होने के कगार पर हैं। जलवायु तथा भारत की दीमकें दोनों पाण्डुलिपियों का नाश कर रहे हैं। शास्त्रियों की वृद्ध प्रजाति समाप्त हो रही हैं, युवावर्ग की अपने राष्ट्रीय साहित्य के अध्ययन व परिरक्षण में अभिरुचि समाप्त हो रही हैं; और यह कहना उचित होगा कि यदि कोई प्रेरणादायक कदम न उठाया गया तो वर्तमान में प्रचुरता से प्राप्त सम्पदा आने वाली पीढ़ी में हमेशा के लिए लुप्त हो जाएगी।

जम्मू का डोगरा कला संग्रहालय एक ऐसा संस्थान है जिसने इस लुप्त होती बहुमूल्य सम्पदा को बचाने का बीडा उठाया है और वह अपने इस कार्य में सफल भी हुआ है। डोगरा कला संग्रहालय की स्थापना 18 अप्रैल 1954 में हुई तथा इसका उद्घाटन भारत के प्रथम राष्ट्रपति राजेन्द्र

प्रसाद द्वारा किया गया था। यद्यपि इस संग्रहालय में डोगरा कला तथा संस्कृति से जुड़ी हर वस्तु मिलती है तथापि यहाँ पाण्डुलिपियों का भी बहुत बड़ा भण्डार है। कुछ पाण्डुलिपियाँ ऐसी हैं जो विद्वानों द्वारा स्वेच्छापूर्वक दान में दी गई है और कुछ प्रतिवर्ष संग्रहालय द्वारा खरीदी जाती हैं। ये पाण्डुलिपियाँ वेद, धर्मशास्त्र, दर्शन, महाकाव्य, ज्योतिष तथा आयुर्वेद आदि विभिन्न विषयों में हैं। ये विभिन्न लिपियों जैसे देवनागरी, शारदा, गुरुमुखी, फारसी और अरबी में हैं।

फारसी में लिखे गए ग्रन्थ शाहनामा और सिकन्दरनामा की दुर्लभ पाण्डुलिपियाँ डोगरा कला संग्रहालय में मिलती हैं। इन ग्रन्थों की लेखन शैली अद्भुत है तथा हाथ से बने हुए सुन्दर चित्र देखकर व्यक्ति मन्त्रमुग्ध हो जाता है। शाहनामा कश्मीर के कल्हण की राजतरंगिणी से मिलता-जुलता है तथा हकीम अब्दुल कासिम फिरदौसी द्वारा लिखा गया है। शाहजहाँ के समय (1654 A.D.) सैय्यद जलालुद्दीन बुखारी ने इसको हाथ से लिखा। इस पाण्डुलिपि में तत्कालीन राजा रुस्तम तथा उसके वंश की गौरवगाथा को प्रस्तुत किया गया है। फारस की प्राकृतिक सुन्दरता का वर्णन करते हुए फिरदौसी मस्त हुए से दिखते हैं। इस महाकाव्य की पराकाष्ठा रुस्तम और सोहराब का द्वन्द्व युद्ध है। यह युद्ध फारसी काव्यपरम्परा में बड़ा ही लोकप्रिय है। इस पाण्डुलिपि में चित्रों की संख्या चालीस है।

सिकन्दरनामा पाण्डुलिपि अत्यन्त दुर्लभ है। यह इनायतुल्ला शीराज़ी द्वारा 1556 A.D. में लिखी गई। सिकन्दरनामा को 'पंजगंजनिज़ामी' अर्थात् 'पाँच खज़ाने' भी कहा जाता है। इसमें पाँच अलग-अलग कथाएँ हैं जिनमें हफ़्त पैकर, शीरी फरहाद, लैला मजनूं, मैकज़नी असरार तथा सिकन्दरनामा है। सिकन्दरनामा के दो भाग हैं जिनमें सिकन्दर की ज़मीनी-यात्रा और समुद्री यात्रा का उल्लेख किया गया है। इस पाण्डुलिपि में 25 चित्र हैं।

इस संग्रहालय में देवनागरी तथा शारदा पाण्डुलिपियों का विशाल संग्रह है। काव्यप्रकाश, अध्यात्म-रामायण, गीत गोविन्द, शब्देन्दुशेखर टीका सहित तथा तत्त्वबोधिनी इत्यादि अनगिनत देवनागरी पाण्डुलिपियाँ हैं। सामुद्रिक शास्त्र अत्यन्त प्राचीन एवं दुर्लभ पाण्डुलिपि है। धर्मशास्त्र में आसुरीकल्प, वनोत्सर्ग, स्मृतिसमुच्चय, विष्णकीर्ति, अशौचसंग्रह, अमावस्या, उद्यापन इत्यादि पाण्डुलिपियाँ हैं। शैवी अन्नपूर्णा विधानम् शारदा लिपि में शैव दर्शन पर आधारित पाण्डुलिपि है जिसे अत्यन्त दुर्लभ की संज्ञा दी जा सकती है। इसके अतिरिक्त आदित्यहृदय स्तोत्र, शैवी मन्त्र शास्त्र, शैवशास्त्र, शिवनामसहस्रम, किरातार्जुनीयम्, श्लोक तर्पणम्, तन्त्र समुदाय, शैव द्वीप श्राद्धविधि, जातकविधानम्, उत्पलस्तोत्रावली, अर्गला स्तोत्र, मूलशान्ति पद्धति, इत्यादि पाण्डुलिपियाँ हैं।

महाभारत की एक विशाल एवं 22 कि.ग्रा. की पाण्डुलिपि है जिसमें 3704 पत्र हैं व सम्पूर्ण ग्रन्थ है। यह महाकाव्य पाण्डुलिपि बहुत ही अच्छी अवस्था में है तथा मंगलाचरण से लेकर पुष्पिका तक सभी पत्र (18 पर्वों में) बिल्कुल सही हैं। 'ललवाख़' नामक ग्रन्थ शारदा लिपि में है जो भुर्जपत्र पर लिखा गया है। यह एक पूर्ण तथा दुर्लभ पाण्डुलिपि है।

गुरुमुखी लिपि में लिखी हुई कई पाण्डुलिपियाँ डोगरा कला संग्रहालय में हैं। श्रीमद्भगवद्गीता

गुरुमुखी में है, इसके अतिरिक्त 'गुरु महिमा' तथा और भी अन्य पाण्डुलिपियाँ इस लिपि में है। सोलहवीं शती का ताड़पत्र पर लिखा गया 'स्कन्द पुराण' है जिसकी लिपि देवनागरी तथा भाषा संस्कृत है। यह पुराण सम्पूर्ण है और अच्छी अवस्था में है।

टाकरी लिपि में लिखे हुए बहीखाते संग्रहालय के पाण्डुलिपि भण्डार में हैं। पत्र एवं राजकीय सन्धिपत्र भी मिलते हैं जिन पर दिए गए 17वीं शताब्दी के मध्य के समय का ज्ञान होता है।

इस प्रकार डोगरा कला संग्रहालय में अनुमानतः आठ सौ पाण्डुलिपियाँ हैं जो ज्ञान का समृद्ध भण्डार हैं। इन पाण्डुलिपियों को भली प्रकार से संरक्षित करके रखा गया है ताकि साहित्यप्रेमी तथा शोधार्थी इनका पूर्ण लाभ उठा सकें।



वैदिक साहित्य में परिवार

डॉ. वन्दना वागीश्वरी

मनुष्य चिन्तनशील प्राणी है। वह एकांकी नहीं रह सकता। परिवार उसका प्रथम आधार है। संरचना की दृष्टि से वैदिक परिवार मौलिक और आदर्श परिवार दिखाई देता है। उसका विकास इस ढंग से हुआ है कि जिससे परिवार संयुक्त रह सके। वस्तुतः परिवार की परिकल्पना विश्व को वेदों की मौलिक देन है क्योंकि विश्व की अन्य भाषाओं में भी माता-पिता आदि पारिवारिक सम्बन्धों के लिए वैदिक भाषा के अनुकरण पर ही शब्द गढ़े गए हैं। परिवार के सुसंगठन हेतु विवाहोत्सव में पुरोहित मन्त्रों द्वारा वधू को आशीर्वचन देते हैं कि तुम (दम्पती) यहाँ साथ-साथ रहो, तुम कभी पृथक् न होवो, तुम दीर्घजीवन वाली हो, अपने घर में पुत्रों और पौत्रों के साथ खेलती हुई प्रसन्न हो। हे इन्द्र! इसे योग्य पुत्र और सम्पत्ति दो, तुम अपने श्वसुर, सासु, देवर और ननद पर पक्षपात रहित सुहृदया रानी के समान शासन करो।[1]

उस समय वैदिक-परिवार पितृ-प्रधान संयुक्त प्रणाली पर आधारित थे। जिसमें कुटुम्ब के नायक, पिता सहित उसके सभी पुत्र-पौत्र साथ-साथ रहते थे।[2] अतः परिवार में सन्तुलन बनाए रखने के लिए परस्पर व्यवहार कैसा हो, इस पर चिन्तन करते हुए कहा गया है कि पुत्र अपने पिता के अनुरूप व्रतधारी एवं माता के मनोनुकूल बने। पत्नी पति से सदा मधुर और शान्तमयी वाणी बोले। भाई-भाई से द्वेष न करें, बहन-बहन के प्रति स्नेह से भरी हों एवं सभी समान व्रतों का अनुसरण करते हुए प्रेमपूर्वक व्यवहार किया[3] करें और परस्पर मित्रभाव से देखें।[4] तुम्हारा जल पीने का स्थान एक हो और तुम्हारे भण्डार व सम्पत्ति भी संयुक्त हो, जिस भाँति रथ-चक्र के अरे, उसकी नाभि से जुड़े रहते हैं, उसी भाँति तुम भी एक साथ संयुक्त और प्रगतिशील बनकर यज्ञ-कर्म का सम्पादन किया करो।[5] अर्थात् तुम्हारे यहाँ कभी भी गृह-कलह आदि के लिए कोई स्थान न हो।

---

1. क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्व गृहे (ऋग. 10/85/42, 45, 46, 82)
2. अथर्व 2/30/1-3, 4/5/3-6
3. अथर्व 3/30/2-4 (दयानन्द भा.)
4. मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे। यजु. 36/18 (दयानन्द भा.)
5. ऋग. 10/191/2-4, अथर्व. 3/30/5-6

पति-पत्नी–पितृ-प्रधान वैदिक–समान में पति परिवार का नायक माना जाता था।[1] पत्नी का भरण व रक्षण पूरी तरह से उसी पर निर्भर रहता था। पति स्वयं पाणिग्रहण के समय पत्नी की रक्षा और पालन का व्रत लेता था।[2] वस्तुत: 'पति' का अर्थ ही पालक है।[3] पति को देवता के समान पूज्य माना गया है वही पत्नी का आधार है[4] इसलिए समाज में पति की स्थिति के अनुरूप ही पत्नी को आदर मिलता था।[5]

पत्नी शब्द की व्युत्पत्ति से ही सिद्ध है कि पत्नी उसी को माना गया है, जो यज्ञ और फल में भागीदार हो,[6] तथा जो पति के साथ अथवा विशेष स्थितियों में अकेली भी यजन-कार्य करने में स्वतंत्र हो।[7] इस संयुक्त कर्त्तव्य के कारण ही उसे सहधर्मिणी और पाणिगृहीतिका कहा गया है। इतने घनिष्ठ सम्बन्धों के फलस्वरूप ही शास्त्रों और लोकाचार द्वारा उसे अर्धांगिनी की पद्वी प्रदान की गई है।[8] उसका महनीय कार्य वंश-परम्परा हेतु सन्तान-प्राप्ति माना गया है।[9]

वस्तुत: घर की आधार-शिला वही है, इसलिए उसे 'सुगृहिणी' कहा है। अत: ऋग्वेद में उसे घर की आत्मा, ज्योति और सम्राज्ञी की उपाधियों से विभूषित किया गया है।[10]

माता-पिता

पिता–पति पत्नी ही पुन: माता-पिता की भूमिकाओं में अवतरित होते हैं। पिता परिवार का मुखिया था, जो कुटुम्ब का संचालक और संरक्षक भी था। अत: वेद में पिता के लिए प्रयुक्त 'कुलया' विशेषण का अर्थ गृहरक्षक ही ज्ञात होता है।[11] जो अन्न व सत्कार से सन्तान का रक्षण करे वही पिता है।[12]

संक्षेप में वेदों में पिता सन्तान का जन्मदाता, भोजन प्रदाता और रक्षक रूप में वर्णित है।[13] सम्भवत: इसी सम्मान के कारण उसे आकाश से ऊँचा कहा गया है।[14] माता की प्रशंसा और सम्मान

---

1. अथर्व 2/30/1-3
2. ममेयमस्तु पोष्या। अथर्व. 14/1/52
3. मेधातिथि (मनु. 5/153); 3/10, तु. सत्यार्थ प्रकाश 4 समु. पृ.110 (वे. ती. भाष्य)
4. पूज्यो देववत्पति:। मनु. 1/154
5. आपस्तम्ब धर्म. सू. 1/4/14/18
6. पत्युर्नो यज्ञसंयोगे। पाणिनि-4/1/33, महाभाष्य भाग-2 पृ.214
7. ऋग. 1/172/5,5/32, अथर्व 11/1/17-27
8. शत-5/2/1/10, ऐ ब्रा. 1/2/5, तै. स. 6/1/8/5
9. अथर्व 5/25/3
10. ऋग. 10/85/46, 3/53/4
11. ऋग. 10/179/2 (दयानन्द भा.)
12. अथर्व. 6/68/2, रक्षणाद् भरणाद्। स: पिता रघु 1/24, व्यवहारभानु
13. ऋग. 4/17/17, 10/48/1
14. महा. अनु. 105/14-16

में बहुत कुछ कहते हुए उसे सहस्र पिताओं और आचार्यों से बढ़कर कहा गया है। अतः मानव-निर्मातृ-शक्ति माता को वैदिक समाज में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। माता सर्वप्रथम गुरु और सन्तान के मन को जान लेने वाली देवी होती है।[1] माता का शिशु से न केवल भौतिक अपितु संवेदनीय और आत्मीय सम्बन्ध भी है। मनोवैज्ञानिक रूप से माता के विचारों और संस्कारों को शिशु पर गहरा प्रभाव पड़ता है। तभी तो सन्तान को आत्मज कहा गया है।[2] माता शिशु-काल की शिक्षिका भी है। अतः जिसे प्रशस्ता और धार्मिक माता मिले, वही मातृमान् और सौभाग्यशाली माना गया है। माता परिवार का केन्द्र है, इसलिए वेदों में उसका अभिनन्दन किया गया है।[3] अतः जीवन में माता के महत्त्व को देखते हुए वेद ने पुत्र को सदा माता के अनुकूल रहने का आदेश दिया है।[4] वस्तुतः माता आदर एवं वात्सल्य की प्रतिमूर्ति है। इसलिए वह स्वर्ग से महान् पृथ्वी से बड़ी और परमात्मा की प्रतिनिधि मानी गई है।

पुत्र-पुत्री

पुत्र–वेदों के अनुसार विवाह का प्रयोजन देव-यजन और सन्तानोत्पत्ति है। अतः आर्य लोग सन्तान-कामना से ही विवाह करते थे।[5] पुत्र-प्राप्ति की कामना भी इसीलिए करते थे ताकि परिवार-परम्परा अक्षुण्ण रहे। उसी से पुत्र-धर्म का निर्वाह एवं पितृ-तर्पणादि धार्मिक क्रियाएं जीवित रह सकती थी। वही सम्पत्ति का उत्तराधिकारी भी था।[6]

पुत्र ही उत्पन्न होकर अपने पिता को प्रजापति एवं माता को पुत्रवती बनाता था और उन्हें पितृ-ऋण से मुक्त कर, स्वर्गद्वार खोलता था। पुत्र अपने पिता को 'पुम्' नामक नरक से बचाता था।[7] वह उत्तम दानों का फल और स्वर्ग की ज्योति माना गया है। वस्तुतः पुत्र का उद्देश्य दुःख से बचाना है। अतः पुत्र-हीनता की अवस्था में पुत्र-लाभ के लिए पुत्रेष्टि-यज्ञ का विधान मिलता है। सभ्य युवा और वीर पुत्र देश की उत्तम निधि है। इसलिए इसे राष्ट्र का एक अनिवार्य तत्त्व माना गया है।[8]

पुत्री–संहिता-काल में पुत्र और पुत्री में भेद नहीं था। वैदिक-काल में बालकों के समान बालिकाओं के भी उपनयन आदि संस्कार किए जाते थे।[9] उनके लिए भी गुरुकुलों की व्यवस्था

---

1. नास्ति मातृसमो गुरुः (महा. शां. 343/18) महा. आदि 37/4
2. तस्यामात्मानुरूपयामात्मजन्मसमुत्सुकः। रघु 1/33
3. त्वं बाता शतक्रती वभूविथ। ऋग. 8/98/11, महा. वन. 313/60
4. मात्रा भवतु सम्मनाः अथर्व-3/30/2 (दयानन्द भा.)
5. ऋ. 10/85/45, 1/84/24, तु. वसिष्ठ ध. सू. 17/28-29 शत. 12/4/3/1
6. ऋ. 10/85/25 मनु. 3/72
7. मनु 9/138
8. आश्वलायन श्रौ. सू. 2/10/8-9 यजु. -22/22
9. अष्टा 1/2/68, आ. ध. सू. 2/6/14/1

थी, जहाँ वे ब्रह्मचर्यपूर्वक शिक्षा ग्रहण कर सकती थी।[1] एवं ऋषिकाएं और ब्रह्मवादिनियाँ भी बन सकती थी। इसलिए विदुषी पुत्री की कामना की गई थी।[2] कुमारियों को पूत एवं शुभ माना गया है एवं उनके नाम के साथ 'देवी' शब्द लगाया जाता है।[3]

उत्तराधिकार की दृष्टि से औरस-कन्या को दत्तक-पुत्र से श्रेष्ठ माना गया है।[4] यदि किसी की सन्तान केवल कन्याएं ही होतीं, तो वे ही पितृ-सम्पदा की उत्तराधिकारिणी मानी जाती थीं।[5] क्योंकि यदि पुत्र व्यक्ति की आत्मा के समान है तो उसकी पुत्री उस पुत्र के समान है।[6] अर्थात् इस दृष्टि से पुत्र-पुत्री सम्मान माने गए हैं इसलिए यदि कोई कन्या विवाह न करके पितृ-कुल में रहती थी, तो भाई होने की अवस्था में भी पितृ-सम्पदा में उसका भाग सुरक्षित था।[7]

उस समय भी कन्याओं के विवाह में उन्हें नाना प्रकार के वस्त्राभूषणों के साथ विदा किया जाता था। विवाहोपरान्त भी वे धन-अनुदान आदि हेतु पितृकुल में आया करती थी।[8]

इस प्रकार वैदिक साहित्य का पर्यालोचन करने के पश्चात् यह अनुभव होता है तत्कालीन समाज में जहाँ पुरुष को कुटुम्ब का नेता माना जाता था वहीं नारी को भी सम्मानीय स्थान प्राप्त था। उसके बिना किसी प्रकार की भी धार्मिक क्रियायें सम्पन्न नहीं हो सकती थी। पुत्री को भी पुत्र के समय अधिकार प्राप्त थे। वह उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकती थी। अतः इसीलिए वैदिक परिवार समुन्नत एवं सुखी दिखाई देता है।



---

1. ऋ. 10/71/7 अथर्व. 11/5/18
2. बृह. उप. 6/4/17
3. रघु 2/10
4. ऋ. 7/4/8 निरू. 3/5 आपस्० ध. सू. 3/6/14/4
5. महा. अनु. 45/11, महा. आदि 111/2-3
6. निरू. 3/3-4, मनु. 9/130
7. ऋ. 2/17/7
8. ऋ. 1/124/7

Man, God and Nature in Indian Tradition

Satya Vrat Shastri

From times immemorial certain natural phenomena so overawed man that he thought that they would not be possible without some superior force behind them. That force, the nameless one, he gave the name 'God.' The sun, the moon, the fire, the wind, the thunder, the clouds, the waters he deified and started worshipping them. The early deities in the Vedas are nothing but the natural phenomena deified. It is to these the prayers in the form of the hymns are addressed.

The poet laureate of India Kālidāsa while invoking the grace of Śiva in the first stanza of his immortal play the *Abhijñānaśākuntala* refers to his eight forms all of which, with the exception of one, the sacrificer, are the natural phenomena: the water, the fire, the sun, the moon, the sound, the ether, the air and the earth.

It is ingrained in Indian psyche to deify everything exalted and grand. Says the Lord in the *Gītā*: "Whatever is glorious, excellent and preeminent, verily know, that is born of a portion of my splendour."

Even the mountains are deified in India. Kālidāsa in his *Kumārasambhava* speaks of Himālaya as a divine soul, *devatātman*. Lord Kṛṣṇa in the *Gītā* calls it 'His Own Form'. Mythology invests it with being the father of Pārvatī, the consort of Śiva who practised penance on it. It is a hub of many a divine and semi-divine being, the Devas, the Gandharvas, the Kinnaras, the Siddhas. It was one of its cedar trees, the Devadāru, literally, the divine wood, that Lord Śiva had adopted as His son whom his consort Pārvatī Herself watered. Any harm coming to it would hurt Her as much as it would to Her when Her son Skanda would be smitten with the arrows of the demons.

According to the *Skandapurāṇa* the mountain is said to have a wife called Menā and a son and a daughter called Maināka and Pārvatī. It is this mountain that had provided the route to the Pāṇḍavas when they thought that it was time for them to shed their mortal frame.

It is not only the mountains, even the rivers have also been invested in India with the character of divinity. Of all the rivers the Gaṅgā is the most sacred one. According to mythology it came down first from heaven into the matted locks of Śiva. It was from there that King Bhagīratha brought it to the earth. It is worshipped

and eulogized in countless hymns. A bath in it-this is true of many other rivers, ponds and lakes too–is considered to purge oneself of all sin. It is a sight to see the worship, Āratī, being offered to it to the accompaniment of offerings of flowers, the earthen lamps, incense sticks and other objects and the chanting of prayers on the Ghats, the steps, of Rishikesh, Hardwar and Varanasi by devotees in all reverence, the river being addressed as Mother. The Gaṅgā together with Yamunā, Kṛṣṇā, Kāverī is considered to be leading to salvation, *mokṣadāyikā,* a bath in which, therefore, is most coveted by the devout.

Apart from mountains and rivers, even the trees and plants have also been invested with divinity. The Lord proclaims in the Gītā the Aśvattha, the Peepal tree, of all other trees, as His very form, *aśvatthaḥ sarvavṛkṣāṇām.* It is said that one who plants five *āmras,*–literally the word means mango but in its extended meaning covers all holy trees which number according to two different enumerations as recorded in the *Tithitattva* and the *Varāhapurāṇa* twenty-three and seventeen respectively, though the term *pañca* would restrict it to five, *pañca* meaning five which would have to be indicative, *uplakṣaṇa,* only and not specific–does not go to hell. The godhood inherent in them precludes that. So it is all the reason to plant them. Now, mere planting of them is not enough. They have to be nurtured by watering. While their watering would ensure their proper growth, to the one watering them it means an added advantage of propitiating the manes : *āmrāś ca siktāḥ pitaraś ca prīṇitāḥ.* A special kind of relationship is also sought to be established between certain gods and certain plants. The Tulasī, the basil plant and its leaves are very dear to Viṣṇu. According to an old stanza where there is a bed of basil plants (and community singing of the praise of the Lord and the congregations of His devotees) the Lord is present there Himself :

tulasīkānanaṁ yatra hareḥ saṅkīrtanaṁ tathā/
tadbhaktasamavāyaś ca tatra sannihito hariḥ//

It is plantain or banana that is dear to Śiva : *kadalī śaṅkarapriyā.* Besides betelnut, arecanut, mango leaves and bilva leaves are considered sacred and are used in offerings to God. Of the types of grass, it is *kuśa* that steals the palm, its mats occupying the place of pride in auspicious ceremonies.

The gods, whom the Indians worship, have by and large birds or animals as their vehicles: Śiva bull, Gaṇeśa rat, Skanda or Murugan peacock, Pārvatī lion, Viṣṇu Garuḍa, Brahmā swan. Since he helped Rāma, Hanumān, the monkey, is worshipped. In spite all their pranks and havoc caused by them people would generally prefer not to kill monkeys or hurt them, they coming of the race of Hanumān whom they revere. Since times immemorial cow supplying the most

important of the nutrients to man in the form of milk, butter and most important of all *ghee*, the all-important ingredient for *homa*, has been considered sacred and its slaughter is simply not acceptable.

There is a very interesting episode in the Vālmīki *Rāmāyaṇa* which shows man's connectivity with God and nature. Rāvaṇa, the demon ruler of Laṅkā, had abducted the wife of Rāma, the Ayodhyā prince who was in exile as per the machinations of his step mother. Rāma invaded Laṅkā to recover his wife. Rāma and Rāvaṇa were engaged in a do or die battle. The all-knowing sage Agastya who had joined the countless gods and divine beings to witness it approached Rāma. Seeing him utterly exhausted and yet facing Rāvaṇa who was ready for a fresh encounter, he spoke to him: 'O Rāma, the mighty-armed one, listen (to this) eternal secret whereby you shall vanquish all your foes in battle. The secret is the holy hymn to the presiding deity of the sun. If chanted with all your heart it will ensure the destruction of all your enemies and bring you victory and unending happiness'. The hymn is called in the *Rāmāyaṇa* as *Ādityahṛdayam*. It is natural to take a pause and ask the question as to what the sun has to do with the battle and its outcome. One has first to appreciate the context in which the *Ādityahṛdayam* occurs in the work. Sage Agastya recites it to Rāma because he realized that the latter was feeling low and needed to be reenergized for the battle ahead. So he asked Rāma to meditate on the great light and heat of the sun that promotes life and well-being and is, therefore, the prime source of energy. This process unites Rāma's mind with the great 'world energy' and revives his own depleted powers. There is a direct connection between nature, the sun, the god, the presiding deity of it, the source of all energy and man. There is also an important message ingrained here : Even if a deity were to assume a human figure, Rāma is considered an incarnation of Viṣṇu; he has to connect himself with nature and the god controlling it.

In India the earth is accorded the status of god-mother. In the Pṛthivīsūkta of the *Atharvaveda* the seer proclaims that he is the son of the earth : *mātā bhūmiḥ putro ahaṁ Pṛthivyāḥ*. In India in the traditional families forgiveness is begged of the earth for setting foot on it in the morning after leaving the bed, the earth, the mother, the adored, the revered:

> *samudravaśane devi parvatastanamaṇḍale/*
> *viṣṇupatni namas tubhyaṁ pādakṣepaṁ kṣamasva me//*

"O ye. The goddess, the consort of Viṣṇu, with the oceans as thy girdle and the mountains as thy breasts, obeisance be to thee, (please) forgive me for setting feet on thee.''

The same kind of forgiveness is begged of a tree by a carpenter for cutting and sawing it for the wood needed for fashioning doors and windows of a house with the words 'whatever beings may be dwelling here may shift to another locale after receiving properly made offerings and forgive me with a bow from me'.

yānīha bhūtāni vasanti tāni
baliṁ gṛhitvā vidhivat prayuktam/
anyatra vāsaṁ parikalpayantu
kṣamasva māṁ vṛkṣa namo'stu tubhyam//

While referring to the earth it may not be out of point to make a reference to an episode in the *Mahābhārata*, the encyclopaedic Sanskrit text of India. Once when King Pṛthu was on the throne, the earth went to Brahmā, the god of creation, and complained to him that the king was tormenting her. On being summoned, the king told him that he was doing so because the earth was not yielding suffcient food for his subjects. In selfdefence the earth said that it was so because the subjects had far too much exploited her upper crust with the result that her productivity had declined. Brahmā then asked the earth to assume the form of a cow to supply the milk to the subjects to hold on. This went on well for some time after which King Pṛthu went to Brahmā and told him that his subjects were feeling uneasy; they wanted shelter now. Brahmā advised that they could dig into the earth for putting up pillars for building houses but then digging has to be done gently without hurting the earth too much. The Lord also advised the earth to withstand the hurt. The above episode exemplifies the concern of the ancient Indians to soil erosion which is what the loss of the upper crust is, a fact to which the modern agriculturists and environmentalists are drawing pointed attention. Once man accepts the earth as a deity and develops a feeling of reverence for her, he has not to be harsh with her and the deity, the mother earth, has to suffer as well for the sake of her offsprings, the beings sustained by her.

For meditating on God the ancients seers resorted to the solitude of the forests. They built their Āśramas, the hermitages, in sylvan surroundings in the midst of nature preferably by the side of the rivers, lakes, ponds, springs and cascades with all kinds of animals roaming freely. It is their power of penance that as of them as were by nature hostile to each other would shed their hostility and coexist peacefully. That *yogin* is said to be perfect in whose company all kinds of hostilities cease: *yatsannidhau sarvavairatyāgaḥ*. It is said that when the great Śaṅkarācārya left his ancestral abode in search of a teacher, *guru*, he came upon in the course of his wanderings atop a hill where he saw the strange spectacle of a serpent spreading its hood to provide shade to a frog tormented by the heat of the mid-day sun on having come out of a nearby river. This is not a normal occurrence,

he thought. There must have to be something behind it, he argued it to himself. On enquiry he came to know that it was due to the presence of the seer Śṛṅgī who was practicing penance nearby. It was on this hill (top) known after the seer, the Śṛṅgīgiri, the Śṛṅgī hillock, (which popular pronunciation has converted to Sringeri) that he set up his first Pīṭha, the seat of Advaita.

There was a write-up by one Atul Moudgil in the national Daily the *Hindustan Times*, New Delhi in its issue of April 16, 2008 that on account of its relevance to the topic of our discussion here bears reproduction. "Every day before starting his daily chores my father would go to the roof with a supply of grains and feed pigeons. His belief was that God is in every creature, that every being is part of Him. So he reasoned, if we feed other creatures, be they birds, animals or fellow human beings, we would actually be feeding our own selves. Right through his life he kept to this routine feeding pigeons first thing in the morning. And indeed the pigeons seemed to know him well and his intentions towards them and would wait in flocks on the roof for their daily feed.

Whenever my Dad was not at home or out of station and could not keep to the routine, it was my appointed task to take the place and climb the roof every morning with the daily birdfeed. The birds would happily accept the feed from me.

When my father died, I immediately took over the feeding of the pigeons. I did not want them to miss their meal even for a day. Given my father's attachment to the task. But to my utter disbelief the pigeons did not touch the grain. They would gather on the roof but go away without pecking at so much as one grain. This abstinence continued for almost ten days, after which they resumed feeding. This routine continues uninterrupted till now.

What was their reason, we wondered. The pigeons would eat when my father was out of station or not at home, but why did they stop when he died? Did they know that the person who fed them all his life was no more and they were mourning his death? Or was it just coincidence? I believe it was not coincidence. According to my Dad's belief and philosophy, we are all connected with each other at various planes. This connection could be with birds, animals and plants. The world is full of many spiritual possibilities."

In India it is a common sight to see people feeding birds and animals in the hope of invoking the mercy of God Almighty on them to ward off the evil or the ill effect of bad fortune that may have befallen them. There was a custom still continuing in some of the more traditional families of setting apart five morsels of food before partaking of lunch and dinner, the *pañcagrāsas*, as offerings to the five Great Elements, the Pañcamahābhūtas, the earth, the air, the fire, the water and the

ether which make up the entire creation. These morsels are later offered to birds and insects that intercede on their behalf, as the belief goes, with the Great Five to bring them good luck or take away the bad one. These Five are the deified natural phenomena.

There is so much talk these days of shortage of food and the consequent spiraling of prices thereby. There is a very interesting reference to the creation of food in the *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad.* There it is said that Father (Creator), Pitā, created seven types of food, *saptānnāni... ajanayat,* through intelligence, *medhayā (=prajñānena)* and austerity, *tapasā* (*=karmaṇā*). Knowledge and austerity are the key words here. One should have the knowledge of farming but that in itself is not going to produce food. One has to strive for it, one has to apply this knowledge, put it in practice in going in for the proper soil, the right quality of seeds, the choice of the right seasons for planting, arranging adequate irrigation and so on. *Tapas* also means austerity. Whatever is obtained through the bounty of Mother Earth is to be used with austerity and is to be shared with all; they all being God's creations. No hoarding, no profiteering. This also is true of water and energy. They also have to be used with austerity. Much of the food, water and energy crises that are staring at us now would be brought under control with the world breathing a little more easy.

In Indian tradition there is intimate connect between man, God and nature. When man prays to God for peace he does not pray for peace for himself only. He does so for the upper region, the mid region, the earth, the waters, the plants, the herbs, peace and peace everywhere, *dyauḥ śāntiḥ, antarikṣaṁ śāntiḥ, pṛthivī śāntiḥ, āpaḥ śāntiḥ, oṣadhayaḥ śāntiḥ, vanaspatayaḥ śāntiḥ śāntir eva śāntiḥ.*



Defication of Nature in Vedas

Prof. Harekrishna Satapathy

Man has been trying to derive some divine energy from an invisible cosmic power for his peace, bliss and prosperity from the dawn of the civilisation. He is encountered with a series of questions relating to his identity, the nature of the creation, his relationship with the creator, mysterious aspects of his soul and this visible world and existence of a Supreme Reality or Cosmic Power, so on and so forth; for which he has been making serious efforts to find out the answers from time immemorial. Human life comes to an end, but these mysterious questions are left still unanswered. Man, in course of time, understands that his own limited strength is not sufficient for the protection of himself and his family as a result of which he takes refuge in some divine power for enhancing his own power and self-confidence. The divine power has manifested itself in various forms and attributes and the limited human mind has failed to comprehend all the dimensions despite its sincere efforts and constant concentration. Sometimes, this Cosmic Order is formless and attributeless and as such described as *Nirakara*. Although man is born free, he is ever dependant even for his own survival in the society and particularly at the time of danger and depression, which every man faces during his life time. He wants to protect himself by taking resort to some invisible power. For that purpose, he adopts his own way of invocation and absorbs himself completely in that Supreme Power. This is called spiritualism, through which human-beings try to realise the presence of supreme soul and communicate their devotion to Almighty. This spiritual bent of mind of a human being is converted to another form of spiritualism i.e. Eco-Spiritualism, when he tries to adore the Nature and communicate with Her. ***Eco-Spiritualism*** is a formidable means by which one can develop his commitment to worship ***Nature*** and not to exploit Her for his narrow self interest. It leads a human being to derive his strength from various elements of Nature, animate or inanimate, by discovering the presence of divinity, within them. This also aims at the harmonious manifestation of mother nature. This eco-spiritualism or eco-devotion is possible only when a human being is convinced of the divine aspect of the nature and that is why, serious attempts have been made by the seers and savants of this country to attribute divinity to each and every visible or invisible phenomenon of nature for which nature has been deified in the Vedas.

The Rishis of this country, after a lot of penance, have prescribed three things to be observed carefully for the existence as well as the welfare of the human society. These are meditation, love and serve. Meditation means to discover the divinity within oneself; whereas love signifies the discovery of divine entity within one's neighbours. To serve indicates the feeling of the presence of the Absolute Reality in each and every particles and molecules of the Universe. Hence, Shrimad Bhagavad ***Geeta*** says -

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनञ्जय!
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥[1]

"There is nothing else besides Me, Arjuna. Like clustures of yarn-beads formed by knots on a thread, all this is threaded on Me.'' This is what eco-spiritualism, a concept found to be in existence with the appearance of human beings on the surface of the earth. This idea of omnipresence of Supreme Reality in the Universe has been clearly depicted in the Vedas in its mantra - "एकं हि सद्विप्रा बहुधा वदन्ति". The Absolute Reality is one; but the scholars describe it in various forms.

The history of India relating to man's mind to worship some power either in visible or invisible form reveals that in ancient times, when temples were not constructed and images of various deities were not carved out, religious and spiritual people were more inclined towards various forms and manifestations of Nature and were worshipping them.

The history of the construction of the temples in our country dates back to around 2nd or 3rd century A.D. But prior to that, the people having spiritual bent of mind constructed some flat-roofed stone structures without having any architectural beauty and installed some deities either in the form of stone pieces or logs of wood and started worshipping them. They also preferred to have this stone structure beneath some peculiar types of trees like ***Banyan***, ***Bel, Neem*** or ***Ashwattha*** or ***Amla*** and while offering their worship, they did not forget to put vermilion spots on the trunks of the trees and worship them thinking these natural elements as the symbols or manifestations of divine Almighty.

This tradition of unconditional devotion and immense attachment for the natural phenomena including animals, birds and plants constituted the cardinal principles of eco-spiritualism of early human society and the influence of this tradition of eco-spiritualism upon the human life and culture has been so powerful and deep-rooted that even now this system of eco-worship is visible during various

---

1. अध्यायः- 7/7

religious festivals on the occasion of which the people, instead of worshipping some formal deities, worship the animals, plants, birds or five gross elements of Nature.

The culture of eco-devotion in India is very ancient. The *Vajasaneya Samhita* of Sukla Yajurveda declares that almost all the elements such as fire, air, the sun, the moon, the earth are deities.

अग्निर्देवता, वातो देवता, सूर्यो देवता, चन्द्रमाः देवता,
मरुतो देवता, विश्वे देवो देवता, बृहस्पतिर्देवता, वरुणो देवता।[1]

Nature has stood as pre-eminent for man as object of worship from the very beginning of the human civilisation. Man, indeed, needs her resources, her flora and fauna, her mines and minerals, her earth and mountains, trees and rivers for the sustenance of his life. Ancient Indian seers, savants, saints and prophets have carefully analysed these resources and have devised meaningful avenues for conservation and preservation of these natural properties for survival of both human and animal society. This meaningful device is to deify the natural living and non-living phenomena. In Indian tradition, the people worship various natural phenomena on different festive occasions signifying the deification of these elements. Almost all the rivers like Ganga, Yamuna, Godavari, Saraswati, Narmada, Kaveri, Krishna and Vaitarini etc. have been given the status of Goddesses and people have been worshipping those rivers from time immemorial.

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरी सरस्वती।
नर्मदे सिन्धु कावेरि! जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥[2]

The mountains like Mahendra, Himalayas, Kailash, Sahya etc. which are modifications of the earth, have been narrated as deities and some of them have also been perceived as abodes of Gods in Sanskrit. The Sumeru has been pictured as ***Suralaya*** or the abode of the deities.

Even the animals are found to be associated with various gods in the tradition of this country. Elephant is a part of Lord Ganesha and the mouse is his vehicle. Similarly the swan is the vehicle of goddess Lakshmi. The *Garuda*, the king bird is associated with Lord Vishnu, the protector of the Universe. The tradition of associating Lion with goddess Durga; bull with Lord Siva, peacock with Lord Kartikeya, so on and so forth corroborates the fact that the animals have also godly virtues for which they have got close proximity with the deities. There is also a custom in the society to worship the plants and animals on specific festive occasions.

1. Vajasaneya Samhita -14/2
2. It is chanted during the time of "संकल्पः"

On Vata Savitri day, the banyan tree; during the month of Kartika the ***Tulsi*** plants, on Ekadashi the ***Bilva*** trees are worshipped. The cobra is worshipped on the eve of ***Nagapanchami*** and cows are offered adorations on the occasion of the ***Gomahapurnima*** on ***Balabhadrapuja***. All these things show how the animals and plants, without whom man cannot survive, are expected to be respected and worshipped. This also established deep relation of man, plants and animals to each other and it formed the integral part of eco-spiritualism which in reality, spreads the message of cohesive existence and mutual co-operation in the animate world.

In some places of the country, the system of eco-devotion by worshipping of earth, water, fire, air, space, animals and plants is clearly discernible and this has greatly influenced our culture. On the occasion of Raja Sankranti and Aksaya Tritiya, people offer Puja to the mother Earth and pray her for a rich and prosperous greenery. In Atharva Veda, it is told that the earth is the mother and all the people are her children--

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।[1]

In Yajurveda, the Earth is worshipped for effulgence, cultivation and well being-- त्वा वर्च्चसे त्वा कृषै त्वा क्षेमाय त्वा।[2]

The earth as mother and the sky as father of the entire mankind have been conceptualised by the saints and seers of Indian traditions only. While praying earth, we address her as our mother and we request her not to be violent for her children. In order to obtain her grace and blessings, we pledge to do good, think good and speak good. The prayer goes as follows -

"पृथिवि! मातर्मा मा हिंसी मधु मनिष्ये मधु जनिष्ये मधु वक्ष्यामि, मधु वदिष्यामि"[3] इत्यादि।

This earth has not been inherited by us from our forefathers, as opined by a great environmental scientist; but has been borrowed for our future generations.

On the festive occasion of *Akshaya Tritiya*, the beginning day of the process of cultivation for the concerned year, the people of some parts of the country, who depend mainly upon agriculture for their livelihood, go to the fields and worship the Earth with utter devotion for production of good and bumper crops.

It is to be mentioned that the earth or भूमिः is the first and foremost phenomnenon

---

1. Atharva Veda 12/1/12
2. Yajurveda - 14/21
3. Krishna Yajurveda - 3/3/2

of nature which is having eight-fold aspects including both internal and external ones. Hence, it is told in Shrimad Bhagavad Geeta regarding the concept of nature that-

> भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
> अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।[1]

This means that the *Prakriti* is divided eight-fold thus earth, water, fire, air, space, mind, intellect and egoism.

Here *Prakriti* stands for environment. In order to have a conducive atmosphere for survival of human society, purity of both the aspects of environment is badly required. The Vedas, being the embodiments and epitomes of knowledge and wisdom of the great seers and savants of this country, have elaborately dealt with these two aspects of environment. Not only the Vedas, but the entire gamut of Sanskrit literature speaks volumes regarding the significance of five visible gross elements and the subtle substance, which constitute the environment. It is worth mentioning that *Panchbhutas*, which are regarded as almost inanimate elements by the scientists, are described as living components without which the survival of mankind is quite impossible. It is only Sanskrit, that has made successful efforts to discover divinity in all these natural phenomena because of their godly qualities and proximity with Absolute Reality.

The concept of God is just a matter of strong belief and pure thought. Several philosophers have advocated in favour of the existence of God in way of arguments and counterarguments. But ultimately they have to take recourse to an invisible cosmic order which cannot be experimented within the four walls of a scientist's laboratory. In reality, God's existence depends upon the presence of divine qualities like truth, non-violence, renunciation, purity, tolerance, transparency etc. as depicted in Shrimad Bhagavad Geeta. Needless to mention that all these five elements are endowed with most of the divine virtues for which they have been deified in Sanskrit literature. The principal purpose of deification of these natural phenomena in the Vedas is to substantiate the divine virtues as possessed by them; so that the human beings will be psychologically and spontaneously prompted to develop a sense of respect towards these elements. The nature herself has been narrated as mother Goddess to be responsible for the creation of this entire universe. It is told in the Geeta that *Prakriti*, the Nature, creates this universe under the guidance of Purusa, the Primodial Being[1]. As per the Samkhya system of philosophy, Prakrti is

1. Geeta - 7/4

the uncaused cause of the world[2] and out of that *Prakrti* all the elements both subtle and gross, have emanated[3]. The five elements i.e. earth, water, space, fire and air as well as eleven organs of human beings are the products of this uncaused cause of this cosmos. Hence these modifications, being originated from the Nature, the divine mother; are nothing but the forms of divinity.

The deification of natural elements has been beautifully narrated in Shrimad Bhagavata through the famous dialogue between an ascetic of high order (*Avadhuta*) and *Yadu* of great power and intelligence. The question asked by *Yadu* to the *Brahmin* sage, who symbolized purity and transparency, goes like this-" O Sage! where did you get this highly penetrating wisdom, obtaining which you, though enlightened, go about the world like an innocent boy"[4]? Thus questioned by *Yadu*, the sacred ascetic underlined the importance of twenty four phenomena of this world from whom he claimed to learn a lot of divine virtues, while giving a reply. The ascetic answered.

"Many are my preceptors, king, selected by my keen sense, acquiring wisdom from whom I wander in the world free from all turmoil and worry. Please hear about them. The earth, the air, the sky, water, fire, the moon and the sun, the dove, the python, the sea, the moth, the honey bee, the elephant, the honey gatherer, the deer, the fish, *Pingala* (a courtesan) the osprey, the infant, the maiden, the forger of arrows, the serpent, the spider and the *Bhringa*, these twentyfour have been accepted as preceptors. From the conduct of these have I learnt all that I had to learn in this life for my good[5]. In the eye of this pure hearted ascetic, all these twentyfour elements of nature are endowed with unique divine virtues as a result of which they

---

1. मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
   हेतुनानेन कौन्तेय! जगद्विपरिवर्त्तते।। (तत्रैव - अ.9/10)
2. मूलप्रकृतिरविकृतिः महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
   षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः।। (सांख्यकारिका-3)
3. प्रकृतेर्महान् महऽहंकारस्तस्मागणश्च षोडशकः।
   तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि।। (सांख्याकारिका-22)
4. कुतो बुद्धिरियं ब्रह्मन्नकर्त्तुः सुविशारदा।
   यामासाद्य भवाँल्लोके विद्वाँश्चरति बालवत्।। (श्रीमद्भागवतम् - 11/7)
5. सन्ति मे गुरवो राजन् बहवो बुद्ध्युपाश्रिताः।
   यतो बुद्धिमुपादाय मुक्तोऽटामीह तच्छृणु।।
   पृथिवी वायुराकाशमापोऽग्निश्चन्द्रमा रविः।
   कपोतोऽजगरः सिन्धुः पतङ्गो मधुकृद्गजः।।
   मधुहा हरिणो मीनः पिङ्गला कुररोऽर्भकः।
   कुमारी शरकृत् सर्प ऊर्णनाभः सुपेशकृत्।।
   एते मे गुरवो राजन्! चतुर्विंशतिराश्रिताः।
   शिक्षावृत्तिभिरेतेषामन्वशिक्षमिहात्मनः।। (तत्रैव - 11/32-35)

occupied the position of preceptors in the heart of *Avadhuta*. In the Indian tradition, the *Gurus* are treated as Gods and as such they command uncommon respect in the society. Nobody ventures to disregard God-like Guru. These twentyfour Gurus as depicted in the *Bhagavata* can roughly correspond with the twenty four modifications of Nature of Sankhya System of Indian Philosophy. The purpose of *Maharshi Veda Vyasa*, who is also regarded as the compiler of the four Vedas, by presenting these twentyfour components as God-like Gurus of the mankind, is to create a sense of reverence towards the earth, the air, sky, water, fire and other animate and inanimate beings of the world. These elements constitute the environment where man lives. Man attains peace and bliss; tranquility and prosperity in his life, when he tries to learn the good qualities from his surroundings after having shown utmost respect to them. Disrespect to the natural resources leads to pollution and disharmony of the atmosphere where man finds himself difficult to survive. In our tradition of various rituals, all the five gross elements of nature have also been associated with five deities i.e. Pancha Devatas. It is said -

आकाशस्याधिपः विष्णुरग्नेश्चैव महेश्वरी।
वायोः सूर्यः क्षितेरीशः जीवनस्य गणाधिपः॥

Lord Vishnu is the substratum of space; Goddess Maheswari is of fire; the Sun-God is of air; Shiva is of earth and Lord Ganesha is of water. This is how the five famous deities of Hindu Pantha are associated with the five gross elements.

The basic principle of chanting a Vedic hymn is to first locate its three associates i.e. *Rishi, Chandas* and *Devata*. The rule of the chanting demands that one should not utter any Vedic mantra without knowing the *Rishi, Chandas* and *Devata*.[1] The concept of deity in Vedic literature is quite mysterious. Some-times deities have been personified and they have been described just as human beings having various parts of the body like head, eyes, beard, hands, legs etc. Some advocate that deities are nothing but prototypes of various aspects of human nature. For example - Agni symbolizes elan vital of human beings; God Indra represents the mind; air stands for all the sense and motor organs of a man, so on and so forth. According to Bloomfield, the noted linguist of the world; Vedic deities can be classified into five categories. They are 1) Pre-historic 2) Transparent 3) Translucent 4) Opaque and 5) Abstract or symbolic. However, almost all the exponents of the Vedas agree on one point that each individual natural phenomenon is a deity.

Nature has been perceived by the ancient Indian seers from different angles

1. अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेद् जपेद् वाऽपि पापीयान् जायते तु सः॥

out of which two important meanings deserve special mention i.e. as creator and as creation. Nature or *Prakriti* as creator is that which is in its own form, the first, the original, the basis, the natural state. In this shape, Nature stands in a higher footing than that of the status of a mere deity. As Jagadguru Acharya Shankara points out that the Nature is neither Goddess *Saraswati*, nor *Laxmi* nor *Parvati*; but she; being the root of all; inaccessible to the common mind; controls the entire universe through her incomprehensive and unlimited prowess[1]. It is the material cause, that from which something is born or comes to be, the basis from which innumerable forms are produced. The most important synonyms of *Prakrti* in *Samkhya* and *Yoga* are *Pradhan*; the principal or foremost and *Avyakta*, the unmanifest principle, the principles of creation. Whether it is creator or creation, nature stands, for the environment.

Earth or *Bhumi* means the wide world, ground, site, region, soil, clay, the cosmic elements of solidity. It is the ecosphere familiar to all human beings and the solid ground on which all animate beings flourish and inanimate beings exist. The earth supplied animate beings with their food, water and other necessities of life and takes utmost care of them as a mother looks after her children.

In Taittiriya Upanishad, the earth has been told to be created from water which originated from Agni, the fire god. The creator of Agni is *Vayu* or the air god and of *Vayu* is *Akasa*; the sky god. All these godly elements i.e. earth, the air, the water, the fire and the sky have originated from a cosmic order. When the creator is divine, there is no reason for which the creation i.e. earth will not be divine.

The necessity of divine earth in respect of survival of man-kind has been narrated in various ways in several places of *Rigveda*. Besides dedicating a small hymn of three stanzas exclusively to *Prithivi*, the Rigveda mentions it in compounds like द्यावापृथिवी, रोदसी, क्षौणी and like in conjunction with heaven or the sky with reference to them as cosmic parents.[2]

---

1. गिरामाहुर्देवीं द्रुहिणगृहिणीमागमविदो
   हरेः पत्नीं पद्मां हरसहचरीमद्रितनयाम्।
   तुरीया काऽपि त्वं दुरधिगमनिःसीममहिमा
   महामाया विश्वं भ्रमयति परंब्रह्ममहिषी।। (सौन्दर्यलहरी - 97)
2. ऋतं दिवे तदवोचम् पृथिव्या अभिश्रावाय प्रथमं सुमेधाः।
   पातामवद्याद् दुरितादभीके पिता माता च रक्षतामवोभिः।
   इदं द्यावा पृथिवी सत्यमस्तु पितर्मातर्यदिहोपब्रुवे वाम्।
   भूतं देवानामवने अवोभिर्विद्यामेवं वृजनं जीरदानुम्। (ऋग्वेदः- 1-185-10-11)

In *Maitrayani Samhita*, the earth has been described as "देवयजनी" adorable by deities and औषधीनां मूलम्, the source of all kinds of medicinal plants.[1] As per the Vedic concept, the earth is our mother, the heaven is our father and the sun is our grandfather[2]. In a society, mother occupies the key position. She tolerates all kinds of troubles and tribulations for her child, sacrifices everything, cares and brings him up. Therefore the grown up children owe a lot to their respected mother. The Vedic seers have contemplated an earth that should be characterized by peace and prosperity.[3]

The earth is the source of food and shelter. She is the fertile field which is impregnated by rain water. Sometimes heaven fertilises the earth by the descent of moisture and light and then both nourished living beings in the form of rain and vegetation. The concept that the foundation of earth is Truth and Cosmic Order (*ṛta*) is more clearly expressed in the famous hymn to the Earth in the *Atharva Veda*[4]. The Vedic version is that the great truth, formidable night, conservation, penance, Brahman and sacrifice sustain the earth.

Earth is a natural phenomenon, by whose odour, the special quality of earth, man becomes sweet as mentioned in the Atharva Veda[5]. The prayer goes as follows: "Scent that has plants and waters carry, shared by *Apsaras*, shared by *Gandharvas*, therewith make you me sweet, let no man hate me."

The Puranas also depict the divine characteristics of the earth. Here the earth has been deified so that no stone should be left unturned for the preservation and protection of this natural phenomenon. The Vishnu Purana says that the earth, the mother, the nurse, the receptacle and nourishes of all existent things, was produced from the soul of the foot of Vishnu[6].

Similarly the status of water has been determined in high esteem in Sanskrit particularly in the Vedas. In the *Paippalad Samhita* of *Atharva Veda*, a prayer has

---

1. पृथिवी देवयजनी मा हिंसिसम् ता ओषधीनां मूलम्। (मैत्रायणी संहिता)
2. भूमिर्माता नभः पिता अर्यमा ते पितामहः (बृहद्देवता - 5/51)
3. शान्ता द्यौः शान्ता पृथिवी शान्तमिदमुर्वन्तरिक्षम्।
   शान्ता उदन्वतीरापः शान्ता नः सन्त्वौषधीः।। (अथर्ववेदः- 19/9/1)
4. सत्यं बृहत् ऋतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति। (अथर्ववेदः-12/1/1)
5. यस्ते गन्धः पृथिवी संवभूव यं विभ्रत्योषधयो यमापः।
   यं गन्धर्वा अप्सरसश्च भेजिरे तेन मा सुरभिः कृणु मानो द्विक्षत कंचन।। (तत्रैव - 12/1/23)
6. सैषा धात्री विधात्री धारिणी पोषणी तथा।
   सर्वस्य तु ततः पृथ्वी विष्णुपादतलोद्भवा।। (विष्णुपुराणे - 1/13/92)

been offered to the water to be good and useful for the universe[1]. Water stands for purity. Deification of water has been narrated in various ways in Indian tradition. Different deities are associated with the different aspects of water; *Varuna*, the Lord of the waters who in post vedic times became merely a god of the ocean; *Parjanya*, the vedic rain god, Agni who in the *Rigveda* called *Apam Napat*; son of the water; *Saraswati* a river in goddess; whose life-giving, fertilizing and purifying qualities can never be praised exhaustively; *Vishnu*; who is conceived as resting on the world ocean and his consort Shri Laxmi , who rises from the waters of lotus pond; Shiva who bears the Ganga in his matted hair where he has received her when she was falling from heaven, thus saving the earth from being flooded. The water has been described as Goddess and hence the water is like mother who feeds and nourishes her children. It is prayed in the Vedas-- O Water, source of happiness; pray, give us vigour so that we may contemplate the great delight. You, like loving mothers, are who long to children dear. Give us of your propitious sap.[2] Water is life. Therefore it is identified with the vital breaths.[3] But the waters are not only the origin of life and sustaining life, they are also the elements in which everything merges in the end (*Pralaya*). This stage of water, when *Pralaya* (annihilation) occurs can safely associated with Lord *Shankara*. But more important is the immanence of the Lord in all, which bestows on all the elements their true nature. This revelation starts with the enlivening divine presence in water. Hence it is told in the *Geeta* -- "Oh ! son of Kunti, I am the flavour of water, I am the splendour of sun and moon"[4] As per Manu, water happens to be the first creation of this Universe;[5] which has been subsequently corroborated by the poet Kalidasa in his *Abhijnanashakuntalam*[6]. The Sarasvati has been described as both goddess of

---

1. शं नो देवीरभीष्टये आपो भवन्तु पीतये।। (पैप्पलादसंहिता - 1/1)
2. आपो हिष्ठा मयोभुवस्तान ऊर्जे दधातन।
   महे रणाय चक्षसे। यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः। (ऋग्वेदः)
3. आपो वै प्राणः। तदस्मिन्नेतान् प्राणान् दधाति। तथैवञ्जीमेव देवानां हविर्भवति। अमृतममृतानाम्।
   शतपथब्राह्मणम् - 111-8-2.4)
4. रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः। (गीता - 7/8)
5. सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
   अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्।। (मनुस्मृतिः)
6. या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
   ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम।
   यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
   प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः।। (अभिज्ञानशाकुन्तलम् - 1/1)

learning and goddess river in the *Rigveda*[1]. Ida, Sarsvati and Mahi, these are the three rivers which have been narrated as goddesses in the Vedas.[2] Manu has discussed elaborately regarding the divinity and purity of water and has advised not to pollute the natural phenomenon[3]. Similarly the other elements like air, space and fire who are gods by themselves in the eye of the Vedas, should be duly honoured and respected by one and all and that is what the deification of the nature conveys the message to us.



1. अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति। (ऋग्वेदः- 2/41/16)
2. इडा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयो भुवः। (ऋग्वेदः- 1/16/9)
3. नाप्सु मूत्रं पुरीषं वाष्ठीर्वनं वा समुत्सृजेत्।
अमेध्यलिप्तमन्यद् वा लोहितं वा विषाणि वा।। (मनुस्मृतिः- 4/56)

Ethics of Activism in the Bhagavad-Gītā

M.M. Agrawal

The *Bhagavad-Gītā* inculcates the threefold method of Karmayoga, Bhaktiyoga and Jñānayoga to the goal. The *yoga* is union of the finite soul with the Lord Śrī-Kṛṣṇa. The union can be accomplished through actions, devotion and knowledge. It is not partial union but complete union of the finite spirit with the divine spirit. It is complete transformation of the finite spirit into a conscious instrument of the divine spirit. It is transformation of the organic being, the vital being and the mental being of a finite self. It is attunement of the human will to the divine will. It is singleminded devotion to the Lord. It is immediate intuition of the Lord in oneself and the universe. The union of the finite self with the Lord can be effected through *Karma, bhakti* and *jñāna*. But, in the beginning of the BG, we find Arjuna despondent and declining to fight; anyhow, as a result of the Lord Śrī-Kṛṣṇas's persuasion, he makes up his mind to take part in the contest. This important element in the conception of the BG would lose its entire significance if we did not regard action as its essential lesson. We may accordingly conclude that the central point of the teaching is activism, or, to use the expression of the BG, **Karma-yoga.** That is why, this paper concentrates on ethics of Activism.

I

Let us first discuss the status of action or *Karma* in the BG to understand Karmayoga. All actions are actuated by *sattva, rajas* and *tamas,* which are psychical impulses and basic springs of action. Egoism-*ahaṁkāra* is a modification of the *guṇas.* It is the empirical ego. The *Ātman* is the trans-empirical self or pure spirit. It is immutable and therefore inactive. It is the seer-*draṣṭā* or witness-*sākṣin.* It is eternally pure and autonomous. It erroneously identifies itself with egoism, and regards itself as an active agent.[1] It is deluded by the *guṇas* of *prakṛti,* and erroneously identifies itself with them and their modes, the mind-body complex.[2] It wrongly attributes the functions of the body, the sense-organs, *manas, buddhi* and *ahaṁkāra* to itself, though it is pure spirit. Knowledge is the essence of the self. It is obscured

---

1. Prakṛteḥ kriyamāṇāni guṇaiḥ karmāṇi sarvaśaḥ/
   Ahaṁkāra-vimūḍhātmā kartāham iti manyate// BG, 3-27
2. Prakṛteḥ guṇasaṁmūḍhāḥ sajjante guṇakarmasu/BG, 3-29a

by emotions and desires, which spring from the body, the sense-organs, mind-*manas* and intellect-*buddhi*, which are its ground. Insatiable desire deludes a finite self, and obscures its knowledge.[1] So the sense-organs should be controlled by the mind; the mind by the intellect; and the intellect by the self-*ātman*, which transcends it. The sentient self should be controlled by the rational self. The rational self should be controlled by the transcendental or spiritual self, which is, in its nature, pure and free.[2] The BG admits freedom of the will or reason from the empirical standpoint. The severe moral discipline inculcated by it for the attainment of union with the Lord or perfection presupposes human freedom-*puruṣakāra*.[3]

But from the ontological standpoint egoism-*ahaṁkāra*, which is the doer-*kartā*, is actuated by *sattva, rajas* and *tamas*, which constitute its stuff. *Tamas* is controlled by *rajas* and *rajas* by *sattva*. But egoism cannot do away with the *guṇas*, which are its indestructible elements. The *Ātman* is the witness, seer or knower. It transcends the objective order completely. When it ceases to identify itself with the body, life, mind, intellect and egoism, and completely isolates itself from them, and is not overpowered by *sattva, rajas* and *tamas*, it realizes its intrinsic freedom. It is autonomous. In this sense, the BG believes in empirical necessity and transcendental freedom.[4] One who transcends the three *guṇas* completely, acquires community of nature with the Lord, and shares in his freedom.[5]

Besides, to understand what exactly is meant by Karma-yoga, it is also necessary to consider separately the two terms, viz. *karma* and *yoga*. *karma* literally means 'what is done', 'a deed'; and the word of course appears with this general meaning sometimes in the BG.[6] But by time of the BG it had also come to signify that particular form of activity which is taught in the vedic literature, viz. *Yajña*. Though we cannot say that the word does not at all bear this special sense in the BG[7], it by no means represents its prevailing use. What it usually signifies here is

1. Indriyāṇi mano buddhir asyādhiṣṭhānam ucyate/
   Etair vimohayatyeṣa jñānam āvṛtya dehinam// BG, 3.40
2. Evaṁ buddheḥ paraṁ buddhvā saṁstabhyātmānam ātmanā/
   Jahi śatrum mahābāho kāmarūpaṁ durāsadam//BG, 3.43
3. Uddhared ātmanātmānaṁ nātmānam avasādayet/
   Bandhur ātmāmanas tasya yenātmaivātmanā jitaḥ// BG, 6.5a-6a
4. Prakṛtyaiva ca karmāṇī kriyamāṇāni sarvaśaḥ/
   yaḥ paśyati tathātmānam akartāraṁ sa paśyati// BG, 13.29
5. Sa guṇān samatītyaitān brahmabhūyāya kalpate//BG, 14.26b
6. Na hi kaścit kṣaṇamapi jātu tiṣṭhatyakarmakṛt/
   Kāryate hyavaśaḥ karma sarvaḥ prakṛtijair guṇaiḥ//BG, 3.5
7. Annād bhavanti bhūtāni parjanyād annasaṁbhavaḥ/
   Yajñād bhavati parjanyo yajñaḥ karmasamudbhavaḥ//BG, 3.14

duties that were found associated at the time with the *varṇa-dharmas.*[1] The word is also sometimes used in a fourth sense in the BG, viz. divine worship and devotional acts connected with it such as prayer.[2] Of these several meanings, we should, when thinking of Karma-yoga as taught in the BG, ordinarily take the third, viz. social obligations which in one form or another are acknowledged in all organized societies. The word *Yoga* means 'harnessing' or 'applying oneself to' so that Karma-yoga may be rendered as 'devotion to the discharge of social obligations. For Karma-yoga, the act should be viewed not as a means but as an end in itself. That is, the idea of the result or motive or *phala,* which is to ensue from the action must be dismissed altogether from the mind before as well as during the act. The term signifies, as Śrīkṛīṣṇa is never tired of repeating, the doing of a deed without the least thought of reaping its fruit.[3]

II

Well! Karmayoga unites the human will with the divine will. One should always do one's appointed duties. Action is better than inaction. Inaction is death. Action is life.[4] None can remain inactive for a single moment. He cannot but act for the preservation of his life.[5] One is compelled to act by one's organic needs and psychical impulses.[6] Every individual is born with certain aptitudes and predispositions which constitute his innate nature -- *svabhāva,* and determine his station in the society. His special vocation -- *svakarma* in life is determined by his native endowment - *svabhāva.*[7] He ought to perform his specific duties for the sake of duty, which fit in with his native abilities. He can attain his highest personal good thereby, and contribute to the social good. He worships the Lord through his own specific duties. **All work is worship.** It is better to perform one's own specific duties imperfectly than to perform another's specific duties.[8] One should always do one's specific

---

1. Brāhmaṇa-kṣatriya-viśāṁ ca paraṁtapa/
   Karmāṇi pravibhaktāni svabhāvaprabhavair guṇaiḥ// BG, 18.41
2. Abhyāsepyasamarthosi matkarmaparamo bhava/
   Madartham api karmāṇi kurvan siddhīm avāpsyasi// BG, 12.10
3. **Karmaṇyevādhikāraste mā phaleṣu kadācana/**
   "Your concern is solely with action - never with its fruit." BG, 2.47a
4. Niyataṁ kuru karma tvaṁ karma jyāyo hyakarmaṇaḥ/
   Śarīrayātrāpi ca te na prasiddhyed akarmaṇaḥ// BG, 3.8
5. Na hi kaścit kṣaṇam api jātu tiṣṭhatyakarmakṛt/BG, 3.5a
6. Kāryate hyavaśaḥ karma sarvaḥ prakṛtijair guṇaiḥ// BG, 3.56
7. (a) Na kartṛtvaṁ na karmāṇi lokasya sṛjati prabhuḥ/
       Na karmaphalasaṁyogaṁ **svabhāvastu pravartate**// BG, 5.14
   (b) Sve sve karmaṇyabhirataḥ saṁsiddhiṁ labhate naraḥ/
       Svakarmaṇā tam abhyarcya siddhiṁ vindati mānavaḥ// BG, 18.45a-45b
8. Śreyān svadharmo viguṇaḥ paradharmāt svanuṣṭhitāt/ BG, 18.47a

duties, and should not discard them even if they are tainted with faults.[1] It is better to die in performing one's appointed duties than to perform some other's specific duties. It is dangerous to arrogate to oneself some other's works.[2] One is bound to prove a misfit in another's field of action. There are different classes of men with different native endowments - *guṇas* in society. Their vocations-*karmas* differ according to their different qualities-*guṇas*. Brāhmaṇas are teachers, because *sattva* predominates in their nature. The *kṣatriyas* are soldiers, because *rajas* predominates in their nature, to which *sattva* is subordinate. The Vaiśyas are peasants and traders, because *rajas* predominates in their nature, to which *tamas* is subordinate. The Śudra are servants, because *tamas* predominates in their nature, to which *rajas* is subordinate.[3] So a person's specific duties - *svadharma* are determined by his native constitution - *svabhāva*. This is the ethical teaching of the BG. The BG enjoins the performance of specific duties - *svadharma* for the good of humanity - *lokasaṁgraha* and attainment of the Lord - *bhagavatprāpti*.

A person outght to perform his appointed duties for the sake of duty without attachment or aversion and any desire for enjoying their fruits.[4] He ought to renounce all desires for their fruits, which are not within his control. He has right to actions but not to their fruits. So he ought to renounce the fruits of his actions, and perform his specific duties with perfect detachment. A person, who hankers after fruits of his action, is an object of pity.[5] He ought to perform his duties in a disinterested spirit without egoistic desires. One who is attached to fruits of one's actions is bound by his attachment. But one who has no desire for fruits of one's actions, and who renounces them to the Lord enjoys freedom and peace.[6] A person ought not to be actuated by love or hatred, anger or fear, joy or sorrow. He ought not to be impelled by feelings, emotions and passions, which belong to his mental being, and one foreign to his spiritual being. All base emotions and passions such as envy, greed, boastfulness, hypocrisy, malevolence, harmfulness, lust, greed, pride and the like ought be conquered.[7] He ought to cultivate equanimity unperturbed by joy or

1. Sahajaṁ karma kaunteya sadoṣam api na tyajet/BG, 18.48a
2. Svadharme nidhanaṁ śreyaḥ paradhrmo bhayāvahaḥ/ BG, 3.35b
3. Cāturvarṇyaṁ mayā sṛṣṭaṁ guṇakarmavibhāgaśaḥ/ BG, 4.13a
4. **Kāryam ityeva yat karma niyataṁ kriyaterjuna/**
   Saṅgaṁ tyaktvā caiva sa tyāgaḥ sāttviko mataḥ// BG, 18.9
5. (a) Karmaṇyevādhikāraste mā phaleṣu kadācana/
   Mā karmaphalahetur bhūr mā te saṅgo'stvakarmaṇi// BG, 2.47
   (b) Kṛpaṇāḥ phalahetavaḥ// BG, 2.49b
6. Yuktaḥ karmaphalaṁ tyaktvā śāntim āpnoti naiṣṭhikīm/
   Ayuktaḥ kāmakāreṇa phale sakto nibadhyate// BG, 5.12
7. Yasmānnodvijate loko lokānnodvijate ca yaḥ/
   Harṣāmarṣabhayodvegair mukto yaḥ sa ca me priyaḥ// BG, 12.15

sorrow. He ought not to be elated by the smile of fortune, or depressed by the frown of misfortune. He ought to cultivate an unruffled temper of tranquility. He ought not to be perturbed by praise or blame, joy or grief. He ought to cultivate equality - *samatva,* impartiality or dispassionate attitude. He ought to be equal to friend and foe.[1] Egoistic desires for success or failure, pleasure or pain, victory or defeat, profit or loss glory or inglory should be conquered.[2] Egoism or the sense of 'I' and 'mine' should be eradicated. One who renounces all selfish desires, who lives a selfless and desireless life devoid of egoism, acquires peace. One who runs after various objects of desire never knows peace. But one who is unperturbed by desires and unruffled like a deep ocean acquires peace.[3] Selfish desires ought to be sublimated. Altruistic desires ought to be cultivated. Narrow love for wife, sons and family should be transcended.[4] Universal love should be cultivated. The good of all creatures - *sarvabhūtahita* and welfare of humanity - *lokasaṁgraha* should be the ends of actions. Those who are engaged in doing good to humanity and sentient creatures attain the lord.[5] Janaka and others attained perfection through actions only. So one should always do good to humanity.[6] One who is devoid of enmity to all creatures undoubtedly attains the lord.[7] The BG does not inculcate the eradication of all desires. It enjoins sublimation of egoistic desires into altruistic desires. It does not enjoin a feelingless and desireless life of inaction. Renunciation of actions is not true renunciation - *sannyāsa.* It never leads to perfection.[8] Renunciation of fruits of actions to the Lord is true renunciation. Renunciation of prudential duties for the fulfilment of egoistic desires is said to be true renunciation.[9] One's appointed duties relating to one's station in the society should never be renounced. Renunciation of

---

1. Samaḥ śatrau ca mitre ca tathā mānāpamānayoḥ/
   Śītoṣṇasukhaduḥkheṣu samaḥ saṅgavivarjitaḥ// BG, 12.18
   Mānāpamānayostulyastulyo mitrāripakṣayoḥ/BG, 14.25a
2. Sukhaduḥkhe same kṛtvā lābhālābhau jayājayau/ BG, 2.38a
   Siddhyasiddhyoḥ samo bhūtvā **samatvaṁ yoga ucyate** / BG, 2.48b
3. Vihāya kāmān yaḥ sarvān pumāṁścarati niḥspṛhaḥ/
   Nirmamo nirahaṁkāraḥ sa śāntim adhigacchati// BG, 2.71
4. Asaktir anabhiṣvaṅgaḥ putradāragṛhādiṣu/ BG, 13.9a
5. Te prāpnuvanti mām eva sarvabhūtahite ratāḥ/ BG, 12.4b
6. Karmṇaiva hi saṁsiddhim āsthitā janakādayaḥ/
   Lokasaṁgraham evāpi saṁpaśyan kartum arhasi// BG, 3.20
7. Nirvairaḥ sarvabhūteṣu yaḥ sa mām eti pāṇḍava/ BG, 11.55b
8. Na karmaṇām anārambhān naiṣkarmyaṁ puruṣo'śnute/
   Na ca saṁnyasanād eva siddhiṁ samadhigacchati// BG, 3.4
9. Kāmyānāṁ karmaṇāṁ nyāsaṁ saṁnyāsaṁ kavayo viduḥ/
   Sarvakarmaphalatyāgṁ prāhus tyāgaṁ vicakṣaṇāḥ// BG, 18.2

one's specific duties owing to delusion is prompted by *tamas.*[1] The performance of one's specific duties without attachment and desire for fruits is true renunciation.[2] The performance of the specific duties without attachment and aversion and desire for fruits is the best of actions.[3] Such actions should be dedicated to the lord. One attains perfection by doing one's specific duties with detachment, and worships the Lord by dedicating them to him. All actions should be dedicated to the lord, and lust, anger, conceit and other base passions should be sublimated by diverting them to Him.[4]

The BG ethics is ethics of activism - *karmayoga.* It is not ethics of inaction or renunciation of action - *sannyāsa.* It does not teach anti-social escapism. Both renunciation - *sannyāsa* and discharge of duties with detachment are conducive to the highest good. The life of action is better than renunciation.[5] The ethics of the BG is not ascetism, but perfectionism. The highest good of an individual is the Lord - realization though selfless pursuit of the good of humanity - *lokasaṁgraha.* The BG enjoins a life of dedication of all actions to the Lord. All actions should be performed as service to the Lord. Whatever action is done, whatever is eaten, whatever is offered in a sacrifice, whatever is given in charity, whatever penances are undergone, should be dedication to the Lord.[6] By dedicating all actions to the Lord, which are done without attachment, one is never tainted with sins. He lives a detached life dedicated to and sanctified to the Lord.[7] He lives, moves and has his being in the Lord, dedicating all actions to Him mentally, without feeling that he is an agent of any action.[8] He lives a life of dedication.

In fact, the BG stresses the purity of the mind, the inner purity of motives and intentions. That is why, it condemns ritualism and ceremonialism, and states that the sense-organs should be controlled and withdrawn from immoral objects. All

1. Niyatasya tu saṁnyāsaḥ karmaṇo nopapadyate/
Mohāt tasya parityāgas tamasaḥ parikīrtitaḥ// BG, 18.7
2. Yastu karmaphalatyāgī sa tyāgītyabhidhīyate/ BG, 18.11b
3. Niyataṁ saṅgarahitam arāgadveṣataḥ kṛtam/
Aphalaprepsunā karma yat tat sāttvikam ucyate// BG, 18.23
4. Sve sve karmṇyabhirataḥ saṁsiddhiṁ labhate naraḥ/ BG, 18.45a
Svakarmaṇā tamabhyarcya siddhiṁ vindati mānavaḥ// BG, 18.46b
5. Saṁnyāsaḥ karmayogaśca niḥśreyasakarāvubhau/
Tayostu karmasaṁnyāsāt **karmayogo viśiṣyate**// BG, 5.2
6. Yat karoṣi yad aśnāsi yaj juhoṣi dadāsi yat/
Yat tapasyasi kaunteya tat kuruṣva madarpaṇam// BG, 9.27
7. Brahmaṇyādhāya karmāṇi saṅgaṁ tyaktvā karoti yaḥ/
Lipyate na sa pāpena padmapatram ivāmbhasā// BG, 5.10
8. Sarvakarmāṇi manasā saṁnyasyāste sukhaṁ vaśī/
Navadvāre pure dehī naiva kurvan na kārayan// BG, 5.13

actions of the sense organs and the vital forces should be controlled by the Self - *Ātman.* The vital forces should be regulated by breath-control, and the organism should be made a fit medium for furthering spiritual life by rigid observance of temperance. The sacrifice of knowledge-*jñānayajña* is better than physical sacrifice-*dravyajayña.* The sacrifice of the untterance of the name of the Lord - *svādhyāyayajña,* the sacrifice of knowledge-*jñānayajña,* the sacrifice of austerities - *tapoyajña,* and the sacrifice of meditation-*yogayajña* are better than physical sacrifices - *dravyayajña* with articles like butter, incense and the like. They purify the mind, enlighten it with knowledge and purge it of all vices. The true sacrifice is the sacrifice of all actions, bodily, verbal and mental - to the Lord. One attains the eternal *Brahman* by sacrificing all actions to the Lord and living on whatever he gets by His grace.[1]

BIBLIOGRAPHY

BG *Śrimad-Bhagavad-Gītā,* with the commentary *'Gūḍhārthadīpikā'* of Madhusūdana Sarasvatī, (Ed. with *'Pratibhā'* Hindi translation, Introduction, Preface, Indexes and *'Vimarśa'* critical Notes) by M.M. Agrawal (in two volumes), Chaukhamba Sanskrit Pratishthan, Delhi, First Edition 1996.



1. Svakarmaṇā tam abhyarcya siddhiṁ vindati mānavaḥ/ BG, 18.46b

India's Three Classical Languages[1]

Finn Thiesen

Seeing the title of this paper the reader may wonder which three languages are intended. One is obviously Sanskrit. Would the second one be Pali? As for the third one, could it be Prakrit or perhaps Tamil? In this lecture I intend to show that neither of the three last mentioned languages, in spite of their antiquity and importance, qualify to be called Classical Languages of India, while Persian and English, though not Indian languages at all, ought to be considered Classical Languages of India.

In order to justify my classification of Sanskrit, Persian and English as the three Classical Languages of the Indian Sub-continent I shall have to explain what I understand by a "Classical Language." Strictly speaking, the term Classical Language means either Latin or Greek, but here I use to denote a language which occupies a similar position whithin a certain Kulturkreis ('civilization' or 'culture area') to that occupied by Latin and Greek in Western Civilization. That is (1) a *dead language* (2) with a *rich literature* (3) the knowledge of which is considered a *sign of superior education and refinement*, (4) the vocabulary of which is used as a means of *enriching the languages* within the Kulturkreis binding those languages together with this shared vocabulary, (5) the language being *important for the self-identification* of the peoples belonging to the Kulturkreis in question. (This self-identification may assume the form of identification with the Classical Language, but it may show itself as self-assertion against it.)

I hope to show that in addition to Sanskrit, also Persian and English fit this description although both of them are neither dead nor languages.

Sanskrit, of course, is not only a Classical Language of India, it is *the* Classical Language of India. It is often asserted that Sanskrit is not a dead language since it is still in use as a written language and some *paṇḍits* even speak it, even if they mostly confine their Sanskrit conversations to discuss whether smoke is always an indication of the presence of fire or not. However, it is most probably not the first language of any living person and is therefore a dead language in the ordinary sense of this word. It has a rich, not to say enormous literature, and knowledge of Sanskrit is generally considered a sign of culture and refinement. Most Indians identify their

1. Revised version of Finn Thiesen. *Vasco da Gama Quincentennial Lecture* given at University of Aarhus, 24.3.1998.

culture with Sanskrit culture. Indeed, the very word for culture in Hindi and many other Indian languages is *saṃskṛti*, a derivative of the word Sanskrit. Some Indians, however, some Tamil nationalists and certain dalits, are opposed to Sanskrit culture. All Indian languages, whether Indo-Aryan or Dravidian, contain large numbers of Sanskrit loan words which thus bind the languages of the subcontinent together. I have no doubt that a Hindi speaking boy will find as easy (or difficult) to learn a Dravidian language like Telugu as learning an Indo-European language like Danish, on account of the common elements of Sanskrit loan words in Hindi and Telugu. (But the steadily increasing element of English loan words in both Hindi and Danish will certainly help him with Danish too.) In Hindi, Sanskrit loan words are not even reckoned as loan words. They are called *tatsamas* and considered to be genuine Hindi words that have not in course of time become "corrupted" unlike the ordinary Hindi words, the so-called *tadbhavas*. (Obstinate linguists like myself, of course, consider the corrupt *tadbhavas* to be the genuine Hindi words, but to most Hindi speakers the term *śuddh hindī* means Hindi brimful of Sanskrit loan words.) The Pakistanis try to keep their languages free of Sanskrit loan words. They succeed quite well with this in Urdu, not so well in Panjabi and Sindhi. I have observed that the Moslems of Bangladesh seem to be very fond of Sanskrit words and use more Sanskrit loan words in their day-to-day language than to the Hindus of West Bengal, no doubt because they consider sanskritised Bengali a purer form of Bengali.

Let us now see what claims Persian may have to be called a Classical Language of India. Persian is very much a living language being the mother tongue of more than fifty million people. Nevertheless, in the Indian context it functions like a dead language. It is practically no longer spoken there except by a few stray Iranian tourists and refugees and, more important, in schools and universities it is normally taught as if it were a dead language. It is not the language spoken in Iran today that is taught, but the language of Sa'di and Rumi, poets that lived seven hundred years ago. The pronunciation is Indian in the same way as the pronunciation of Greek and Latin in Denmark is Danish. The Indian pronunciation of Persian reflects the pronunciation of Persian in the 13th century Persian. 13th century Persian *gul* 'rose' and *šér* 'lion' have become *gol* and *šir* in Iran, but in the Subcontinent they are still pronounced *gul* and *šér*. Persian scholars in India may have read and reread the Persian classics, but mostly they do not speak the language and even if they do, they may not understand it when spoken by native Iranians knowing neither modern pronunciation nor modern idioms. I have even met Indians that had Persian at school, but did not know that it was the language of Iran. (It is true that some Indian and Pakistani teachers of Persian have studied the language in Iran and teach the

modern language, but not in sufficient numbers to disturb the general picture of Persian as a dead language in the Indian context.)

As for the requirement of possessing a rich literature, Persian certainly fulfills it. The popularity in India of Hafez of Shiraz–d. 1390, by Goethe considered one of the greatest lyrical poets of all times–may be illustrated by the following incident. In Hyderabad (Ḥaidarābād) in South India a professinal fortuneteller told my fortune by asking a tame parrot to pick one from a range of pieces of paper each with a fortune or prophecy inscribed on it. Mine turned out to be a Persian verse by Hafez with translations into English and Telugu. Indian languages are full of Persian sayings, mostly translated, but sometimes quoted in Persian (as in English a Latin saying may be quoted in Latin), e.g. *Delhī hanoz dūr-ast.* 'Delhi is still far away'.[1]

That Persian used to be considered a sign of superior education and refinement in India is a fact beyond dispute and it is still thought to be so by the Moslems of the Subcontinent and even the Hindus have not lost all their respect for Persian learning. If I introduce myself as a professor of Persian they look at me with the same kind of expression as we may look at someone who introduces himself as professor of Classical Philology. I used to be a lecturer in Hindi and when I introduced myself as such Indians would look at me with more sympathy, but also with less awe.

For centuries the Indian languages have enriched their vocabularies with Persian loan words. I do not know the number of Persian loan words in Hindi, but it is not doubt larger than in Bengali where there is known to be more than 5.000 Persian loan words.[2] Hindi purists strive to substitute Sanskrit words for the Persian ones, but in many context Sanskrit words simply will not do. The popular love lyrics of Hindi films abound in Persian vocabulary and even fanatic Hindi purists reluctantly admit that 'Urdu words' as they call them are *baahut mīṭhe* 'very sweet' (i.e. they carry a richer range of connotations and are more emotionally loaded.)

The importance of Persian for the self-identification of the various peoples of the Indian subcontinent, too, is beyond question. To the Indian Moslems Persian is the language of culture par excellence whereas the attitude of the Hindus is ambivalent. Some readily recognize the importance of the Persian heritage for Modern Indian

1. R.S. McGregor : *The Oxford Hindi-English Dictionary*, Oxford 1993, p. 497 s.u. *dillī*. (I do not agree with McGregor's interpretation "there is still much to be done." It rather means: Do not be sure of accomplishing anything before you have actually done it.)
2. According to S.G.M. Hilali : *Perso-Arabic Elements in Bengali*, Dacca 1967 p.v, the exact number is 5186. This includes Arabic loan words that have come via Persian and small number of Arabic loan words borrowed directly from the Arabic.

culture. Others reject it. In Agra there is even a Society for Rewriting Indian History which tries to prove that there was hardly any Persian contribution to Indian culture. This in itself shows the importance of Persian. They would not dream of taking such trouble to prove the absence of, say, an important Japanese contribution to Indian culture.

It follows from the above that Persian meets the requirements for being considered a Classical language of India. It may be added that a not unimportant part of Classical Persian literature was produced in India itself. Jan Marek, "it might indeed be difficult to point out a comparable example in the history of world literature of a language being adopted, and to find another country having mastered a foreign language to such a degree as was the case of Persian in India. The Indians have contributed very really to the rise of Persian literature and to them we owe many of its most brilliant pages." The most important Persian poet of India was Amīr Khusrau of Delhi (1253-1325), half Indian and half Turkish by descent. The bulk of Classical Indo-Persian literature was produced in the 16th century following and exodus of Persian poets to India caused by Iran's First Islamic Revolution, the Ṣafavis' accession to power, and the ensuing forced conversion of Iran's Sunni majority to Shiism.[1]

Here one might ask why Arabic should not be included among the Classical Langauges of India. To this I would answer that the status of Arabic in India is not comparable to the status of Latin and Greek in Europe, not even among the Indian Moslems. Its status might rather be compared to that of Hebrew though Arabic is certainly more important to Indian Moslems than Hebrew to European Christians. Millions of children in India, Pakistan and Bangladesh study Arabic in madrasas and mosques, but with rare exceptions they study only one book, the Qur'ān, and in mostly they are not taught to understand what they read. In the Indian context Arabic is a liturgical language, and its study is the domain of the theologians. True, the number of Arabic loan words in the Indian languages is probably as large as the number of Persian loan words, but the great majority of these Arabic loan words are actually Persian in the sense that they have entered the Indian languages not directly from Arabic, but via Persian, and they carry the meaning that the words in question have in Persian, often different from the meaning they have in Arabic. In many cases, they have undergone further semantic development in the Indian languages. A proof of the Persian character of the Arabic loan words in the Indian languages is their pronunciation in Hindi. Persian had a number of consonants that

1. Jan Rypka : *History of Iranian Literature*, Dordrecht 1968, pp. 257 ff and 711-734. The quotation from Jan Marek is found on pp. 732 f.

are not found in Hindi, but such is the prestige of Persian that Hindi speakers are supposed to pronounce these consonants, *q*, *x*, *g* [γ], *z*, *f*, as in Persian and in the native Hindi script they are marked with diacritics. (Of course, many native Hindi speakers do not succeed in pronouncing them and some even consciously refuse to do so and will not use the diacritics.) Now Arabic has a number of consonants which are not found in Persian. Where these occur in Arabic loan words the Persians do not try to pronounce them and instead substitute those Persian consonants which appear to be closest in pronunciation. The Arabic loan words in Hindi are treated exactly as they are in Persian. I shall give one example : Both Arabic and Persian distinguish between k and q. Hindi has only k. So Hindi speakers try to distinguish between k and q in Arabic loan words, but not because the Arabic do so, only because the Persians do so. On the other hand the Arabic distinction between dental *t* ----- and emphatic *t* ---- is not found in Persian which has only the dental *t*. So in Hindi, too, does not distinguish between these two in Arabic loan words.

Of course, with a few modificatin of the definition of the term Classical Language Arabic too could be called a Classical Language of India. In this connection we may note that in India the University Grants Commission when allocating funds for research into Classical Languages defines these as Sanskrit, Arabic and Persian only, but there is a demand to include Tamil among the Classical Languages of India along with Sanskrit, Arabic and Persian.[1] Let us therefore see to what extent Tamil fits my definition of a Classical Language. It does have a rich and ancient literature the knowledge of which is considered a sign of superior education and refinement. Its vocabulary is drawn upon to enrich the modern language and is important for self-identification. However all this applies only to the Tamil speaking community. Outside the Tamil area ordinary people have barely heard of the existence of a Classical Tamil literature. Tamil loan words in other Indian languages are few and the languages of the Indian Kulturkreis are not bound together by a common element of Tamil loan words in their vocabularies. Classical Tamil words are used for enriching Modern Tamil Only. The Tamil language is important for the self-identification of the Tamils, but only for them So Tamil cannot be called a Classical Language in the sense in which I am using this term.

We shall now see what claims English may have to be called one of India's Classical Languages. English is not exactly what one understands by a dead language, but in the Indian environment it behaves in many respects like one. Millions of Indians are taught English by teachers who are not themselves able to speak the

---

1. This information was obtained for me on Internet by Lars Martin Fosse.

language, but only to read it and many cases not even that. They make no attempt to teach British or American pronunciation and intonation. The language is pronounced exactly like the mother tongue of the students and their teachers. Some of the students may become quite fluent in a kind of English which native Englishmen find it hard to follow. In the teaching of English at higher levels English literature from Shakespear up to and including the Victorian age is of paramount importance. We may say that the English taught and studied in India is Victorian, not Modern English. For all but a fraction of the inhabitants of the Subcontinent, English works like a dead language. At least, so the situation until few years ago, but now it is fast changing. Satellite TV, mass tourism, American films, internet and globalization as well as the fact that more and more Indians have relatives in England and America, contribute to a process of substituting Modern British and American English for the Classical Victorian English prevalent in India.

The question as to whether English may be said to possess a rich literature I shall pass over and immediately go on to say that in India a knowledge of English is certainly considered a sign of superior culture. If you know English you are educated and if not, you are an ignorant fool whatever your other accomplishments may be. When I studied Hindi in India in the early sixties I found it difficult to get sufficient practice because everyone including my own Hindi teachers insisted upon talking English to me. I used to say *mujhe āgrezi nahī ātī* 'I don't know English' in order to force people to talk to me in Hindi. The re-action was quite often : "What! Don't you know English? Then why do you want to learn Hindi?". In other words "What don't you want to be an educated person?" Among Bengalis it is customary to address superiors in English, equlas in Bengali and inferiors in Hindi. One Pakistani acquaintance of mine traveled to France and was shocked to see how ignorant and primitive the Frenchmen were : They did not even know English. He said "Those people are deaf and dumb before us." Those that are unable to speak English may make up for their shortcoming by using many English words as possible when speaking their own language. Especially in Panjabi one may hear long passages where only the grammatical markers and the auxiliaries are Panjabi, the rest being English. It is reasonable to think that Persian words were used in the same way some centuries ago. This last point brings us to the amount of English loan words in the Indian languages : The proportion is large and fast growing. The younger generation of Urdu speakers often use English numerals more easily than Urdu numerals and some are even unable to count up to one hundred in their mother tongue. In their language 'to count' has become *vanṭū karnā*, literally 'to do one-two'. English quotations are often heard from people who otherwise speak their Indian mother tongues without any conspicuous admixture of English vocabulary.

I remember walking along a country road in Rajasthan in 1971 together with a barefooted village boy. I asked whether his was not a hard life and got the answer *mujhe simpal living aiṇḍ hāī thinking pasand hai* 'I prefer simple living and high thinking'. As for the importance of the English language for the self-identification of the peoples of the Subcontinent it need hardly be mentioned. Their love-hate relationship with the English language and British culture is a subject in itself. For those interested I recommend the works of Nirad C. Chaudhury.

Even if we should decide not to call Persian and English Classical Languages of India, yet we have to admit that they do play the role of Classical Languages in India. What, then does this imply our understanding of Modern India? My contention is that in order to obtain a balanced understanding of Modern Indian Culture one ought to complement one's studies of Modern India not only with a study of Classical Sanskrit Language and Culture, but also of Persian and English languages and cultures with the main emphasis on Persian of the first centuries of the second millennium A.D. and Victorian English. A good idea of the position of Victorian English Culture may be obtained from Nirad C. Chaudhury's *Autobiography of an Unknown Indian.*[1]

Things that at the surface appear to be typically Indian may sometimes turn out to have a Persian or British origin. I shall give two examples.

At the inside cover of the series of books called *bhavan's Book University* published in Bombay one may read what *bhāratīya śikṣā* 'Indian education' stand for :

"The technique of Bharatiya Shiksha must involve–

(a) the adoption by the teacher of the Guru attitude which consists in taking a personal interest in the student; inspiring and encouraging him to achieve distinction in his studies; entering into his life with a view to form ideals and remove psychological obstacles; and creating in him a spirit of consecration; and

(b) the adoption by the student of the Shishya attitude by the development of–

(i) respect for the teacher,

(ii) a spirit of inquiry,

(iii) a spirit of service towards the teacher, the institution, Bharat and Bharatiya Vidya."

1. Nirad C. Chaudhuri : *The Autobiography of an Unknown Indian*, London 1951

When I read this as a young man in 1961 I was deeply impressed. I found it admirable and very Indian. However, the Ancient Indian concept of *guru* 'teacher' and *śiṣya* 'pupil' was quite different from the one extolled by Bhavan's Book University as we can see in the legend of Satyakāma in *chāndogyopaniṣat* 4.4 : The great guru Gautama accepts young Satyakāma as his disciple, but instead of following the advice Bhavan's Book University he gives Satyakāma 400 lean, weak cows and tells Satyakāma not to return with less than a thousand. Satyakāma spends several years in the wild and finally returns when their number has increased to 1,000. On his way back the bull, the fire, and two birds teach him spiritual knowledge, *brahma*. When Satyakāma meets guru Gautama he already has the spiritual knowledge which he wanted from the guru.[1] This is a typical relationship between an Ancient Indian *guru* and his *śiṣya*. The knowledge which the disciple desires is given to him all of a sudden in a magical or supernatural way as a reward for his devotion and obedience. As for the technique of *bhāratīya śikṣā* described by Bhavan's Book University it looks more like a description of the relationship of the Persian *pīr* 'spiritual master' and his *murīd* 'disciple' as we find it in Mediaeval Persian works such as *Kaśfu lmaḥjūb* and *asrāru t-tauḥīd*.[2] Only No. (b) (ii) in *bhāratīya śikṣā* "a spirit of enquiry" stands apart. This point shows Western influence. Else, the Modern Indian *guru* looks more like a descendant of the Mediaeval Persian *pīr* than of his ancient Indian namesake.

My second example has to do with a quite well-known Hindi short story, *hār kī jīt* 'Victorious Defeat' by Badrīnāth Sudharśan (1896-1967). The story can be resumed as follows:

A holy man, Bābā Bhāratī, possessed a beautiful horse; no horse in the whole region could compare with it. Bābā Bhāratī loved it with the passion of a true lover and even more than that. He had forsaken everything of the world except this beloved horse, his sole companion. The fame of the horse reached Khaḍga Singh, a notorious robber of the region. He went and saw it and resolved to obtain it, come what may. One evening when Bāba Bhāratī was roaming on his horse he heard a moaning voice from a short distance. He dismounted and found a cripple lying under a tree. The cripple begged him to help him out of his distress by taking him on his horse to Rāmavālā three miles ahead. The kind-hearted holy man mounted the cripple on the horse and began to lead it by the halter. Suddenly the cripple with a jerk snatched the halter and dashed off. Bābā Bhāratī saw that he was no other than Khaḍga Singh, the robber. He was silent a few moments then cried : "Wait

1. S. Radhakrishnan : *The Principal Upaniṣads*, London 1953, pp. 406-412.
2. Jan Rypka op. cit. p. 220.

a moment. Keep it, but grant me a favour. Keep it, never say a word about this incident to anyone, lest people having learnt about this should no longer trust the words of poor people." The wild robber was not without feelings. So during the night he steals into Bābā Bhāratī's stable and thers the horse at its old place. On his way out he sheds tears over his own goodness. When Bābā Bhāratī a little later finds his horse he says happily : "Now, no one will turn away his face from the words of grief and woe." And he, too, sheds tears. The tears of both had fallen on the same spot of ground and united there.[1]

By naming the hero of his story Bābā Bhāratī 'father Indian', Badrīnāth Sudarśan implies that his noble behaviour is typically Indian. Not surprisingly this short has become a favorite item in Hindi schoolbooks, but somehow is does not ring true. It is rather odd that a holy man of Father Indian's status should be so passionately devoted to a worldly object like a fine horse. Actually Bābā Bhāratī was originally not an East Indian holy man, but in fact, an Amerindian Shoshone warrior. Badrīnāth Sudarśan has copied story from the British author Captain Marryat (1792-1848), who narrates it in the following way:

A Shoshone warrior possessed a beautiful mare; no horse in the prairie could outspeed her . . . . Many propositions were made to the warrior to sell or exchange the animal, but he would not hear of it. The dumb brute was his friend, his sole companion. The fame of the mare extended so far . . . that several Mexicans offered him large sums of money. One of the Mexicans, a wild young man, resolved to obtain the mare, come what may. One evening when the Indian was returning from some neighbouring plantation, the Mexican lay down in some bushes at a short distance from the road and moaned as if in the greatest pain. The good and kind-hearted Indian . . . dismounted from his mare and offered any assistance. The Mexican begged for a drop of water . . . As soon as the Indian was sufficiently distant, the Mexican vaulted upon the mare. The Indian looked upon the Mexican for a few moments in silence. . . . At last, he spoke : ". . . Keep the mare . . . Keep the mare . . . Keep her, but never say a word of how thou camest by her, lest hereafter a Shoshone, having learned distrust, should not hearken to the voice of grief and woe.' . . . The Mexican was wild, . . . but not without feeling : He dismounted from the horse, and putting the bridle into the hand of the Shoshone,

1. The Hindi text appears in numerous school readers and short story collections. In the West it has been published in Dagmar Ansari : *Chrestomathie der Hindi-Prosa*, Leipzig 1967, pp. 43-51, and in E.P. Hjortsh--j : *Hindi literature tekster for 1.ārsstuderende*, Ārhus 1995, pp, 26-31.

''Brother,'' said he, ''I have done wrong, pardon me! From an Indian I learn virtue. . . .[1]

So Sudarśan's very Indian story turns out to be West Indian instead of East Indian. But perhaps it is not even West Indian (or rather Amerindian). Captain Marryat may have invented the story himself in order to teach his readers virtue from a 'Noble Savage.' Yet Sudarśan's story remains typically Indian inasmuch as it shows us India's capacity for appropriating and adapting foreign cultural goods.[2]

The importance of Parsian and English for the study of Modern India is not only that we may be able to show the Persian or English origin of this or that element of Modern Indian Culture and Literature, but that a knowledge of Medieval Persian and Victorian English may help us to a deeper understanding of India's composite culture.



---

1. Captain Marryat : *Monsieur Violed,* London 1986, pp. 147-148. I have substituted ''come what may'' for ''whether or not'' in Marryat's text. 7000 Shoshones still live in Southwestern U.S.

2. To the best of my knowledge the English origin of *hār kī jīt* has not been pointed out before. Further research into the works of Captain Marryat could possibly reveal more loans.

The Śrīmadbhagavadgītā on Universal Equanimity

Professor Maan Singh

The Śrīmadbhagavadgītā is the immortal message to the mankind, emanated from the lotus lips of the Lord Himself.[1] For centuries, it has been held in high reverence by saints and scholars alike, and has been accepted as one of the three most authentic basic texts on Indian philosophy--the *Prasthānatrayī*, the other two being the *Upaniṣads* and the *Brahmasūtra*. The teachings of the *Śrīmadbhagavadgītā* are universal and eternal in nature and cannot be confined to the narrow limits of country, caste, creed and religious sects. Spiritual awareness and awakening imparted in it elevates man's perception, who then sees the entire existence as one whole, breaking the barriers of caste, creed and colour, thereby shedding away all temporal, spatial, racial and religious prejudices.

Equanimity is the dominant note of the *Śrīmadbhagavadgītā*. In all the three paths of knowledge (*jñāna*), action (*karman*) and devotion (*bhakti*) enunciated in it for God-realization, cultivation of equanimity has been considered essential as a part of the discipline to be followed for God-realization as well as a distinctive characteristic of a realized soul. Equanimity preached in the *Śrīmadbhagavadgītā* is related to all beings, objects, ideas and actions. Thus the wise look with the same eye on a Brāhmaṇa endowed with learning and culture, a cow, an elephant, a dog and a pariah, too,[2] as the same Self pervades all of them. He, who looks upon well-wishers, friends, foes, neutrals, mediators, the objects of hatred and relatives as well as the virtuous and the sinful with the same eye stands supreme.[3] A Yogin, established in identity with the Absolute, perceives unity everywhere and beholds the Self as present in all beings, and all beings as assumed in the Self (i.e. as nothing but

---

1. *Mahābhārata*, Bhīṣmaparvan, 43.1:
   गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसङ्ग्रहैः।
   या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिस्सृता।।
2. *Śrīmadbhagavadgītā*, V.18:
   विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
   शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।
3. *Ibid.*, VI.9:
   सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
   साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।।

projection of the Self).[1] The Yogin who looks on all as one, on the analogy of his own Self, and looks upon joy and sorrow with similar eye, is deemed the highest of all.[2] Kṛṣṇa asks Arjuna to perform his actions, renouncing all attachment and maintaining an attitude of equability in success and failure as well as in the desirable and undesirable consequences of his efforts: the state of equanimity is known as Yoga.[3] A person equipped with a stable mind (*Sthitaprajña*) experiences equanimity amid sorrows, disappearance of thirst for pleasures, freedom from passion, fear and anger and unattachment to everything, and remains equipoised while meeting with good or evil as he neither rejoices nor recoils.[4] A Karmayogin, contented with whatever is got unsought, free from jealousy, transcending all pairs of opposites (like joy and grief), and balanced in success and failure, is not bound by his action.[5] Similarly a true devotee, dear to God, is the one who wants nothing, is pure both internally and externally, is adept and impartial, has risen above all distractions, has renounced the feeling of doership in all undertakings, neither rejoices nor hates, nor grieves, nor desires, renounces both good and evil actions, is alike to friends and foes as well as to honour and ignominy, remains even-minded in heat and cold, pleasure and pain and other contrary experiences, is free from attachment, takes praise and reproach alike. is given to contemplation, contented with any means of

---

1. *Ibid.*, VI.29:
   सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
   ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।
   cf. *Iśopaniṣad*,6, according to which he who sees all beings in the self, and the Self in all beings, no longer hates anyone:
   यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
   सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।
2. *Śrīmadbhagavadgītā.*, VI. 32:
   आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
   सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।।
3. *Ibid.*, II. 48:
   योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
   सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।
4. *Ibid.*, II. 56-57:
   दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
   वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।
   यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
   नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।
5. *Ibid.*, IV. 22:
   यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
   समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।।

subsistense whatsoever, entertains no sense of ownership and attachment in respect of his dwelling place, has a stable mind and is full of devotion.[1] A person who has risen above the three Guṇas, viz. Sattva, Rajas and Tamas, is ever established in the Self and is possessed of wisdom, takes woe and joy alike, treats a clod of earth, a stone and a piece of gold equal in value, receives the pleasant and the unpleasant in the same spirit, views censure and praise alike, is indifferent to honour and ignominy, is alike to freinds and foes, and renounces the sense of doership in all undertakings.[2] The Supreme Self is rooted in the knowledge of the self-controlled man whose mind is perfectly serene in the midst of pairs of opposites, such as cold and heat, joy and sorrow, and honour and ignominy.[3] Such a Yogin is regarded as a realized soul (*Yukta*) whose mind is sated with Jñāna (knowledge of the manifest Brahman) and Vijñāna (knowledge of the unmanifest and formless Brahman), who remains unmoved under all circumstances, whose senses are completely mastered, and to whom a clod of earth, a stone and a piece of gold are all alike.[4] A person equipped with the attitude of equanimity, treating alike victory and defeat, gain and loss, pleasure and pain, does not incur any sin.[5] Contacts between the senses and

---

1. *Ibid.*, XIII. 16-19:
   अनपेक्षः शुचि र्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
   सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।
   यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
   शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः।।
   समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
   शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः।।
   तुल्यनिन्दास्तुति मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
   अनिकेतः स्थिरमति र्भक्तिमान् मे प्रियो नरः।।
2. *Ibid.*, XIV. 24-25:
   समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
   तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।।
   मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
   सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते।।
3. *Ibid.*, VI. 7:
   जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
   शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः।।
4. *Ibid.*, VI. 8:
   ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
   युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।।
5. *Ibid.*, II. 38:
   सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
   ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।।

their objects do not torment a man who is equipoised amid pain and pleasure. Such a person becomes eligible for immortality.[1] Equability is thus a pre-requisite for God-realization as well as a preponderant characteristic trait of a realized soul. One need not stress that the cultivation of equanimity brings about a tremendous change in the outlook of an individual, who then conducts himself towards every member of the society with an impartial, balanced and compassionate mind, devoid of all hatred and hostility.

From a perusal of the *Śrīmadbhagavadgītā*, it is evident that a person ought to observe an attitude of equanimity with regard to various classes of human beings, too. Lord Kṛṣṇa asserts, in unequivocal terms, that He created the four orders of society, viz. the Brāhmaṇas, the Kṣatriyas, the Vaiśyas and the Śūdras, classifying them in accordance with their predominant innate qualties and corresponding actions.[2] The duties of the Brāhmaṇas, the Kṣatriyas, the Vaiśyas and the Śūdras have been divided according to their inborn qualities.[3] The natural duties of a Brāhmaṇa are: subjugation of mind and the senses, enduring hardships for the discharge of sacred obligations, external and internal purity, forbearance, straightness of mind, senses and behaviour, acquiring and imparting the study of the Vedas and other scriptures, realization of God, and belief in the authority and infallibility of the Vedas and other scriptures, God, life after death, etc.[4] The natural duties of a Kṣatriya are constituted by valour, fearlessness or moral stamina, fortitude, adeptness, steadiness in battle, donation, and lordliness.[5] Agriculture, the rearing of cows and an honest exchange

1. *Ibid.*, II. 15:
   यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
   समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।।
   Lord Kṛṣṇa advises Arjuna to ignore such contacts as they give rise to the feelings of heat and cold, pleasure and pain, etc., though transitory and fleeting in nature. Vide *Ibid.*, II. 14:
   मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
   आगमापायिनोऽनित्यास्तां स्तितिक्षस्व भारत।।
2. *Ibid.*, IV. 13:
   चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
   तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।।
3. *Ibid.*, XVIII. 41:
   ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
   कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवै र्गुणैः।।
4. *Ibid.*, XVIII. 42:
   शमो दमस्तपः शौचं शान्तिरार्जवमेव च।
   ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।।
5. *Ibid.*, XVIII. 43:
   शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
   दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।।

of merchandise are the natural duties of a Vaiśya while the service of other classes is the natural duty of a Śūdra.[1] Keenly devoted to one's own natural duties, one attains the highest perfection.[2] One's own duties, though devoid of merit, are, therefore, preferable to the duties of others well-performed; even death in the performance of one's own duties brings blessedness, others' duties are fraught with danger;[3] for performing the duties ordained by one's own nature, one does not incur sin.[4] One should not, therefore, abandon one's duties, even though tainted with blemish; for as the fire is enveloped in smoke, all undertakings are clouded with demerit.[5] In fact, there is no being on the earth or anywhere else, which is free from the three Guṇas born of Prakṛti,[6] which determine the nature of an individual. Forced by one's own nature, one has to undertake such actions as one is not willing to undertake through ignorance;[7] and surely one cannot remain inactive even for a moment; for everyone is helplessly driven to action by nature-born qualities.[8] Kṛṣṇa hints at the harm that would accrue if He does not perform His duties carefully and properly." If I cease to act, these worlds will perish (as they will indulge in arbitrary, wicked and immoral actions in order to accomplish their selfish ends and worldly

---

1. *Ibid.*, XVIII. 44:
कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।।
2. *Ibid.*, XVIII. 45:
स्वे स्वे कर्मण्यभिरत: संसिद्धिं लभते नर:।
3. *Ibid.*, III. 35:
श्रेयान्स्वधर्मो विगुण: परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह:।।
4. *Ibid.*, XVIII. 47:
श्रेयान्स्वधर्मो विगुण: परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्।।
5. *Ibid.*, XVIII. 48:
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता:।।
6. *Ibid.*, XVIII. 40:
न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुन:।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभि: स्यात् त्रिभिर्गुणै:।।
7. *Ibid.*, XVIII. 60:
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्ध: स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्।।
8. *Ibid.*, III. 5:
न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवश: कर्म सर्व: प्रकृतिजैर्गुणै:।।

enjoyments, detrimental to the interest of humanity, not enjoined by the scriptures, with utter disregard to others); nay, I shall prove to be the cause of confusion (in the social order by showing the people, by my example, the way to abandon duties enjoined on them by the scriptures) and of the destruction of these people.[1] The wise man should, therefore, act without attachment for maintenance of the world order.[2] Evils bring about an intermixture of Varṇas; and as a result, the age-long Varṇa-duties and family customs are extinguished, and preponderance of vice takes place.[3] One should perform actions as ordained by the scriptures, and not the ones prohibited by them.[4]

It should be noted that according to Lord Kṛṣṇa, the Varṇa-system is based on the inborn qualities and corresponding actions of the people, and not on birth in a particular family. It is thus a division of labour or various professions, necessitated for the smooth and harmonious organisation and administration of the society. The *Mahābhārata*[5] and the *Manusmṛti*[6] also accept actions as the basis of this social order. Separate duties have been apportioned to each class in view of their respective aptitude and capabilities so that they may discharge their respective duties unhampered as the essential limbs of the same social organism, not affording to entertain the least disregard for others or relegating others to a subordinate position. Lord Kṛṣṇa has, in fact, presented the Vedic view of the Varṇa-system. In the Vedic times, persons resorting to different occupations and thus belonging to different Varṇas according

---

1. *Ibid.*, III. 24:
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।।
2. *Ibid.*, III. 25:
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांसस्तयासक्तश्चिकीर्षु र्लोकसङ्ग्रहम्।।
3. cf. *Ibid.*, I. 43:
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः।।
Śrīdhara interprets *jāti dharmāḥ* as *varṇadharmāḥ*
4. *Ibid.*, XVI. 24:
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।।
5. *Mahābhārata*, Śāntiparvan, 188. 10 (Gita Press, Gorakhpur edition); 188.14:
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्।
इत्येतैः कर्मभिर्व्यस्ता द्विजा वर्णान्तरं गताः।।
6. *Manusmṛti.*, I. 87:
सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः।
मुखबाहूरूपज्ज्ञानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत्।।

to their work could live very harmoniously in the same family without any feeling of superiority or inferiority. Thus Śiśu Āṅgirasa states: "I am an artisan, i.e. composer (seer) of hymns (and thus a Brāhmaṇa), my father is a physician (and thus a Vaiśya) and my mother prepares flour for others by grinding the grains between millstones (and thus a Śūdra on account of rendering service to others); we have thus recourse to different actions/occupations so as to attain wealth, as cow-herds follow their cows."[1] A person was free to follow different professions at different times and could consequently associate himself to different Varṇas. Thus Gāthina Viśvāmitra asks Indra whether he would make him a cowherd, or a king, or a Ṛṣi---the drinker of Soma, or would favour him with imperishable wealth.[2] A person could embrace an occupation different from the one inherited from parents by birth. Thus Devāpi, though belonging to the royal family of the Kurus, became a Ṛṣi and served as a priest for his younger brother King Śantanu in a rite to secure rains.[3] The people of different Varṇas with their divergent duties and occupations lived amicably with mutual goodwill and co-operation.[4] It was in later times that the Varṇas came to be determined by birth and the feeling of superiority or inferiority crept in. The system deteriorated further to give rise to numerous castes, resulting in disintegration of the Hindu society. The *Śrīmadbhagavadgītā* lays emphasis on equality among people, to whichever Varṇa they may belong. Thus the wise look on a Brāhmaṇa and a pariah with the same eye,[5] without treating the former as superior and adorable, and the latter as inferior and contemptible. Lord Kṛṣṇa declares that women, the Vaiśyas as well as those of vile birth (such as the pariah), whoever they may be, attain the supreme goal by taking refuge in Him.[6] As a matter of fact, no one has the right to despise others or anything in the world; for God is the source of all creation

---

1. *Ṛgveda.*, IX. 112.3:
   कारुरहं ततो भिषगुंपलप्रक्षिणीं नना।
   नानांधियो वसुयवोऽनु गा इंव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परिस्त्रव।।
2. *Ibid.*, III. 43.5:
   कुविन्मा गोपां करसे जनस्य कुविद् राजानं मघवन्नृजीषिन्।
   कुविन्म ऋषिं पपिवांसं सुतस्य कुविन्मे वस्वो अमृतस्य शिक्षा।।
3. *Ibid.*, X. 98.7; *Nirukta*, II. 10.:
4. cf. *Atharvaveda*, IXX. 62.1:
   प्रियं मां कृणु देवेषुं प्रियं राजंसु मा कृणु।
   प्रियं सर्वस्य पश्यंत उत शूद्र उतार्ये।।
5. *Śrīmadbhagavadgītā*, V. 18:
6. *Ibid.*, IX. 32:
   मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
   स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।।

which is virtually His own projection, and the entire universe is permeated by Him.[1] Contempt for any person or thing would, therefore, amount to insult to God Himself. A true Sādhaka does not have malice towards anyone, is friendly and compassionate to all,[2] is devoid of all enmity,[3] does not entertain a feeling of violence for anyone,[4] and is constantly engaged in the welfare of all beings.[5] God Himself is the friend of all.[6]

The *Śrīmadbhagavadgītā* thus preaches universal equanimity, harmony, brotherhood, friendship, sympathy and compassion, on spiritual basis to the entire humanity.



1. *Ibid.*, VII. 6: अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।।
   X. 8: अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
   VII. 7: मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।।
   VII. 10: बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
   X. 39: यश्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
   VII. 19: वासुदेवः सर्वम्।
   VI. 30: यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
   VI. 31: सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
   VIII. 22: यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।
   IX. 4: मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
   मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।।
   IX. 29: समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
   XIII. 27: समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
   XIII. 28: समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
2. *Ibid.*, XII. 13-14: अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च। ...स मे प्रियः।।
3. *Ibid.*, XI. 55: निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।।
4. *Ibid.*, XIII. 28:
   समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
   न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम्।।
5. *Ibid.*, XII. 4:
   संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
   ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।।
6. *Ibid.*, V. 29:
   सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।।

Sanskrit and New Education Policy

Dr. Koshelya Walli

Education is supposed to draw out the latent potentialities in man. An educated man is expected not only to earn his/her livelihood, but also to be a link between the past, present and the future. Prime Minister Mr. Rajiv Gandhi, every now and then reminds his countrymen about the fact that whatever is good in our past that we must own and whatever is good in our present that we should readily grasp and combine the two to make our present better in every respect.

The proud cultural current of Mother India is appreciated throughout the length and breadth of the Universe. The unending source of that rich cultural heritage is our Sanskrit language and literature. Surprisingly enough, our new policy makers of education at the centre have done away with the allotment of the place due io Sanskrit in New Education curricula.

Even in British regime, stndents were provided with an opportunity to read Sanskrit upto 10th class. In school till now, students would get an opprotunity to read Sanskrit from 6th to 8th class, but alas now in "Free India" New Education Policy denies the right of learning Sanskrit to Youth.

Efforts have been made and are being made by the educationists of India to draw the attention of the New Education Policy makers to this great lacuna in the New Education Policy, but so far the efforts have not yielded any result.

The question is put again and again why Sanskrit, how Sanskrit where Sanskrit to be placed in New Education Policy ? The answer is as clear as broad day light. Sanskrit literature is full of the books concerning physical science, medical science, policy, social science, ethical science and the like. It is argued that the essence of these sciences can be known through translations in other languages, but it is to be emphasised here that the utility of original Sanskrit books is not lessened thereby. The bulk of Sanskrit literature is so huge that it is not possible to translate everything in toto in other languages.

Second important point is that original has its own significance and that significance cannot be conveyed in its entirely through any translation. Thirdly translation and explanation cannot be a solid proof for the original work.

Fourthly, Sanskrit is a perfect language. Grammatically, it is enormously rich. Various thinkers, philosophers and scholars interpreted various texts in different ways from time to time in the context of social circumstances. Hence, the importance of the Sanskrit texts cannot be lessened in any manner. Thus the close connection between the Sanskrit language and the contents of the books written in Sanskrit cannot be underestimated in any way.

Evidently enough, our various sciences, our cultural heritage shall get life only if Sanskrit language is known to us. If Sanskrit language is removed from the New Education Policy, the Youth will be deprived of the wealth preserved in Sanskrit books. After some time, the posterity shall forget the cultural heritage and the present day National Education Policy markes shall not be forgiven by the future generations of India nay, by the whole humanity.

Maxmuller dedicated his whole life to the study of Sanskrit in original and was impressed by the richness of Indian Philosophy to declare it the wealthiest.

Dr. Will Durant in his book - The Story of Civilization - has declared Sanskrit as the mother of all the languages of the world. After long research American scientists found only Sanskrit as the perfect Language. The specialists in computer science have allotted the foremost place to Sanskrit for the purpose of computer.

Today, England- the centre of English language teaches Sanskrit to its students to strengthen the knowledge of English, but what a paradox. The home of Sanskrit language - India - intends to forsake the Mother Language-Sanskrit. No wonder, the Indian Society of today is losing the moorings of human values and the youth finds itself on the crossroad of life without any direction, ignorant of its own cultural wealth.

It is high time that the journalists, social workers, intelligentia, last but not the least the educationists foresee the grave danger in adopting the New Education Policy without giving due place to Sanskrit language and literature. For all practical purposes, Let Sanskrit be taught with Hindi and regional languages. New Education Policy framers can make the composite syllabus of Sanskrit and Hindi, Sanskrit and regional languages.



Impact of Sanskrit on Marathi

Prof: Saroja Bhate

The close connection between Marathi and Sanskrit is best expressed in the opening sentence of the Introduction by Jules *Bloch* to his book, *The Formation of the Marathi Language*. He say,s "Not one of the Indo-European languages, currently spoken in India seems to go back to any language greatly different from Sanskrit, made known to us by the Vedic and classical texts. To write the history of any one to them, Marathi for example, therefore amounts essentially to show as to how the alterations undergone during the course of history, by the linguistic system of Sanskrit have resulted in the constitution of firstly the various dialects of the Middle Indian and subsequently of this modern language itself".[1] It would be worthwhile to take a brief survey of the history of the growth of Marathi.

For the sake of description the history of Marathi language can be divided into 5 periods. It begins with the period of the Yadavas (1200 A.D. to 1300 A.D.). The first literary records in Marathi produced during this period already show the fully grown stage of Marathi, traces of which are available in the earlier inscriptions. The monumental works like the *Jnaneshwari* and the *Vivekasindhu* mark the first phase in the history of Marathi. The striking feature of Marathi belonging to this phase is its purity.

The next stage in the history of Marathi language is marked by Muslim invasion. This period is known as Bahamani period (1350 A.D. to 1600 A.D.). In spite of the confrontation with totally alien culture, Marathi flourished during this period. The major literary activity in Marathi is centered round religious and philosophical themes. Therefore the influence of Sanskrit was inevitable.

The period of Shivaji the great Maratha King, represents the third phase (from 1600 A.D. to 1700 A.D.). The Muslim invasion had resulted in insurgence of a good number of Persian words in the vocabulary of Marathi to the extent that Marathi nearly lost its identity. In revolt against this, it is believed, that Shivaji got prepared *Rajavyavaharakosha* by Raghunath Pandit in which Sanskrit equivalents to all Persian words related to law and administrtion were provided. Sanskrit vocabulary was thus used to remove influence on Marathi of a foreign language.

1. Jules Bloch, *The Formation of the Marathi Language*, translated by Devaraja Chanan into English, Delhi, 1970, p. 1.

This period produced profuse Marathi literature mainly with a religious and philosophical bias and in spite of the attempts of some authors to bring Sanskrit and Marathi in confrontation with each other, predominance of Sanskrit continued.

During the British regime (1850 to 1947 A.D.), which marks the fourth phase in the development of Marathi, Marathi again had liberal borrowings from Sanskrit. Although English was introduced and the intellectuals took pride in declaring that they are nourished by the milk of the tigress (Vishnushastri Chiplunkar used to call English 'the milk of a tigress') they produced highly Sanskritized Marathi literature. The British rules employed scholars trained in traditional learning in the Education department and got prepared by them general books and text books. Sanskrit vocabulary was freely permeated in Marathi through the literature produced by these learned scholars.

The fifth and the last phase of Marathi begins with Indendence or, to be more precise, with the formation of the new state of Maharashtra in 1960. It was then resolved that Marathi be the state language of Maharashtra. Whereas in 1964 Marathi was legally given the status of State language, its use for administration and other official purposes started from 1st May, 1966. Special efforts were made even of the side of the Govt. to improve the status of Marathi by introducing new terminology. One visible fruit of these efforts was the publication of the *Shasanavyavaharakosha* in 1913. This *kosha* contains 30,000 Marathi equivalents to English words used in administration. Even a cursory glance at these words shows that more than 40% of the terminology is Sanskrit based.

While on the one hand the gap between Sanskrit and Marathi is widening because of several reasons such as the government education policy, on the other hand, new borrowings from Sanskrit into Marathi have proved the inevitable impact of Sanskrit on Marathi.

The history of the development of Marathi from ancient times up to the modern age can be thus described as the history of ups and downs in the rapprochement between Sanskrit and Marathi. Although their relationship was never steadfast, Sanskrit has always been the single greatest source of borrowing for Marathi. The obvious reason is that the affinity of Marathi with Sanskrit is not skindeep; it is a blood relation. History also tells us that Sanskrit has come to the rescue of Marathi from the clutches of foreign languages like Pharsi and English. It is quite natural if the Marathi lovers cannot bear excess of Sanskrit influence on Marathi, however, they are aware of the fact that purification of Marathi cannot be achieved by de-sankritization which would amount to dehydration of Marathis. In fact, the use of San-skritized Marathi is still abounding among the intelligentia in

both literary and spoken activities.

The perpetual relation between Sanskrit and the modern Indian languages is due to the following factors :-

1. Throughout the ages Sanskrit is permeated with the culture in all the Indian languages. Therefore as long as the culture is a part of any language Sanskrit will remain unseparated.

2. The vast literature produced in Sanskrit in numerous fields of knowledge has been all through the ages, a perennial fountain source of Indian liteature and it will continue to be so.

3. The use of Sanskrit-based Marathi, is generally regarded a sign of learning and maturity. Thus, the use of Sanskrit words will continue to be respected as a mark of high taste and culture.

4. History tells us that Sanskrit has always stood by the side of Marathi to cast off foreign invasion. The rich mine of Sanskrit vocabulary has thus proved a great force, big asset for Marathi which it cannot afford to lose.

5. Sanskrit is the language of National Integration. In order to achieve that aim, in order to establish rapport among people from all the corners of this multilingual country Sanskrit is the only means of communication.

In can be said therefore that Marathi will always remain indebted to Sanskrit for maintaining its health and wealth also in future as in the past.



Yogic Experiences in the Purāṇas

Prof. Pushpendra Kumar

The Purāṇas have been responsible for placing before the common man not only the ideal stories of Kings of India belonging to solar and lunar races, but they reveal in singing of the glory of rulers lile Rantideva who were ready to give up their kingdoms and honour, even liberation from the world, and were eager to undergo all troubles and their life for the sake of relieving the distressed. The credit for providing places of pilgrimage for the common man in the various nooks and corners of this vast country and thus inculcating in him a sense of the integration of the whole country, must be given to the Purāṇas. The Purāṇas have also thrown open the gates of emancipation to all, irrespective of caste and creed, by combining philosophy and poetry in a way which all can understand. No wonder the Purāṇas deserve to the treated as the fifth Veda. The Purāṇas have described yogic philosophy in a manner which can be practised and understood by the common people.

The yoga may very well be described as the science of Mental discipline. The perfect control or inhibition of the modifications or modes of consciousness (चित्तवृत्ति) is to be attained in the varying forms of Samādhi. The Samādhi state is the fruition and consummation of Dhyāna state or the stage of meditation, and here the object alone occupies the field of consciousness. The thought of distinction between the meditator and the meditated even being absent. The highest form of Samādhi is Nirvikalpa where the self is pure and single, being absolutely undisturbed by any modification. This really objectless and supportless Samādhi yields the realisation of the genuine nature (स्वरूप) of the self.

The yoga system of Patanjali is not primarily a psychological system and its treatment of psychological problems is only incidental to its main metaphysical and ethical purposes. It assumed that spirits were infinite in number and that each spiritual being must earn its release from the grip of matter by individual effort. It propagates also that the final state of a released soul was one of splendid isolation (कैवल्य)--- complete freedom from material contact. In this state of salvation the soul was supposed to recover its innate purity, self-illumination and freedom from material world. The general philosophical attitude was that the soul must desire, strive for and desire its freedom from the shackles of material existence.

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासङ्गो मुक्त्यै निर्विषयं मनः।। वि 6/7/8

सोऽहं स च त्वं स च सर्वमेतद्
आत्मस्वरूप त्यज भेदमोहम्।। वि0 2/16/23

Devotion to God is considered the best means for realisation of self and identification with God.

तस्मात् समस्तलोकानां भक्तिर्गीतेति गीयते।
तथा भक्तिं समाश्रित्य सर्वे जीवन्ति धार्मिकाः।।
भक्त्या सिध्यन्ति कर्माणि कर्मभि स्तुष्यते हरिः।
तस्मिन् तुष्टे भवेज्ज्ञान ज्ञानान्मोक्षमवाप्यते।। नारद- 4/29-33

If the soul is the principle of consciousness and matter the unconscious stuff of reality what would remain of cousciousness if the necessary paraphernalia of cognition were removed. How would a soul function without a body, a group of sense-organs, and a group of internal principles. The yoga philosophy introduces the distinction between relational thinking and self-illumination, it throws to the side of unreality the whole process of empirical thought and reserves for the soul's insight the entire field of spiritual reality. But the language employed was not always happy, for it was often asserted that self-illumination was identical with the knowledge of the ultimate distinction between soul and matter. Possibly what was intended was that the rise of pure spiritual insight was identical with a cessation of the awareness of the nonspiritual, the psychological duality of subject and object being transcended in a logical duality of which both terms could not simultaneously exist. In other words, we are to understand by the rise of spiritual insight (प्रज्ञा) a positive realisation of the true nature of the self and not a mere consciousness of distinction between nature and self.

In all the Mahāpurāṇas there are chapters on yoga and yogis. The Viṣṇu P. the Narada P., the Devi Bhagavata P., Bhāgavata P., the Markaṇḍeya P., the Agni P. all discuss the yoga and the concept of Brahman.

All these Purāṇas are Vaishṇava Purāṇas so they deal the yoga pertaining to Viṣṇu. The Supreme Lord is Viṣṇu to be realised by Dhyāna & Samādhi.

Similarly the Śaiva Purāṇas like Śiva P., Skanda P., etc. deal Śaiva Yoga. i.e. These discuss and identify - Śiva with Para Brahman. Ultimate realization or revelation is in the form of Śaiva. These also mention the various schools of Saivism prevalent in India.

One of the oldest Purāṇa viz Markaṇḍeya P. recites the name of Jaḍa Bharata

He says desire should be renounced with all heart. If one cannot do it, then one should be directed to liberation as liberation is a powerful medicine for it.

कामः सर्वात्मना हेयो हातुं चेच्छक्यते न सः।
मुमुक्षां प्रति तत्कार्यं सैव तस्यापि भेषजम्।। मा. 34/24

He again says that pain exists in mind, pleasure also belongs to the mind. As I am not mind, therefore I have neither pleasure not pain.

मनस्यवस्थितं दुःखं सुखं वा मानसं च यत्।
यतस्ततो न मे दुःखं सुखं वा न ह्यहं मनः।। मा. 34/37.

He continues that as I am not my consciousness, as I am not my mind, nor my understanding, how can pain, which is begotten by inner faculties and which is alien to me, be mine?

नाहंकारो न च मनो बुद्धिर्नाहं यतस्ततः।
अन्तःकरणजं दुःखं पारक्यं मम तत्कथम्।। मा. 37/238

I am neither miserable not happy, for I am above Prakriti. The material which is subjugated by matter, is subject to pleasure or pain.

सोऽहं न दुःखी न सुखी यतोऽहं प्रकृतेः परः।
यो भूताभिभवो भूतैः सुखदुःखात्मको हि सः।। मा. 35/5.

Viṣṇu Purāṇa deals with yoga in 6th Book chs 4&8. It says that God is in everyone.

सर्वभूतमयोऽचिन्त्यो भगवान् भूतभावनः।
अनादिरादिर्विश्वस्य पीत्वा वायुमशेषतः।। वि. 6/ 4/ 3.

He sleeps in yoganidra and is called Vasudeva- वासुदेव.

आत्ममायामयीं दिव्यां योगनिद्रां समास्थितः।
आत्मानं वासुदेवाख्यं चिन्तयन् मधुसूदनः।। वि. 6/ 4/ 6.

यदा जागर्त्ति सर्वात्मा स तदा चेष्टते जगत्।
निमीलत्येतदखिलं मायाशय्यां गतेऽच्युते।। वि. 6/ 4/ 8.

The God remains unchanged, devoid of form, flavour, touch and smell, it exists unembodied and vast and pervades the whole of space.

अरूपरसमस्पर्शमगंधं न च मूर्त्तिमत्।
सर्वमापूरयच्चैव सुमहत्तत् प्रकाशते।। वि. 6/ 4/ 25.

Yogis meditate on Viṣṇu विष्णु and not return to the world.

तद्ब्रह्म परमं धाम परमात्मा स चेश्वरः।
स विष्णुस्सर्वमेवेदं यतो नावर्तते यतिः॥ वि. 6/ 4/ 38.

He is knowledge himself and revealed by Jñāna- ज्ञान.

ज्ञानात्मा ज्ञानयोगेन ज्ञानमूर्त्तिः स चेज्यते।
निवृत्ते योगिभिर्मार्गे विष्णुर्मुक्तिफलप्रदः॥ वि. 6/ 4/ 43.

He is both व्यक्त and अव्यक्त at the same time.

व्यक्तः स एव चाव्यक्तस्स एव पुरुषोत्तमः।
परमात्मा च विश्वात्मा विश्वरूपधरो हरिः॥ वि. 6/ 4/ 45.

The knowledge is of two types

आगमोत्थं विवेकाच्च द्विधा ज्ञानं तदुच्यते।
शब्दब्रह्मागममयं परं ब्रह्म विवेकजम्॥ वि. 6/5/61

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति। वि. 6/5/63

Two stages of a Yogī are described thus by Keśidhvaja

योगयुक् प्रथमं योगी युञ्जानो ह्यमिधीयते।
विनिष्पन्नसमाधिस्तु परं ब्रह्मोपलब्धिमान्॥ वि. 6/7/33

ध्यान of each deity is the specially of the Puranas

विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते।
आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति॥ वि. 6/7/96

विज्ञानं प्रापकं प्राप्ये परे ब्रह्मणि पार्थिव।
प्रापणीयस्तथैवात्मा प्रक्षीणाशेषभावनः॥ वि. 6/7/93

Knowledge is that which leads to a true conception of Brahman. The highest knowledge is that illumines the universe. Yoga consists in concentrating the mind on a definite subject, by withdrawing from all other objects of sense-perception and in bringing about a communion between the self (जीवात्मन्) and its supreme prototype (परब्रह्मन्).

The five factors of discipline or self-control are Yamas–अहिंसा, सत्य, अस्तेय, संयम and इच्छा संयम. Renunciation of all desire for gift or gain. These together with the Niyamas lead to all that can be desired in life, and ultimately to the final liberation of the Self.

Miraculous powers and celestial attributes spontaneously develop themselves in a yogin, absorbed in meditating upon the universal soul, symbolised by God

Viṣṇu. These indicate his success in connection with his practice of yoga. He becomes immortal, blissful god.

The Śiva Purāṇa envisages a pleasant co-mingling of the varied streams of thought revolving around the Śaivism of the Puranic period. During this time a number of Śaiva upaniṣads seem to have been written up. There is a good deal of exchange of material between Śaiva Purāṇa and Śaiva upaniṣads.

It is essential to study the vast material of Śaivism available in the Śiva Purāṇa so that a clear picture of the entire system is obtained. This material is grouped in two broad headings-- the Pāśupata yoga and the Śaivism of Śiva Purāṇa.

Śaivism in the Śiva Purāṇa are dealt with in the three Samhitās of the Purāṇa viz. the Kailaś Samhitā, Umā Samhitā and the *Vāyavīya* Samhitā. The Pāśupata Yoga is also called Maheśwara Yoga. The Paśupata cult represents-vrata and yoga signifying action and knowledge respectively, which have a common goal the attainment of the state of Pāśupati. This system was developed by the four yogis, viz Rama, Dadhicha, Agastya and Upernanya.

The Śiva Purāṇa mentions the 28 names of the yogacāryas. Umā Samhitā mentions 4 names of the yogacāryas including Krisṇa.

The soul is beyond intellect, the senses, and the body. The supreme or the individual self may be comprehended by the mind made pure by the practice of meditation.

मनसैवानुद्रष्टव्यम्--

The existence of Paśupati-- the Supreme being is established on the analogy of the cause and effect relationship. The world –an effect consisting of components (सावयव) pre-supposes some intelligent cause (कारण) without which it would not have existed. Pati therefore is the intelligent creator, that is none other than the all powerful omniscient and eternal god. The act of creation by Paśupati is an expression of his free will.

स एव जगतः कर्त्ता महादेवो महेश्वरः।
परिणामः प्रधानस्य प्रवृत्तिः पुरुषस्य च।। शि. - 4/69

The Pāśupata yoga looks to the living body as the seat of the divine spirit, the consciousness. In the centre of heart dwells the vital Air, the subtle soul stays in the centre and permeats the whole body. The Yogasūtra deals in the same manner as in the Śiva Purāṇa.

निरुद्धप्राण आसीनो हंसमन्त्रमनुस्मरन्।
हृदिस्थं जीवचैतन्यं ब्रह्मनाद्यां समानयेत्।। शि. 5/52

The Pāśupata yoga is a significant subject in the various Śaiva Purāṇas. Besides the Śiva Purāṇa the Linga Purāṇa has numerous chapters devoted to this topic. The Vāyu Purāṇa has comparatively the oldest Pāśupata material of all the Śaiva Purāṇas. The Skanda Purāṇa has dealt with the matter in detail.

ब्रह्मादितृणपर्यन्तं यत् किंचिद् दृश्यते त्विह।
तत्सर्वं शिव एवास्ति नात्र कार्या विचारणा।। शि. 77/16



Ānandavardhana's Practical Recognition of Dhvani Theory : A Critique

Ravinder Kaur

Ānandavardhana expounded the theory of *dhvani* as the most significant principle in literary criticism. He regarded it to be the quintessence of peotry. In his epoch-making treatise, namely the *'Dhvanyāloka'*, he established this new concept of dhvani at a time when alaṁkāra (poetic *embellishments*), *rīti* (poetic styles) and *guṇa*, (poetic excellences) the outer fringes of poetry were already prevalent. He founded this concept on very sound and solid grounds. He was fully apprehensive of the negative views of his opponents, which he refuted in very strong words and established *dhvani* as the most beautiful element and the quintessence of the poetic compositions.[1] The theory had to face the opposition of the rival schools but it managed to gain universal admiration and acceptance because of the masterly treatment given to it by its propounder, ācārya, Ānadavardhana. Credit must also be given to Abhinavagupta who established it with a more authoritative and authentic manner by presenting its interpretation in the commentary of the *'Dhvanyāloka'* called the *'Locana'*.

As regards the existence of this theory even before Ānandavardhana, we have clear references in the opening *Kārikā* (verse) of the *'Dhvanyāloka'* where it has been claimed by the author that the theory of *dhvani* is an ancient one '*samāmnātapūrvaḥ*'. For this statement we have to agree to Abhinavagupta's remarks that *dhvani* was orally handed down in learned circles with an unbroken tradition, though unrecorded in books.[2] That the theory was not unknown to the men of literary taste but was unrecognised by the ancient rhetoricians is further proved by Ānandavardhana when he gives the explanation of a few words used in the first kārikā of the 'Dhvanyāloka'. Accordingly the ancient rhetoricians were the blind followers of the conventional topics of poetics viz. *guṇas,* (poetic excellence), *rītis* (poetic styles), *alaṁkāras* (poetic embellishments), *rasas* (poetic sentiments) etc. and were

1. Dhvn. I, 1 (p.3) : Kāvyasyātmā dhvaniriti budhai yo samāmnātapūrvaḥ, tasyābhāvam jagadurapare bhāktamahus - tamanye. Kecidvācām sthitamaviṣaye tattva-mūcustadīyam, tena brūmah saḥṛdayamanaḥ prītaye tat-svarūpam.
2. Dhvn. Loc. (p.32) : avicchinnena pravāheṇa tairetaduktam, vināpi viśiṣṭa - pustakeṣu viniveśanād - ityabhiprāyaḥ.

not ready to give any place to any of the new elements as the soul of poetry.[1] It has been pointed out in 'Dhvanyāloka' itself that the theory existed long before its actual elaborate discussion in the masterly treatise of Ānandavardhana. Thus it can be concluded that Ānandavardhana made an effort to give due recognition to this already prevalent but unestablished theory in the field of Sanskrit literary criticism and for this he had to work out every detail on a firm footing and also had to rely upon the practicality of *dhvani* in the masterpieces of Sanskrit literature which proved to be the basic rudiments for building up the institution of the new theory.

Before giving the exact definition of *dhvani* Ānandavardhana forms a prelude to this theory of suggestion. For the proper comprehension of this, the learned author divides it into two divisions viz. the Vācyārtha or the explicit meaning and the *Vyaṅgyārtha* or the implicit meaning.[2] The explicit meaning is described to work as a groundwork for the theory of suggestion, the significance of which has rightly been brought out by Abhinavagupta when he compares it with the foundation of a building.[3] Though the explicit sense is regarded to play an important role yet it has been contended that in the province of poetry implicit or the suggested meaning alone matters the most. The top secret of poetry is that not even a single specimen of good poetry is devoid of implicit meaning. This aspect alone bears an unstinted admiration from all men of taste. It has been mentioned by the author that the explicit aspect has been elaborately explained in many ways through figures of speech such as *upamā* (simile), *rūpaka* (metaphor), *atiśayokti* (hyperbole) etc. which embellish the expressed sense and therefore the implicit aspect alone has been described by him. The implicit has been compared by Ānandavardhana with the supple grace of the limbs of a beautiful maiden which bears the most captivating appeal and is beyond the charm of all the individual limbs of her body.[4] While commenting on the comparison of the implicit meaning with lāvaṇya or grace of a lady, Abhinavagupta remarks that lāvaṇya or grace in relation to the body cannot

---

1. Dhvn. I, 1 vṛtti (p.9) : śabdārtha-śarīraṁ tāvat kāvyam. Tatra ca śabdagataś-cārutva-hetavo anuprāsādayaḥ prasiddhā eva, arthagataś-copamādayaḥ. Varṇa-saṁghaṭanā dharmāśca ye mādhuryādayaste'pi pratīyante tadanatirikta-vṛttayo'pi kaiścidupanāgarikādyaḥ prakāśitāḥ, te'pi gatā śravaṇagocaram rītayaśca vaidarbhi-prabhṛtayaḥ, tadvyatiriktaḥ ko'ayaṁ dhvanirnāmeti.
2. Dhvn. I, 2 (p. 44) : *yo'arthaḥ sahṛdayaślāghyaḥ kāvyātmeti vyavasthitaḥ. Vācya - pratīyamānākhyau tasya bhedāvubhau smṛtau.*
3. Dhyvn. Loc. (pp. 42-43) : *Bhūmiriva bhūmikā yathā apūrva nirmāṇe cikīrṣite pūrvam nirvivāda - siddha bhūmirviracyate, tathā dhvani - svarūpe pratīyamānākhye nirūpayitavye - vācyabhidhānam bhūmiḥ ---*
4. Dhyn. I. 4 (p. 45) : *pratīyamānam punaranyadeva vastvasti vāṇiṣu mahākavīnām, yat-tat-prasiddhāvayavātiriktam vibhāti lāvaṇyamivaṅganāsu.*

be equated with the absence of the limbs or the presence of adornments therein and it is regarded to be totally independent. Similarly *pratīyamāna* or the suggested meaning is a distinct element altogether. It stands independently and in relation to the body, it cannot be equated with the absence of the limbs or the presence of adornments therein and it is regarded to be totally independent. Similarly pratīyamāna or the suggested meaning is a distinct element altogether. It stands independently and in relation to the poetic body, it cannot be equated with the charm brought forth by the figures of speech. The appealing charm of the implicit meaning is said to be the source of delight like nectar of joy to the connoisseurs. It is considered to be pervading in the works of the great poets and is regarded to be the secret essence of all true poetic creations.[1]

By quoting various examples from prākṛta sources it has been proved by the learned author that the implicit or the suggested sense is not only quite different from the explicit or the primary sense but there is a wide gulf between the two. Accordingly the charm lying in the implicit sense is considered to be altogether different from the charm borne by the explicit sense.

'Bhrama dhārmika visrabdhaḥ saḥ śunako mārito'adya tena,
godānadī-Kachha-Kuñja vāsinā dṛpta-siṁhena'[2]

It is an example quoted by the author for proving the opposite meanings contained in the verse. Here the expressed or the explicit meaning is injunctive or permissive while the suggested or the implicit sense is prohibitive. This is an example of the first type of dhvani i.e. *vastudhvani* or the type of dhvani where an idea is suggested. Here according to the expressed sense the verse contains the idea of encouraging the traveller to rample without hesitation because the cause of his fear i.e. the dog has been killed by the lion. But the implicit sense suggests that the dog which used to frighten the man has recently been killed by the lion and hence there is a danger to his life so he should not move out. Four more examples have been given by the author to prove that the explicit and the implicit meanings are poles apart. It has been referred that sometimes there is a probition in the explicit sense while there is a positive proposal in the implicit sense or there is a positive proposal in the explicit sense but the implicit is devoid of definite prohibition or definite proposal and so on. Apart from this the author referes to various other forms to

---

1. *Dhvn. Loc. (p.) : Sarvathā sahṛdaya-hṛdya-hāriṇaḥ kāvyasaya sa prakāro yatra na pratīyamānārtha-samsparṣeṇa saubhāgyam. Tadidam kāvya-rahasyaṁ paramiti sūribhirbhāvanīyam.*
2. Sanskrit version of the Prākṛta gāthā from Gātha Sattasai, II. 75 and quoted in Dhvn. I, 4 Vṛitti (P. 62).

establish the distinctive nature of the explicit and the implicit meanings in the context of Vastu dhvani.[1]

The second type of dhvani is mentioned as alaṁkāradhvani or the suggestion of a striking or an ornamented idea. Here also the expressed and the suggested sense both remain totally distinct from each other. The beauty of the poem here is due to the suggested ornamented idea.[2] The author quotes the following verse as an example of this dhvani :

> *Lāvaṇya-kānti paripūrita - diṅ - mukhe' asmin,*
> *smere'adhunā tava mukhe taralāyatākṣi!*
> *Kṣobham yadeti na manāgapi tena manye,*
> *suvyaktameva jalarāśirayam payodhiḥ.*[3]

In the above example the idea of the moonface is not directly expressed. It is implicit only through the power of suggestion. Here in the form of the Metaphor it has been suggested that her face is indentical with the moon and this figure of speech is not at all explicit.

Simlarly the third category of *Dhvani* i.e. the *Rasadhvani* or where an emotion or mood is suggested, is also considered to be quite different from the explicit sense.[4] While in the first two varieties, the author contends, the meaning can be conveyed through verbal denotation as well. Rasa-dhvani is always suggested and can never be conveyed through denotation. It is further established that the supreme importance of suggestion can truly be realised in this class of suggestion alone. Since *Rasa* is a matter of experience and is always developed by means of proper presentation of *Vibhāvas* or the determinants, the Anubhāvas or the ensuants and the *Vyabhicāris* or the accessories, this variety of dhvani cannot admit of direct expression at all. Hence it is decidedly altogether different from the explicit.[5] It occupies the most dominant position in high class poetry. While commenting on its distinct nature from the explicit, Abhinavagupta observes that while Vastu and Alaṁkāra can be at times conveyed through denotation, *Rasa* and *Bhāva* are always

1. *Dhvn. I, 1 Vṛtti (pp. 67, 71, 72, 75).*
2. *Dhvn. I, 4 Vṛitti (p. 82) : dvitīyo'pi prabhedo vācyād-vibhinnaḥ ...*
3. *Dhvn. II, 27 Vṛtti (p. 116)*
4. *Dhvn. I, 4 Vṛitti (P. 82); Tṛitīyastu rasādilakṣṇah prabhedo vācya-sāmarthyākṣiptaḥ prakāśyate na tu sākṣācchabdavyāpara - viṣaya iti vācyādvibhinna eva.*
5. *Dhvn. I, 4 Vṛtti (p. 82) : Na hi kevala - sṛṅgārādi - śabda - mātra - bhājī vibhāvādi - pratipādana - rahite kāvye manāgapi rasavatva - pratītirasti ... tasmādanvaya - vyatirekābhyamabhidheya - sāmarthyā - kṣiptatvameva rasādīnām, na tvabhidheyatvam kathañciditi tṛtīyo'pi prabhedo vācyadbhinna eveti sthitam.*

suggested.[1] This *Rasa-dhvani* is the quintessense of a poem. The testimony of 'Rāmāyaṇa' has been given by the author to further strengthen this contention.[2] It has been stated that the wailing cries of the curlew bird, separated from its consort, aroused the emotion of sorrow of the first poet Vālmīki. The sorrow of the bird transfigured in the vision of the imaginative poet and resulted into a poem. Thus '*Rāmāyaṇa*' is the outward manifestation of the poet's tragic emotion which is all pervading in the whole of the poem. Thus it is proved that every true poem is merely an expression of the poet's overflowing emotion and this emotion is transmitted to the readers in succession. It is because of this fact that emotions are fully styled as the soul of poetic compositions.

After establishing the supremacy of the suggestion, especially of *Rasa* the author has tried to lend additional support to his contention by referring to the unearthly and ever bright poetic genius[3] to be the real cause of the poetic composition of the first rate poets and that is why he considers that in the wide range of poets only two to three or at the most five to six such as Kālidāsa,[4] are accepted to be the first rate poets.

Referring to the importance of the implicit meaning, the author contends that meaning cannot be grasped by merely knowing the meanings recorded in grammar or in lexicons.[5] It can only be grasped by having insight into the true significance of poetry. Knowledge of the meanings of grammar and dictionary could have sufficed if the poetry consisted of only the explicit and not the implicit meanings. On the contrary persons having knowledge of grammar alone remain beyond the reach of the intrinsic significance of poetry. The superiority of the implicit over the explicit is further strengthened by the author when he contends that a poet has to be very careful in the recognition of the implicit meaning and the rare word that has the power to convey it.[6] Even though it is a fact that a poet has to use primarily

---

1. *Dhvn. Loc. (p. 78) : Vastvalaṁkārāvapi śabdābhidheyatvamadhyāsate tāvat. Rasa - bhāva - tat-praśamāḥ punarna kadācidabhidhīyante, atha cāsvādya-mānatā-prāṇatayā bhānti, tatra dhvanana- vyāpārādṛte nāsti kalpanāntaram ...*
2. *Dhvn. I, 5 (p. 89) : Kāvyasyātmā sa evārthastathā cādikaveḥ purā, krauñca - dvandva - viyogotthah śokaḥ ślokatvamāgataḥ.*
3. *Dhvn. I, 6 (p. 93) : Sarasvatī svādu tadartha-vastu niṣyandamānā mahatām kavīnām, alokasāmānyamabhivyanakti parisphurantam pratibhāviśeṣam.*
4. *Dhvn. I, 6 Vṛtti (pp. 93-94) : Kālidāsa - prabhṛtayā dvitrāh pañcaṣa vā mahākavaya iti gaṇyante.*
5. *Dhvn. I, 7 (p. 98) : Śabdārtha śāsana jñāna mātrenaiva na vedyate, vedyate sa tu kāvya tattvārthajñaireva kevalam.*
6. *Dhyvn. I, 8 (p. 103) : So-arthas tadvyakti sāmarthya yogi śabdaścha kaścana, yatnataḥ pratyabhijñeyau tau śabdārthau mahākaveḥ.*

conventional uses and expressions but precedence of this usage does not infer the prominence of the explicit. As the final goal of the poet is to convey the suggested sense and for achieving this end he is bound to use denotative words that constitute only the means. This has further been proved by an illustration i.e. just as a man interested in perceiving the objects in the dark, makes an effort towards lighting the lamp as a means to achieve his goal, so also one who is interested in the suggested or the implicit meaning, first proceeds to the conventional meaning.[1] Hence precedence of the means does not lead to its predominance over the end.[2]

Thus having established the separate existence as well as the predominance of the implicit sense a general definition of *dhvani* has been furnished by the learned author. That kind of poetry has been signified as *dhvani Kāvya* or the suggestive peotry wherein the meaning and the word render themselves secondary and suggest only the suggested or the implicit meaning. Thus the formulation of the definition of dhvani proves not only its existence but also serves the purpose of differentiating it from the figures of speech viz. *Ānuprāsa, Upamā,* etc. These adorn only the words and sense and as such are subordinate to them while on the contrary the suggested sense is predominant in a *dhvani - Kāvya.* More so, *dhvani* is conveyed through the power of suggestion but these figures of speech solely depend upon the denotative power of words. Therefore it is contended by the author that *dhvani* cannot be included within the purview of the time honoured alaṁkāras and as such both are mutually exclusive.[3] While refuting the views of those who deny the existence of *dhvani* with the contention that it is nothing but a figmentation of imagination, the author emphatically endeavours to convince that a thorough and minute investigation of the great poetic compositions viz. *Rāmāyaṇa, Mahābhārata* etc. will prove that suggestion pervades them all[4] and no poetic art of repute can afford to be devoid of this essential element which is the sole cause of delight for the true connoisseurs of poetry.

Thus after establishing the existence, the prominence and the definition of *dhvani*, the author refutes the second view of the theorists who identify indication

1. *Dhvn. I, 9 (p. 108) : Ālokārthi yathā dīpaśikhāyam yatnavān janaḥ, tadupāyatayā tadvadarthe vacye tadādṛtaḥ.*
2. *Dhvn. I, 13 (p. 120) : Yatrārthaḥ śabdo vā tamarthamupa - sarjanī kṛta svārthau, vyaṅktaḥ kāvya-viśeṣaḥ sa dhvaniriti sūribhiḥ kathitaḥ.*
3. *Dhvn. I, 13 vṛtti (p. 129) : Yadapyuktam Kāmanīyakamanativartamānasya tasyoktalaṁkārādi - śvevāvant - arbhāvaḥ, iti, tadapyasamīcīnam. yato vācya-vācaka-mātrāśrayiṇi prasthāne vyaṅgya - vyañjaka - samāśrayeṇa vyavasthitasya dhvaneḥ kathamantarbhāvaḥ ...*
4. *Dhvn. I, 1 vṛtti (p. 20) : Sakalasatkavi - kāvyopaniṣad-bhūtamati - ramaṇīyamaṇīyasībhirapi cirantana - kāvya - lakṣaṇa - vidhāyinām buddhibhiranunmīlita - pūrvam, atha ca Rāmāyaṇa - Mahābhārata - prabhṛtini lakṣye sarvatra prsiddha - vyavahāram .. cf. also Dhvn. IV, 5.*

with *dhavni.* While presenting his views on this, Ānandavardhana clearly refers to the difference between the two by pointing out that suggestion and indication cannot bear any identity firstly because of the difference of nature between the two.[1] Secondly suggestion cannot be even determined by indication because of the fallacies of Too Wide and Too Narrow.[2] The fallacy of Too Wide can be seen in as much as indication can exist even in such instances as are devoid of suggestion. Similarly the fallacy of Too Narrow is applied in the examples that indication does not cover the instances of suggestion also. The contention is further strengthened by the point that indication is grounded on the denotative force of words but suggestion is solely supported by suggestivity.[3] Hence they are mutually different.

Lastly responding to the third view which holds that the real nature of *dhvani* is inexpressible the author points out that he has already furnished a general definition of *dhvani* and even in the succeeding chapters of the *Dhvanyāloka* he is going to define and illustrate the specific varieties of *dhvani.* If despite of all this, the opponents regard it to be indefinable then this would be true of everything in the world. But if the above view has been given out of a mere hyperbole to convey the inexpressible charm of the insurpassable nature of suggestion, then he also agrees with them wholeheartedly.[4]

Thus a synoptic view of the general definition of *dhvani,* stated above leads to the conclusion that Ānandavardhana was defining a new theory not only on a theoretical ground but as conscious of recognising it on a practical footing. At a number of places he has referred to the existence of *dhvani* in the Rāmāyaṇa, the Mahābhārata and the works of Kālidāsa. He has also quoted these works copiously in support of his theory. From his observations and remarks about these works, it appears that he held these in high esteem. He has also cited illustrations from his own as well as other literary works of his time. This again is ample proof to establish the fact that the learned author has recognised *dhvani* on a practical pedestal. Such then is Ānandavardhana's practical recognition of *Dhvani Theory.*

---

1. *Dhvn. I, 14 (p. 205) : Bhaktyā bibharti naikatvam rūpa - bhedādayam dhvaniḥ.*
2. *Dhvn. I, 14 (p. 209) : Ātivyāpterathāvyāpterna casau lakṣyate tayā.*
3. *Dhvn. I, 18 (p. 227) : Vācakatvāśrayeṇa guṇa - vṛttirvyavasthitā, vyañjakatvaika - mūlasya dhvaneḥ syāllakṣaṇam katham.*
4. *Dhvn. I, 19 vṛtti (p. 235) : ye'pi sahṛdaya - hṛdaya - saṁvedya manākhyeyameva dhvanerātmānamāmnāsiṣu, te'pi na parīkṣya - vādinaḥ, yataḥ uktyā nītyā vakṣya-māṇayā ca dhvaneḥ sāmānya - viseṣa - lakṣaṇe pratipādite'pi yadanākhyeyatvam tat sarveṣāmeva vastūnam tat prasaktam. yadi punardhvaneratiśayoktyānayā kāvyāntarātiśāyti taih svarūpamākhyāyate tat te'pi yuktābhidhāyinaḥ eva.*

Nature of Māyā, her role in the manifestation of the World in the Advaita Vedānta of Śaṅkara & Advaita Śaivism of Kashmir

Deba Brata Sen Sharma

Both the Advaita Vedānta of Śaṅkara and the Advaita Śaivism of Kashmir admit the *Māyā Śakti* to explain the manifestation of the multiplicity of the world in the non-dual ultimate Reality. But these schools of philosophical thought differ widely in conceiving her nature and the role she plays in the manifestation of the world in conformity with their philosophical perspective on metaphysics. It is proposed here to shed light in the following paragraphs on the points of semblance and divergence in their conceptions of *Māyā*.

It is well known that the Śāṅkara Vedāntins subscribe to the philosophy of non-dualism of absolute kind in their metaphysical thought-projections. They therefore postulate *Māyā Śakti* only for explaining the appearance (*ābhāsa*) of the multiplicity of the world in the non-dual *Brahman*, the sole Reality, one without a second (*ekameva advitīyam*). Being staunch advocate of non-dualism of exclusive kind they donot give ontological status to the *Māyāśakti* apart from an independent of the substratum (*adhiṣṭhāna*), Brahman in their metaphysical postulatins lest that should adversely affect their firm belief in the doctrine of non-dualism based on negative of all in the non-dual one (*netinetivāde*). They, therefore, admit the existence and the functioning of Māyāśakti only on the phenomenal plane (*Vyavahāra bhūmi*), She has no existence at all on the transcendental plane i.e. of the *Brahman*.

Ādi Śaṅkarācarya has referred to Māyā in his Śarirakabhāṣya on the *Brahma Sūtra* (I,4,3) as of the nature of primal neisance (*avidyā*), and as the state of "great sleep" (*mahāsuṣupti*) in which the mortal embodied beings lie, oblivious of their true natue. He has further elucidated his concept of *Māyā* in his *Vivekacūḍāmani* in two verses 108 and 109 which are as under.

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते॥

"*Avidyā* (neisance) or *Māyā*, also called the "unmanifest" (*avyakta*) is the power of the Supreme Īśvara. *Māyā* or *avidyā* is beginningless power, made of three *guṇas* (constituents), and superior (as cause) to the effects (kārya). Her existence

is to be inferred from the effects by the one possessing clear intellect. It is she who tringo forth the universe'' (v. 108)

सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
साङ्गाप्यनङ्गा ह्युभयात्मिका नो महाद्भुताऽनिर्वचनीयरूपा॥

''She is neither existent, nor non-existent, nor part taking of both characters; neither the same, nor different nor both; neither composed of parts, nor the indivisible whole, nor both. She is most wonderful, and as such, she cannot be described in words'' (verse 109)

Here, it may be mentioned that Advaita Vedāntins in the beginning used the terms *Māyā*, *Avidyā* and *Ajñāna* as synonymous ones, but the later vedāntins made subtle distinctions between these different terms to avoid confusion. It is an acknowledged fact that the world manifestation can be looked at from two distinct standpoints, namely that of totality or aggregate (*samaṣṭi*) and its opposite, that is from the perspective of individual (*vyaṣṭi*). Looking from the point of view of the whole or aggregate (*samaṣṭi*) or cosmos, it is *Māyā* or *Avidyā* that veils or hides the true nature of the *Brahman* the all-pervading Reality, the Universal Self. As a matter of fact, the Advaita Vedāntins conceive the nature of *Īśvara* as the *Brahman* or Universal Self veiled by the cosmic Illusion or *Māyā* or Cosmic neisance or Avidyā. He is said to exist on the plane of phenomena as both the material (*upādāna kāraṇa*) and the efficient cause (*nimitta kārana*) of world phenomena. *Māyā* or *Avidyā* is his śakti, which He uses in the manifestation of the world.

The *ajñāna* is the same as *avidyā*, veiling the *ātman*, the individual Self constituting the core individual beings who is called *jīva* (embodied individuals). The Advaita Vedāntins regard the *Brahman* and the Ātman as identical in nature, same is the case with *Māyā* or *Avidyā* and *ajñāna* that are made of the same stuff.

All the Vedāntācāryas who flourished after Ādi Śankarācārya, while agreeing with him in equating the *Māyā* with the *Avidyā* and describing the nature of the *Māyāśakti* as indescribable power (*anirvacanīya*) operating in the locus, Brahman to made the multiplicity to appear, elucidated, the concept of Māyā further in their commentaries on the *Śāṅkarabhāṣya* on the *Brahmasūtra* and the *Upanisads*. We propose to make a brief survey of their contentions on *Māyā* in chronological order.

Mandanamiśra, primarily a mīmāmsaka, follower of Kumārila Bhaṭṭa was a contemporary of Ādi Śaṅkarācārya, but he gave his own interpretation of the philosophy of the Advaita Vedānta somewhat differently from that of Ādi Śaṅkarācārya in his *Brahmasiddhi*. Taking an extreme view on the meaning of advaita (non-dualism) very much similar to that of the subjective idealist like the mādhyamika Buddhists, he described the *Māyā śakti* to be of the nature of pure and

simple illusion (*bhrānti*) that exists in the percipient subject (*pramātā*) while cognising the multiplicity of the world. He cites the examples of silver appearing in a conch shall, or mirage in a desert to explain the phenomena of illusion (*bhrānti*). His views on the nature of Māyā seem to echo the theory of *dristi-sristi-vāda* mentioned in the Upanisads as one of the alternative theories to explain the creation of the world phenomena.

Padmapāda a direct disciple of Ādi Śaṅkarācārya and the founder of Vivaraṇa school within the ambit of Advaita Vedānta seems to give a little substantiality to the *Māyā Śakti* when shedding light on her nature, regarding her the stuff with two powers or two functions, namely that of cognitive activity and vibratory activity, the former determining the psychological process involved in the cognition of the world phenomena by the subject and the latter, cotrolling the physical process relating to the manifestation.

It is Padmapāda to whom the credit for conceiving Īśvara as the creator of the world goes. He postulated the theory that Īśvara is both the material and efficient cause (*abhinna-nimitto pādānakāraṇa*) of the production of the world. As to his nature as has already been mentioned, he holds *Īśvara* to be the *Brahman* delimited by the adjunct (*upādhi*) *Māyā*. Iśvara uses two powers innate in His Māyā śakti, namely that of veiling (*āvaraṇa*) and projection (*vikṣepa*) in manifesting the world-phenomena (*jagatprapañca*). The *Māyā* thus in his view is not negative power (*niṣedha vyāpārarūpā*) but she is positive, having existence (*bhāvarūpa*) on the phenomenal plane, serving as the material cause for the creation of the world (*sriṣṭi*) in the same way as clay for the productin of an earthen jar (*ghaṭa*). But *Māyā*, being of the nature of veiling power of neiscence, is held to destructible by the right knowledge of the locus *Brahman* that she rides by her veiling power. Just as darkness disappears totally in the presence of light *Māyā* gets annihilated fully with the awakening of the knowledge of *Brahman* in the percipient subject.

Sureśvarācārya, also a direct disciple of Ādi Śaṅkarācārya wrote gloss, called *vārttika* on the *bhāṣyas* by his master, Śaṅkara on different Upanisads. He has shed light on his teacher's views on different subjects like the nature of *Brahman, Māyā* world manifestation etc in his gloss. He and his pupil Sarvajñātmamuni hold that Śaṅkara conceived *Māyā* only as an instrument (*Kāraṇa*) for making the non-dual *Brahman* appear as many to the percipient subjects in the mundane plane, hiding the *Brahman's* true nature. They (Sureśvara and his pupil) appear to highlight the nature of the Brahman as the locus (*adhiṣṭhāna*) on which the veil of *Māyā* "hangs" as it were, to produce the knowledge of the multiplicity of the world in the percipient subjects.

Vācaspati Miśra who interpreted Śaṅkara's Advaitic philosophy differently in his *Bhāmatī ṭīkā* on the *Śāṅkarabhāṣya* on the *Brahmasūtra*, thereby gave rise to a new school within the ambit of Advaita Vedānta, called *Bhāmatīprasthāna*. He gave a little more sustantiality to the *Māyā*, holding her co-existant with the *Brahman*, as an accessory in the appearance of the world-manifestation in the *Brahman*. According to him, though the *Māyā* is said to hide the *Brahman*, her locus, yet she really rests on the individual subjects whose existence is dependent on the *Māyā* and *Māyā's* existence on the individual beings in a beginningless cycle.

Vidyāraṇya a popular exponent of the philosophy of Śankara in his famous work *Pañcadaśī* describes *Māyā* as the power of obscuration (*āvaraṇa*) which causes the appearance of the manifold in the *Brahman*. He describes this power (*śakti*) that cannot be regarded as absolutely existent or real nor totally non-existent or unreal, therefore indescribable (*anirvacanīya*) in nature in logical terms.

The Taittirīya Upanisad in II,2-9 describes the manner. The actual veiling of Brahman and the ātman by māyā on the cosmic and individual plane takes place by conceiving five *Kośas* piled up one over the other. The five *Kośas* arranged in ascending order are the *Annamaya Kośa* (sheath of nourishment), the *Prāṇamaya Kośa* (the sheath of vital force), the *Manomaya Kośa* (the sheath constituted by mind), *Vijñānamaya Kośa* (the sheath made up of *buddhi* or intellect) and *Ānandamaya Kośa* (the sheath of pleasure). Śankarācārya in his commentary on the *Taittirīya Upaniṣad* and the *Brahma Sūtra* (III,2,1-10) has explained their nature linking them with the three body-frames existing one within the other in the physical bodies of both the Īśvara on the universal plane and embodied beings (*jīva*) on the individual plane.

It is said that as the all-pervasive Brahman is veiled by *Māyā* or *Avidyā* (cosmic neisance), It (Brahman) appears in the form of Īśvara on the cosmic plane. He then is equipped with three kinds of bodyframes--- causal (*Kāraṇa*), subtle (*sūkṣma*) encompassing the entire creation in causal, subtle and gross forms. In the same manner, the *ātman* (the individual self) is veiled by *ajñāna* (neisance associated with the individual) multiplicity of embodied beings (*jīvas*) then appear separately equipped with three kinds of bodyframes (deha) causal, subtle and gross constituting their individual physical bodies.

As the Īśvara on the cosmic plane and jīvas (embodied beings) on the plane of the individual (*vyaṣṭi*) are enveloped by causal (*Kāraṇa*), subtle (*sūkṣma*) and gross (*sthūla*) body frames constituting the multiplicity of their physical bodies separately, the universal self in the *Īśvara* (*paramātman*) and individual selves in the individual embodied beings (jīvas) are enrapped, as it were, by five *Kośas* mentioned above.

When Īśvara and jīvas stay clothed, as it were, by causal body-frame (*Kāraṇa śarīra*) made up of neisance (*avidyā* or *ajñāna*), their selves are covered by the sheath of pleasure (*Ānandamaya Kośa*). They are then said to stay in the state of deep sleep (*suṣupti*) experiencing happiness which is only reflection of their bliss nature in the veil of neisance. When they put on the additional body frame, called the subtle body made up from subtle physical element over their causal body their self is covered by three more sheaths viz., sheath of buddhi i.e. *vijñānamaya kośa*, sheath of intellect or *manomaya kośa* and sheath of vital force or *prāṇamaya kośa*, they are then said to exist in dream state (*svapnāvasthā*), experiencing subtle objects of the dream-world. When finally, they are equipped with gross body (*sthūla śarīra*) made from five gross physical elements (*mahābhūtas*) they are said to exist in waking state (*jāgrat avasthā*) experiencing gross objects in the world. Then their self is said to be covered by the sheath of nourishment or *annamaya kośa*.

From what has been stated in the foregoing paragraphs, we can summarise the advaita vedāntins' views on the status and the nature of *Māyā* under following points:

A. On the status of Māyā in their metaphysical framework

1. *Māyā* does not have neumenal existence (*pāramārthika satta*), it has only phenomenal existence (*vyavahārika sattā*). It has been conceived to explain the appearance of multiplicity in the non-dual *Brahman*.

2. It is of the nature of neisance (*avidyā* or *ajñāna*), hence it is destructible by its opposite, the right knowledge of its substraction or locus, the *Brahman* or the self, in the same manner as darkness by light.

B. On the nature of Māyā

1. Māyā is ''substanceless'' (*tuccha*) power, responsible for veiling the ultimate Reality, Brahman, thereby paving way to the world phenomena to appear on its locus the Brahman.

2. Māyā is neither existent nor non-existent power, therefore its nature is indescribable (*anirvacanīya*) in logical terms.

3. Māyā is not a ''negative power'' as the existence is testified by our own experience of it on the mundane plane in our day to day life in the world.

4. Māyā is held to be of the nature of three *guṇas* (constituent elements), a fact that can be inferred from the nature of all the effects (*kārya*) experienced by in beginning with *buddhi* (intellect) down to *prithvi* (earth) constituting the world.

5. *Māyā Śakti* is comprised of two powers, namely the power of veiling (*āvaraṇa*) and the power of projection (*vikṣepa*) that play key role in the manifestation

of the world phenomena.

Let us now twin our attention to the *Māyā* conceived by the Advaita Śaiva school of Kashmir. The Advaita Śaivites advocate the philosophy of nondualism of integral kind (*akhaṇḍādvaitavāda*). They believe in the existence of the non-dual. Reality which they name as the *Saṁvid* (Supreme Experiencing Principle). The *Caitanya* (consciousness Principle), *Parama Śiva* (Supreme Śiva) and Parameśvara (the Supreme Lord). The reason for their naming the same ultimate Reality, one without a second, in two different ways, namely as the formless abstract metaphysical Principle, and also, as the same time, as the Reality having a form and name, seems that the Advaita Śaivites formulate their religio-philosophical thought focussing their attention on the yogic practices for spiritual seekers (*sādhakas*) rather than on the metaphysical theory for the philosophers who relish abstract metaphysical discussions. The spiritual seekers, as a matter of fact, find it difficult to concentrate their minds on the *Saṁivid* or *Caitanya* the form of abstract metaphysical principle. Hence, the Advaita Śaiva writers prefer calling the ultimate Reality or *Parama Śiva* or *Parameśvara* in their exposition of Śaiva metaphysics.

The ultimate Reality, *Saṁvid* or *Parama Śiva* is described in the Advaita Śaiva texts as both the immanent Reality in which form He pervades the entire universe, permeating, at the same time, is everything that constitutes the universe. At the same time, He transcends all, and is beyond all, and in this transcendent form (*viśvottīrṇa svarūpa*), He is called the *anuttara*, the transcendent Absolute. There two forms, immanent and the transcendent, constitute the two facets of His integral *natwa* (akhaṇḍa), symbolising His Fulness (*paripūrṇa svarūpa*).

The real reason for the Advaita Śaivites conceiving the ultimate Reality both as the all pervasive immanent Reality (*Viśvātmaka*) and as the transcendent Absolute is their holding the *Saṁvid* or *Parama Śiva* endowed with the divine Śakti, technically called the *Svātantrya Śakti* (power of divine freedom) on account of her unrestricted nature. The divine *Śakti* is not an attribute (*guṇa*) of the *Saṁvid* or *Paramaśiva*. She constitutes His integral nature, therefore inseparable from Him, ever vibrating and always revealing His divine Glory (*aiśvarya*) as the Supreme Lord, and at times, as the universe (*viśva*).

It is said that the *Parama Śiva* or *Parameśvara* sometimes, that is during creative mode (*sriṣṭi*) manifests Himself as the universe on His own volition. In doing so, He uses no other material (*upādāna*) except His divine Śakti. Therefore the Advaita Śaivite, describe the act of His self-manifestation *ābhāsa* as the universe as His self extension in the form of His divine Sakti (*sva-Śakti-sphāra*). The universe manifested by Him is comprised of thirty six (36) tattvas or levels of creation (*Ṣaṭrṁśattattva)*. When He manifests Himself as the universe, He does not stay

away from it but takes active part in it by assuming the form of infinite number of limited subjects (*pramātā*), the objects of experience and enjoyment (grāhya) and the means of their experience (*grahaṇa*) on each level of creator. The universe thus manifested by Him out of His free will is real and existent, constituting His self extension in the form of His Śakti.

The ever vibrating (*spandita*) divine Śakti held responsible for His self-revelation as the universe operates in three different forms on three stadias (*bhūmi*) in creation. On the highest stadia (*bhūmi*) she functions as the consciousness power (*cit śakti*), technically called *Mahāmāyā* when she reveals the universe in ideal form'' i.e. as an ''idea of cosmos'' symbolised by the ''*Idam* (Thatness) before the pure experients (*Śuddha pramātā*) who are none other than that of Parama Śiva, the Supreme Subject assuming limited form through voluntary self-contraction (ātmasaṁkoca),. It may be mentioned here in this context that despite the divine Śakti functioning as Mahāmāyā in the pure or ''ideal'' level of creation, technically called the *Suddha adhva* revealing as she does, the *dichotomy* between the pure subjects and pure object symbolised by *aham* and *idam* in the self-experience of the pure subject, the two remain inseparable, their basic universal and non-dual nature remain unaffected.

The divine Śakti functions as the power of obscuration (*tirodhānakārī śakti*) on the successive lower level of creation or the record stadia (*bhūmi*), which is in the sphere of *Aśuddha Adhva*. She is technically called the *Māyā Śakti*, and is held responsible for generating the experience of difference in the limited experients (*vibheda buddhir-nijāmśajātera nikhilajīvesū ṣaṭriṁśattattva sandoha* V5). The multiplicity of limited subjects and limited objects takes concrete form only in the realm of *Māyā*.

Contrary to what the Advaita Vedāntins say on the status of *Māyā Sakti*, the Advaita Śaivites hold her (*Māyā*) to real and existent of account of being of the nature of the Divine Sakti in essence--- The Divine *Śakti* vibrating ceaselessly coalesced with the Supreme Lord, bringing out His glory (*aiśvarya*) as the Lord and also as the world.

Unlike the nature of *Māyā* in the Advaita Vedānta functioning as the power of veiling (*āvaraṇa śakti*) hiding the non-dual nature of the ultimate Reality, *Brahman*, and simultaneously producing the experience of the multiplicity up the world in the embodied subjects through her power of projective (*vikṣepa śakti*), the Advaita Śaivites describe the nature of *Māyā Sakti* as the power of obscuration (*tirodhāna śakti*). This descrption of her nature has deeper implication. The Advaita Śaivites donot hold the *Māyā śakti* directly responsible for the manifestation of multiplicity of the world, they hold the *Māyā Sakti* responsible for producing the experience of difference (*vibhedabuddhi*) as has already been mentioned before. According to the

Advaita Śaiva school, the divine *śakti* functioning as *Vāmeśvarī* (the term derived from the Skt root vam, meaning to vomit)) on the level above the Sadāśiva tattva in the realm of *Mahāmāyā* i.e. *Suddha adhva* is linked with the creation of manifoldness through contraction (*saṁkoca*).

Both these descriptions of the nature of the *Māyāśakti* as the power of veiling and the power of obscuration postulated in the Advaita Vedānta and the Advaita Śaiva school outwardly might seem to us similar, but there exists fundamental differences in the delineation of her nature in the two school for example, the Māyā Śakti in the Advaita Vedānta school is held to veil the vision of the percipient subjects existing on the mundane plane, thereby causing in them "illusory cognition" of the real nature of the *Brahman*. As such, she has no separate as objective existence apart from the cognisor-percipients. But the *Māyā śakti* in the Advaita Śaiva school has ontological existence as a *tattva* that is evident from the fact that she is counted as one of the thirty six *tattvas* constituting the universe. *Māyā* is universal in nature, her existence is not confined to the percipient subjects while obscuring their divine nature.

The Advaita Śaivites describe the Supreme Lord as possessing five characteristics or signs of His divinities as the Supreme Lord. These are omnipotence (*Sarvakartritva*), omniscience (*sarvajñatva*), fullness nature (*pūrṇatva*), eternal nature (*nityatva*) and all-pervasiveness or omnipresence (*vyāpakatva*). As the *Māyā Śakti* enshrouds the percipients subjects also possessing divine nature on their entry into the realm of *Māyā*, the five signs of their divine essence become eclipsed, and they appear as enshrouded by so many sheaths or coverings, technically called Kañcukas. The sheaths covering the signs of their divine essence are said to be five fold namely omnipotence eclipsed by the covering (*Kañcuka*) called *Vidyā* causes limitation of the power of knowledge; fullness-nature enshrouded by the *kañcuka* (covering) called *Rāga* causes attachment towards This or that object; their existence outside the sphere of time i.e. *nityatva* when eclipsed renders them subject to limitation in time--past, present and future; their omnipresence or all-pervasive nature when enshrouded by *niyati Kañcuka* is reduced, them and it makes them subject to limitation in space and cause effects.

As the Māyā robs the limited subjects of last vestiges of their divine nature through her power of obscuration, they are reduced to pitiable state of samsārin (transmigrator creatures) completely oblivious of their real nature.



King's Moral Merits in the Vision of Kālidāsa

(With Specific Role of a King)

Dr. Lekh Ram Sharma

Mahākavi Kālidāsa, the poet Laureate, is the brightest Luminary in the firmament of Indian poety. His Poetry reveals the universal ideals, administrative norms, ideal family set up etc. which are equally useful for all times and climes. Hence, they can provide peace, happiness and prosperity to the suffering and disturbed humanity.

One of the serious problems, in the present society, is that of role-conflict. Role is a set of socially expected and approved behaviour patterns, consisting of duties and privileges, associated with a particular position in a group. A king holds the highest postion in his kingdom. He is the maker of good traditions which are followed by his people.

''What are the duties and obligations of a king towards his people? How can he provide a fair administration? How can he improve himself to be a true King? How can he protect the peoples' fundamental rights? What should be the directive principles of a king for the betterment of every walk of life?'' always remained the burning questions.

Kālidāsa had a specific vision to the duties and moral merits of a king which is equally important & relevant even in the present scenario.

He suggests some moral merits which a king should have and prescribes practical manuals and ethical codes for successful polity and ideal administration. In the view of Kālidāsa, a ruler, never to be negligent in his duties, may live for his people and nation.

In the vision of Kālidāsa, the first and the foremost merit of a king is to behave as a father of his people. He should always keep a watchful and affectionate eye over his subjects. In the Raghuvamsa, king Dilipa is seen as taking due care for the education, safety and nourishment of his subjects. By educating, protecting and supporting them, he plays the role of a virtuous father, rendering their biological fathers as merely giving birth to them.[1] Kālidāsa holds firmly that a king, in the true

---

1. प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद् भरणादपि
   स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः। रघु० 1.24

sense, can justify his title as rajan (king), only by gladdening his people. Depicting Raghu as an ideal king, the great poet categorically mentions that Raghu bore the title "Raja" (king) very appropriately by pleasing his subjects, just as the moon and the sun justify their names by giving delight and heat respectively.[1]

It may be mentioned here that people, right from an ordinary person to the mighty emperor in a state, require able teachers who provide good education, dispel darkness of ignorance and ensure everlasting light and delight in life.

According to Kālidāsa every one takes the complete knowledge, spirit, intelligence and sention from a teacher as the life and vitality are taken from the sun on this earth.[2] Hence, it is a sacred role of a king to ensure due honour and timely payment of handsome salary, to the teachers to make them carefree about their livelihood. In the Raghuvamsa, Raghu performs Viśvajit sacrifice and gives away all his wealth. But, he does not disappoint Kautsa who has come to seek his teacher's fees (Dakṣiṇā). He, forcefully, takes plenty of gold coins from Lord Kubera and gladly pays the desired amount of fourteen crores coins as a (Dakṣiṇā) for the able teacher, Vartantu.[3] Thus, the penniles Raghu arranges the money well in time and conveys a significant message to the rulers of the modern times that howsoever heavy the amount may be and whatsoever the condition of the royal treasury may be, there should be no delay in payment of fees or salary (Dakṣiṇā) to the venerable teachers whose invaluable wisdom cannot be evaluated in terms of material wealth.

A King should act as a role model for his subjects. Kālidāsa, therefore, highlights some significant virtues which are followed by the great rulers of the solar dynasty. "They are unstained from their birth, continue efforts until success is achieved, punish the guilty in due proportion, seek wealth to give up on proper occasion, use measured words for the sake of truth, seek victory for the sake of glory and get married for offspring. They deeply study the lore in childhood, enjoy in the youth, live hermit's life in the old age and cast away their bodies by power of devotion at the end."[4] Thus Kālidāsa prescribes a time-table and chalked out

---

1. यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा,
   तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरंजनात्। रघु 4.12
2. अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतामृषीणां कुशाग्रबुद्धे कुशली गुरुस्ते,
   यतस्त्वया ज्ञानमशेषमाप्तं लोकेन चैतन्यमिवोष्णरश्मेः। रघु० 5.4
3. वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति। रघु० 5.21
4. त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्,
   यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्।7।
   शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्
   वार्द्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्याजाम्।8। रघु० 1.5-8

definite programme for the kings to train themselves as ideal human beings. Then only, they can justify their roles as kings. While depicting Daśaratha as a noble king and successful ruler, he describes him free from vices and controller of his senses (Samādhijitendriyaḥ).[1] Consequently, he is safe from downfall and helps his people by bestowing wealth on them. Thus, in the Raghuvaṁśa the rulers perform their royal duties very effectively and deservingly.

But, Kālidāsa's supreme ideal of a king is embodied in Rāma. Indeed, it is rare to find such a king on this earth. There is no instance where Rāma, as a king, falls from the lofty ideals. Dutifulness and morality are his guiding stars.

Evil thoughts find no room in his heart. He surrenders his individual pleasure for the satisfaction of his subjects.[2] Even at the early stage of his life, he renders great service to the sages by slaying fierce demons. The entire period of his exile is spent in the service of the ascetics. On becoming the king, he serves his people with due care and utmost sincerity. He has full faith in the purity of his wife, but only for happiness of his people, he banishes her in the mature pregnancy stage. He is greatly aggrieved in separation from his virtuous wife, but he never allows any gesture of grief on his face and shows great affection to his subjects.

The example of this moral merit to ingnore personal comforts for the service of the people is also found in other works. In the *Abhijnānaśākuntala*, Duṣyanta, as a king, is unmindful about his personal comforts. He makes various efforts to ensure welfare of the people. He attempts to remove their sorrows and sufferings. He takes their distress as his own. He has full sympathy for deceased and issueless merchant Dhanamitra. Duṣyanta proclaims : Here, remains no need of any other relative when the affectionate king, Duṣyanta himself, he is ever ready to serve as substitute relative for the destitutes except the sinful relations.[3] The disciple of the sage Kaṇva rightly points out that one may have a number of kinsmen when wealth abounds, but the duty of common people's kinsmen finds perfection in the king (Duṣyanta).[4] So, the king must be a kith and kin of his subject.

1. पितुरनन्तरमुत्तरकोसलान् समधिगम्य समाधितजितेन्द्रियः,
   दशरथः प्रशशास महारथो यमवतामवतां च धुरि स्थितः। रघु॰ 9.1
2. निगृह्य शोकं स्वयमेव धीमान्वर्णाश्रमावेक्षणजागरूकः,
   स भ्रातृसाधारणभोगमृद्धं राज्यं रजोरिक्तमनाः शशास। रघु॰ 14.85
3. येन-सेल वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना,
   स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम्। शाकु॰ 6.23
4. अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम,
   त्वयि तु परिसमाप्तं बन्धुकृत्यं प्रजानाम्। शाकु॰ 5.8

In view of Kālidāsa, a king is not appointed or elected for self-indulgence or personal pleasure. He has privilege to collect one-sixth share of the produce or income as tax from his subjects. Kālidāsa addresses the king as Ṣaṣṭhaṁśavṛttiḥ. But, in return, he must serve his people restlessly just as the Sun, the Air and the Śeṣa (the celebrated Serpent) never take rest while discharging their respective duties.[1] He should make best use of the tax for the welfare of the people. Describing the nature of collection and utilization of the tax by king Dilipa, Kālidāsa clearly states that it was for his people's welfare alone that his royal revenues were collected, as the Sun takes up earth's moisture to pour it back a thousandfold.[2] The tax can be collected even from the ascetics. The one-sixth share of the penance, got from the ascetics, is more valuable than the material objects collected from others.[3] Hence, the area of devoted service of a king cannot be confined to the domain of the villages and the cities, but it is extended upto forests and the remote corners of the kingdom. Duṣyanta protects the sages and their sacrifices in the penance groves from trhe defiant and terrible demons. While inviting him to aceept hospitality, the hermit requests him to see the unhindered performance of the religious rites and to know how much effective defence is provided by Duṣyanta to the ascetics.[4] In the fifth act of the Śākuntala, Duṣyanta asks the sages ''Whether the devotion of the hermits has been uninterrupted.'' They reply : How could the pious rites be disturbed when thou art the preserver of the good? when the bright Sun blazes, can darkness make its appearance? This reply satisfies him and he considers his title of the 'Rajan' as significant indeed.[5] This justification of kingship can be seen in other works also. Justifying his kingship in true sense of the term, Kusha's son Atithi provides safety to the ascetics in their penance-grove. He honours the priests at the

---

1. भानुः सकृद्युक्ततुरंग एव रात्रिं दविं गन्धवहः प्रयाति,
   शेषः सदैवाहितभूमिभारः, षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः। शाकु॰ 5.4
2. प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्,
   सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः। रघु॰ 1.18
3. युदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तद्धनम्,
   तपःषड्भागमक्षयं ददतयारण्यका हि नः। शाकु॰ 2.13
   तान्युंछष्ठांकितसैकतानि .... ! रघु॰ 5.8
4. रम्यास्तपोधनानां प्रतिहतविघ्नाः क्रियाः समवलोक्य,
   ज्ञास्यसि कियद्भुजो में रक्षति मोर्वीकिणांक इति। शाकु॰ 1.13
5. राजा- अपि निर्विघ्नतपसो मुनयः।
   ऋषयः - कुतो धर्मक्रियाविघ्नः सतां रक्षितरि त्वयि,
   तमस्तपति घर्मांशौ कथमाविर्भविष्यति। शाकु॰ 5.14
   राजा - अर्थवान् खलु मे राजशब्दः।

great sacrifice so much that he equals Lord Kubera, both sharing between them the title 'Dhanada, the giver of the wealth.'[1]

Thus, in view of Kālidāsa, a king is fully entitled to get his prescribed share from people from all Varṇas and Āśramas. Therefore, it is his sacred duty to guard the structure of Varṇas and the Āśramas.

Kālidāsa gives special weightage to the safety of woman folk and innocents from any type of inhuman treatment. In the view of Kālidāsa women are particularly to be protected from miscreants. The king may ensure that they may not be teased or harassed by knavish anti-social elements. There should be a provision which may enable the helpless and tortured to come under the merciful shelter and kind care of a king.

In Abhijñānaśākuntala, when a bee causes disturbance repeatedly to Śakuntalā, the King Duṣyanta rushes quickly on her outcry and asks :-

"Who is he that dares to misbehave and to tease an innocent hermit girl? Neither anyone will be tolerated behaving rudely to the girls nor will be allowed to outrage their modesty as long as I govern this kingdom."[2]

At the time of terror, the king should be prepared to lay down even his life while crushing the terrorism, subversive activities and insurgency to save the innocents as King Dilīpa offers his life (body) to protect the cow (innocent and weak) from the lion (powerful terrorist).[3] Vis-a-Vis Kālidāsa also stresses that no innocent may suffer in the process of fighting desperadoes and curbing their unlawful activities.[4] Persons involved in ravishing, incendiary, murder and other heinous crimes, must be sternly dealt with.

As advocated by Kālidāsa, one of the sacred merits of a king is to maintain law and order in his state. For this purpose, he should maintain appropriate law of punishment (Yuktadaṇḍa). The fundamental principle regarding punishment (daṇḍa)

---

1. ऋत्विजः स तथाऽऽनर्च दक्षिणाभिमहाक्रतौ,
   यथा साधारणीभूतं नामास्य धनदस्य च। रघु॰ 17.80
2. शकुन्तला-न दुटो विरमति। अन्यतो गमिष्यामि। कथमितोऽप्यागच्छति।
   हला परित्रायेथां मामनेन दुर्विनीतेन मधुकरेण अभिभूयमानाम्।
   राजा (सत्वर मुपसृत्य) आः-
   कः पौरवे वसुमतीं शासति शासितरि दुर्विनीतानाम्,
   अयमाचरत्यविनयं मुग्धासु तपस्विकन्यासु। शाकु॰ 1.23
3. रघु॰ (द्वितीय सर्ग)
   स न्यस्तशस्त्रो हरये स्वदेहमुपानयत्पिण्डमिवामिषस्य। 59
4. आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि। शाकु॰ 1.11

is that it should neither be oppressive nor lenient. Unjust and severe punishment excites the offenders to revolt against the king. On the other hand, mild and lenient punishment spoils down the discipline and leads to the disturbance in the rule. Therefore to ensure good and disciplined administration, the offenders should be punished in due proportion to the crime.[1] Kālidāsa supports this policy of proportionate punishment. The kings of the solar dynasty punish the guilty in accordance with the crime. King Raghu wins the heart of all his people due to this policy of Yukta-daṇḍa and becomes their favourite.

His Danḍa was like southern/ spring wind which is neither cold nor hot but moderate.[2]

In his very early stage, King Sudarsana achieves success in Trayī, Vārtā and Daṇḍaniti.[3] Danḍanīti, naturally, here is based on proportionate punishment. Thus, Kālidāsa considers adequate or the proportionate punishment as the best policy for maintaining a peaceful rule.

By practising the principle of suitable punishment the kings rule the entire kingdom very successfully and without hindrance and gain the favour, good wishes and devoted co-operation of their subjects.

They punish the guilty for the sake of maintaining law and order[4] and do not discriminate between a friend and enemy while punishing him according to his crime. In the context of the rule of King Dilīpa, Kālidāsa categorically states that King Dilīpa honoured virtue even in a foe, like bitter drugs by a sick person. On the other hand, he forsook the sinner friends like a finger bitten by a snake.[5] This is why his subjets did not deflect, even as much as the width of a line, from the set path of righteousness prevailing since the days of Manu.[6]

---

1. यथाऽपराधदण्डानाम्। रघु॰ 1.6
2. स हि सर्वस्य लोकस्य युक्तदण्डतया मनः,
   आददे नातिशीतोष्णो नभस्वानिव दक्षिणः। रघु॰ 4.8
3. रघु॰ 18.46, 50
   ॰ सर्वाणि तावच्छ्रुत वृद्धयोगात्फलान्युपायुङ्क्त स दण्डनीतेः। 46
4. स्थित्यै दण्डयतो दण्ड्यान..........। रघु॰ 1.25
5. द्वेष्योऽपि संमतः शिष्टस्तस्यार्त्तस्य यथौषधम्,
   त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता। रघु॰ 1.28
6. भीमकान्तैर्नृपगुणैः स बभूवोपजीविनाम्,
   अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णवः।
   रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वर्त्मनः परम्,
   न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः। रघु॰ 1.16, 17

In the view of Kālidāsa king may stop indiscriminate killing of animals, he may identify some areas in which hunting must be fully prohibited. In *Abhijnānaśākuntal* Duṣyanta stops hunting in the Āśrama forest.[1] Also he turns down the request of his General for the continuation of hunting and asks him to create an atmosphere in which wild buffaloes may bathe freely in the forest ponds, ruminating deer-herds may sit under the shadow of trees for long and wild boar may take Mustā fearlessly.[2]

Conclusively it can be said that in the vision of Kālidāsa the following moral merits make a ruler to be a king (Raja) in true sense :-

"He may equally watch the interests of every, caste and creed and every person living in any set of the society (VARṆA-ĀŚRAMA), pay the special attention to spread the Education, make regular payment to the employees in general and to the teaching community in particular, defend the women from any type of hooliganism, protect the general public from terrorist activities even on the cost of his life, make arrangements for the safety of wild life, spend the collected taxes for the well-being of his people, play the role as a kith and kin of his distressed people, surrender his own pleasure for the satisfaction of his subjects, respect the highly learned personalities, punish the culprits according to the quantum of offence etc.

On the basis of the facts mentioned above, it is quite obvious that Kālidāsa presents praiseworthy guidelines about merits of an ideal king. His kings are the faithful followers of moral laws and ethics in the sphere of administration and public welfare, as specified by Indian culture. Following these laws and principles, a king can, appreciably, play his ideal role and the polity and administration, based on ethical code of conduct, can be made fair and flawless even today.



---

1. नेपथ्ये-भो-भो राजन्, आश्रममृगोऽयम्,
   न हन्तव्यो न हन्तव्यः। राजा-तेन हि प्रगृह्यतां वाजिनः। शाकु. प्रथम अंक
2. गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृंगैर्मुहुस्ताडितम्,
   छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्युत,
   विश्रब्धं क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः,
   विश्रामं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धनमस्मद्धनुः। शाकु॰ 2.6

The Nīlamata Purāṇa : A cultural and literary study
An assessment in Socio-cultural perspective

Dr. H.L. Sharma

The present work authored by Prof. Ved Kumari Ghai is a slightly revised form of the Doctoral thesis approved by Banaras Hindu University in 1960 for the award of her Ph.D. Degree in Sanskrit. Dr. K.M. Panikker; the Ex. Vice-Chancellor of the University of Jammu and Kashmir, acknowledging the great importance of the Nilamata, remarks:

"A translation of the text has been long felt want in Indian historical research. The present work by Dr. Ved Kumari Ghai should therefore, be doubly welcomed by scholars for she has not only provided us with a translation of text but given an excellent analysis of its-contents. As a work of research it deserves all praise for it thoroughness and accuracy".

Coming as it does from the pen of an academic luminary and veteran historian : Dr. K.M. Panikker, the evaluation studded with superlative epithets lends the thesis with classic merit and recognition of its own as a pioneer work in Sanskrit research.

Historically, the Nilamata Purana is an ancient Sanskrit text of great value in throwing adequate light on the socio-cultural conditions of the hazy and hazardous past of Kashmir. It may sound strange; and yet, the fact remains that it is through interspersed references in the Rajatarangini which provide clues to the existence of such a text. Kalhana the veteran historian refers to Nilamata as a 'Purana' or 'Puranika'. The actual text, however, came to light when Prof Buhlar in his 'Report' on the tour in search of Sanskrit manuscripts, described in 1877 the Nilamata 'as a real mine of information regarding the sacred places and their legends which are required to explain the Rajatarangini and that it shows how Kalhana used his sources."

Dr. Ved Kumari Ghai maintains that "besides accounts of the sacred sites the Nilamata contains a lot of information about the ways of living in Kashmira."

Obviously, the Nilamata Purana provides a social background to Rajatarangini's dynastic and political history. It shows the Kashmiris as strong, simple and sturdy resolutely worshipping their dieties and adhering faithfully to their rituals and festivals. They seem to live a life of mutual trust free of animosity or illwill. But the most

fascinating of all is the way the Nilamata furnishes accounts of the original inhabitants: the Nagas in particular who encountered political intrusions more than once; yet stood their ground to keep alive their cultural identity. As a result, there seems to have started a process of social synthesis amongst the inhabitants of ancient Kashmir nursing, thus, a new spirit of cultural harmony and good will. Evidently, in the field of religion also the Brahmanic deities, the Nagas, the Piṣācas and Bauddhas flourish side by side in Kashmir. The observations of Dr. Ved Ghai are revealing in as far they give an insight into the entire life of the people. She remarks:

"The followers of different cults are stated to be free to worship their respective deities and the different deities themselves are described as honouring one another; and thus creating an atmosphere in which various cults are unified."

The Nilamata is replete with an endless plurality of gods and goddesses; and yet it seems not to have disturbed in any manner whatsoever the psyche for the harmonious relations of their followers. Apparently an underlying urge of metaphysical unity perceptible throughout determines largely their attitude in the society as a whole. Therefore, it is not a matter of surprise of the Nilamata depicts Brahmā, Viṣṇu and Śiva turn by turn as creators, preservers and destroyers of the world. Enough to signify that such identification, paves the way towards the Monistic Śaiva philosophy in Kashmir.

No less significant is the role of topographical countries which Mother nature has wrought on the heavenly abode of Kashmir. Its snow-clad hills; greenish stretches; still lakes; murmuring rivers and much more the floral breezes when invoked as animated divinities, bless the land and its habitats with an omniscient existence of the Supreme. Spirit Kalhana, whole describing the invisible fortification of the valley of Kashmir by its rugged mountain-ranges remarks:

"This country may be countered by spiritual merit; but not by force of soldiers."

In the Nilamata women of Kashmir are deeply respected in the home and esteemed highly outside. The freedom they enjoyed in society is something rare to find elsewhere in India. The house-holder is enjoined to visit gardens in the company of his wife, friends, relatives and servants. As a matter of fact, the Nilamata allows her to participate in almost all the festivals and religious ceremonies. There is no restriction on her to join the merry festivals celebrated in the refreshing open fields of Nature.

In the happy valley of lakes, rivers and fountains where water-sports are normally in vogue, the Nilamata does not deny this means of merriment to ladies of Kashmira. It asserts that young maidens should specially play in the water,

during the celebrations of Sravani festival. Playing with men is allowed to women. One finds the joyful ladies well dressed in their best attire, perfumed with scents and decorated with ornaments, sporting in the company of men on the last day Mahimana celebrations.

Another factor which readily illustrates high position of women, is the prominence given to the goddesses in the religious accounts of the Nilamata. The gods are depicted often with their consorts. Thus Sakra plays with Saci; Viṣṇu's feet rest in the lap of Lakṣmi; Pārvati accompanies Śiva; Sita is worshipped during celebrations of Rāma's birthday; and Kṛṣṇa's wife receives worship on the birthday of her lord.

Of equal significance is the fact when rivers of Kashmir are personified as goddesses: Thus Umā transforms herself into the Vitasta; Aditi becomes Trikoti; saci assumes the form of Harsapatha; Diti becomes Chandravati; and Lakṣmi turns into river Viśaka. The very land of Kashmira is the mother goddess of Kasmira-- a form of Umā.

On the whole the Nilamata offers a pleasant picture of the women of Kashmira. As a daughter she gets training in fine arts: drama, dancing and music. As a wife she is loved and honoured by her husband; and as a mother she shines with her sons who prize and respect her highly. Of her literary efficiency, Bilhana states that she could fluently speak Sanskṛta and Prākṛta.

In the final analysis one may simply state that to delve deep into the study of a Puranic document : the Nilamata, of the ancient past of Kashmir of the 6th and 7th century A.D.; is a stupendous task by itself. To sift, sort and to analyse its material in detail with a view to getting an insight into the entire life of the people becomes all the more hazardous. Nevertheless Dr. Ved Kumari Ghai places the whole matter in right socio-cultural perspective when she remarks:

"All phases and aspects of Indian ancient culture, its religion, philosophy, its mythology and ethics its theism and pantheism, its fasts and feasts, its rites ceremonies and superstitions are reflected in the Puranas, Upa-puranas or Mahapuranas, irrespective of their category."

In the light of this observation by the author herself, the Nilamata Purana, is an accomplished piece of historical research. The study has been done to design. It is as classic as the Puranic document itself. Its distinctive quality lies in its lierary merit, historical accuracy and academic excellence. About its language, it is full of natural ease, showing more than enough, the mind-set of the author who has gone to make it.

Facts Found in the Cāhamāna Inscriptions of Rajasthan

Dr. Anita Sudan

Inscriptions are an important source which has contributed a lot to the political and the cultural history of India. Our historical authors barring a few were prejudiced towards their patrons. If the inscriptions of Aśoka had not been deciphered then we would have known King Aśoka only through the Buddhist Chronicles. Similarly if Allāhabādaraśasti had not come to light, the illustrious king Samudra Gupta would not have been known to the history of India. The inscriptions really did contribute a lot to bring into light many facts which were not known through literary sources. Similarly the inscirptions of Cāhamāna kings of Ajmer and Śakambharī inscriptions brought many hitorical as well as literary facts into light. A few examples are given here.

First of all, inscriptions dispelled the fog that shrouded the origin of the Cāhāmanas. Various theories had been put forward by different historians as well as by the literary sources. Most famous of these theories was the myth of Agnikula according to which a Yajña was performed by the great sages at Mt. Abu. The sacrifice was disturbed by the demons. To get rid of those demons the sages put the special oblation to fire and from it sprang a person with four arms fully adorned with bow, arrow, sword and spear. So, he was called Cāhuavāna and later he was called Cāhamāna. From him sprang the dynasty named the Cāhamāna. Another theory in this context was given by the historians suh as V.A. Smith, Col. James Td. AMT Jackson, Boden Powell & Dr. D.R. Bhandhakar. These gentlemen were of opinion that the Cāhamānas were the descendants of Indo-sythians, Hunes, Black Kazaras, Gurjara etc. who were admitted to the Indian society after the purification at Mt. Abu.

But the Ajmer inscription of Vigraharāja IV which was discovered from Adḥāi-din-Kā-jhoṁprā terms the Cāhamānas as Sūryavanśis i.e. the Kṣatriyas of solar race. It further tells that the Cāhamānas belonged to the race of King Ikṣvāku and Rāma. It is further confirmed by the Barla inscription of Pṛthvīrāj III[4].

Another most confused statement in the history of the Cāhamāna is the acquisition of Delhi by the Cāhamāna. There is a myth that the kingdom of Delhi was inherited by Pṛithvirāja III from his maternal grand father Tomara Anaṇgapala.

Though this is a fact that the kingdom of Delhi belonged to Tomara King Anaṇgapala, but he had not a remote relationship with Pṛthvārāja III. Pṛthvīrāj's mother Sudhavā was the daughter of some petty chieftan of Cālukaya Court where his father Someśvara was brought up[6]. Delhi had been conquered by King Vigraharāja IV[7] of the Cāhamāna dynasty who was a paternal uncle of Pṛthvīrāja III by defeating the Tomara King and he had re-established the Tomara King as his feudatory who agreed to pay a quite heavy tribute to the Cāhamānas of Śākambharī and Ajmer in V.S. 1220[8].

There are many more other such historical facts about the Cāhamānas which came into light after the study of their inscriptions.

Besides the historical facts the two literary works such as Lalita-vigraharāja-nāṭakaṁ by Somadeva - The courtier of Vigraharāja and secondly the Harakeli-Nāṭakṁ[10] written by Vigraharāja IV himself came into light. Latilāvigarharāja-Nāṭakaṁ depicts the love and the marriage of king Vigrahrāja with Princess Desaladevī and also his military success against a mleccha King Hammīra. He can be identified with either Gazanivite King Khusrushah (c.A.D. 1153-60)[11] or Behram Shah of Qazam[12] (c A.D-1117-1157). Harakeli-Nātakaṁ is based on the story of Kirātārjunīyaṁ.

Many inscriptions are important with the cultural point of view also. Especially certain inscriptions discuss the whole concept of the religion[13] or giving the lineage of the different sects[14]. One inscription Dhālop or Nāḍol inscription[15] discusses the whole system of the local self govt. and how that functioned. Royal charters[16] bearing the influence on the society and religious functions are also found.

REFRENCES

1. i) Pṛithvīrāja Rāso of Canda Bardai.
   ii) Hammīra-Rāso of Jodharāja.
   iii) Naiṇsi-Khyat of Naiṇsi
   iv) Chauhān-Kalpa-drum
   v) Chauhān Candrikā
2. Annual & Antiquities of Rajasthan Vo. II p. 80, 357
3. Ajmer stone inscription. Cāhamāna praśasti-V-33
4. Barlā inscription of Pṛthvīrāja III V.2
5. Pṛthvīrāja-rāso
6. Pṛthvīrāja-Vijaṁ canto V v.35-49.
7. Bijolia inscription of Someśvara V.S. 1226, v.21
8. Delhi Toprā inscription of Vigraharāja IV V.S. 1220
9. Aḍhāi-Din-Kā-jhoṁprā. Pt. 1 & II
10. Aḍhāi-Din-Kā-jhoṁprā Pt. III & IV

11. Early Chauhan Dynasties, pp. 68
12. History of the Cāhamānas, p. 143
13. Bijolia inscription of Someśvara V.S. 1226 discusses the whole concept of Jainism.
14. Harṣa inscription of Vigraharāja II V.S. 1030 gives the details and lineage of Pāśupata sect of Śaivism.
15. Nāḍol inscription of Rāyapāla V.S. 1200 discusses the system of pañchāyat of those days and also discusses how to recover the stolen items.
16. Nāḍol & Sadadi inscriptions of Joffal Deva V.S. 1147 gives the Royal orders allowing the dancers and their musicians to participate in the religious as well as the other functions of the society decked with their decorative dresses.



Literary Aspects of Paramāra Inscriptions

Dr. Sunita Sudan

For the reconstruction of Ancient and Medieveal Indian History, the inscriptions are the most valuable source, particularly because we do not possess many writing in which hostory was recorded by the ancient and medieval Indians themselves. The epigraphic records of Paramāras that are available today were prepared with various motives, but out of all, the largest number of the inscriptions are the land grants engraved on the copper plates such as the Kadambapadraka grant of Paramāra king Naravarman of V.S.1167, where he granted several pieces of land in the village of Kadambapadraka[1], Bānswāra grant of Bhoja of V.S.1076 records that he has granted hundred Nivartanas of Land at Vāṭāpadprak.[2] Most of the inscriptions give us genealogy of the dynasty to which the ruler belonged, who made the grants. Occasionally, there is a mention of some of the outstanding achievements of the individual ruler of a particular dynasty. Besides the information about the political history these inscriptions also enlighten us about the administrative system, the sources of revenue, the religious and economic conditions and educational system of the time when these inscriptions were written.

Though these inscriptions are very important from historical point of view still these inscriptions have literary significance too. Most of the Kings of Paramāra dynasty were poets and writers. The famous King Bhoja of Paramāra dynasty himself was the author of many literary works i.e. Saraswatī Kaṇṭhābharaṇa, Rājamārtadḥa, Rajamṛagaṅkā, Vidvajjanmaṇḍhana, Samarāṅgana, Sṛṅgārmañjarī etc[3]. King Arjunavarman of this dynasty wrote a commentary on Amarūśataka named Rasikasañjivinī[4]. There are certain inscriptions which are written in beautiful poetic style. These inscriptions are Nāgapur Praśasti[5], Udaipur Praśasti[6], Māṇdḥātā Inscription[7] etc. The Dhāra Praśasti[8] contains first two acts of hitherto unknown nāṭikā i.e. a drama of four acts entitled as Pārijātmañjarī of Vijayaśrī. This drama

1. Epigraphia Indica, Vol XX, Page 505-08.
2. Epigraphia Indica, Vol XI, Page 81.
3. Rājapūtāna Kā Itihāsa, G.H. Ojhā, Page 212.
4. History of the Paramāra dynasty, D.C. Gāṇgulī, p. 198.
5. Epigraphia Indica, Vol II, p. 180.
6. Epigraphia Indica, Vol I, pp. 222-238.
7. Epigraphia Indica, Vol XXV, p. 173.
8. Epigraphia Indica, Vol VIII, p.p 96-122.

was composed by King Arjunavarṃan's Preceptor (Rājaguru) Madana. There are seventy six verses in drama and rest in prose. This drama was staged for the first time on the occasion of the spring festival in the temple of the Goddess of learning (Saraswatī) in the city of Dhārā, the modern Dhāra.[1]

At that time Dhārā was the centre of political, intellectual and cultural activities. It was known for its skillful musicians and learned scholars. The poets and scholars from different parts of the country visited Dhārā with a desire to receive gifts from King Bhoja[2]. A high intellectual atmosphere pervaded the city. The modern Kamāl Maula mosque at Dhārā in Madhya Pradesh, which is still popularly known as 'Bhojaśālā', referred to in the Parijātamañjarī[3] is as the site of spacious temple of Saraswatī, the Goddess of Learning.

The inscriptions are composed in poetry as well as in prose i.e. the Champū style. The very starting portion of the inscriptions is in poetry, while the later portion is in prose. The language of the inscriptions is simple Saṁskṛta, which was patronized by the kings. A few inscriptions are composed in ornate style. The specimen of ornate style are found in Nāgapur Praśasti, Udaipur Praśasti, Bhilasā Surya Praśasti etc.

In some inscriptions the large compounds have been used such as:-

नीलाश्मसानूल्लसत्कान्तिव्रातविडम्बिताम्बरतलः[4]

तत्सूनर्भुवनैकभूषणमभूद्भूपालचूड़ामणिच्छायाडम्बरचुम्बितांह्रिकमलः[5]

According to the rules of Nāṭyaśāstra of Bharata and as in other Saṁskṛta dramas, here, in the drama Pārijātamañjarī both Saṁskṛta and Prākṛta have been used. The characters belonging to the upperstrata of society, speak Saṁskṛta while the remaining persons speak Śaurasenī in the prose passages and Mahārāshṭri in verses. The verses of the bards -- which are recited behind the stage, are also in Prākṛta.

All the three guṇās Mādhurya, Oja and Prasāda are found in the language of the inscriptions. Here is an example of Mādhurya guṇa:

'इदानीं हि सभोगोत्कलिकामिलत्सहचरी श्रृंगावमर्श
द्रवत्कस्तूरी मृगमीलितेक्षणझरततोषाश्रुभिश्रोद्गमः।

1. Epigraphia Indica, Vol VIII, p 101.
2. Bhojaprabandha, Ballal, English Translation by Louis H. Gray, p. 27.
3. Epigraphia Indica, Vol. VIII, p. 101.
4. Nāgapur Praśasti V. 12.
5. Ibid, V. 29

गीतैकान्त निषण्णकिन्नरवधूकंदर्प केल्लिकमस्वेद-
च्छेद विचक्षणो विचरति श्रीखण्डशैलानिलो:।।[1]

Frequent use of first and third consonants of the varga and the presence of Sambhoga Śṛṅgāra rasa can be experienced so here is Mādhurya guṇa.

An example of Oja:-

रटत्पटहपाटवप्रकटझर्ज्झरस्फूर्ज्जितस्फुर
डडमरूडम्बरोडडमरडिण्डिमोडडामरा।
स्फुरत्करट कुंजर प्रपदसंपतत्संभ्रम
भ्रमदभवनमभ्रमज्जगति यच्चमूरूच्चकैः।।[2]

The use of hard sounds and the description of war with Vīrarasa makes this verse a fine example of Oja guṇa.

Prasāda guṇa is that charm which occupies the entire mental capacity of the reader as fire catches the dry fuel. Prasāda can be seen in this verse:-

न स देशो न स ग्रामो न स लोको न सा सभा।
न तन्नक्तं दिवं यत्र जगद्देवो न गीयते।।[3]

The words are simple and easy to understand, so Praśada guṇa is present here.

Rīti is style of writing, it helps in the development of the rasas. There are three styles of writing in Saṁskṛta i.e. Vaidarbhī, Gauḍī and Pañcālī. All these styles are found in the Paramāra inscriptions. An example of Vaidarbhī rīti:-

जयति व्योमकेशो सौ यः सर्गाय बिभर्तिताम्।
एन्दवीं शिरसा लेखां जगद्बीजांकुराकृतिम्।।[4]

Use of short compounds, syllables which are having Mādhurya and combination of first and third consonant with the fifth consonant of their varga makes this verse an example of Vaidarbhī rīti. See an example of Gauḍī rīti.

क्रीडोच्चाटितचक्रदुर्ग्गनृपतेरद्यापि यस्याज्ञया
दण्डानीतगजेन्द्रदानसलिलैर्न्यस्तां प्रशस्तिं पराम्।
निर्व्यावृति पठन्ति कण्ठलुठितैः कैः कैर्निम्ननादैर्न्नदा
शैलोपान्तवसुन्धरासु विपिनोत्संगेषु भृंगांगना।।[5]

1. Dhāra Praśasti, V.25.
2. Nāgapur Praśasti, V.30.
3. Doṅgaragāṅva Inscription of Jagaddeva, 1112 A.D., Epigraphia Indica Vol XXVI, pp. 77-185.
4. Ujjain Inscription of Bhoja, 1021 A.D. Indian Antiquary, Vol VI., pp. 49.
5. Doṅgargāṅva Inscriptions of Jagaddeva, 1112 A.D., V.8

Frequent use of Ṭavarga, long compounds and hard sounds found in this verse, shows that Gauḍī rīti is used here.

Here is an example of Pañcālī rīti.

अपि कुसमे नवफलिका व्यपदेशः पेशलांगियुक्तस्ते।
फलमेव कुसुममपि मे प्रसन्नया यत् त्वया दत्तम्॥[1]

Pāñcālī rīti is used here in this verse. So, we can say that some inscriptions have compositions which are the masterpieces from the literary point of view.

Certain Doṣas are also seen in the inscriptions i.e. Śṛutikaṭutva, cyutasaṁskṛti Doṣa, Grāmyatva, Pratikūla Varṇa Doṣa, Sthāyībhāva Svaśabda Vācyatā Doṣa. Inspite of these Doṣas the right use of guṇa and rītis makes the language of the inscriptions very beautiful.

The Paramāra inscriptions are fine pieces of poetry. Various rasas are found in the inscriptions but the most prominent is Vīra rasa. All the four types of Vīra rasa i.e. Dānavīra, Dharmavīra, Yudhavīra and Dayāvīra are found in the inscriptions.

Here is an example of Dānavīra.

स्वर्गधिवसति धारातीर्थगत्या स्वताते
जयति कनकसिंहस्तत्र राज्यो कमणे।
भवति किलतलेभ्यः स्वपिता मे प्रसंगादिति
खलु वितरन्योधोव्यधात्कल्पवृक्षम्॥[2]

This verse mentions that king Kanaka Siṁha made Kalpa Tree to bowdown by his charities.

The author has used Vīra rasa while mentioning the military achievements of king Jayasiṁha of Paramāra dynasty.[3]

Besides Vīra rasa Śṛṅgāra rasa, Bībhatsa rasa, Karuṇa rasa, Hāsya rasa, Raudra rasa, śānta rasa and Bhakti rasas are also scattered here and there in the inscriptions. In Dhāra Praśasti main three rasas i.e. Śṛṅgāra, Vīra and Karuṇa are found but the major is Śraṅgāra rasa.

Specimens of Rasābhāsa are also available in these Paramāra inscriptions. In Paramāra inscriptions both the śabdālaṁkāras and arthālaṁkāras are used. Only a few instances showing the skill of poets in the use of Alaṁkāras are given here to give an idea of the style of the poetry found in the inscriptions.

1. Dhāra Praśasti V.14
2. Māndhātā Inscription of Jayasiṁha Jayavarman II 1274. A.D. Epigraphia Indica Vol XXII, pp 139-56.V.20
3. Pānāherā Inscription of Jayasiṁhadeva I, Epigraphia Indica Vol XXI, pp. 41-50, V.23.

Among the Alaṁkāras the poets have employed anuprāsa, yamaka, śleṣa and vakrokti. An example of Anuprāsa:

अजनिसुभटवर्म्मा संगरे क्रूरकर्म्माक्षतरिपुनृपवर्म्मा संसदि प्राप्तशर्म्मा।
त्रिदशपति सधर्म्मा थांगनोद्गीतनर्म्मा रुचितरुचिरमर्म्मा मार्णण प्राप्तखर्म्मा।।[1]

In this verse at the end of every Pāda word Armmā has been repeated again and again, so it is an example of Antyanuprāsa.

Here see an example of śleṣa:

प्रतिबिम्बतया भूमेः कृत्वा साक्षात्प्रतिगृहं।
जगदाल्हाद्यन् दिश्याद्दविजेन्द्रो मंगलानि वः।।[2]

In this verse the word 'Dvigendra' gives three meaning by means of śleṣa. Firstly, we can use it for Brāhmaṇas, secondly for moon and thirdly for śeṣa.

Among arthālaṁkāras the authors of the inscription employed Upamā, Utprekṣā, Rūpaka Vyatireka, Dṛṣṭāntra, Virodha, Arthāntaranyāsa, Apaḥnuti, Ratnāvalī, Bhrāntimana, Smaraṇ kāvyaliṅga, Parikara, Vibhāvanā, Samāsokti, Arthāpatti, Vikasvarataṁkāra, Vinokti, Ullekha, Viśeṣokti, Udātta, Hetu etc. Upamā, rūpaka and Utprekṣā occupy the chief position.

Here is an example of Upmā

या शारदी शशि कलेवकलेवरं मे संग्रामडामरसमुल्लसित प्रतापं।
लावण्यकान्तिसुधया स्नपयांचकार सा मे हृदि स्खलति मन्मथ विह्वलांगी।।[3]

In this verse author has made a beautiful comparison of the beauty of digit of moon of winter with the body of a lady.

Here see Rūpaka :

क्लान्तो विरहदावेन तामेव प्रति धावति।
अन्तःकरणपक्षी मे लावण्यामृतवाहिनीम्।।[4]

Here the river of nector has been superimposed upon the heroin and the bird has been superimposed upon the heart of the king.

---

1. Māṅdhātā Inscription of Jayasiṁha Jayavarman II 1274 AD. V.44.
2. Ujjain inscription of Bhoja, 1021 AD, V.I.
3. Dhāra Praśasti V.16.
4. Ibid., V.42.

Mostly the inscriptions are descriptive in nature and composed in very simple language but these figures of speech have enhanced the beauty of the language to a considerable extent.

The authors of the Paramāra inscriptions have tried to create live images of the different objects, mountains, rivers, beauty, wars as well as feelings through Bimba or images. We find the examples of Mūrta and Amūrta Bimba, Lakṣita and Upalakṣita bimba and Khaṇḍita and Pūrṇa bimba in Paramāra inscriptions.

Metre is an important vehicle of sentimental expression. It is always the cadence of an expression that either makes or marks the appreciation of a sentiment. This appreciation of the sentiment is helped greatly by means of poetic rhythm. The selection of a metre demands a highly cultured skill in a poet and the sense of poetic criticism calls for a subtle appreciation of the rhythmic cadence of different types of verses and their relative melody as well.

The authors of the Paramāra inscriptions are well versed in the art of using metres. Three types of metres i.e. Samavṛta, Ardhasamavṛta and Visamavṛta are used in the inscriptions. In Samavṛta metres Pramāṇika, Vidhyunmāla, Svāgata, Śālinī, Indravajrā, Rathoddhatā, Upajāti, Vaṅśastha, Troṭaka, Erutavilambita, Vasantatilakā, Mālinī, Pṛthvī, Mandākrāntā, Sārdūlavikrīḍita, Vṛta, Sragdharā are found in Paramāra inscriptions. In Ardhasamvṛta only Puṣhpitagrā and in Viṣamavṛta - Anuṣṭupa and Āryā are used by the authors.

The foregoing study of the Paramāra inscriptions adds to our knowledge of Saṁskṛta language, literature and poetics. Paramāra king Bhoja inspite of his preoccupations with wars could snatch the moments to write so many literary works in Saṁskṛta. Similarly Paramāra Anjunaverman wrote Rasikasañjivinī. At the end we can say that the Paramāra inscriptions contain specimens of beautiful poetry and prose of high literary value.



Sarasvati : the Journey of River Goddess

Syed Tanveer Nasreen

"I sing a lofty song,

for she is the mightiest, most divine of streams
Sarasvati will I exalt with hymns and lauds...
When in the fullness of their strength the Purus dwell
Beauteous One, on thy two grassy banks,
So may Sarasvati auspicious send good luck;
She, rich in spoil.
is never niggardly in thought
May this Sarasvati be pleased and listen to this our sacrifice.
When we with reverence, on our knees,
Implore her close knit to wealth,
most kind to those she loveth".[1]

Analysing the etymology of the word Sarasvati, *saras* is formed from the Sanskrit root √shr by adding the suffix *asun*, and the suffixes *vatup* and nis are consequently added to it, so as to form Sarasvati. √Sr implies movement and is connected with creativity, while saras stands for flowing water, or 'with rasa', the essence of life. Sarasvati is thus a river with flowing water (saras) as well as symbolic of the flow of the noble elements of life. The Ṛg Veda contains many references to Sarasvati as a river, describing it as flowing from the mountains and reaching the sea. Like, *eka cetat Sarasvati nadīnām sucir yati giribhya samudrāt*[2]. In this context, Max Muller explained, "Here we see samudra clearly in the sense of sea, the Indian sea, and we have at the same time a new indication of the distance which separates the Vedic age from the later Sanskrit literature. Though it may not be possible to determine, by geological, evidence, the time of the change which modified the southern area of the Punjab and caused the Sarasvati to disappear is the desert, still the fact remains that the loss of the Sarasvati is later than the Vedic age, and that, at that time, the waters of the Sarasvati reached the sea".[3]

---

1. RTH Griffith, *The Hymns of the Ṛg Veda*, Vo1-II, Benares, 1987, VIIth Mandala.
2. Ṛg Veda, VII.95,2
3. Max Mueller (ed) *Sacred Books of the East* Vo1-XXXII. P-60.

Scholars have held widely divergent opinions in trying to locate the course of the river Sarasvati, though their generally accepted opinion today is that it flowed from the Sivalik ranges into the Sea of Rajputana[1]. One of the earliest endeavours in this regard was by Surgeon Major CF Oldham whose article "The Sarasvati and the Lost River of the Indian Desert" was published in the Journal of the Royal Asiatic Society in 1893. Archaeological evidence apart, the location and route of this mighty river can also be sought to be ascertained on the basis of literary evidence furnished in the Ṛg. Veda. For instance, we hear of the five tribes nourished by Sarasvati : *panca jāta vardhayanti.*[2] These *panca Jāta* or five tribes have, however, not been explicitly mentioned and there is no unanimity on who these five tribes were. H.C. Raychaudhuri identified them as the Bharatas, the Kurus, the Pusamas, the Matsyas and the Videhas;[3] Rahul Sankṛtyayana reckoned them as the Purus, the Yadus, the Turvasas, the Druhyus and the Anus[4], while still others with the Bharatas, the Kurus, the Purus, the Matsyas and the Pancalas. Sarasvati eventually dried up due to ecological changes. By the time of Manu, the river no longer flowed to the sea.

The place where Sarasvati lost its existence, most aptly called *Vinasana* in the Mahabharata has been held around the Patiala district of the Punjab or Karnal district of Haryana[5]. This place, according to the Great Epic, was placed on the borders of the land of the Sudras and the Abhiras. The land of the Abhiras is located above the Indus delta while the land of the Sudras is the place below the confluence of the Chenab and the Indus. The available data about the appearance and disappearance of the Sarasvati may give us a clue to the route of the river. The Imperial Gazetteer of India resolved that it rose in the Sirmur State and flowed down to the plains at Adh Badri. After flowing ahead for a short distance, it lost itself in the sand but appeared again at a distance of 3 miles to the south of a village called Bhavanipur. It again vanished at Balchhappar and manifested itself while flowing through Karnal district until it lost itself completely in Patiala territory where Vinasana is situated[6]. The river now called Ghaggar or Hakra has been identified with the old Vedic Sarasvati by CF Oldham[7], and later by others, like Sir Aurel Stein.[8]

Our point of encounter with Sarasvati here is not in her geographical and archaeological details alone, but in the psyche that went into the making of a divinity

1. Md. Israil Khan, *Sarasvati in Sanskrit Literature*, Ghaziabad, 1978, p.15.
2. Ṛg. Veda, VI.61.12
3. H.C. Raychaudhuri, "*The Sarasvati*" Science culture 8(12), 1942-June, 1943, Nos 1-2. p.470
4. Rahul Sankṛtyanyan *Ṛg-Vedic Arya*, Allahabad, 1957, pp. 18-22.
5. Max Muller (ed,) Sacred *Books of the East*, Vol XIV, p2.
6. *The Imperial Gazetteer of India*. Vol, XXII, Oxford 1908, p.97 quoted in Israil Khan, op cit, p.97
7. C F Oldham, "The Sarasvati and the lost Rivers of the Indian Desert", Journal of the Royal Asiatic Society, 1983.
8. Aurel Stain, *Geographical Journal* XIX, Jan-June 1942, p.137

centering around her. Sarasvati was first considered as an earthly river and gradually deified. Early Vedic people who lived by her banks in the region called *Brahmavarta*, performed their religious rites with her water. The water being used for an auspicious purpose, purity and holiness came to be associated with the source of water, and the river herself was eventually raised to the status of a divinity. In the Ṛg Veda thus she has been described both as a river and a river goddess. Yaska also referred to two types of mantras relating to Sarasvati:

i) those of which speak of her as a river, and

ii) those of which speak of her as a goddess.[1] The Nighantu, too, took Sarasvati in two forms, as a river and as a goddess of the atmospheric region holding her sway on the branches of knowledge, jnana. She clearly reveals all profound knowledge:

Sarvani prajnanani.[2] Sarasvati came to be associated with the mantras chanted at the time of sacrifices. The belief was that it was the pleasure of Sarasvati alone which could give them blessings for the undeterred flow of the mantras. This is how she came to be identified with speech, *Vak*, and was conceived as the Goddess of Speech, *vag vai Sarasvati*, and consequently *Vagdevi*.

The unrestricted flow of the river at that time as well as the indirect connection with sunlight as saras, the sun, *Sarasvan*, were therefore associated with Sarasvati. The radiant aspects of knowledge (jnana) and intelligence (dhi) and their eternal flow paved the way for this association. Sarasvati is also conceived as rays of light and called *Apaprusi*, meaning one who covers every place with light.[3] The water of this great river was also used for agriculture, the mainstay of the Vedic civilization. As she nourished the crops of the Vedic Aryans, she was also conceived as the Divine Mother, best of mothers, *Ambitama*[4] and the mother of rivers, *Sindhumata*.[5] This is how Sarasvati came to be associated with the fertility cult and is prayed for progeny: *Garbhyam dehi Sarasvati*[6]. With the further penetration of the Aryan culture into the Indian heartland, this role of the venerable mother later came to be occupied by Ganga in literature as well as popular belief. The word *Subhra* occurs several times in the Ṛg Veda in the context of Sarasvati. In the Rg. Veda the occurrence of the word *Raka*,[7] representing the splendour of the full moon in the context of Sarasvati is also significant. Beauty is commonly compared with the brightness of the full moon. This brightness combined with its serene beauty and fair glow, are also

1. Yaska, *Nirukta*, II.23
2. Ibid. II.27
3. *Ṛg Veda*, III.95.4
4. Ibid., II.41.16
5. Ibid., VII.36.6
6. Ibid., VI.61.1
7. Ibid., V.42.12

present in the waters of Sarasvati, she is therefore compared with Raka. The water of the river Sarasvati is so clean and pure, that she is called Subhra. That Sarasvati is accepted as stirring up the mind into brightness or sharpening the intellect may be perceived from the phrases *Codayitri sunrtanam*[1] and *cetanti sumatinam*[2], used for her in the first mandala of the Ṛg Veda. We may possibly trace the etymology of the former to su√nr + rta. Nr refers to a man or mankind in general. Ṛta means bright and luminous in addition to a system that is proper, right, honest and true. She thus stirs up the bright mind. Sarasvati is also invoked as *Rtavari*,[3] the upholder of Rta herself. For the word Sumatinam, mati comes from the √man, the mind, or thought. Sarasvati is therefore the instructress of the right minded and inspirer of all noble thought.

Sarasvati is conceived as a sister, saptasvasa,[4] the six other siblings being Ganga, Yamuna, Satadru, Parushni, Marudvridha and Arjikiya,[5] or the five rivers of Punjab along with the Indus[6]. On a different plane, this may also be regarded as the sevenfold waters of life.[7] Sarasvati is also regarded as a daughter in the form of *Paviravi*[8]; born of the sound (*rava*) of the thunderbolt (*pavih*) of Indra, hence containing an element of Vak around her. Although the wife aspect in her character has been brought out in the Ṛgveda by epithets like *Virapatni*[9] and *Vrishvapatni*,[10] as well as *Marutvati*,[11] not much attention was actually devoted to this aspect of her life, the list of achievements in her individual capacity was the centre of focus. She has also been mentioned with other Gods like Mitra, Daksa, Varuna, Agni, Soma and the Asvins, but there is no mention of any particular relationship at all places. Sarasvati is mentioned with the Asvins at a few places in the Ṛg Veda,[12] and explained in the Vajasaneyi Samhita to be their wife. In fact, this association went into the portrayal of Sarasvati as a Physician in the Yajurveda; in the elaborate description of the Sautramani and the Bhesaj sacrifices, where the Asvins, the divine physicians, are seen standing along with her. Sarasvati cured Indra with her healing speech, reinvigorating his organs:

Vaca Sarasvati Bhisag Indraye' sindriyani dadhatah[13]

---

1. *Ṛg Veda*, 1.3.11
2. Ibid.
3. Ibid., II..41.18
4. Ibid., VI.61.10
5. John Dowson, *A Classical Dictionary of Hindu Mythology*, London, 1961, p.281
6. Das, A C *Rg Vedic India* Calcutta 1927 (2nd edition)p.9
7. Sri Aurobindo, *On the Veda*, Pondichery, 1958. p.138
8. *Ṛg Veda*, VI.49.7, X.65,13
9. Ibid., VI.49.7
10. Ibid., V. 42.12
11. Ibid., II.30.8
12. Ibid., I.89.3, VII. 9.5, IX, 81.4, etc.
13. *Yajur Veda*, 19,12

Digressing a little from our main topic, we may try to comprehend the social opposition women encountered in the second half of the 19th century in India when they tried to 'intrude' into the world of medicine, generally held to be a masculine forte. The instances of Anandibai Joshi, Annie Jagannathan and Kadambini Ganguly who started their medical training in 1883, a year after the pathbreaking ventures of Abala Das and Allen D'Abreau, are legendary examples of the hostility they faced and their stuggle for success. Not only was the concept of women doctors unthinkable in India at that time, but the first generation of women doctors in the West, Elizabeth Blackwell of America who passed out in 1849 and her contemporaries in America and Europe had also undergone a lot of hostility when they tried to enter this domain. But ancient India and here spiritual thinkers did not have any problem in conceiving Goddess Sarasvati, a woman after all, treating her male patients, say Indra, in the company of her male colleagues, or a husband in the same profession, the Asvins, and moving round freely as a busy professional.

The personality of Sarasvati as a physician of Indra has also been sought to be explained allegorically. It is taken to point to the time or state before the universe was created and there was total darkness. Brahma connected himself with Vak, i.e. Sarasvati, for the purpose of creation and produced waters by her.[1] The procreation of waters by Vak suggests Sarasvati as the mother of Indra, the lord of rain, storm and waters. As a physician, she reinvigorates the physique of Indra. The dual aspects of the character of Sarasvati as a mother and as a physician, which were in a nascent stage in the Ṛg. Veda are thus found to develop further in the Yajur Veda.

The Atharva Veda deals with many herbs and devices and their curative aspects. Gods also held such powers. One mantra in the Atharva Veda states:

Adya Agne adya Savitar adya devi Sarasvati/
Adya'sya Brahmanaspate dhanur invatanaya pasah//.[2]

Here, Sarasvati is invoked along with Agni, Savitr and Brahmanaspati to restore the vigour of a man and make his limbs taut as the bow. The three goddesses in the Ṛg. Veda, Ita or Ida, Bharati and Sarasvati gradually came to be identified as aspects of a single goddess in the Atharva Veda. They have also been conceived as three kinds of speech (Vak) or the representative deities of *bhuh, bhuvah* and *svah*, identified with terrestrial, atmospheric and celestial speeches.[3] In the Atharva Veda they are described to have provided the remedy for poisoning, *vixa-duxanam*[4]. Along with Agni and Surya, Sarasvati is also prayed here for the destruction of germs (*krimi*) living in human bodies.

---

1. Alain Danielou, *Hindu Polytheism*, London, 1964., p.260.
2. *Atharva Veda*, IV. 4.6.
3. Quoted in Israil Khan, op.cit, p.67.
4. *Atharva Veda*, VI. 100.1.

With the changing times, the issue of marriage and spouseship of Sarasvati became very important in a society in which the Puranas were written. It was by this time that women had gradually come to lose the right of initiation to Vedic studies and to earn a living for themselves. Marriage was regarded to be the upanayana of girl and the house of the husband the home of her guru. The ideal *pativrata* wife, was also the submissive *anugamini*, who followed her husband in every respect and never contradicted him. In the process, the individuality of Sarasvati did not remain as desirable as it previously was. Along with the continuously changing position of women in society, was also the prevalence of the ideal of the *Sankhya* philosophy. It enunciated the dual aspects of *purusha* and *prakriti*, as complementary in the process of creation. The prominence of this philosophy probably also played a role in the renewed interest in the search for Sarasvasti's spouse.

The allegorical marriage of Sarasvati and Brahma has been mentioned several times in some of the Puranas. The Matsya Purana deals with the matter in great details. According to this version, she is *Brahmasuta*, born out of half portion of the body of Brahma. Sarasvati, unable to bear the stare of her father, began circumambulating him, whereupon Brahma became four-faced to have a full and continuous look at her. The origin of this myth of Brahma's love for his own creation may be traced back to the Satapatha Brahmana and may be taken to have developed fully in the Matsya and the Bhagavata Puranas. Here, we find that Brahma entrusted the work of his sons and married Sarasvati, one with hundred forms, Satarupa. Thereafter he lived with her for a hundred years inside the lotus. Sarasvati is therefore Brahmi and personification of the scripts named after her. Here we may also refer to the medicinal utility of a plant, believed to reinvigorate the mind, named Brahmi, in the Ayurvedic tradition. The name is also suggestive of a remote connection of this devi with medicine.

The *Brahmavaivarta Purana* states that Vishnu had three wives, Laksmi, Sarasvati, and Ganga:

Laksmi Sarasvati Ganga tisro bharya harer'pi.[1]

The spouseship of Vishnu can be traced back to the period of the Yajur Veda, but this concept, too, was fully developed in the Puranas. Vishnu eventually became the steady consort of Sarasvati as is proved by the numerous images of later times, the Pala-Sena period in Bengal, for example. Here Sarasvati loses her independent identity and is most frequently portrayed as a *parsvadevata*.

Of the different versions of the Puranic mythology on Sarasvati, this perhaps offers the mot fascinating part where the divine household of Vishnu has been modelled on those of his lay devotes; the average grihastha who was polygamous and consequently constantly

---

1. *Atharva Veda*, V. 23.4-5

perturbed by the domestic quarrel among the cowives.[1] The social reality has been reflected in the household of Vishnu, where his three wives, Laksmi, Ganga and Sarasvati constantly quarrelled among themselves in an attempt to monopolize the love of Vishnu. An irritated and exasperated Visnu decided to cast off both Sarasvati and Ganga, and live with Lakshmi alone. He went further and handed Ganga to Shiva; Sarasvati was handed over to Brahma, and stigmatized for being garrulous and quarrelsome in the Vamana Purana, as against Lakshmi, the most susila wife.

The interesting social commentary that emerges from this episode is that the Goddess of Speech, in a changed social milieu, is no longer venerated for her achievement in debates. Generally such qualities of speech are no longer desired of women; the consequence that Devi Sarasvati faced for exercising her freedom of speech has been constructed as an example to be put forth before other women. If Lord Vishnu could not stand a quarrelsome and garrulous wife as talented as Sarasvati, mortal women deserved to be more careful about themselves.

The literary descriptions of Sarasvati went into the making of her iconography. She is always referred to as extremely beautiful, fair complexioned, with usually four arms and gracious looking. Her vehicle is commonly the swan, although there are also references to the peacock, the nam and the lion as her vehicles in some places. The *Agni Purana* and the *Matsya Purana*, as also other texts like the *Diparnava* or the *Devatamurtiprakarana* conceptualize her as a divinity with a vina in one hand symbolizing her cultural and aesthetic attributes. She carries a book (*pustaka*), a rosary (*akshamala*) and a lotus in the other hands. The pustaka symbolizes knowledge; water in the kamandalu has dual associations with her river identity and the sages. The akshamala represents the alphabets as well as time. It may also be seen as symbolic of her asceticism, austerity and meditation, as true knowledge presupposes profound contemplation.

Although conceived in a Brahmanical framework, the concept of Sarasvati as the custodian of knowledge and culture also had a profound influence on the heterodox sects. She is invoked by the Jains to dispel darkness of ignorance. Her worship also became popular in Buddhism, connected with some conceptual developments like the Bodhisattvas, the Paramitas and Manusri. Sarasvati acquired four distinct forms in Buddhist iconography as Mahasarasvati, Vajravina Sarasvati, Vajrasarada and Aryasarasvati.[2] Not only has the concept of Sarasvati enriched the Indian tradition, but she may also be found to correspond to the Roman Goddess Minerva and the Greek Goddess Athena. There is a striking resemblance between the attributes of our Indian Sarasvati and the Greek Muses, nine in number who stand for the spirit or genius which guide a poet or other creative artists in their composition.

1. *Brahmavaivarta Purana*, II. 6.17
2. *Ibid.*,, II. 6.17-40

These nine muses, Clio, Euterpe, Thalia, Melpomene Terpischore, Erato, Polymnia, Urania and Calliope are the presiding deities of history, lyric, poetry, comedy, tragedy, dance and music, love song, sublime hymn, astronomy and epic poetry respectively. The association of the Greek Muses with Mount Olympus, their home, and the river Hippocrene further strengthen their links with Sarasvati.

Although the original river that contributed to the evolution of a divinity may have now been lost in the desert sand and the *Puranakaras* expressed their apprehension about the forthcoming Kali Yuga when Devi Sarasvati would be utterly humiliated and disregarded, she continues to flow in an eternal stream from individual to individual, one generation to the other. She shall continue to survive with all her grandeur so long as mankind shall be engaged in the *Sarasvati Sadhana*, the search for the sublime and pray to her to completely remove all obstacles in the process:

Ya kundendutusharaharadhavala Ya subhravastravrta /
Ya vinavaradandamanditakara ya shretapadmasana //
Ya Brahmachyutasamkaraprabhrtibhirdevaih Sada Vandita /
Sa mam patu Sarasvati Bhagavati Nihsexajadyapaha.[1] //



1. Other works which have enriched my understanding of Sarasvati are:
Airi, Raghunath: *Concept of Sarasvati* (*In Vedic Literature*) Delhi, 1977, and
Ghosh, Niranjan: *Sri Sarasvati in Indian Art and Literature*, Delhi, 1984

Dhvani Siddhānta (Theory of Suggestion): A Study in Poetic Individuations

Shrawan K Sharma

The creative use of language is one of the much discussed issues in Indian poetics. The things described do not delight us in literature. It is the creative use of language only which either delights or disturbs us. Indian *ācāryas* (scholars) have made several exploratory, but penetrating, contributions on many issues, having a distinct bearing on languge in literature, that still confront modern scholars. Although they do not use the terminology of modern criticism, their formulations on language of literature are seminal. They hold that literary beauty ensues from formal and structural features of a composition. They also hold that it is a literary linguistic presentation that possesses some element of art and represents an object as it figures in literary imagination. According to them, it is this creative use of language that is capable of arousing the interest of an appreciative reader of fine taste and is sufficient for the aesthetic experience. Krishnaswamy rightly holds, "the whole field of Sanskrit poetics may be regarded as one continued attempt to unravel the mystery of beauty of poetic language." By erecting their theoretical edifice on the firm foundation of poetic activity, they have examined the creative use of language from various standpoints, *rasa* (aesthetic pleasure), *alaṁkāra* (poetic figure), *rīti* (style), *dhvani* (suggestion), *vakrokti* (oblique expression) and *aucitya* (propriety). Krishnaswamy rightly holds, "the whole field of Sanskrit poetics may be regarded as one continued attempt to unravel the mystery of beauty of poetic language." The present paper is a modest attempt to study and demonstrate the creative use of language in the light of *dhvanisiddhānta* (theory of suggestion).

Ānandavardhana's *dhvani siddhānta* (theory of suggestion) is based upon a three-fold division of meaning, emanating from threesome of *śabdaśakti* (word-powers)--*abhidhā--abhidheyārtha or vācyārtha* (primary meaning), *lakṣaṇā--laksyārtha* (secondary or derivative meaning), and *vyañjanā--vyaṅgārtha or dhvanyārtha* (tertiary or suggested meaning).

Abhidhā (primary meaning) is the chief power of words. Mahimabhaṭṭa states that *vyañjanā* is always latent in *abhidhā* (primary meaning). As we delve deep into *abhidhā* (primary meaning), we get the meaning of *vyañjanā* (tertiary or suggested meaning). Just as an arrow penetrates into the skin, the flesh and reaches the heart,

the literal meaning ultimately goes deep beneath its surface meaning to convey *vyaṅgārtha* (tertiary or suggested meaning).

As far as *laksaṇā* (secondary or derivative meaning) is concerned, it is the suppression of the *mukhyārthabhidhā* (literal meaning). The best example of the finds in Antony's words in *Julius Caesar*: 'Brutus is an honorable man'.

--*lakṣaṇā* (secondary or derivative meaning) based on *sāmīpya sambandha* (mutual closeness between words). It is seen in expressions, such as 'a sleepless night', 'The plowman treads his weary way'. In English it is called transferred epithet.

--*lakṣaṇā* (secondary or derivative meaning) based on sādṛśya (similarity). George Herbert's poem ''The Church Floore'' exemplifies this lakṣaṇā (secondary or derivative meaning).

--*lakṣaṇā* (secondary or derivative meaning) based on *samvāya* (association.) It is seen in sentences like, 'The sun steals', skirts go to garden, etc.

--*lakṣaṇā* (secondary or derivative meaning) based on *vaiparitya* (contrast). It is seen in the lines, e.g. 'Rule, Britannia, rule, Brutus is an honorable man.'

--*lakṣaṇā* (secondary or derivative meaning) based on *kṛyā* yoga (attribution). It occurs when one's qualities or actions are attributed to others, e.g. He was Socrates in thinking, Achilles in fighting.

Lakṣaṇā (secondary or derivative meaning) works very powerfully in language. The reader should be cautious enough to derive the proper meaning out of it, for he may entangle himself in the booby-traps of interpretations. Let us have few examples from English literature:

1. ''Ten thousand I see at a glance'' - Wordsworth

2. Goe and catche the falling starre,

Get with child a mandrake roote,

Tell me, where all past years are. -John Donne

3. Your face, thane, is as a book where men

May read strange matters. To beguile the time

Look like the time; bear welcome in your eye

Your hand,

your tongue; look like the innocent flower

But be the serpent under it. Macbeth

In example (1) Wordsworth means 'a number of' and not, certainly, the figure

of ten thousand. In the example (2) Donne means to say is that a faithful woman is as rare and difficult to be found as catching a falling star and so on. In the example (3) when Lady Macbeth advises her husband to "look like an innocent flower, but be a serpent under it", she means him to be as cruel as a serpent.

Like lakṣaṇā (secondary or derivative meaning), *vyañjanā* (tertiary or suggested meaning) is also opulent and plays a decisive role in language. It mysteriously exposes a new sense other than the conventional one. This new sense is *rasa*. The following lines of Macbeth also an apt example of *vyañjanā* (tertiary or suggested meaning):

Light thickens and the crow

Makes wing to the rocky wood! Macbeth 3.2.50-51.

Here these words not merely draw attention to a physical fact but represent an effective naturalism to bring forth Macbeth's readiness and intent to act his mislead. It has a splendid force of *dhvani* (suggestion). We can give another example from the play, *Hamlet*. In the play, when Hamlet says that a hedge-sparrow has been killed by a young one of a cuckoo, his imagination preconceives the mental picture of taking revenge. Here *dhvani* works as a warning of the ensuing horror in *Hamlet*. John Masefield's poem "Cargoes" also is a perfect example of *vyañjanā* (tertiary or suggested meaning).

On the basis of the word powers, *dhvani* (suggestion) has been divided as *lakṣaṇā*-born-*dhvani* (suggestion through secondary meaning) and *abhidhā*-born-*dhvani* (suggestion through primary meaning).

Lakṣaṇā-born dhvani (suggestion through secondary meaning) is known as *avivakṣitavācya*. In it *vācyārtha* (primary meaning) is not desired in its original form and so the suggested meaning transcends the *lakṣyārtha* (secondary meaning). In other words, the *lakṣaṇā*-born-*dhvani* (suggestion through secondary meaning) throws the conventional meaning in the background or subordinate position as not having been intended to be conveyed by the speaker. It acts at two levels: at the level of *arthāntarasaṅkramitavācya* (partial transformation) and at the level *atyantatiraaskṛta vācya* (complete transformation). In the former case, the *vācyārtha* (primary meaning) is transferred, while in the later case it is wholly disregarded.

In *arthāntarasaṅkramitavācya* (partial transformation) the conventional meaning is not altogether out of the place in a certain context, but it itself does not serve the intended purpose. And because of the force of the context, it is associated with so many ideas. Now it looks as something altogether different from itself. The following statement of Antonio is a good example of this *dhvani* (suggestion) :

Antonio : to Romans

They (Brutus, Cassius and other conspirators) are honorable men

And Brutus is an honorable man. Julius Caesar

Sometimes the conventional meaning does not fit in with the context. It is only a means of arousing the suggested. Therefore, as soon as the suggested meaning has risen in the consciousness, the conventional meaning disappears and so does not form a constituent of the total meaning unlike the partial transformation. It is because of the discarding of the conventional by the suggested meaning that it acts at the level of *atyantatiraskṛta vācya* (complete transformation). In the following example from Keats, *dhvani* (sugestion) acts at the level of complete transformation:

"Heard melodies are sweet but those unheard are sweeter"

"Ode on Grecian Urn"

There are no unheard melodies which can be sweeter and so the *vācyārtha* (conventional meaning) is defeated. Here the word "unheard" suggests the transcendental world or the Divine World.

As far as *abhidhā-born-dhvani* (primary meaning) is concerned, it is called *vivakṣitavācya* dhvani: It is that in which the *vācyārtha* (conventional meaning) is desired in its original form. Now the suggested meaning transcends the *abhidheyārtha* or the *vācyārtha* (conventional meaning). In other words, it puts conventional meaning in relation with something else with which it is apparently connected in the statement. This can be understood with the help of the following dialogue between Brutus and his servant, Lucius :

Brutus : Give me a taper in my study, Lucius

When it is lighted, come and call me here.

Lucius : (After sometime enters)

The taper burneth in your closet, sir

Searching the window for a flint.

Here the conventional meaning that the taper is lighted bears a concealed intention to show Brutus's sick heart. It is s reminder of the conspiracy that Brutus is hatching against Caesar. It also shows the conflict between the modes of evil and good in Brutus over the issue of hatching a conspiracy of Caesar's murder.

Abhidhā-born-dhvani (primary meaning) acts at two levels, in accordance with the difference in the process involved in the rise of the suggested meaning. The first is *sanlakṣyakramavyaṅgya or kramadyotita or anuraṇaṇopama-vyaṅgya* and the second is *asanlakṣyakramavyaṅgya*. When the transition from the *vācyārtha*

(conventional meaning) to the *vyaṅgārth* (suggested meaning) is clearly noticeable, it is called *sanlakṣyakrama-vyaṅgya or kramadyotita or anuraṇaṇopama-vyaṅgya* and when the process of transition from *vācyartha* (conventional meaning) to the *vyaṅgārth* (suggested meaning) is so quick that it is not clearly discernible, it is called *asanlakṣyakrama-vyaṅgya.*

Sanlakṣyakrama-vyaṅgya or kramadyotita bears two kinds of *dhvani* (suggestion) : *vastu dhvani* (suggestion based on subject--matter) and *alaṁkāra dhvani* (suggestion based on poetic figures).

Vastu dhvani (suggestion based on subject--matter) is suggestive power, which operates to arouse the suggested idea, which refers to all that goes by the name of *vibhāva* (causes and determinants of the rise of a sentiment) and *anubhāva* (visible physical changes). It may arouse a negative meaning when the statement in conventional language is positive or vice-versa. It may give rise to meaning, which is neither positive nor negative when the statement is clearly positive or negative. It also may give rise to a meaning quite different from that which the statement has for the addressed. Now the statement is meant for not the one, to whom it is addressed, but for the other with the person addressed.

It is again of two sub-kinds:

a) *Kavipraudhaukti mātra siddha* (poet's inventive fancy based suggestion): It is born of the poet's inventive fancy. It happens to be a mere figment of poetic imagination. Keats's *Endymion* demonstrates poet's inventive fancy based suggestion. The poem is based upon the classical episode of the love of moon-goddess. Cynthia, for a shepherd-prince. According to this classical story, Cynthia descends from heaven to kiss her beloved Endymion who is sleeping in everlasting sleep. This is bare circumstance of which Keats's imagination works. In the last part of the poem, Endymion meets an Indian maiden and falls in love with her. They journey through the air on flying horses and Endymion dreams of Cynthia who appears to him as Moon. The Indian Maiden disappears, and Endymion soon finds himself one again on Mt. Latmos. He is perplexed, and fails to understand how he can love both Cynthia, the Moon and the Indian maiden. Here all of a sudden, the poet achieves the aim as all three are identified as one and so he closes the story, leaving the rest part uncouched.

b) *Svatah sāmbhavi* (possibility based fact suggestion) : It is grounded in material possibilities. It is based on a certain sanction of realism. It suggests in a manner which cannot be altogether falsified. The delineation might have its other dimension in real life. The following verse from Shelly's "To a Skylark" is a good example of this *dhvani* (suggestion):

With thy clear keen joyance
Langour cannot be;
shadow of annoyance
Never came near thee
Thou lovest, but ne'er knew love's satiety.

This is an example of *svatah sāmbhavi* (possibility based fact suggestion), in as much as the conditions, ascribed to the bird, fall within the province of possibility, no matter delicately imagined and the *vyaṅgārtha* (suggested meaning) has taken the form of a contrasted reverse. Here one can easily question the poet's seemingly solemn affirmation. Does the skylark never get tired with its ceaseless exercise of singing a melody in the heavens? It is a mattrer of question that no longuor ever affected the bird's "keen joyance." How is it possible that the invincible singer never felt any mood of depression? One cannot easily accept the poet's conviction that the skylark was never visited by any "shadow of annoyance". Shelley seems to have only one explanation for his assertion: "Thou lovest, but nev'er knew love's satiety." But then, evidently, he transgresses into occult, unverifiable regious when he assures himself that the bird is a perennial lover, never experiencing the tiring surfeit which often overtakes the earthly lovers. We are cognizant of Shelley's wayward amorous life. Nurtured by bright silver dreams and resolved to attack the citadels of customs, he failed to achieve the fulfillment of his inner longings for ideal love and beauty in this lack-lustre practical life. This provides us the key to unravel the sentiments, enshrined in the present. The poet's really intended meaning is reverse of what is obviously conveyed. The reverse, of course, applies to human beings. Human music and human love are subject to depletion, providing tiring in the long run in the whirling of chequered experiences. Shelley has here given vent to a truth which runs counter to Shakespeare's verdict that "Love is not Time's fool." It can therefore be predicated that the *dhvanyārtha* (suggested meaning) of the above stanza is the evanescence of human love as contrasted with the supposed permanence of the skylark's love which accounts for its incessant downpour of mellifluous music.

There is another example from Keats's "The Eve St. Agnes in this regard"
But to her heart her heart was voluble
Paining with eloquence her balmy sides
As though a tongueless nigh tingle should swell
Her throat in vain, and die, heart-stifled in her dell.
In this stanza the poet describes the helplessness of Madeline, who as per

tradition of keeping fast silently on the eve of St. Agnes (i.e. 21st January) is required to observe complete silence. Although Madeline is compelled not to utter a syllable, yet her heart is speaking fluently unto itself and she is feeling acute pain in her smooth sides because of not being able to give vent to her feeling. How could a heart be holding a converse with itself? That is the obvious difficulty, arising after grasping the primary meaning, the *vacyārtha* (conventional meaning). This necessitates a probe into the poet's suggested import. In that state of enforced reticence, the charmed damsel is having a debate in the inmost recesses of heart. This debate is concerned with misgiving such as these : Will she be at all granted the flattering vision of her lover in her sleep? Will he measure up to her expectations? Will she further able to control his possible errant fancies? Will not the vision be suddenly disrupted? These and a host of other kindred misgivings are agitating the young virgion's soul. Resultantly her soft sides have started paining intensely in commensuration with the briskness of the train of quickly succeeding thoughts and feelings. Then by tacitly alluding the legend of the birth of nightingale--Princess Philomela with her tongue cut by her elder sister's huband who had outraged her modesty having turned into her nightingale--the poet has emphasized the pathetic helplessness of Madeline in the matter of venting out her inward throbbing. Now we hold that the verse in question offers a beautiful example of *svatah sāmbhavi* (possibility based fact suggestion), inasmuch as conditions, attaching to Madeline, are within the orbit of material possibilities : "But to her heart her heart was volube" and that was "Paining with eloquence her balmy sides"--mute endurance of internal torments often creates pain in the sides--all such happenings take place in the practical world. The suggestive import in the deep agitation, rather consternation, caused in the damsel's heart, and that creates the charm.

Alaṁkāra dhavani (suggestion based on poetic figures) : *Alaṁkāra dhavani* (suggestion based on poetic figures) Is that suggestive power of word, the suggested idea aroused by which, is an *alaṁkāra* (poetic figure). This idea, though it may have been presented in some other context as occupying a subordinate position, as an embellishment to the meaning of a sentence, is called *alaṁkāra dhvani* (suggestion based on poetic figures), when it is presented, not as an embellishment of something else, but independently, though it is still recognized as such. Tennyson's poem "The Eagle" is rich in displaying *alaṁkāra dhvani* (suggestion based on poetic figures) :

He clasps the crag with crooked hands;
Close to the sun in loneny lands,
Ring'd with the azure world, he stands.

The wrinkled sea beneath him crawls;

He watches from the mountain walls,

And like a thunderbolt he falls.

Here by the use of *alaṁkāra dhvani* (suggestion based on poetic figures), Tennyson makes us gain a bird's eye-view of sun, sea and even of bird. In the first line, we are stopped by the phrase, "crooked hands". An eagle does not have hands, we might protest; but the objection would be quibble, for evindently Tennyson is indicating exactly how an eagle clasps a crag, in the way that human fingers clasp a thing. By implication, too, the eagle is a person. In the next line "close to the sun", if taken literally, is an absurd exaggeration, the sun being a mean distance of 93,000,000 miles from the earth. For the eagle to be closer to it by the altitute of a mountain is an approach so small as to be insignificant. But figuratively, Tennyson conveys that eagle stands above the clouds, perhaps silhouetted against the sun, and for the moment belongs to the heavens rather than to the land and sea. In the third line the word 'ringed' makes a circle of the whole world's horizons and suggests that we see the world from the eagle's height, the sea becomes an aged sluggish animal; and "mountain walls", possibly literal, also suggest a fort or castle; and finally the eagle himself is licensed to a thunderbolt in speed and in power, perhaps also in that his beak is - like the abstract conception of a lightning bolt - pointed.

Like *sanlakṣyakrama-vyaṅgya, asanlakṣyakrama-vyaṅgya* is also of two kinds; rasa dhvani (suggestion based on aesthetic sentiments) and *bhāva dhvani* (suggestion based on transient emotions). *Rasa dhvani* (suggestion based on aesthetic sentiment) is that suggestive power which floods the mind with a host of ideas, not always clearly definable, which are necessary for such completion of the aesthetic image as is necessary for suggesting *sthāyībhāva* (the basic mental state) at a high pitch and bringing about complete self-forgetfulness in the hearer in which the aesthetic experience consists. It is noteworthy here that the ideas suggested by *vastu dhvani* (suggestion based on subject--matter) and *alaṁkāra dhvani* (suggestion based on poetic figures) somehow admit expression in conventional language but those aroused by this power can never be so expressed. Here D.G. Rossetti's "The Blessed Damozel" is an example of *rasadhvani* (suggestion based on aesthetic sentiments).

There will I ask of Christ, the Lord

Thus much for him and me :

Only to live as once on earth

With Love-only to be,

And then a while for ever now."

"I saw her smile . . . .
And then she cast her arms along
The golden barriers
And laid her head between her hands,
And wept. I heard her tears"

This poem is an example of *rasadhvani* (suggestion based on aesthetic sentiment). The poem evokes an image of two lovers--one in Heaven and another on the earth--who desire to meet each other. It so happens that the blessed damsel, who is in the heaven, imagines to reunite with her lover on the earth and smiles in this oblivious state. But next moment she realizes the fact reunion with her lover is impossible and so weeps. The lover who sees her smiling initially, now hears her tears. Hearing the sound of the tear-drops as they fell on the ground suggests a poignancy to the whole situation.

As far as the *bhāvadhvani* (suggestion based on transient emotions) is concerned, it is based on the *vyabhicārībhāva* (transient emotions). When the suggested idea is transient emotion, we have *bhāvadhvani*. It can be defined in the following way also : When the *vyabhicārībhāva /s* is/are delineated principally rather than temporarily, the *sthāyībhava* (basic mental state) is merely awakened failing to reach the magnitude of *rasa* due to not being nourished by *vibhāvas* (causes and determinants of the rise of a sentiment) etc., we have *bhāvadhvani* (suggestion based on transient emotions). Now the poet probes into the psychic movements and reactions of his characters. It has the following subdivision :

i) *Rasābhāsa* or *bhāvābhāsa* (semblance of aesthetic sentiment) : When the concerned emotions are delineated in respect of persons who are normally not regarded as appropriate objects of those emotion, we have *rasābhāsa* (semblance of aesthetic sentiment). Not the *sthāyībhāva* (basic mental state) is unrighteous, and the suggested ideas are called *rasābhāsa* or *bhāvābhasa* (semblance of aesthetic sentiment). A heroine in love with many persons simultaneously and emotion line bashfulness depicted in a prostitute are examples of *rasābhāsa* (semblance of aesthetic sentiment). *Rasābhāsa* (semblance of aesthetic sentiment) has many sub kinds : *bhāvodaya*, *bhāvasandhi*, *bhāvaśānti* or *bhāvaprasama* and *bhāvasabalatā*.

When the *vyabhicāris* (transient emotions) emerge in the mind, we have *bhāvodaya*. Here the poet describes the object by number of similes denoting anxiety. But when this consciousness of a sudden termination of a mood, involved in a basic mental state, is the source of aesthetic experience, we have *bhāvasānti* or *bhāvaprasama*. Now the suggested ideas, which arouse the consciousness of a such

of a mood, are technically called *bhāvaśānti* or *bhāvaprasama*. We can exemplify these varieties of *dhvani* (suggestion) from the poem, "The Solitary Reaper." Here anxiety emerges in Nature as she plans to supervise Lucy. The whole poem demonstrates this plan of Nature at mental plain by employing number of similes denoting anxiety in Nature. Till here the reader has *bhāvodaya.* but all of a sudden these anxieties subside and the reader experiences *bhāvaśānti* or *bhāvaprasama* when Nature says :

She died and left to me
This heath, this calm and quiet scene;
This memory of what hath been,
And never more will be.

When a variety of *vyabhicāris* (transient emtotion) are mingled together, as though competing with one another to attain prominence, we have *bhāvasabalatā*. A striking example of *bhāvasabalatā* is available in the following line of *Macbeth*:

Seyton...I am sick at heart
When I behold... Seyton, I say...This push
Will cheer me ever or disseat me now
I have lived long enough; my way of life
Is fallen into the seer; the yellow leaf
seen
And that which should accompany old age
As honour, love, obedience, troops of friends,
I must not have to look; but in their stead,
Curses, not loud, but deep mouth honour breath,
Which the poor heart would fain deny, and dare not.

Macbeth is depicted here as maturing for her fall. People have started deserting him, but he is not apparently bothered. He is aware that the crucial hour is fast approaching when he will either secure full dominace or meet his eventual liquidation. He feels he has grown old and his power of soverignty will be vanishing for good. He cannot aspire to enjoy the goods of life which invest old age with joy and grace, such as love, honour, loyalty, etc. He is aware that he will get only the lip service of the sycophants. It is in this cast of mind that he is calling out to Seyton. Here a number of *vyabhicāris* (transient emions) like *śram* (exhaustion), *dainya* (depression), *avega* (excitement), *garva* (conceit), *viṣāda* (despondency), *cintā* or

śankā (apprehension) and *unmād* (derangement) are mingled together, as though competing with one another to attain prominence. Here *śram* (exhaustion) is suggested by "I am sick at heart," *dainya* (depression) is suggested by "my way of life/ Is fallen into the seer; the yellow leaf," *avega* (excitement) and *garva* (conceit) are suggested by "This push/ Will cheer me ever or disseat me now," *viṣāda* (despondency) is suggested by "And that which should accompany old age/ As honour, love, obedience, troops of friends,/ I must not have to look" and *unmād* (derangement) is suggested by whole utterance. By calling out to Seyton, Macbeth betrays the *vyābhicāri* of *cintā* or *śankā* (apprehension). Macbeth's present mood of mind in which the different *vyabhicārī* have mingled together creates a *camatakāra* (charm) to the *sahṛdaya* (reader).

Ānandavardhana holds that *dhvani* (suggestion) consists in the delightful union of word and meaning which is characterized by the infusion of unique poetic art which is capable of affording pleasure to the *sahṛdaya* (reader). According to him, the delightful union of word and meaning is also indicated by phoneme, word, sentence, case termination, number, affixes and compound etc.

The fair breeze blew,
the white foam flew,
The furrow followed free;
We were the first that ever burst
Into that silent sea.
Down dropt the breeze,
the sails dropt down,
Twas sad as sad could be;
And we did speak only to break
The silence of the sea!

In these stanzas the poet uses a wide variety of aural devices. He uses internal-rhyme ('blew...flew'), and half rhyme ('speak...break'). He uses assonance ('hot...copper') and a lot of alliteration ('fair...foam...flew...furrow...followed...free'); and the repetitions of words come to us partly as sound effects. As has already been said, *dhvani* (suggestion) is also indicated by the transposition of case also. The following lines from Shakespeare's Macbeth exemplify this : "O horror! Horror! Horror! Tongue nor heart/ Cannot conceive thee, nor name thee. (*Macbeth*) underlines the emotional strain and bewilderment. Here *dhvani* (suggestion) is indicated by the transposition of case. Let us see how a poet uses compound words, secondary derivatives or suffixes to indicate *dhvani* (suggestion). Keats's poetry

exemplifies this kind of *dhvani* (suggestion). He uses present participle, past participle, and ending indeclinables to show movement. They solidify and make the dynamic energy temporarily still. Hopkins's ''Pied Beauty'' is a good example in this regard:

> Glory be to God for dappled things--
> For skies of couple-colour as a brinded cow;
> For rose-moles all in stipple upon trout that swim;
> Fresh-firecoal chestnut-falls; finches' wings;
> Landscape plotted and pieced-fold, fallow, and plough;

Thus *dhvani siddhānta* (theory of suggestion), works at all levels of language. The basic structure of this theory flourishes on the word-powers--*abhidhā--abhidheyārtha* or *vācyārtha* (primary meaning), *lakṣaṇā-lakṣyārtha* (secondary or derivative meaning), and *vyañjanā-vyaṅgārtha* or *dhvanyārtha* (tertiary or suggested meaning)--which give a vent to all kinds and sub-kinds of *dhvanis. Arthāntara-saṅkramitavācya* (partial transformation) and *atyantatirashṛta vācya* (complete transformation*), samlabs yabrama--vyaṅgya or kramadyotita or anuraṇaṇopamavyaṅgya* and *asanlakṣyakrama-vyaṅgya, vastu dhvani* (suggestion based on subject--matter) and *alaṁkāra dhvani* (suggestion based on poetic figures). *kavipraudhaukti mātra siddha* (poet's inventive fancy based suggestion) and *svatah sāmbhavi* (possibility based fact suggestion), *rasa dhvani* (suggestion based on aesthetic sentiment) and *rasābhāsa* (suggestion based on transient emotions) which includes *bhāva dhvani, bhāvodaya, bhāvasandhi* or *bhāvaprasama* and *bhāvasabalatā.*, all flourish upon the ground of the creative use of language.

References

Ānandavardhana, *Dhvanyāloka* ed. Dr. K. Krishnamoorthy, Dharwar: Karnatak University, 1974.

Nagendra, Ed. Siddhāntśiromaṇi, Ācārya Viśweśwar. Ed. and Commentator. Abhinavabhārati (Hindi edition), Delhi : Dept. of Hindi, University of Delhi, 1960.

Pathak, Ācārya Jagannāth. *Dhvanyāloka of Sri Ānandvardhanācārya with The Locana Sanskrit Commentarty* of *Sri Abhinavagupta*, Varanasi : Chowkhamba Vidyabhawan, 1987.

Pathak, R.S., 1988, *Oblique Poetry in Indian and Western Poetics*, New Delhi: Bahri Publication Pvt.Ltd.

Tiwari, R.S., 1984, A Critical Approach to Classical Indian Literature, Delhi & Varanasi; Chaukhamba Orientalia.

Sharma, Shrwan K. *Kuntaka's Vakrokti Siddhanta* : *Towards an Appreciation of English Poetry*, Meerut, Shalabh Publising House, 2004.



Rationality of Certain Religious Rituals

Dr. H.N. Patwari

Veda's are the treasure house of knowledge. The origin of Hindu society is interlinked with four Vedas i.e., Rig, Yajur, Sam and Atharva. Four objectives of life (purshartha s) namely Dharma (Duty), Artha (material wealth), Kama (personal desire) and Moksha (Ultimate deliverance) are related with Rigveda Atharva Veda, Sama Veda and Yajur Veda respectively. Ayurveda took its birth from Atharvaveda. It is replete with knowledge with regard to disease both traumatic and organic. It has also desribed herbs and other type of medications.

"O, Life, When you are propitious, the drugs of atharvan (charms), the drugs of angirasas (juices of plants and animals) and divine therapies (prayer to sun, water and other natural elements) and drugs of human artfice workmanship) all bear fruit" (Atharvaveda 11.4.16) (*History of Medicine in India* by Dr. Pranjivandas Mehta)

Atharvaveda even describes the ability and intelligence of animals with regards to knowing of various healing drugs.

There is greater impact not only of Sankhya and Vaisheshika Darshanas (philosophies) but also of Upanishads on our social practices as well as religious rituals. On deeper analysis many social and religious rituals not only appear to be a beautiful blend of philosophy, science and medicine but also based on some solid scientific or medical facts. Almost all scriptures state that one should awake well before sunrise and greet the new day refreshed and receptive.The Hindu tradition lists failure to meditate in early morning hours as one of the fourteen failures. Sanskrit scriptures call this time Brahma Muhurta or Amrit Bela. Brahma Muhurta means pure consciousness, the divine itself. Amrit bela signifies the time of the nectar of life.

During sleep the human system centralizes all waste and refuse products in the bowels and bladder. The lower abdomen is full of waste charged gases which will be used on awakening to push the urine and stool out of system. If one is sleeping at sun rise, these gases and wastes will be present during the setting of blood chemistry. If one is awake bowels and bladder emptied, body cleansed and sitting in a receptive mood at sunrise, how much different would be the outcome? It will be pertinent to mention here that during Brahma Vela, not only our receptors are super active, but Mother

Nature is rich in content. That explains the tradition of not taking any food or drink in the pre-dawn hours, a healthy as well as healing tradition, prevailing among most of the Jains even today.

It has been only during last 50-60 years when we have become more "civilized" more "enlightened", that our people have neglected rising during Brahma Vela and quite interestingly, there has been unprecedented upsurge of heart disease, cancer and score of other disorders. There has been phenomenal growth of the psychiatric as well as psychological professions.

Hindu Scriptures also proclaim the benefits of seeing something white at this time especially Dahi, white flowers and white birds. The practice of having Dahi in Sounth Thali is based on same tradition. Just imagine the comparative and comprehensive status of health in its totality when our people used to walk for miles together to visi various places of worship during Brahma Muhurt. Those were the glorious moments when our brother and sisters were able to erect and ergy field capable of shielding out all but the strongest and negative vibrations. Where do we stand today?

Four objectives of life (Purushartha's) can be achieved only on the basis of good health and maintenance of good health has been classified as religious duty of every individual. For all religious acitivies high level of hygiene has been prescribed. High level of hygiene is the most important facet of preventive medicine of Ayurveda called Swasthavritta.

The daily health routine known as Dincharya and seasonal routine known as Ritucharya was essential ingredient of social life. Whatever we can do for ourselves to improve our health will be more effective than what any doctor can do for us. In ancient society right from childhood everybody was expected to know and follow seasonal and daily health maintenance routines. One of the failures of modern culture is, that it deprives us of the time we need to take care of ourselves. It is important to realize that many of our diseases can best be tackled by ourselves by adopting disciplined Ahar (diet), Vihar (life style) and Cheshtha/Karm (Right and Positive thinking) (Reference Geeta 6/17).

Ayurveda with its vast pharmacopoica is one of the greatest gifts of the ancient Indian sages to mankind. Herbs have been referred to even in the ancient scriptures. In the Rigveda, the oldest of four Vedas there is an entire hymn in praise of herbs invoking their healing power. Some translated excerpts are given in the following lines:-

"You herbs, born at the birth of time,
more ancient than the God's themselves,

You who have a thousand powers,
free this my patient from disease.

"When restoring vanished strength,
I hold you herbs within my hand".

Even Yajurveda also mentions many plants, but the most detailed account of herbs (168 hymns) is in the youngest of Vedas Atharvaveda.

There were times when use of herbs was integral part of not only of our daily life but also essential for certain religious rituals. One of the traditions was the preparation of PANAK, prepared at the time of Shivratri, offered to the deity after specifice. Pooja and this divine nectar was savored with great delight and sense of sanctity. The specific ingredients not only provided divine fortitude but also had tremendous medicinal properties. The herbs used for preparation of kwath (Decoction) were:- Jalwatri, Barge Tej, Barge Pan Beikh Pan, Soonth, Kababchini, Laung, Filfil Daraz, Nar Mushak, Katha Supari, Kamal Seed, Eliachi, Khurd, Eliachi Kalan, Dalchini.

I wonder if today, leaving aside its practice and perception, the word PANAK even exists in social psyche of our community.

Another interesting practice is of the cow worship alongwith Panchgavya Prashan. No doubt; its symbolic social presence is occasionally observed, yet the genuine and meaningful reverence is hardly of any significance to many people today. In Hindu mythology the cow was believed to be deliverer of a man from all the sins. In the context of Ayurveda, Sin (Papma) is also a synonym for the disease. Cow was probably considered as the key for preventive medicine. The term vaccination is derived from the word 'vaca' which in Latin means cow.

Mixture of cowdung, urine, curd, milk and ghee in a copper plate distributed in small dose for oral administration on a rainy day in July/August (Shravani) is called Panch Gavya. May be to its all probablity, it is a technique to deliver attenuated intestinal microbes in the form of an oral vaccination. It was generally administered normally once every year as booster dose. Otherwise also cow urine happens to be an integral part of Ayurvedic Ras Shastra (Pharmacology). All the medicinal on various subjects, acquiring spiritual powers and many other similar characteristic of ours had placed our community on higher pedestal. Our name 'Batta' itself has come from word Bhatt meaning knowledgeable person. People around us respected our community because of these qualities, and not because of our language. If we forget all these, and retain language only, it is needless to say, we will loose that edge over others and in turn loose the respect that others have for us. When ever we remember our past, we feel proud of our culture. We cherish the memories of the same, our value system, our way of living and all that we would practice. But, with the passage of time, we are forgetting all these, and are be having in many ways worse than others.

It is needless to say, if we continue like this, and forget our Kashmiriat- over a

period of time we too will be treated like any other community. We will loose the charm of being treated as respectable community. It is said that, this trend has already set in. Most of us have already recognized this fact. Whenever we meet, we condemn our community. 'He yim bhatta' is the beginning of every sentence 'divathh maharah chhih vichimuch yiman bhatan' is the end. As if we are not part of this community. The irony is that, rather than finding out the ways of improving the situation, we just keep condemning ourselves and take pride in doing that. It has gone so deep into our psyche that we tend to believe that this situation can just it would take place, it was among Muslims only. It shows, in Kashmir, even amongst Muslims divorce was not appreciated.

If we analyze this custom, it was a pressure tactic from the society to force the couple, their parents, their relatives and village heads to put all the effort to prevent any divorce. In north India, the tradition of 'Hukka Pani Band' was similar form of pressuring an individual to honour the customs of the society.

In addition to it, girl side people would go out of their way to please the boy side people. The statement 'Koriwol Chhus' would mean just that. These were the social ways to ensure that girls are accepted in their in laws. Girls carrying 'atagath' and gifts for in laws whenever they would visit 'Malyun', inviting in-laws in the family functions and giving special respect to them, were some of the additional ways of ensuring just this. Tradition of respecting a Zamtur by the complete Mohalla was a part of the same. Giving husband the status of God, and treating wife as part of himself 'Ardhangini' were the teaching given to children to ensure their pleasant married lives. It is sad that, now, even our own children, who are likely beneficiary of such customs; make fun of such statement.

Most of us have forgotten the meaning of our most popular Abhushan-Dejihor the symbol of married lady. As I know-it is made of two word 'Dwej' meaning twice born and Hor means pair-signifying this Abhushan is used in pair. ....our culture but also solve the many burning problems of the society. Kindly think will such articles not serve our community better than the service provided by kind of articles we read these days in our magazines.

In order to solve the present burning problem of devorce in our community, can our elders in community adopt similar strategies that will force the couple, their parents and the relative to desist from going ahead with the divorce and save the community from this evil? In addition to can our daugther's parent adopt more humble approach while dealing with their daughter's in-laws? Will they accept it as their most important duty to keep pleasing their 'Samdhis' especially till the daughter in laws are treated like daughters in their in-laws? These have been our traditions. To serve yourselves and your daughters, please preserve them and don't forget them.

Let us not just talk with disgust about the unpleasant trends setting in our community. Let us do something about it. Let us adopt our long tried out customs. In other words let us revive our Kashmiriyat. This is only way we will solve our social problems and will retain our respectable status.

The point where people differed with me was, taking husbands as God. They are of the opinion that these values are no longer applicable now, especially because our daughters too are educated, and most of the time joins service like husbands, and support the financial need of the family............................practical, or such feelings creep up on its own.

All that is required is, in order to maintain the harmony agreement between husband and wife does not come up, with the result they always remain peaceful, and enjoy their lives.



Geographical Data in Viṣṇudharmottara Purāṇa Origin of Universe

Dr. Kusum Gupta

Indian Culture is woven in religius fabric and so is its literature. Pauranic tradition owes the origin of everything in universe to religion and mythology; hence the origin of Universe itself is explained in the same way. It is stated that the Universe at the end of a Kalpa is submerged in water. At the time of creation, Viṣṇu, assuming the form of a gigantic sacrificial Boar lifts the earth out of the water through his nostrils.

Viṣṇudharmottara Purāṇa also propounds the same theory. To the query of the kings assembled in king Vajra's assembly, the sage Mārkaṇḍeya explains Viṣṇu Nārāyaṇa as the cause of the universe. He sustains the earth and then destroys it at the end of a Kalpa. At the time of creation, taking the form of a sacrificial Boar, he lifts the earth out of the waters. The same Nārāyaṇa is Brahmā at the time of creation, Viṣṇu at the time of sustenance and Hara at the time of destruction.[1]

In the next chapter of V.D.H, Viṣṇu ater awakening from slumber, is said to have lifted the earth out of waters. His various limbs are different elements and aspects of the Universe. His feet are Vedas, tusk-the sacrificial post, tongue as fire, bristles on body as Darbhas (sacrificial grass) Day & Night as heavenly eyes and so on. It is further stated that after lifting the earth on the forepart of his teeth, he made the division of the earth.[2]

SEVEN LOKAS

The Universe is said to be consisting of seven Lokas. These are : Bhūḥ, Bhuvaḥ, Svaḥ, Mahaḥ, Janaḥ, Tapaḥ & Satya. Bhūloka is the abode of mortal beings, whereas the other Lokas are inhabited by Gods and other immortals.[3]

NETHER REGIONS

Beneath the Bhūloka are pātāla Lokas (Nether regions). These are- Pātāla, Sutala, Ābhāsatala, Gabhastitala, Mahātala, Bhīmatala & Atala. These nether regions

---

1. V.DH.I. ch.2
2. Ibid. I. ch. 3
3. Ibid. 1.5. vv. 1-15

are also known as Rukmabhauma, Śilābhauma, Nīlamṛttika, Pītabhauma, Raktabhauma, Śvetabhauma and Krṣṇabhuma because of their golden, stony, blue, yellow, red, white and black soils.[1]

On the similartiy of the names of places, stories recorded in the Purāṇas; historical or semi-himstorical facts, scholars have tried to establish that these Pātālas represent Asian, European & African continents colonized by Asuras of various categories i.e. Dānavas, Daityas & Rākśasas, They were predecessors of Devas & therefore, were called Pūrvadevas. These Asuras were not semi humanbeings but very strong and powerful people. Whenever they tried to subdue & torture the people, they were driven out of Bhāratavarṣa.[2]

However, relationship between Pūrvadevas & Devas was not always strained. The Devas had matrimonial alliances also with Asura damsels. Thus, broadly speaking it established the fact that Purāṇas represent not only the Indian sub-continent but universe as a whole.

Linguistically also the Sanskrit language, which is the mother of so many languages has its sister languages in Greek, German, French, Italian etc. It has been proved that all these languages had a common source, which points to the common brotherhood of diffrent tribes inhabiting different regions.

SEVEN CONTINENTS

The earth i.e. Bhūloka is said to be consisting of seven Dvīpas (continents) Saptadvīpā Prithvī; Saptadvīpa Vasumatī. These continents are Jambū. Śāka, Kuśa, Krauñca, Śālmala, Puṣkara and Parimaṇḍalā. There are seven oceans surrounding the seven continents. Each continent and its surrounding ocean are equal in extent and are twice the preceding one. The oceans surrounding these continents are named as Lavaṇa (Salt ocean), kṣīroda (Milky ocean), Ājyoda (Ocean of clarified butter), Maṇḍa (Ocean of whey), Suroda (Ocean of wine), Gomedha (Ocean of cowfat) Svādūdaka (Ocean of sweet water).[3]

JAMBŪDVĪPA

The subject of interest in present context is Jambūdvīpa. It is stated that its eastern & western directions are thronged by oceans. There are six Kulaparvatas

---

1. Ibid. I. ch. 4
2. i) For detail see chronology of India in the Purāṇas by Dr. K.L. Jain, pp. 680 ff
   ii) In Pauranic tradition Bhāratavarṣa is taken to represent the whole Jambūdvīpa, India being only a sub-continont of the Greater Bhārata i.e. Jambūdvīpa.
3. V.DH. 1.6. vv. 1-8, 15, 55

(Chief mountain ranges) of Jambūdvīpa. These are Himavān, Hemakūta, Niṣadha, Nīla, Meru & Sṛṇgavān, all the abodes of auspicious gems. The diameter of the Jambūdvīpa is said to be one hundred thousand yojanas.[1] It is stated that two varṣas (Countries in the neighbourhood) are on the south & north. The three varṣas in the middle are quadruangular. The group of four varṣas in the square form is the large establishment. The diameter of the Varṣas is said to be 9000 yojanas each, that of the mountains 2000 yojanas each.[2]

VARṢAS OF JAMBŪDVĪPA : The V.Dh divides Jambūdvīpa into nine varṣas. These are as follows with their location & description as given in the purāṇa.[3]

1. **Kuruvarṣa** : It is said to be lying to the south between the ocean & srṇgavān & is bereft of all calamities.
2. **Hiraṇyābha** - Lying between srṇgavān & śveta, it is also known as svetavarṣa.
3. **Ramya** : Lying between Śveta & Nīla, it is also known as Nīlavarṣa.
4. **Ketumālavarṣa** : Lying between Niṣadha & Nīla is Ketumālavarṣa, on the western side of which lies the Gandhamādana mountain.
5. **Rudramukha** : Lying between Niṣadha & Nīla to the east of Malaya Mountain is Rudramukha Varṣa.[4]
6. **Ilāvṛta Varṣa** : It is stated that on the four sides of Meru is Ilāvṛtavarṣa. This varṣa has four parts known as - Bhadrāśva, Jambūmāla, Ketumān & Kuru. In other Purāṇas it is stated that these continents are situated to the east, west, south & north of mountain Meru. V.DH. takes these continents as four part of Ilāvṛtavarṣa, whereas other Purāṇas take them to be independent Varṣas.
7. **Bhāratavarṣa** : Also known as Himavatvarṣa, it is said to be situated to the south of Himalaya. It is the land of action.

---

1. Ibid. 1.7. vv. 1-7
2. Ibid. 1.7 vv. 30b-33
   The whole diameter of Jambūdvīpa has been said to be 100,000 yojanas. It is thus divided from north to south : Ilāvṛta Varṣa in the centre extends each way 9000, making 18000; Meru itself at the base is 16000; the six varṣas at 9000 each are equal to 54000, the six mountain ranges at 2000 each are 12000 = 18+16+54+12=100,000. From the east to west the varṣas are of the extent necessary to occupy the space of the circle - Wilson H.H: V.P.-I, Book II, Ch. II, Pd 251-2, F.N.5.
3. V.DH. 1.7. vv. 18-29
4. Rudramukha is not found in other Purāṇas. Instead Bhadrāśva is given.

8. Harivarṣa : It is situated to the north of Hemakūṭa and is also known as Naiṣadha Varṣa.

9. Kiṁpuruṣavarṣa : It is situated to the south of Hemakūṭa Varṣa and is also known as Hemkūṭa Varṣa.

BHĀRATAVARṢA

It is said to be situated to the south of Himālaya and is land of action.[1] Nine divisions of Bhāratavarṣa are mentioned. These are - Indradyumna, Kadeta, Tāmravarṇa, Gabhastimān, Nāgadvīpa, Anya, Gandharva, Varuṇa and ninth is the Madhyama. These nine divisions are said to be encircled by eight mountain ranges extending from the Himācala upto the oceans but mutually inaccessible.[2] These mountains are - Svarmāli, Hemamali Sámbhū, Kārtasvarākara, Vaiḍūrya, Rājata, Manimān and Bhava. No detail is given regarding the identification of these names and the areas represented by them. The ninth one i.e. India is in the middle and hence called the middle one. It is said to be throunged by the oceans on four sides.

However, the present Bhārata is neither surrounded by mountains, nor oceans on four sides, nor are its various divisions mutually inaccessible. Evidently the Pauranic Bhārata did not constitute our India of present geographical limits. It denoted rather a much larger area and only one of its island i.e. the ninth one stood for India proper.[3]

The historical facts tell us that from the first century of the Vikram era, the Indians started to hold their sway over both the eastern and western oceans. Gradually they colonized Java, Sumatra, Malaya, Kamboja, Campa, Syam, Kedah, Borniyo &

---

1. V.DH.1.7.V.29
   The names of eight divisions vary in the purāṇas:-
   i) In Viṣṇu pu. these names are Indradvīpa, Kaserumān, Tamravarṇa, Gabhastimān, Nāgadvīpa, Saumya, Gandharva & Varuṇa. 2.3.V.6.
2. V.DH. I. Ch. 8.
3. This fact is endorsed by V.DH. itself while narrating the story of Sagara and his sons in the following verses wherein India is said to be the ninth part of Bhārata :-
   भारतस्यास्य वर्षस्य भेदेऽस्मिन्नवमे नृप।
   समन्ततस्तश्चक्रुः खातकर्मबलान्विताः।।
   विस्तराद्योजनशतं पातालतलगामिनम्।
   वैड्र्यपर्वतात्पूर्वमुत्तरेण हिमाचलात्।
   हिमाचलश्यच तैर्वीरैः राजन्देशद्वये क्षतः।।
   Vāyu Pu. also corroborates this statement
   भारतस्यास्य वर्षस्य नवभेदाः प्रकीर्तिता।
   समुद्रान्तरिता ज्ञेयास्ते त्वगम्याः परस्परम्।। Vāyu Pu. Pārva. V.78.

other islands. These islands were so much influenced by Indian art, language, religion & culture that they came to be regarded as a part & parcel of the main land. Thus, in course of time, the geographical territory of India expanded. It included not only India proper but also ceylon, islands of Indonesia and colonies mentioned above. Thus a greater India came into being. The geographical accounts of Purāṇas seem to describe the limits of India during the 5th century A.D.

This explanation of greater India may be testified by the fact that while giving the account of Janapadas of India proper, various purāṇas including V.DH. give an other division of Bhārata into nine Khaṇdas based on directions. These are Madhyadeśa (central India), Pūrva (east), Pūrvadakśiṇa (east-south), Dkśiṇāpatha (south), Dakśiṇa-Paścima (South-west), Paścima (west), Uttara-Paścima (North-west) Udīcī (North) & Udaka-Pūrva (North-east).[1]

MOUNTAINS

As already stated Bhāratavarṣa is said to be surrounded by eight mountain ranges which are mutually inaccessible.

There are seven Kulparvatas (Chief mountain ranges) of Bhārata. These are Mahendra, Malaya, Sahya, Śuktimān, Ṛkśvān, Vindhya & Pariyātra.[2]

Besides Govardhanācala Mahendra, Himācala with its three peaks, Raivataka, Sahya, Vindhya, Meru, Sumeru, Kānchangiri, Nīla, Mahāgiri, Anjana, Vaiḍūrya, Pariyātra, Amarāntika and Arbuda are mentioned in connection with the narration of different stories, episodes and location of forests. These also find mention while enumerating the places where good Kṛṣṇa is to be remembered by different names.!

RIVERS IN V.DH.

The V.DH gives a long list of rivers in different contexts at different places:

1. First the rivers flowing from seven Kulaparvatas are given.
2. The Himālayan rivers: The rivers which flow from the Himālaya mountain.
3. Seven forms of Saraswatī.
4. Seven forms of Ganges.
5. A long list of about hundred and twenty-five rivers is given in connection with consecration ceremony of the monarch. These rivers are invoked at the time of consecration and his coronation on the throne.

---

1. V.DH. I. Ch. 9
2. Ibid 1. ch. 10 vv. 1-2

6. Besides rivrs are also mentioned in other contexts i.e. stories, episodes etc.[1]

FORESTS

Forests mentioned in the V.DH. in the context of giving eight varieties of elephants along with their locations are given below:[2]

1. Airāvaṇa in Mahadvana.
2. Padma in Karūṣa.
3. Puṣpadanta in Daśārṇaka
4. Vāmana in Mārgareyaka
5. Supratika in Kales'a
6. Añjana in Aparāntaka.
7. Nīla in Saurāṣtra
8. Kumuda in Pañcanada

Besides Naimiṣa, Madhuvana, Saindhava, Daṇḍaka & Jambuvana are mentioned in other contexts.[3]

The Viṣṇudharmottara seems to belong to the region of five rivers. It also displays its acquaintance with and devotion for the land of Jammu and Kashmir. Many of the Paurāṇika stories are connected with these regions. The rivers flowing through these regions have been specially glorified.[4] The author ascribed them divine forms by attributing the epihet Devi[5] (goddess). The rivers Devikā and Vitastā have been represented as the personifications of goddess Umā.[6] Their sacredness has been stressed by coining Paurāṇika stories.[7] On the bank of Devikā is mentioned

---

1. 1.206. vv. 1, 17-19, 26, 35; 207. vv. 1,9,11, 12,40,43,48 ff
   1.228. v.8; 235 . vv. 14-21; 242. vv. 1,8,11;
   247, vv. 5, 6; 269. v. 12
   1. ch. 144; 1.162. vv. 30-40
   2. 17. v.I
   3. 105. vv. 37-38, 3. ch . 121; 3. ch. 125
   2. 22. vv. 166 ff
2. V.DH. 1. ch. 251
3. Ibid 1. 144. v. 4; 2.22. v. 142, 3. 121. v. 4
4. Ibid. ch.2; 162, vv 62-65
5. Ibid., 1.11, vv, 10,12,15,16,18.
6. Ibid., 1.11, vv.10-11; 164, vv-23-24,; 167, vv. 15-16; 207, vv.55-56
7. Ibid., 1, chs. 164 and 167

the Tīrtha (sacred place) Narasiṁha and the construction of a Viṣṇu temple by Maitreya, the priest of King Sauvīra.[1]

The region around Vitastā has been described as highly sacred. A bath in the river's cold water is the remover of all blemishes. Observance of Tiladvādasī vow on its bank and worship of Viṣṇu is described as highly meritorious.[2]

The confluence of rivers Tauṣī[3] and Candrabhāgā, flowing through the territory of Jammu, is separately glorified. A Paurāṇika story is added to explain the merit

1. हरस्य दयिता भार्या शैलराजसुता वरा।
उमा देवीति मुद्रेषु देविका या सरिद्वरा।।
नराणामनुकम्पार्थ ब्राह्मणैरवतारिता।
तीरयोरूभयोस्तस्याः क्षेत्रं क्रोशचतुष्ट्यम्।
तास्मिँस्तीर्थे मृता मर्त्याः प्राप्नुवन्ति शुभां गतिम्।।
श्रुताभिलाषिता दृष्टा देविका पापनाशिनी।
तस्यां स्नात्वा सकृन्मर्त्यो गाणपत्यमवाप्नुयात्।।
तस्यास्तीर्थं नृसिंहाख्यं सर्वकल्मषनाशनम्।
नृसिंहवपुषा स्नानं कृतं यत्र पुरा शुभम्।।
सौवीरराजस्य पुरा मैत्रेयोऽभूत्पुरोहितः।
तस्मिँस्तीर्थे तदा तेन विष्णोरायतनं कृतम्।।
Cf. V.Dh. 1.167, vv. 15-20
यैव देवी उमा सैव देविका प्रथिमा भुवि।
मद्राणामनुकम्पार्थं भवद्भिरवतारिता।।
सर्वत्र देविकातीर्थं क्षेत्रं कोशचतुष्ट्यम्।
यत्र कूपतटाकाख्यम् पुण्यं सर्वमशेषतः।। Nilamata pu. vv. 11 off
Devikā has been identified by Pargiter with river Degh, a tributary of Rāvi on its right bank - Mārkaṇdeya Pu, trans. p. 292. Pargiter's identification which was not acceptable to the scholars earlier, was verified and supported by Prof. J.N. Agrawala in his Article in J.U.P. Historical Society, XVII, pp. 75ff. Prof. Agrawal has also tried to locate the Nṛsiṃha shrine on the bank of Devikā.
Also see ; Dr. Ved Kumari : The Nilamata Purana, Vol. 1, Ch. 2, P.28
2. अस्ति वैतस्तिको नाम देशः परमधार्मिकः।
हरस्य दयिता भार्या शैलेन्द्रतनया उमा।
विस्तारितमहाकूला सा वितस्ता महानदी।
अवृत्तिकर्षितः पापं कृत्वैव ऋतुपंचकम्।।
स्नानेनैकेन सकलं शैशिरेण व्यपोहिता। V.DH. 1.164. vv. 11a, 23b-25a
For details see 1, chs. 163 and 164
Vaitastika is the sacrd appelation of Kaśmīra.
Also see- Dr. Ved Kumari : the Nilamata Purana Vol. I, ch. 2, pp. 22, 36-37.
3. Tauṣī known as Tohi in the local dialect of Jammu and Tawi by the common man is one which takes its rise from Suddhamahādeva in Jammu province and enters into Chenab near Sialkot.

of offering food to the Brāhmaṇas on their confluence on Śrāvaṇadvādaśi.[1] Candrabhāgā is described as a part of Ganga. Tauṣī is called Taptasalilā (possessed of hot water) and Arkanandinī (daughter of the Sun).[2] When this river flows through the plains of Jammu, its water loses its coolness thus justifying the epithets.

When King Purūravā of Madra Country went to the Himālaya for practising penance for the attainment of beautiful form, he crossed the river Ūrddhva,[3] identified with modern Ujjha flowing through Jasrota district and falling into the Ravi.[4]

Barata of Raghu lineage starts from Ayodhya to wage war against Sailūṣa the king of Gandharvas,[5] Who is said to be ruling on both sides of Sindhu. He reaches the country of Kaikeyas.[6] The author of this purāṇa has utilized this opportunity for glorifying the rivers of this region i.e. Gaṅgā, Yamunā, Gaurī-another name of Śatadru, Vipāśa, Irāvatī, Devikā, Candrabhāgā, Vitastā and Sudamā. The sacred

---

1. V.Dh. 1, ch. 162. Th story is connected with Dāśeraka and Sākala (modern Sialkot). According to D.C. Sircar : Dāśeraka is same as Maru i.e. the Marwar region of Rajputana. Studies in the Geography of Ancient and Medieval India : ch. 2, p. 26, F.N. 2. According to the V.Dh. Dāśeraka is situated to the east of Marudeśa :
   देशा दाशेरकाः नाम तेषां भागे तु पश्चिमे।
   अस्ति राजन्मरूदेशः सर्वसत्त्वभयङ्करः।। 1.62, v.2.
   In the course of Bharata's journey to Gāndhāra, Dāśeraka is mentioned along with Kuninda, Trigarta and Kulūta, the regions between Vipāśā and Irāvatī. Thus Daseraka seems to be region somewhere in ancient Punjab.
2. स कदाचिन्मया सार्धं तौषीं नाम नदीं ययौ
   तस्याश्च सङ्मः पुण्यो यत्रासीच्चन्द्रभागया।
   चन्द्रभागा सरिच्छ्रेष्ठा यत्र शीतामलोदका।
   महादेवजटाजूटे गङ्गा निपतिता पुरा।
   चन्द्रेण भागतो न्यस्ता चन्द्रभागा स्मृता ततः।
   तत्कालतप्तसलिता तौषी तत्रार्कनन्दिनी।। V.Dh. 1. 1.62, vv. 33-35
   The story is also recorded in Padma Pu. Uttarakhaṇḍa, ch. 69, Padma Pu. reads तापी which is another name of तौषी, rest of the story is same :
   स कदाचिन्मया सार्धं तापीं नाम नदीं ययौ।
   तस्याश्च सङ्गमः पुण्यो यत्रासीच्चन्द्रभागया।
   चन्द्रभागा चन्द्रसुता तापी चैवार्कनन्दिनी।
   तयोः शीतोष्णसलिले प्रविवेश सहद्विजः।।
3. V.Dh. 1.162, vv 62-65.
4. Ibid., 1.148, v.17
5. Agrawal V.S. India as known to Pāṇini Ch. II, p. 44 Dr. Ved Kumari : Sśṁskṛitīka Aur Sāhityīka Nibandha : Vol. 1, Article I, p.7.
6. Gandharva Desá is the ancient name of Gandhara: D.C. Sircar - Studies in the Geopgraphy of Ancient and Medieval India, Ch.3, p.62, f.n. 5.

places Kurukṣetra and sannīti are similarly glorified. The other prominent regions mentioned in this context are : Trigarta, Kulūta, Dāśeraka Madra, Dārva, Abhisāra and Kaśmīra. The kings of these regions fought from Bharata's side. All these regions fall within the territory of ancient Punjab and the state of Jammu and Kaśmīra.[1]

In the myth of Viṣṇu taking back the earth from the demon Bālī, it is stated that when the Supreme God in His Dwarf form was granted permission by the demon to measure with His three steps as much land as he could, He placed His first step on Naubandhana peak.[2] It is one of the highest of the three peaks to the west of Banahal.[3] Shri O.P. Bharadwaj has tried to identify Naubandhana with present Nahan in Himachala Pradesh.[4] If it be taken as authentic, even then it comprises the region of ancient Punjab.

While narrating the importance of Śrāddha, it has been stated that Viṣṇu in His Man-Boar form, after having killed the demon Hiraṇyākṣa stationed Himself on Varāha mountain, which is situated in Kaśmīra. On this very mountain was started the ritual of Śrāddha by the Supreme God in Vaivasvata Manvantara.[5] Kaśmīra has been regarded as the place of Viṣṇu in the form of Cakrin (discuswielder).[6]

---

1. Th Kaikeya rgion comprises the territory between the Sindhu and Vitastā Macdonell : Vedic Index, Vol. I, p. 185. According to D.C. Sircar - The ancient Kekaya country lay in the Punjab to the east of Gandhāra (the Peshawara and Rawalpindi Rgion) Studeis in the Geoggraphy of Ancient and Medieval India, ch. IV, p. 102.
2. V.Dh. 1.207, vv. 4-65; 261, vv. 10ff
   i) Trigarta is the territory from Kangra upto Jalandhara and the region round about. D.C. Sircar : Studies in the Geography of Ancient and Medieval India. Ch.2, p. 37, f.n. I.
   Dr. Ved Kumari : Sāṁskritika Aur Sāhityika Nibandha. Article, I, P.2.
   ii) Kulūta - modern kulu region in Kangra district. D.C. Sircar : Studies in the Geography of Ancient and Medieval India, Ch. 2, p. 27, f.n. i.
   iii) Madra - Modern Sialkot and the region around it. Ibid., p. 24, f.n. 2.
   iv) Dārvābhisāra - These two places comprised the region between Punch and Naoshera. e. the region between the Jhelum and the Chenab. Ibid., p. 27 f.n. 2.
   v) Dāśeraka - Supra f.n. 26.
3. V.Dh. 1, ch. 55.
4. Dr. Ved Kumari : Th Nilamata Purana Vol. I, ch. 2, p.24
5. Naubandhan : An article contributed in the Prof. Jagannath Agrawal Felicitation Volume - Recent studies in Sanskrit and Indology, pp 23 I ff.
6. V.Dh. 1, ch. 139.

The sacred Bindusara lake, referred to more than once,[1] is described as having been formed from the drops of water fallen on earth when the sacred river Gaṅgā fell on god Hara's head. It is further stated that the river when let off by god Śaṅkara first entered the Bindusara lake and then dividing itself into seven streams flowed in various directions.[2]



1. वराहं कन्दमाले च कश्मीरेषु च चक्रिणम्। Ibid., 3. 125, v. 10b.
2. Ibid., 1.19, v. 19; 80, v. 18;2.22, v. 156

The World-view of the female seers of the Ṛg-veda

Dr. Mau Das Gupta

(Abbreviations : Bṛhd = Bṛhad-Devata, Ṛv= Ṛg-veda)

From an indepth study of the hymns and verses attributed to the female seers in the Ṛg-veda, one may accumulate some notions about their world-view, and what life exactly meant for them. It is evident from the literature of the Ṛg-veda that by no means they had been socially handicapped as the women of India became in the middle age. The Ṛg-vedic women could move about freely, and there was no prominent restriction regarding the free mixing of both sexes. Woman were not left aside because of their mere womanhood, because such an attitude towards women was found to have flourished only in the later Indian society. Some critics, depending upon a solitary evidence from the Ṛg-veda, claim that seclusion of women was prevalent in the Ṛg-vedic India. ṚV 1.167.3c refers to the seclusion of one's wife in a simile, but this may only be a stray comment, as in nowhere else in the Ṛg-veda a similar suggestion occurs. Against this view, poignantly stand the references made in the marriage hymn, where the bride has been blessed to look after the household of her husband and to reign over her in-laws (ṚV 10.85.46). If she be secluded then how would it have been possible for her to look after the cattle and the servants of the family[1]?

Although women in the Ṛg-vedic age were free enough to participate in vidatha's[2], and to go to merry festivities like samana's, their daily life surely was very much different from that of men. The household works were the duties of the womenfolk. Since they were not considered much useful in warfare their main task was to take care of their husbands, children and dependents. Though women of the Ṛg-veda were impared with the right to participate in sacrificial rites, nowhere in the whole corpus of the Ṛg-veda is there a reference to a woman-priest. Viśvavārā is heard of giving oblation to the fire chanting the mantras herself (ṚV 5.28.1), and Mamatā, mother of the seer Dīrghatamas, was also famous for her beautiful chants (ṚV 6.10). But these isolated references would not suffice to make a case for any,

1. Cf. ṚV 1.167.3; 10.85.26, 27; AV 8.1.6; 14. 1.21; vide R.S. Sharma : Aspects of Political Ideals and Institutions in Ancient India. Delhi 1959, 64-66ff.
2. *mimyakṣa yeṣu sudhitā ghṛtācī/ hiraṇyanirṇig uparā na ṛṣṭiḥ//*
guhā caranti manuṣo na yoṣa/ subhāvatī vidathyeva saṁ vāk// ṚV 1.167.3.

general trend of the society. Women in the Ṛg-vedic society in general desired a dependable yet heroic husband and a number of male children, as is the universal desire of women. Physical pleasure, too, mattered much for them as the verses of the female seers are marked for their ardent longing for sexual pleasure in naïve and unsophisticated language. Their utterances are sometimes so bold and provoking that the later index-makers of the Ṛg-veda had no other option but to accept the conversing pairs as husbands and wives. For instance, the speakers of ṚV 1.126.7 or of 8.1.34 are accepted as the wives of the respective persons whom these verses are addressed to. Though no concrete evidence of their being husbands and wives is available in the texts themselves. These two verses along with the seers they are attributed to can be examined here closely.

According to tradition, Romaśā is the seer of 1.126.7. The Bṛhad-devatā (2.155) alludes her to be the wife of king Svanaya Bhāvayavya, who has been praised more than once in the Ṛg-veda for his bounteous nature. The entire hymn 1.126 itself is a praise for gifts, addressing king Svanaya, the last two stanzas of which are a dialogue of the royal couple, but these two stanzas seem to have no apparent connection with what precedes. They rather actually comprise a bedroom-conversation between a man and a woman, than a dialogue of the royal couple as mentioned in the Bṛhad-devatā. The internal evidence of these two stanzas does not agree with what the Bṛhad-devatā says Griffith (Ralph T.H. 1896-97. The Hymns of the Rigveda: tr. with a popular commentary. 2 vols. Benares [first publ. 1889-92 in 4 vols.] p. 652) suggests that here the seventh stanza of the hymn should have preceded the sixth, because the seventh stanza reveals the speakers' unfamiliarity with each other, which is why the woman has to highlight her youth to the man in order to lure him, and what the man says undoubtedly presupposes their first meeting. Griffith eventually comes to the conclusion that "these two look like a fragment of a liberal shepherd's love-song".

Disputes prevail even over the actual name of the poetess of 1.126.7, since nowhere in the verse has the term "Romaśā" been used as a proper noun. The speaker (a woman) in the verse says, "I am hairy all over the body" (sarvāham asmi romaśā.) Traditional commentators take the adjective *romaśā* to be the name of the seer. As for ṚV 8.1.34, it is attributed to Śaśvatī. She has been spoken of as Nārī Śaśvatī at BṛhD 2.83. The epithet has in the Nīti-mañjarī been explained as 'the one among women, who is distressed when her husband is distressed and who rejoices when he rejoices' (vide Arthur Anthony Macdonell ed. and tr. 1904. The Bṛhad-devatā attributed to Śaunaka : a summary of the deities and myths of the Rig-veda 2 pts. Cambridge, Massachusetts. Harvard Oriental Series vols. 5, 6. p. 2.55). Sieg in Sagenstoffe cites this Nīti-mañjarī passage where Śaśvatī of ṚV 8.1.34 has been

quoted as an example of a nārī (vide o.c., I.c. with ref.). Macdonell, however, in his translation of BṛhD 2.83, interprets the word simply as 'wife'.

The Anukramaṇī relates the following legend on this hymn. A prince named Asaṅga, the son of king Playoga, had been turned into a woman owing to a curse of the gods, but later with the favour of sage Medhātithi of Kaṇva family restored to manhood by the power of penance. On that account he offered abundant riches to the seer (ṚV 8.1.30-33), and was praised and congratulated on restoration of his manhood by his wife Śaśvatī, the daughter of Aṅgiras (ṚV 8.1.34). The Bṛhad-devatā does not give any details about Āṅgirasī Śaśvatī. The stanza attributed to Śaśvatī bears a typical Ṛg-vedic naivety found in the hymns of Romaśa, Lopāmudrā or Yamī of ṚV 10.10. Here she praises her husband's signs of manhood in an unhesitant language, which hardly shows any cover of sophistication.

Apart from the above mentioned basic demands of womenfolk, their wishes to overpower their co-wives are heard in the hymns of Indrāṇī (ṚV 10.145) and Paulomī Śacī (ṚV 10.159). In the khila hymn attributed to Śrī, the seer expresses her desire for wealth and fame as well as for sons, which is unique in comparison to the common desires of womenfolk.

The root of the fundamental expectations of the Ṛg-vedic women or to say of the women of the world in general to get married, and to have a household of their own with a strong yet a loyal husband and a number of offspring, lies perhaps in a feeling of insecurity which they experienced since a very primitive age. Nature has made the female species physically weaker than their male counterparts. It being difficult for her to struggle alone for existence she needed a strong companion to protect herself. Moreover the sexual urge also made man and woman mutually dependent. These primitive necessities gradually gave birth to the institution of marriage, and the origin of individual property, too, played an important part in it. However, with the development of civilization, marriage became indispensable for women, as they felt themselves unprotected and looked down upon by their kinsfolk if they remained single. The lamentation of such an unmarried woman is heard in the hymns of Ghoṣā (ṚV 10.39, 40). The woman needed a home and a husband not to fulfill her present requirements only, but for her future security at an old age as well.

Apart from the desires of mundane life, another note, though very faint, is also heard ringing in the hymns of some of the female seers. The intellectual women of the Ṛg-Veda, perhaps, knew a life above the mere temporal necessities. In the colloquy of Purūravas and Urvaśī (ṚV 10.95), Purūravas, crying bitterly at the separation from his wife, begs her to come back to him, but Urvaśī refuses to return to the conjugal life as she flies over the mundane world like a swan (cf. Śatapatha-

brāhmaṇa 11.5.1.1-14). Arguing along the lines of Aurobindo, A.B. Purani (Studies in Vedic Interpretation: on the lines of Sri Aurobindo. Varanasi 1963, 157-78ff) accepts Urvaśī to be the light of the supreme consciousness, whom the mortal experiences only once by chance, but never succeeds to retrieve even with many a cries. For this reason he is called the Purū-ravas (*puru*-many, *ravas* = cry). In the concerned text, Urvaśī consoles Purūravas by advising him not to have faith in a lasting friendship with women, who are cruel hearted by nature (cf. ṚV 10.95.5). This cynic attitude does not befit a mere courtesan, as Urvaśī is presented to be in later literature, but it suits well a person who has detached herself from the temporary pleasures of conjugal life. This spiritual bent of mind, of a few women at least, is best reflected in the hymn of Āmbhṛṇī Vāc (ṚV 10.125). The seer, who experiences herself as free as the eternally blowing wind, hardly cares for a life-partner. On the contrary, she claims that whomsoever she desires, she herself makes him the priest, him alone the mighty and him the seer (*yaṃ kāmaye taṃ tam ugraṃ kṛṇomi/ taṃ bhrahmāṇam tam ṛṣim taṃ sumedhām//* ṚV 10.125.5cd).

On the whole it transpires that Ṛg-vedic women lived a life with less social taboos than their counterparts of the medieval age of India. They were brought up with care, and given education. Most of them selected a husband at their own choice, and after marriage usually looked after the households of their husbands. Sometimes they worked to support the family, but normally it was the hubands' duty to support their wives. The same tradition survives in the middle class Indian families even this day. One can without reservations identify Ṛg-vedic women, who were not hidden under "purdah" and had their head held high in self-esteem, with the educated middle class women of modern India. Though there were no restrictions in uninhibited interactions between both the sexes in a permissive society, adultery was nevertheless considered a sin in the Ṛg-vedic age. In spite of the frequent mention of extra marital lovers (*jāra-*) and illegitimate children, the society on the whole condemned adulterous people. As a result, an illicit lover in the Ṛg-veda had to seek hidings in darkness, and a mother was compelled to forsake her illegitimate child. So, it can be concluded that the Ṛg-vedic society had its value against free sex, though it was a common affair as it is still now in the society. The difference which lies between the Ṛg-vedic women and the women of modern India consists in the fact that the former often had to suffer because of co-wives, a suffering which was a curse of a polygamous society. Average people were usually monogamous as can be gleaned from the verses of the Ṛg-veda, but the elite class consisting of the priests and the royal families was generally polygamous. In the Ṛg-vedic society elite class women were mostly educated, and it surely was intolerable for those sensitive women to share with other women their husbands' loyalty (cf. ṚV 10.145 & 159).

Utkalikā : A Lyrical Poetry in Simple Metres

Dr. Pramod Bharatiya

The great Romantic poet William Wordsworth had defined poetry as the spontaneous overflow of powerful feelings recollected in tranquility. This spontaniey is always available in the poetry of the modern Sanskrit poet Haridatta Sharma. Sharma, though a less advertised poet, has got a beautiful style to communicate to the readers in a much simple way. Today, when the poets are leaving the traditional parameter of metrix and writing the free verses, Sharma's collection of Sanskrit poems e.g. Gītakandalika, Utkalikā and Bālageetāli would inspire the contemporary poets that even today the poems based on metres can be written without any difficulty.

This has been the trend of the Sanskrit poetry that poets use long metres and the musicians feel lots of challenges to compose their verses. Sharma has perhaps felt this difficulty of the music composers and, therefore, he didn't adopt that way. He composes very simple and small meters so that the poems can be sung easily. In this way, Haridatta Sharma's contribution may be a major landmark in the modern Sanskrit era. He will be known as one of the great exponents of lyric poems in the tradition of Abhiraj Rajendra Mishra, Sriniwas Rath and so on.

Like his predecessors Sharma has also written on various themes. Mainly he writes on the beauty of nature's grandeur and the struggle of human beings. His Utkalikā's theme can also be classified in the above-mentioned categories.

Beauty of Nature

Like Kalidasa and Wordsworth Sharma too has expressed his deep inclination towards the beauty of Nature. His first poem in the collection has been addressed to the thunder. Kalidasa has mentioned thunder as the beloved of the cloud. Sharma directly addresses the thunder in a more Romantic way.

छलनं मनसि वचसि माधुर्यं चाङ्गे स्पन्दनलासाः।
आहार्यं मोहकं विचित्रा अभिनयकला-विलासाः।।
नैकभूमिकां धारयसि त्वं यथा नटी नटवालः। विगतः प्रावृट्कालः।

His second poem (शीतगीतम्) is completely dedicated to the winter season.

This winter may be pleasant to the people of high income group. But it is a hell for the poors. Sharma has expressed his concern for them as well-

वसनविहीना निर्धनदीनाः सीत्कारं कुर्वाणाः।
निशि तिष्ठन्ति क्वचिन्नग्ना हा हिमपातं सहमानाः।।
रात्रिर्याति न कालमयीयं दिनं कथञ्चिद् वीतम्।
अयि प्रवर्तते शीतम्।

Sharma's (अभिनन्दनम्) discribes the spring who is the king of all the seasons. That is why Sharma says that this season is welcomed by mountains and trees. His (अभियानम्) also discribes the sky, sea and other Natural places.

उपरि शून्ये विततमेतद् विमल-नीलाम्बर-वितानम्।
नदी नदीतर-कुसुमलतिका गिरि-मरुस्थल-जलधि-जालम्।
भूर्नभो द्वीपानि देशाः शतिशरवितृ मण्डलविशालम्।
जगति कति विस्मयपदार्थाः स्यदि शक्यं नानुमानम्।
सवति उदधौ जलधियानम्।

In describing the passing night Sharma has left many classical poets behind. He has imagined the night as beloved of the day in his poem 'याति रजनी'

यामिनी दिवसप्रणयिनी विमलतरला भवतु जयिनी।
रहसि बहुरतिकेलिशीला धृतबीत कृतक्रीडा।
मदनबाणान् प्रक्षिपन्ती मृदुपदैरुपयाति रजनी।
कथं कथमपि याति रजनी।

Sharma's (उड्डीयते विमानम्) is also a beautiful description of an aeroplane flying in the sky. He has said to this flying plane as the son of the air which moves in the sky with its arms--

पवने करौ प्रसर्य याति किं गगने पवनसुतोऽयम्।
खेचरराजः खे धावति किं धृतलम्बितपद्योऽयम्।
शिरसि हि धृत्वा मानम्। उड्डीयते विमानम्...

The poet has exclusively described the beauty of French city Paris in his poem पेरिसनगरीयम्. The multy-story buildings, the bridges, musiums, aniversities and many other places are the objects of Sharma's portrayal. He praises the art, sculpture, culture and religious aspects of the city as well-

प्रासादेषु चारुतासारः कला-शिल्प-संस्कृतिविस्तारः।
रम्यं गिरिजागृहं काचबहु-वर्णं नोत्रेदम्। पेरिसनगरीयम्।।

Sharma's title song (जाता सोत्कलिका) is highly autobiographical in nature where he has described how his poetic talent emerged and grew. He has symbolized his early talent with the banana tree which grew gradually like a bud. He has said that his poem is like a banana tree's seed which grew later and became the bud the Utkalikā-

प्रथमं या वीजमिवाङ्कुरिता कविशैशवकाले
च स्फुरिता कविता कन्दलिका!
कन्दल दलवर्धनसमकालं जाता सोत्कलिका!!

The above lines have a symbolic meaning as well. First of all the poet had brought out his collection of poems in the title (गीतकन्दलिका) and then the second collection has been named as (उत्कलिका).

As a resident of Allahabad City, Sharma has successfully described the confluence of Gaṅgā and Yamunā in the city where people from all over the world come and have holi dips in the confluence-

जलतले नौकासङ्कुलम् प्लवनं समन्ताज्जनबलम्।
वृद्धा युव-स्त्री-बालकाः समतया स्नान्ति सुनिर्मलम्।
गङ्गायमुनयोस्सङ्गमः...

The portrait of this confluence is undoubtedly superb but it is not known why he has not mentioned the river Saraswati.

Nation's Grandeur

The love for the Nation is also an important element of Haridatta Sharma's poetry. He writes with a lot of pride for the picturisation of his motherland. He cautions the residents of the country against the dangers to the unity and integrity of the country in his poem सङ्घटनम्. He says that we are the sons of one mother which contain Gaṅgā, Yamunā, Shipra, Reva, Vetravati, Narmada like rivers and Himalaya like mountain. We may stay in different states like Maharashtra, Karnataka, Bengal, Gujrat, Kerala, Bihar, Goa, Andhara, Uttar pradesh, Madhya Pradesh and so on, we may have the different castes, colours, languages, age and territories but, we have one family. And that family's name is Mother India. He has mentioned the freedom fighters: Gandhi, Subhash and Bhagat Singh to motiveate the countrymen-

गान्धि-सुभाष-भगतसिंहानां विलपत्यात्मा नूनं रे।
मत्रान्धैर्वशजैरर्पितं तेभ्यो रक्तप्रसूनं रे।
द्वेषविषं निर्वापय देशे प्रेमामृतमभितसर्वे रे।
भारतमातः जय जय रे।

But in other poem संविधानकम् the poet expreses his grief and anguish over the prevailing anarchy in the country. He says that we have nothing to quote as the symbol of prosperity even after getting the new constitution. The people are quarreling with one another and shedding the blood of own relatives. There is the worship of money everywhere. We have got many judges and courts but still the countrymen are running after the justice.

न्यायकारिणः शतं न्यायालयाः शतं,
न्यायस्य नात्र जायते तु दर्शनं परम्।
स्वलोचनेषु धारितं सुसम्प्रावारवम्।
विलोकितं मयेह नवं संविधानकम्॥

Sharma's आयाति स्मरणपथम् seems to be written when he is out of his country. He remembers that land which is honoured and worshipped by him and his countrymen-

सुजला सा सुफला मे भूमिः दूरात् प्रणमामः।
कुर्मो गुणगानं सर्वत्र हि क्वचिदपि गच्छामः
विध्यति हृदयं स्मरणे तस्याः, तत् कथयामि कथम्।
कोऽयमायाति स्मरणपथम्

Sharma has also written an exclusive poem to adore his language Sanskrit which is the container of all the knowledge i.e. the Indological knowledge. He says that the knowledge which we Indians had ignored in the past was recognised by the western scholars-

पाश्चात्य-करैर्लालिता शोभते प्राच्या संस्कृतवाणी।
उल्लसति रसेन पालिता तैः भारतभारती पुराणी॥

Struggle of Human Beings

The other poems of the collection describe the inner conflict and anxiety of the poet. Haridatta Sharma has a lot of respect for the human values and tradition of his country. Hence, whereever he beholds any thing against it, he expresses his concern. He is very much aggieved to see the rising dowry system in the country. He is of the opinion that it is that demon which is stealing the Sita even today. Still the women are being burnt by the dowry seekers. And hence the people don't celebrate the birth of their female babies-

श्रुतं कन्याजन्म पितृभिर्मन्यते न हि हर्षवेला।
नोत्सवो नृत्यं न वाद्यं प्राङ्गणे हेला न खेला॥

सुता जाता वा समस्या घोरचिन्ता वा प्रणीता।।
पतति दध्नेऽद्यापि सीता।...

Sharma has badly scolded the in-laws of today in his poem- भौतकहमकम्-

कथं कथमपि निगडितासापरिणयस्य पवित्रपाशे।
क्वापि कोऽपि प्रताडिता परिपीडिता श्वश्रूकाशे
पितृसमैः श्वगुरैर्हता सा काऽपि रोदिति बर्हिर्नीता।
पतति दत्नेऽद्यापि सीता ...

The poet is concerned for the corruption and nepotism in the country. The underserving persons are being honoured while the qualified persons are not. The scholars are selling the knowledge and the moneylenders are disctating the saviours of knowledge. This inequality can be seen in the poet's उलूकोत्थानम्-

चिरषुभुक्षिन्नतैतृकैरकस्मात् स्वर्णमयी रोटिकाऽऽसादिता।
ये विविधासितवर्मविलग्नाः तदङ्केषु लक्ष्मीर्विराजिता।।
धिक् कष्टं वैषम्यम्। लोका अवलोकयत।
प्रतिशाखं संस्थिता उलूकाः...

The poet has praised the speedy development of the world but he is not happy with the way the entire world is going. The whole life has become machine. The poet has sharply condemned the prevailing indecency in the society in his poem योरोपीयम्-

पारस्परिकः प्रणयो हृदि चेद् गोपनं कथं कर भाल्लज्जा।
विदधति सर्वत्र जनस्थाने यूनां युग्माः केलिविहारम्।
अयनं विततं नयनं चकितं ...

Sharma has also shown the displeasure over the advent of unwanted guests in one his poems. Usually, the guests come to see the desired persons without making any information. And the poet has taken on such persons in the following lines of his poem नवाभ्यागमनम्-

नैवासीत् परिचयगाढत्वं किमपि न वृत्तमतीतं रे।
खटखटायितं द्वारे नैव हि वाद्यं नैव च गीतं रे।।

The poet's displeasure can also be seen on the indecency he has witnessed during his Paris stay. He has made satire on the following humnan values of France like countries where the people are selling the modesty in the broad day-light. His poem नवं युगम् is perhaps the treasure of poet's anguish in this connection-

मिथश्चुम्बनालिङ्गनबद्धं नरनारीयुगलम।
भवेत् सार्वजनिकं स्थानं वा मन्त्रीस्थानमिदम्॥
प्रेमदर्शनं नैव मन्यते रहसि हि किं करणीयम्।
किमिदं नवं युगम् ...

Sharma has written some poems like मनोमन्थनम्, केयं कदर्थना, कियद् विषमवशिष्टम्, संघर्षसातत्यम् and क्षणोपायनम् wherein his inner mental conflict to the life's philosophy can be seen. The poet has translated the German poet Henric Nardbrant's poem 'To sleep in your arms in a beautiful way' in his शयनं तव बाहुपाशे. Not only the German poet Sharma has made a beautiful translation of great Urdu poet Allama Iqbal's poem 'Meri Arzoo' also as ममाकांक्षा-

भवचक्र चाकचिक्यादुद्वेलितोऽस्मि बन्धो!
किं मेलने सुखं स्याद् यदि हृदयमेव खिन्नम्॥

Shama's translation of the traditional Holi song of India's Braj region आज विरज में होरी रे रसिया is also a nice creation in the collection-

होली रे रसिकाः अयि होली रे रसिकाः
व्रजमध्येऽद्य तु होली रे रसिकाः ....

In short it can be said that Haridatta Sharma is not merely an ideal poet who writes on ideal lines, he is rather a nice man as well which is very much apparent through his poetry. He is in no mood to compromise with the principles and ideologies. After getting fed up with existing anarchy in the society he says-

चल बहुदूरं नय बहुदूरम् अयि मे विमानराज रे!
अयि अम्बराधिराज रे!
निर्मलता हृदयेषु न यत्र व्यवहारे सारल्यम्।
नीडं तं परिहाय रवमपते गगनं भज तारस्याम्।
पक्षान् विजान् प्रसार्य रे नवपवनं ह्याकर्य रे।
चल बहुदूरं...

Mirza Ghalib had also expressed such desire in his poem-

रहिये अब ऐसी जगह चलकर जहाँ कोई न हो।
हमसुखन कोई न हो और हमजवां कोई न हो!!



Acharya Ksemendra an Exponent of Verbal Analysis

Dr. V.K. Sharma

Ksemendra's technique of verbal analysis is an integral part of his Theory of Auchitya. The theory by itself has no relevance. It becomes pregnated with relevance as also with measuring only when it gets related to "something else"[1]; the content, the form, the diction, the sense, the sound, the structure, the figurative ornaments and even the grammar that embellishes it. It is thus, the verbal nuances, coupled with metrical appropriateness which illuminate Ksemendra's formulations on verbal technique.

Let me first make a few observations on the Indian view of Art and Literature which is basically different to that of the Western view. The Sanskrit poets by and large, were given to the consummate elegance of Art than merely to any kind of impure or unwarranted aesthetic delight. In fact, an abiding faith in the essential rationale of the world around, makes them present it in letter and spirit, both. On the other hand, the Western view of Art provokes an altogether different attitude insisting on mirroring of life by direct portrayal of fact, incident or character.

Intrinsically, therefore the Indian literary tradition is attuned to the depiction and delineation of sentiment the flavour or Rasa as one may call it. Hence, all endeavours in Sanskrit poetics since the Natya-Shastra of Bharata, tend to emanate from an Epicurean sense, where the hard and harsh facts of life gradually dissolve themselves into a purely imaginative pattern of thought and feeling. As a result, the literary exponents in Sanskrit, both in theory and practice are always given to evoke purely aesthetic sentiments of blissful relish as the primary aim of any work of Art and literature. Ksemendra's concept of verbal analysis, as such, ought to be understood in the light of Indian literary tradition. As S.N. Dasgupta asptly sums up; "From Bharata to Anandavardhana, everyone of the writers of Alankara understood the importance of dosa, guna, riti, rasa and alankara as constituting the grounds of appraisal of the value of any Kavya.[2]

---

1. Aucityavicaracarca, V-8, P12.
2. History of Sanskrit Literature by S.N. Das Gupta P. 574.

Historically, it was the growing scientific temper and awareness of the early twenties of the preceding century that gave fillip to the "emergence of a close-analysis"[1] of evaluating any literary work, which gradually come to be known as the "verbal school of literary criticism"[2] in English. In this context, it may be stated that the publication of such treatises as The Sacred Wood of T.S. Eliot in 1920; and Prof. I.A. Richards': The foundation of Aesthetics in 1922; The principles of literary criticism in 1929 and Seven Types of Ambiguity by William Empson in 1930, are by themselves symptomatic of an increasing tendency towards a new mode of literary criticism which is basically analytical. As David Daiches remarks:

"The revolt against impressionism, autobiography, general discourse, concentrating of the effect of the work on the critic as well as against the eclectic mingling of scholarship and appreciation was one of the features of the second quarter of the present century and it produced ever more rigorous analytical techniques in criticism"[3]

Albeit verbal analysis, Ksemendra's creative as well as critical endeavours anticipate a close parallel to the those of T.S. Eliot, I.A. Richards, and William Empson. Ksemendra's illustrative method used in elaborating the various facets of his Theory of Aucitya in Aucityavicaracarca is extensively similar to the one as adopted by William Empson in Seven Types of Ambiguity. Significantly both the methods are as verbal as they are analytical. Although the Kashmir polymath is far removed from the proclivities of the modern or the scientific age, yet he displays more than enough that kind of awareness which is generally associated with scientific knowledge and precision. It seems a queer coincidence that Richards and Ksemendra were both teachers of repute. As a result, in the matter of discerning, endorsing or establishing a viewpoint, both exhibit a remarkable sense of genuine modesty as creative artists. If one goes for simultaneous reading of Ksemendra's Kavikanthabharana and Richards' Practical Criticism, one cannot help discerning a close resemblance between them vis-a-vis thematic emphases; analytical treatment; critical assessments and much more their manner as to how they try to legislate on the various literary issues confronting their respective ages.

Ksemendra seems conscious of tasks ahead when he remarks in the opening lines of Kavikanthabharana

"शिष्याणामुपदेशाय विशेषाय विपश्चिताम्।
अयं सरस्वतीसारः क्षेमेन्द्रेण प्रदर्श्यते"।।[4]

---

1. History of Literary criticism by Wimsatt and Brooks p. 556.
2. The Literary criticism by George Watson P. 196-197.
3. Critical Approaches to Literature by David Daiches P. 295-296.
4. Kavikanthabharana V-2, P. 63.

He acknowledges herein that the present epitome of eloquence: सरस्वतीसार is meant for the training of pupils and for the specilisation (in learning) of the learned विशेषाय विपश्चिताम्[1].

Even in Suvritta tilaka the teacher like refrain is the same. He repeats:

"क्षेमेन्द्रेण सुशिष्याणां सरस्वत्याः प्रसाधनम्।
सुवृत्ततिलकं वर्णरुचिरं क्रियते मुखे"॥[2]

The aims and objects of I.A. Richards are, in no way different to those of Ksemendra. In this regard, one may refer to what he states in the introductory part of his practical criticism. He observes:

"I have set three aims before me in constructing this book. First, to introduce a new kind of documentation of those who are interested in the contemporary state of culture whether as critics, as philosophers, as teachers, as psychologists or merely as persons"[3].

The reference to documentation is revealing since it forms the basis of analytical technique. It is equally illustrative of the method of Ksemendra, the reason being, that the spectrum of illustrations comprises lines of different poets, culled from their compositions. In Richard's language, these references named as "Protocols" and handed over without disclosing their identity in terms of the author or the composition, are better suited to prepare the mind of the readers to follow multiple meanings of any composition. Accordingly the resultant advantage of such "close analysis" is its instantaneous shift from the general critic to the specific reader.[4]

To put it briefly, Prof. I.A. Richards "threefold objective" implies an attempt to evolve an apparatus or technique to bridge the ever existing gap of proper communication between the poem and its readers. It aims at developing a mental condition relevant to the poem itself which its verbal analysis may help to achieve. As a whole, the process involves much analysis, much rather strenuous exercise in changing our ground and a good deal of rather "intricate navigation".[5] However, the references to such terms as mental condition or intricate navigation makes the readers' task arduous to investigate.

Although Prof. Richards stands alone as the pioneer of the school of verbal analysis in English criticism; yet shaping the technique into a veritable system is no

---

1. Kavikanthabharana V-2, P. 63.
2. Suvrittatilaka V-4, P. 85.
3. Practical Criticism by I.A. Richards P. 3.
4. Ibid P. 303.
5. Ibid.

less credited to the efforts of William Empson. His Seven Types of Ambiguity not only does elaborate the technique; but also illustrates it with suitable examples of relevant verses from the old models. In this regard, Empson's modes and methods in many ways are very close to those adopted by Ksemendra in Aucityavicaracarca, Suvittatilaka and Kavikanthabharana. Explaining the efficacy of verbal analysis Empson states:

"It may be said that the business of analysis is to progress from poetical to prosaic; from intuitive to intellectual knowledge."[1]

Elaborating further the role of the analytical critic, he states again:

"In wishing to apply verbal analysis to poetry the position of the critic is that of the scientist wishing to apply determinism to the world."[2]

It may seem odd enough to yoke scientific determinism to augment the cause of literary criticism; and yet the fact remains as it is, that efforts of the verbal analysts to harness science and psychology to the service of criticism made poetry "strictly analysable human activity like Wordsworth's "man speaking to men."[3]

But justifying the technique of verbal analysis, as a correct apparatus for evaluating poetry, Empson asserts:

"What is needed for literary satisfaction is not this is beautiful because of such and such a theory"; but this is alright, I am thinking correctly about this. I know the kind of way in which is meant to affecting me"[4].

George Watson's observations are equally striking when he states:

"Verbal nuance or ambiguity is a characteristic poetic fact and it is arguable that the property of poetry to suggest is what it makes it what it is—the final distinction between poetry and mere verse."[5]

It may be stated that these formulations are as significant as they are meaningful. But, Ksemendra's perceptions of Alankaraucitya as propounded in Aucitya Vicaracarca sounds more plausible when he states categorically that any verbal nuance "used organically and with adequate sense of propriety transforms a simple statement of facts into high poetical effects". As he remarks:

---

1. Seven Types of Ambiguity, p. 251.
2. Ibid. P. 17.
3. The Literary Critics, George Watson P. 199.
4. Seven Types of Ambiguity, William Empson.
5. The Literary Critics, George Watson P. 207.

"प्रस्तुतार्थोचितः काव्ये भव्यः सौभाग्यवान् गुणः।
स्यन्दतीन्दुरिवानन्द सम्भोगावसरोदितः"।[1]

Coomaraswamy makes similar comments when he states:

"Alankar, in other words, having meant originally made adequate, came finally to mean embellished."[2]

Ksemendra, however dives deeper into the subject when he determines the place as well as the priority of using Alankaras: simile, metaphor, irony and the rest, with an eye ever vigilant to the need of propriety. He states emphatically:

"अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।।[3]"

Ornaments are ornaments; excellences are excellences but Aucitya: propriety is the life of the Rasa-ensouled Kavya.[4]

Suffice it to state that the whole exercise merely at the psyco-analytical level is though laborious and absorbing; and yet in Richards' own phrase, it attempts to "drag too deep a plough[5]".

Obviously, the sneer against the English verbalists, Richards and Empson no exception, was that they stretched far and wide rather too mechanically in search of isolated "subtletics" in a poem. It was T.S. Eliot who correctly saw into the fallacy behind the apparatus of the verbalists and censured their technique as "the lemon-squeezer school" of literary criticis"[6]. Empsons' "own ambiguity" to use George Watsons' phrase "ultimately defies ambiguity"[7]. Apparently, the English verbalists appear to harbor a far-fetched notion that all poems are autonomous and self-sustained artefacts. Secondly their concern to bring aesthetic emotion within the purview of science and psychology seems, as a matter of fact, merely a strenuous exercise in over-simplification.

Literarily Acharya Ksemendra's distinctive advantage accrues from three-fold factor. First, he inherits, to start with, a well-established tradition of Rasa-the flavour, from Bharata to Anandavardhana in the assessment of any Kavya–poetry. Secondly, unlike the English verbalists, he does not suffer from complex jargons of Irony,

1. Aucityavicaracarca V-14, P. 18.
2. Figures of Speech or Figure of Thought Ananda K. Coomarswamy, p. 91.
3. Kavikanthabharana IV Sandhi P. 74.
4. Aucityavicaracarca V-5, P. 11.
5. Practical Criticism, P. 10.
6. On Poetry and poets, T.S. Eliot.
7. The Literary critics of op cit p. 207.

metaphor and ambiguity. Third, his formulations are marked by a comprehensive perspective: a perspective which is essentially positive in all its bearings. In the words of Dr. Suryakanta, the Theory of Aucitya, obviously provides "an acid test"[1] to evaluate poetry in terms of its aesthetic relish. Aucitya, thus, is a standard yardstick which, first, takes into account every 'limb of peotry'; and then as a result, transforms them into total harmony, thus done, the quality of poetic relish is not only enhanced but also becomes electrified.



1. Kashmir Studies P. 39.

LIST OF PAPER CONTRIBUTERS

1.	प्रो. रामनाथ वेदालङ्कार	पूर्व कुलपति गुरुकुल कांगड़ी-विश्वविद्यालय, हरिद्वार।
2.	प्रो. महावीर अग्रवाल	उपाध्यक्ष-उत्तराखण्ड संस्कृत अकादमी, गुरुकुल कांगड़ी-विश्वविद्यालय, हरिद्वार।
3.	प्रो. रामप्रताप	पूर्व अध्यक्ष, जम्मू विश्वविद्यालय।
4.	प्रो. ब्रजेशकुमार शुक्ल	
5.	प्रो. कामदेव झा	डी.ए.वी. महाविद्यालय, अम्बाला।
6.	डॉ. रामबहादुर शुक्ल	संस्कृत-विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय।
7.	प्रो. रामप्रताप	पूर्व-अध्यक्ष, जम्मू विश्वविद्यालय।
8.	प्रो. अभिराज राजेन्द्रमिश्र	शिमला।
9.	प्रो. शुकदेव शर्मा	वैदिक शोध-संस्थान, साधु-आश्रम, होशियारपुर।
10.	प्रो. भीमसिंह	अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय।
11.	प्रो. गणेशदत्त भारद्वाज	विश्ववेश्वरा नन्द वैदिक शोध-संस्थान, होशियारपुर।
12.	प्रो. गंगाधर पण्डा	सम्पूर्णानन्द संस्कृत-विश्वविद्यालय, वाराणसी।
13.	प्रो. सत्यदेव कौशिक	अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय।
14.	डॉ. वीरेन्द्र कुमार मिश्र	पूर्व-अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, हिमाचल विश्वविद्यालय, शिमला।
15.	डॉ. इन्दु शर्मा	

16.	डॉ. अरुणा शर्मा	संस्कृत-विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय।
17.	डॉ. श्रीकृष्ण शर्मा	
18.	वीरेन्द्र कुमार विद्यालंकार	संस्कृत-विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़।
19.	प्रो. रमणिका जलाली	संस्कृत-विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय।
20.	प्रो. शारदा गुप्ता	संस्कृत-विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय।
21.	प्रो. केदारनाथ शर्मा (डॉ. विद्याधर सिंह)	संस्कृत-विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय।
22.	प्रो. जागीर सिंह	संस्कृत-विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय।
23.	प्रो. पुरुषोत्तम शर्मा	संस्कृत-विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय।
24.	डॉ. सुषमा देवी गुप्ता	संस्कृत-विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय।
25.	डॉ. रेणु बाला	संस्कृत-पालि एवं प्राकृत विभाग गुरुनानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर।
26.	डॉ. सत्यपाल श्रीवत्स	पूर्व प्रिंसिपल संस्कृत महाविद्यालय, वीरपुर, जम्मू।
27.	प्रो. बचनो गुप्ता	गवर्नमैण्ट महिला कालेज, जम्मू।
28.	डॉ. गंगादत्त शास्त्री विनोद	पूर्व प्रिंसिपल, संस्कृत महाविद्यालय वीरपुर, जम्मू।
29.	डॉ. प्रभातकुमार	पूर्वाचार्य राजकीय आयुर्वेदिक कालेज, जम्मू।
30.	डॉ. भरत भूषण शर्मा	राजकीय महिला, महाविद्यालय परेड़, जम्मू।
31.	डॉ. गिरीश नाथ झा, दिवाकर मिश्र	विशिष्ट संस्कृत अध्ययन-केन्द्र, जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय, दिल्ली।
32.	डॉ. पङ्कजा कौशिक	संस्कृत-विभाग, लेडी श्रीराम कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय।
33.	डॉ. आनन्द कुमार श्रीवास्तव	राजकीय महाविद्यालय, इलाहाबाद
34.	डॉ. सी.के.झा	एम.पी.एम. कालेज मूलाना, अम्बाला।
35.	मनोहर विद्यालंकार	दिल्ली

36.	डॉ. अरुणा शर्मा	जम्मू।
37.	डॉ. उमेश दत्त भट्ट	इलाहाबाद।
38.	डॉ. कमलकिशोर मिश्र डॉ. सईद तनवीर नसरीन	कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता
39.	डॉ. लाला शङ्कर गयावाल	
40.	डॉ. नरसिंह चरण पण्डा	साधु-आश्रम, होशियारपुर।
41.	डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री	गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।
42.	डॉ. ज्ञानचन्द्र त्यागी	राजकीय महाविद्यालय, अलवर।
43.	प्रो. जयपाल विद्यालंकार	हंसराज कालेज, दिल्ली
44.	डॉ. मञ्जुलता शर्मा	आगरा राजकीय महाविद्यालय, आगरा।
45.	डॉ. पी.डी. शास्त्री	राजकीय कालेज, कठुआ, जम्मू।
46.	डॉ. नरेश बत्रा	गोविन्द नगर, अम्बाला।
47.	डॉ. प्रतिभा पुरन्धि	अम्बाला छावनी।
48.	डॉ. संगीता शर्मा	जम्मू।
49.	डॉ. वन्दना वागीश्वरी	जम्मू।
50.	Dr. Satya Vrat Shastri	Ex-Vice Chancellor, Shri Jagannath Sanskrit University, Puri.
51.	Prof. Harekrishna Satapathy	Rashtriya Sanskrit Vidyapeetha, Tirupati.
52.	Prof. M.M. Agarwal	Delhi University, Delhi.
53.	Finn Thiesen	Copenhagen University, Denmark.
54.	Prof. Maan Singh	Kurukshetra University, Kurukshetra.
55.	Dr. Koshelya Walli	Jammu University, Jammu.
56.	Prof. Saroja Bhate	Poona University, Pune.
57.	Prof. Pushpendra Kumar	Delhi University, Delhi.
58.	Prof. Ravinder Kaur	Panjabi University, Patiala.
59.	Deba Brata Sen Sharma	Shantiniketan University, Bengal.
60.	Dr. Lekh Ram Sharma	Sanskrit Pali and Prakrit Department, Gurunanak Dev University, Amritsar.

61.	Dr. H.L. Sharma	Ex Principal, Shyam Lal College, Delhi.
62.	Dr. Anita Sudan	Principal, Govt College, Punch, Jammu
63.	Dr. Sunita Sudan	Govt. College, Udhampur, Jammu.
64.	Sayed Tanveer Nasreen	
65.	Shrawan K. Sharma	Gurukul Kangri University, Haridwar.
66.	Dr. H.N. Patwari	Director, I.N.H. Ambphala, Jammu.
67.	Dr. Kusum Gupta	Govt. College of Women, Gandhi Nagar, Jammu
68.	Dr. Mau Das Gupta	
69.	Dr. Pramod Bhratiya	
70.	Dr. V.K. Sharma	Ayurvedic College, Jammu





मैं, भारत का राष्ट्रपति

के० आर० नारायणन्

डॉ० वेदकुमारी घई

को

संस्कृत में पाण्डित्य

तथा

शास्त्र में निपुणता

के लिए

यह प्रमाण-पत्र प्रदान करता हूँ।

के. आर. नारायणन

राष्ट्रपति

नई दिल्ली, ५ सितंबर, १९९८

दिनांक १४ भाद्रपद, १९२० शक

भारत के राष्ट्रपति द्वारा दिया गया प्रमाणपत्र (1998)



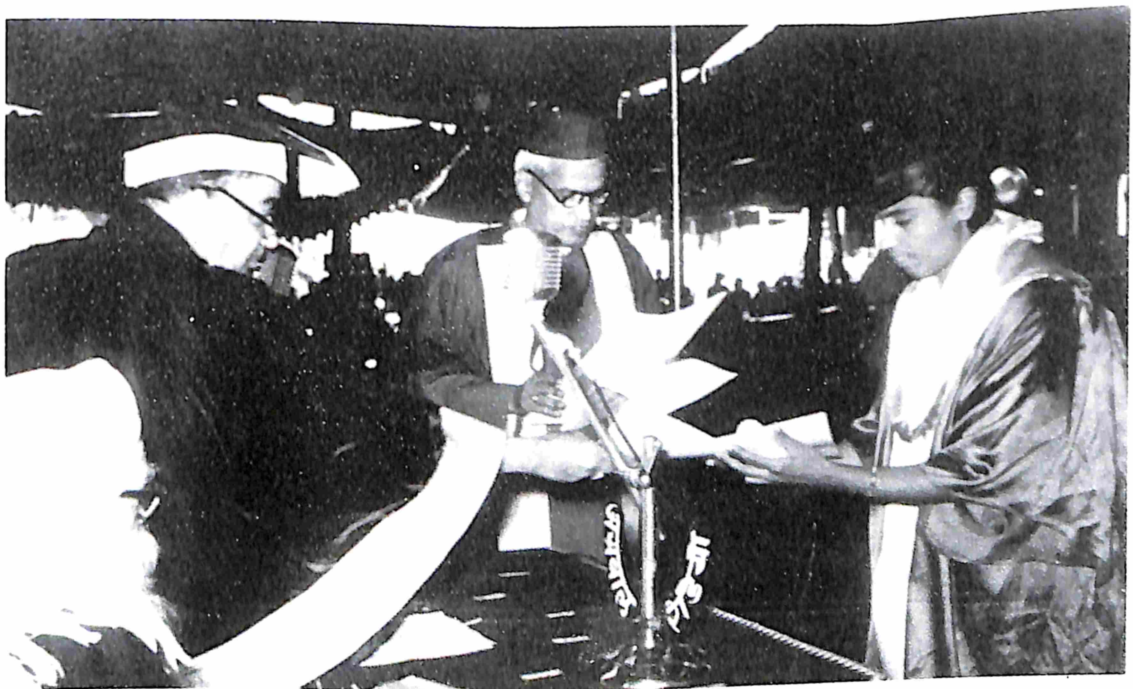
डा. वेदकुमारी घई 1998 में राष्ट्रपति श्री नारायणन् से संस्कृत में वैदुष्य के लिए प्रमाणपत्र प्राप्त करती हुई



Gen. K.V. Krishna Rao, Governor J&K giving Gold Medal to Dr. Ghai on behalf of J&K Govt. year 1995



Prof. Ved Kumari Ghai after getting her Ph.D. Degree of
B.H.U. Varanasi (1961)



Dr. Ved Kumari Ghai being awarded Ph.D. Degree. year 1961



Prof. Ved Kumari Ghai experimenting on Dogri Sounds in the Institute of Phonetics Copenhagen University, Denmark year 1979



कोपेनहेगन विश्वविद्यालय डेनमार्क की ध्वनिविज्ञानप्रयोगशाला में डोगरी ध्वनियों पर अनुसन्धानरत प्रो. वेद घई (1979)



1993 में जम्मू कश्मीर कला संस्कृति एवं भाषा अकादमी के द्वारा डा. वेदकुमारी घई के सम्मान में आयोजित कार्यक्रम में मञ्चासीन सुश्री सुषमा चौधुरी (आई.ए.एस.) श्रीमती पद्मा सचदेव मान्या श्रीमती राधा राव (प्रथम महिला, जम्मू कश्मीर) प्रो. वेदकुमारी घई एवं श्रीमती रीता जितेन्द्र (1993



1993 में उसी समारोह में प्रो. वेदकुमारी घई विरचित संस्कृत, हिन्दी, डोगरी एवं अंग्रेज़ी भाषा में लिखित पुस्तकों की प्रदर्शनी



राज्य की प्रथम महिला श्रीमती रजनी सक्सेना वसुधैवकुटुम्बकम्
की एक बच्ची से बात करती हुई (1992)



वसुधैव कुटुम्बकम् के बच्चे राज्य के शिक्षानिदेशक से पुरस्कार ग्रहण करते हुए (1993)



श्री बी.आर.वी. घई प्राकृतिक संस्थान अम्बफला जम्मू में रोगियों से बात करते हुए प्रो. वेदकुमारी घई एवं राज्य की प्रथम महिला श्रीमती राधाराव (1993)



जम्मूकश्मीर पूर्व प्रथममहिला श्रीमती राधाराव को यज्ञ के प्रारम्भ में रक्षासूत्र बांधती हुई आशी की सचिव डा. वेदकुमारी घई (1994)



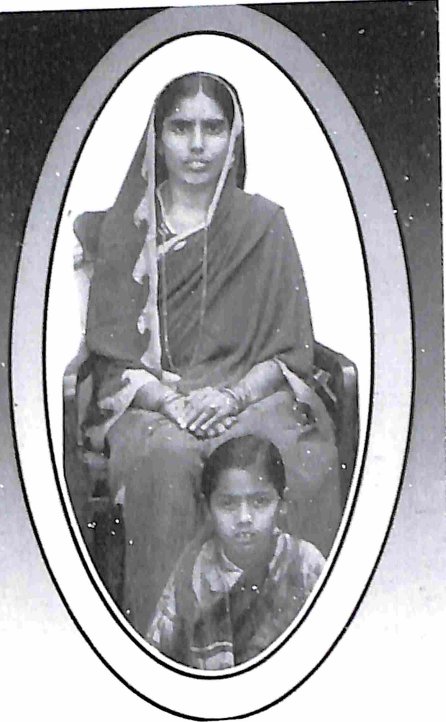
कश्मीर शैवदर्शन संगोष्ठी में भाषण करती हुई प्रो. वेद घई



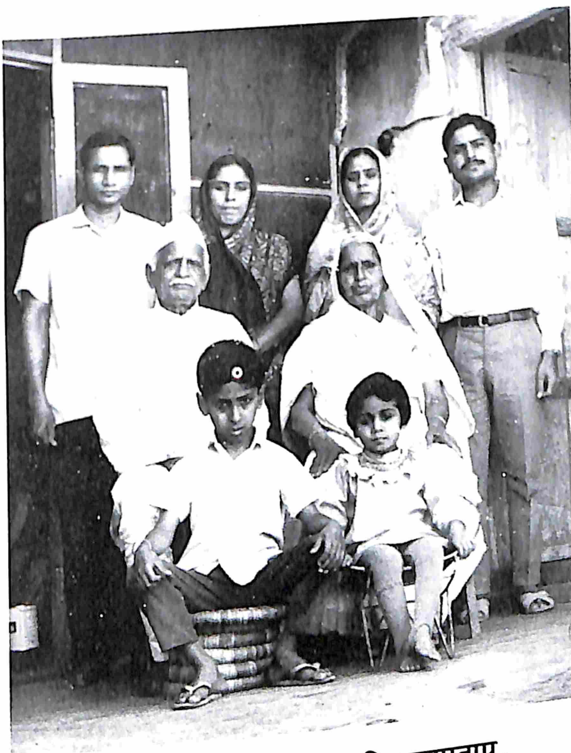
इण्टरनैशनल सैमिनार ऑन कश्मीर शैविज्म के अवसर पर सभाध्यक्षा
प्रो. वेदकुमारी घई (2007)



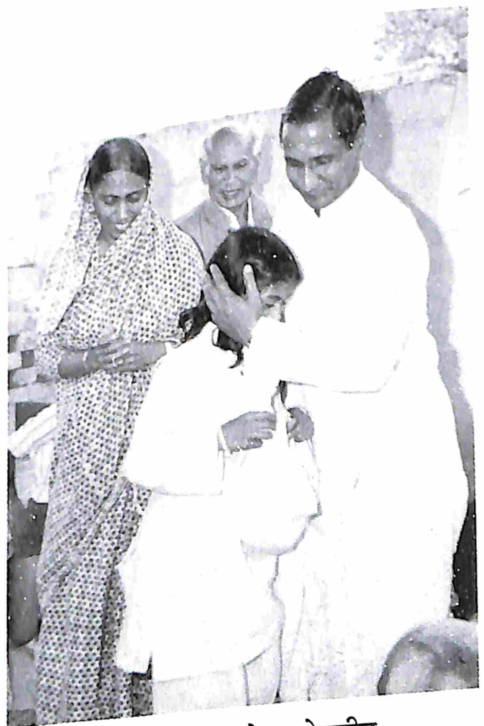
प्रो. रामप्रताप अपनी
माता श्रीमती जयदेवी के साथ (1937)



वेदकुमारी घई अपनी
माता श्रीमती विद्यादेवी के साथ (1936)



1971 तीन पीढ़ियां - पति रामप्रताप,
ससुर बुआ सास, बेटा वीरभानु बेटी ऋचा



बेटी ऋचा के यज्ञोपवीत
(उपनयन) संस्कार के समय डा. वेद घई,
पं. संसारचन्द्र बड्डू, डा. रामप्रताप के साथ (1978)

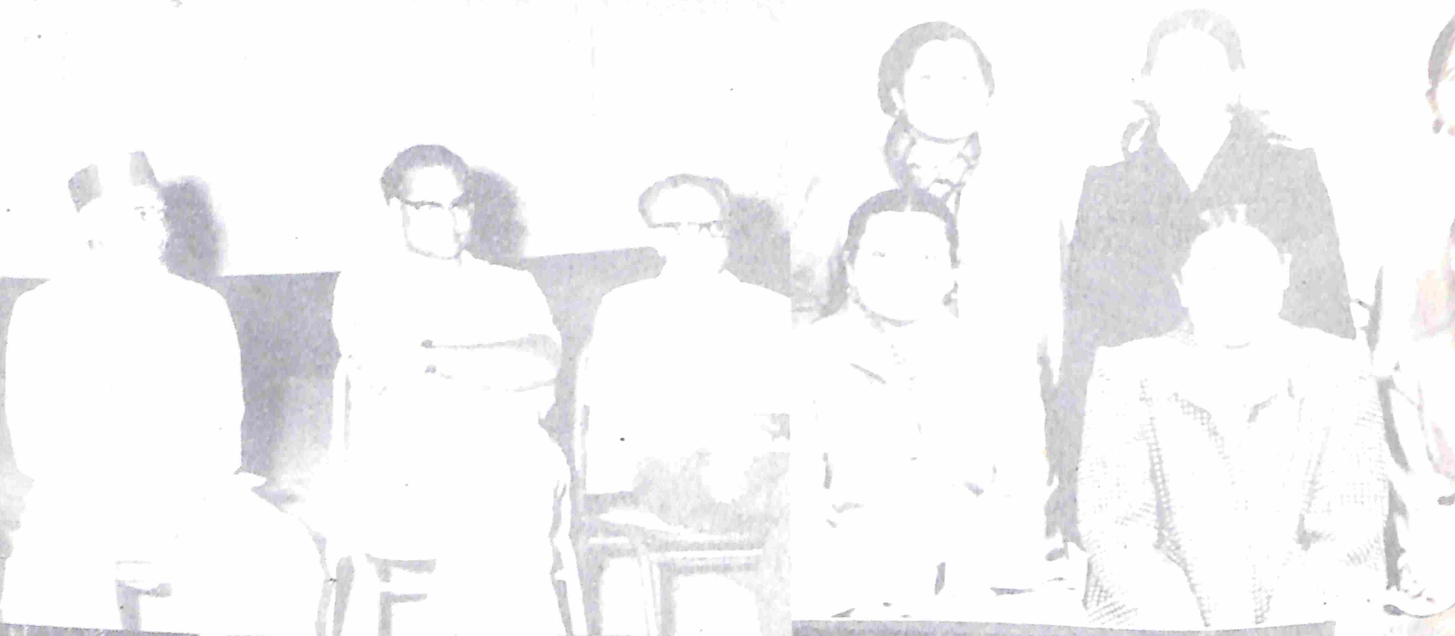


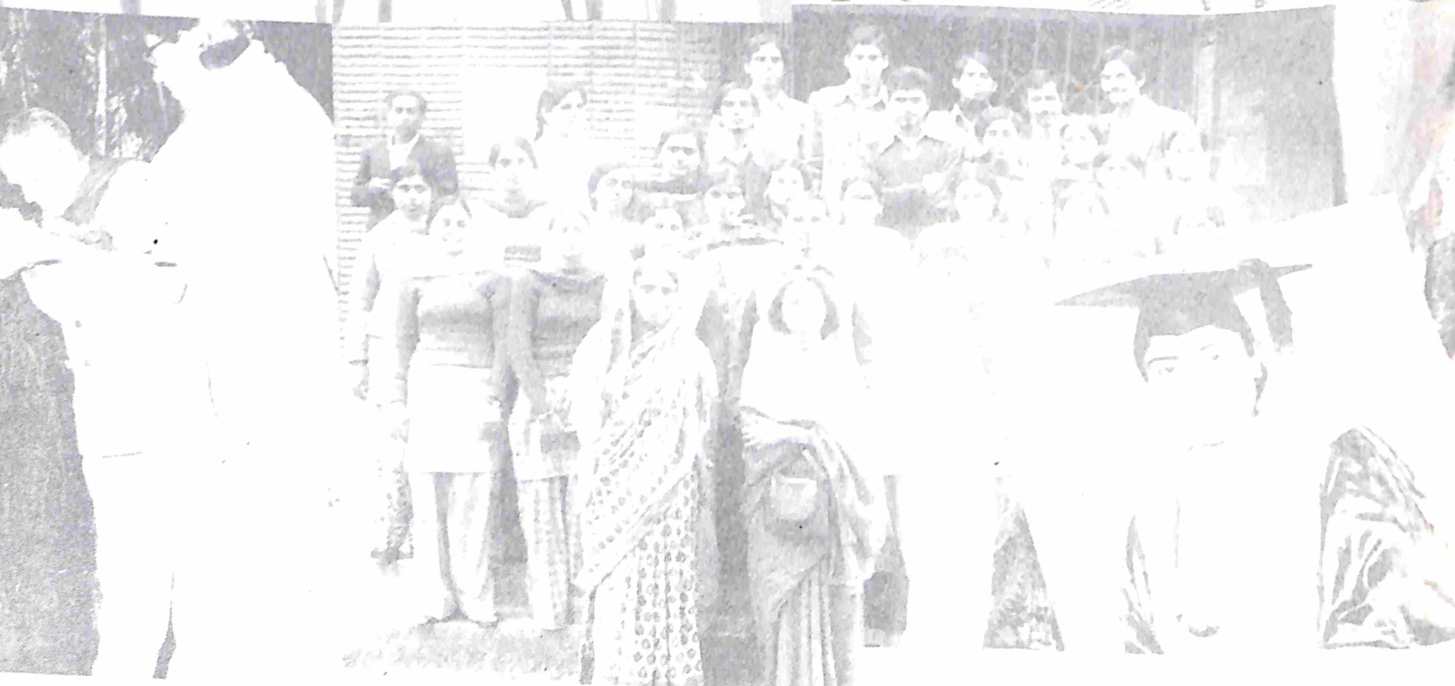
Prof. Ved Kumari Ghai and Prof. Ram Pratap with their daughter Dr. Richa, Son in law Dr. Pawan and grandsons Ojas and Manas



Standing: Vir Bhanu, Bhavna (Son and daughter in law)
Sitting: Nikhil, Ram Pratap, Ved Kumari & Nikita 2007 Banglore

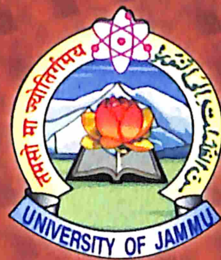
कश्मीर जम्मू









संस्कृतविभाग

जम्मूविश्वविद्यालय, जम्मू - 180 006